लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक : ३०५

सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रथम संस्करण नवम्बर १९७०



युगानुकूल हिन्दू जीवन-दृष्टि

(निबन्ध)

काका कालेलकर

©

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

मुद्रक

सन्मति मुद्रणालय,

दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

o o o o

YUGANUKOOL
HINDU JEEWAN DRIṢTI
(Essays)

Kaka Kalelkar

Published by BHARATIYA JNANPITH
3620/21, Netajee Subhash Marg, Delhi-6
Phone • 272592 *Gram* • 'JNANPITH' Delhi-6

Price

Rs 16/- Only

मूल्य : सोलह रुपये।

युगानुकूल हिन्दू जीवन-दृष्टि

अनुक्रम



पाठकों से

मनुष्य अपने व्यक्तित्व से अलग नही हो सकता। वैसी इच्छा भी उस के मन में नही उठ सकती।

अब यह व्यक्तित्व कैसे बनता है और यह कितना व्यापक होता है, यह देखना चाहिए।

'हरेक जीव का व्यक्तित्व उस के सकल्प के द्वारा ही बनता है'—इस अन्तिम सत्य को मान्य करते हुए भी व्यवहार की दृष्टि से हम कहेंगे कि मनुष्य का व्यक्तित्व उस के हाथ की या पसन्दगी की बात नही है। उसे जन्म देते हैं उस के मां-बाप। बचपन का पोषण और सारे सस्कार मां-बाप से या अभिभावको से मिलते हैं। वे भी पूरे स्वतन्त्र कहाँ हैं ? कुल परम्परा, सामाजिक जीवन, देश की परिस्थिति आदि सभी से वे बँधे हुए रहते हैं।

इसलिए कबूल करना पडता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का अन्तिम आधार उस का कुल (खानदान), उस की जाति, उस का धर्म और उस की संस्कृति और खासकर के देश की परिस्थिति ही है। मनुष्य इन सब तत्त्वो को न इन्कार कर सकता है, न उस के लिए कोई शिकायत कर सकता है। क्योकि यही सब उस के व्यक्तित्व के अन्तिम आधार है। इन सभी को पूरे हृदय से स्वीकार कर के ही मनुष्य को जीना है और पुरुषार्थ करना है।

इन सब चीज़ो में, चन्द बातें अपने पुरुषार्थ के लिए और अपने भविष्य के लिए अनुकूल होगी, चन्द प्रतिकूल होगी। लेकिन यह सारा भाग्य 'ईश्वर की कृपा' ही समझना चाहिए। जो बातें प्रतिकूल हैं उन के खिलाफ लडने का हमारा कर्त्तव्य है। इसी में हमारा पुरुषार्थ है। इन में से किसी भी चीज को मैं ने अपना दुर्भाग्य नही माना। अगर मैं अपनी शिथिलता के कारण, पुरुषार्थ में कम साबित हुआ तो वही होगा, अपना ही पैदा किया हुआ, एकमात्र दुर्भाग्य। परिस्थिति के किसी भी अश को दुर्भाग्य समझना कायरता होगी।

मनुष्य को इस दुनिया में आते समय शरीर के साथ दूसरी जो-जो चीज़ें मिलती है, उस के समुच्चय को गीता ने क्षेत्र कहा है। उस क्षेत्र में रह कर

पुरुषार्थ करने वाला मैं क्षेत्री या क्षेत्रज्ञ हूँ। सारा का सारा क्षेत्र मेरे लिए ईश्वर का प्रसाद है और वही मेरे पुरुषार्थ का साधन है।

इन में दो ही बातें मुख्य हैं—एक है मेरा शरीर, और दूसरी मुख्य बात है मेरा देश और उस की संस्कृति, जिस में धर्म को प्रधानता मान्य करनी ही चाहिए।

मेरे माँ-बाप के प्रति मेरे मन में जो स्वाभाविक आत्मीयता है, पूज्य भाव है वही मेरे मन में हिन्दू समाज, हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति के प्रति भी है। सारी जिन्दगी इन की सेवा मुझे मिलती है और इन की सेवा करने के लिए मैं बँधा हूँ।

इन सब बातो का मैं व्यापक अर्थ करता हूँ। जब मैं 'हिन्दू समाज' कहता हूँ तब उस के भाग्य में जो इतर धर्म-समाज आये हैं वे सब उसी के अन्तर्गत हैं। जब मैं 'हिन्दू संस्कृति' कहता हूँ तब हिन्दुस्तान में, समग्र भारत में, जितने भी धर्म-समाज हैं, जितने भी वंश (races) हैं, सब मिल कर ही मेरा एक एकम बनता है।

जिस तरह हरेक वर्ण का सोचते सब वर्णों के अन्दर का अपना स्थान ध्यान में ले कर ही सोचना पडता है, एक जाति का नाम लेते ही भारत में बसी हुई सब जातियों का विशाल कुटुम्ब ही सोचना चाहिए। उसी तरह अपने को केन्द्र में रख कर यहाँ के सब वंशो का, सब समाजो का और सब संस्कृतियों का विचार मुझे करना चाहिए। मैं जन्मा मराठी-भाषी इस लिए मैं भारत की सब भाषाओ के साथ बँधा हुआ हूँ। और चूँकि भारत देश सारी दुनिया से बँधा हुआ है, इस लिए मैं दुनिया के भाषा-परिवार के साथ भी कमोवेश बँधा हुआ हूँ।

मैं भारत के सब धर्मो से बँधा हुआ हूँ। क्योकि मेरा धर्म भारत में प्रचलित सब धर्मो के विशाल परिवार का एक सदस्य बना है। हम अपने देश के साथ, अपनी दुनिया के साथ और सारे विश्व के साथ कमोवेश बँधे हुए हैं ही, इसी लिए किसी को भी छोड कर हम अपना विचार कर ही नही सकते।

जिस तरह तीन या छह ऋतुएँ मिल कर वर्ष होता है, काले, पीले, गोरे, और गेहुएँ वर्ण मिल कर मानव-कुटुम्ब बनता है, उसी तरह सब धर्म मिल कर एक धर्म-परिवार बनता है। संस्कृतियो की विविधता और उन के भिन्न-भिन्न युग के समन्वय, यही तो मानवता के पुरुषार्थ का सब से बडा क्षेत्र है।

अन्ततोगत्वा विशाल पृथ्वी और अनन्त काल ही हमारा एकम है। और सर्वत्र कौटुम्बिक भाव का साम्राज्य है।

इस तरह की सार्वभौम, सार्वकालिक दृष्टि का साक्षात्कार कर के ही हिन्दू धर्म, हिन्दू समाज और हिन्दू संस्कृति के भाग्य का, पुरुषार्थ का और जीवन-साधना का विचार इस ग्रन्थ में मैं ने किया है।

हिन्दू समाज की जीवन-दृष्टि विशाल है, भव्य है, किन्तु वह कभी भी

सर्वांगीण नही रही । हर युग मे उस ने, किसी न किसी एक अंग की उपेक्षा की । इस वास्ते उसे पुरुषार्थ का पूरा फल नही मिला, तो भी हिन्दू सस्कृति का आज तक का पुरुषार्थ नगण्य नही है । जहाँ-जहाँ उस ने किसी अंग की उपेक्षा की वहाँ-वहाँ इतिहास-विधाता ने उसे उस का कटुफल चखने को बाध्य किया । और हम अनुभव से धीरे-धीरे सीख रहे हैं । धीरे-धीरे इस लिए कहता हूँ कि किसी अँगरेज सेनापति ने भारत के बारे में कहा है कि 'पृथ्वीराज के काल से आज तक भारत के हिन्दू लोगो ने न कोई नयी बात सीखी है, न कोई पुरानी बात वे भूले है ।' (Since the days of Prithviraj, the Hindus have learnt nothing and forgotten nothing.) इस वचन में गहरा सत्य नही होता तो यह वचन इतना याद नही रहता ।

भूतकाल के प्रति हिन्दू लोगो का अत्यन्त आदर रहता है । पिता पूज्य है, पिता के पिता परम पूज्य हैं, उन के पिता अति पूज्य है, वेदकाल के ऋषि परम पूज्य है, कितना बढता पूज्यभाव !

लेकिन इसी चीज़ का दूसरा अर्थ भी होता है कि हम पुस्त-दर-पुस्त कम पूज्य होते जा रहे है । विकास क्रम से यह बात उलटी है । अगर किसी हिन्दू को पूछो कि 'अनुभव' श्रेष्ठ या 'शास्त्रवचन' श्रेष्ठ ? तो वह कहेगा कि 'थोडे लोगो का सौ-पचास वर्ष का अनुभव कितना ? उस की कीमत कितनी ? शास्त्र-वचन तो त्रिकालदर्शी, सर्वज्ञ लोगो को जो अतीन्द्रिय ज्ञान हुआ उसी का बयान है, इसलिए 'अनुभव' नही किन्तु 'शास्त्र' ही प्रमाण मानना चाहिए । हम थोडे से अनुभव के शिष्य न बनें ।' हमारे लोग इस भूमिका को न छोडते है, न पूरा-पूरा मानते हैं ।

हमारी सस्कृति में अराजक भी है और राजसत्ता का माहात्म्य भी समझाया है । राजा तो मनुष्य देहधारी प्रत्यक्ष भगवान् ही है । 'ना विष्णुः पृथिवीपति ।'

हम लोग चार वर्ण की बातें करते हैं, स्मृतियो में अनुलोम-प्रतिलोम विवाहो का विस्तार बताया है लेकिन आज-कल के प्रत्यक्ष विवाहो में जाति-व्यवस्था का अपना शास्त्र ही अलग है । श्रुति-स्मृति, पुराण, आगम और तन्त्र के उपरान्त तरह-तरह के रस्म-रिवाज मान्य किये है । उस में आदिवासियो के देव-देवी और रस्म-रिवाज भी हम ने छोडे नही है ।

मैं ने तो देखा है कि शास्त्र ग्रन्थो के अलावा अठारह पुराण, अठारह उप-पुराण, उन के अलावा स्थल पुराण, उन के अलावा आदिवासी के रस्म-रिवाज भी देखने पडते हैं । और कम महत्व की बातो में तो उस जमाने के अँगरेजों ने, हमारे गजेटियरों में, जो लिख रखा है उन्हीं का आधार लेना पडता है ।

मैं अपने दीर्घकालीन जीवन में भारत के अनेक प्रान्तों में जा कर रहा हूं। शास्त्र-ग्रन्थों के अलावा लोकरूढ़ियों का भी आदर मैं ने किया है, सुधारक और उद्धारक दोनों से सहानुभूतिपूर्वक चर्चा की है। जो बातें ग्रन्थ में नहीं मिलतीं ऐसी बहुत-सी बातें हरेक जाति के बुज़ुर्ग जाति-भूषणों से प्राप्त की हैं।

स्वराज्य होने के बाद पृथ्वी के सब खण्डों की मुसाफ़िरी की। जहाँ गया हूं वहाँ के चन्द मनीषियों से विचार-विनिमय भी किया है।

इतना करने के बाद पूर्ण आदर से हिन्दू-संस्कृति की ओर देख कर उस के भविष्य काल का चिन्तन किया है।

इस में यह भी लिखना ज़रूरी है कि महात्माजी के साथ उन के आश्रम में तीस-पैंतीस साल रह कर उन से जो विचार-विनिमय किया उस को भी ध्यान में रख कर यहाँ पर सारे चिन्तन का निचोड़ रख दिया है। अपने धर्म और अपनी संस्कृति के प्रति जो जागरूक श्रद्धा मुझ में है उसी की प्रेरणा से यह सब मैंने लिखा है। मैं आशा करता हूं कि जिस श्रद्धा से और पवित्र भाव से मैं ने यहाँ जो लिखा है उस को मेरे देशवासी उसी श्रद्धा और पूरी सहानुभूति से पढ़ेंगे।

मैं ने अपने चिन्तन का सर्वोत्तम भाग यहाँ दिया है। मैं मानता हूँ कि यह मेरी उत्तम सेवा है। जिस सद्बुद्धि से मैं ने लिखा है उसी सद्बुद्धि से पाठक इसे पढ़ें और जो बात जँचे अपने जीवन में और समाज में लाने की कोशिश करें।



यह समय हिन्दू धर्म, हिन्दू समाज और हिन्दू संस्कृति के बारे में गम्भीरता से सोचने का है। राष्ट्र के प्रभावशाली नेता पिछले पचहत्तर या सौ साल से दो दृष्टियों से सोचते आये हैं। प्रधान दृष्टि रही स्वराज्य-प्राप्ति की, और दूसरी दृष्टि समाज और संस्कृति के सुधार और उत्कर्ष की। 'नेता और जनता', दोनों ने सामाजिक और आर्थिक उत्कर्ष के लिए जो भी सोचा, उस के पीछे स्वराज्य की भावना ही प्राणस्वरूप थी। सभी के चिन्तन के पीछे स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से सन् १८५७ का अनुभव था। '५७ के प्रयत्न में जो हिन्दू-मुस्लिम एकता थी और सेना का और देशी रियासतों का उन के साथ जो सहयोग था उस का चिन्तन अँगरेज़ों ने बड़ी गहराई से किया। उन्होंने देखा कि राजाओं की सहानुभूति सन् '५७ के आज़ादी के प्रयत्न के पीछे होते हुए भी खुले तौर पर अँगरेज़ों के राज्य के खिलाफ़ खड़े होने की उन की हिम्मत नहीं है। इस से लाभ उठा कर उन्होंने बचे हुए राजाओं को आपस में मिलने न दिया और

उन्हें निर्वीर्य बना कर अपने मिथ्या गर्व में खुश रहने दिया।

सेना को भी उन्होने जहाँ तक हो सका, जनता से अलग कर दिया। '५७ के पहले सेना के सिपाहियो को कवायद सिखाना, काफी तनख्वाह देना, वह भी समय पर देना और सिपाहियो की भोली धर्म-भावना को सँभालते रहना इतनी ही प्रधान नीति थी। '५७ के बाद कवायद आदि प्रशिक्षण के प्रति और शिस्त यानी तन्त्रबद्धता की मजबूती बढाना, इस तरफ तो ध्यान दिया ही। किन्तु सिपाही हिन्दू हो या मुसलमान, प्रथम सिपाही है, सेना के प्रति उस की निष्ठा है, हिन्दू या मुसलमान समाज के साथ शादी-बिरादरी की बात छोड़ कर दूसरा सम्बन्ध नही। ऐसी सेना-निष्ठा की नयी भावना उन्होने बडी सफलता से सिपाहियो के हृदय में बोयी। और खूबी की बात तो यह थी कि सन् १८८५ में अखिल भारतीय सर्वधर्मी कांग्रेस की स्थापना हुई, उस से पहले भी और उस के बाद विशेष रूप से हिन्दू-मुसलमानो को अलग करना और दोनो का सामाजिक भेद बढ़ाते जाना, यही था उन का प्रधान प्रयत्न। '५७ के साल में हिन्दू-मुसलमान-नेता एक हो कर लडे थे। उस के बाद अँगरेज़ो ने इन दो जमातो को (सेना का अपवाद छोड कर) कही भी एकत्र होने नही दिया। हिन्दुओ को प्रथम सर्वत्र बताते रहे कि मुसलमानो के जुल्म से बचाने वाले आप के हितचिन्तक हम ही हैं। मैं ने कही पढा है कि उन दिनो कभी-कभी किसी मुसलमान को फाँसी की सजा हुई तो हिन्दू मुहल्ले में ला कर उसे फाँसी दी जाती थी। जब अँगरेज़ो का राज्य इस देश में नही रहा और अँगरेज़ो से अब हम दोस्ती ही रखना चाहते है, तो ऐसी पुरानी बाते दोहराना इष्ट नही है। इतना समझना पर्याप्त है कि '५७ के बाद अँगरेज़ो का राज्य हिन्दुओ के मन में लोकप्रिय हो रहा था। पराजय के प्रति सामान्य असन्तोष तो था ही, बडे से बडे नेता को भी अँगरेज़ो के सामने दब कर रहना पडता था। लेकिन हारी हुई प्रजा इस हालत की आदी बन ही जाती है। कहते हैं कि अन्य प्रान्तो की अपेक्षा महाराष्ट्र में अँगरेज़ी साम्राज्य के विरुद्ध असन्तोष हमेशा रहा और विशेष रूप से रहा। तो भी वहाँ के एक कवि ने गाया था—धरातली इग्रेजा सरीखा प्रभु नाही दूसरा।

यह स्थिति कुछ समय तक चली। इस काल में सारे भारत के हिन्दुओ ने अँगरेज़ी विद्या बडे उत्साह से सीखनी शुरू की। मुसलमान कुछ पिछड़ गये। कहते है कि मुसलमानो के मन में ऐसी चिढ़ थी कि भारत-भर में जो बादशाहों का, नवाबो का और सुलतानो का राज था, जिन ने हम से उसे छीन लिया उस की विद्या हम क्यो सीखें और उन की नौकरी क्यो करें?

जो हो, अँगरेजी विद्या पा कर हिन्दुओ और चन्द दूसरे लोगो को अपनी शक्ति का अहसास हुआ और स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से स्वराज्य के अधिकार वे माँगने लगे। फ्रान्स की क्रान्ति का इतिहास, ब्रिटेन के राजनीतिक सुधार का इतिहास आदि पढ कर अँगरेजी-विद्या-प्राप्त भारतीयो के मन में प्रजा-राज्य के विचार आने लगे तो अँगरेजो ने अपनी नीति बदल दी। उन्होंने मुसलमानो के मन में यह विचार बैठाना शुरू कर दिया कि अब, स्वराज्य हुआ तो वह जनता का राज्य होगा। आज भी अँगरेजो का राज्य चलाने में बडे-बडे स्थानो पर हिन्दू ही है। हिन्द-स्वराज्य में लाभ हिन्दुओ का है इस लिए मुसलमानो को हिन्द-स्वराज्य के साथ न रहते हुए अलग रहना ही शुभ है। अँगरेजो ने यह भी बताया कि मुसलमान अगर अँगरेजी सीखे और स्वराज्य-आन्दोलन से अलग रहें तो उस को अच्छी-अच्छी नौकरियाँ मिलेगी और उन की राज-भक्ति की कदर की जायेगी।

अँगरेजो की कितनी बडी चालाकी थी कि एक ही देश में जहाँ सेना का सवाल है, हिन्दू-मुस्लिम जैसा भेद तनिक भी नही, और जहाँ सवाल मुल्क की प्रजा का है, दोनो एक-दूसरे से बिलकुल अलग-अलग। न्याय के लिए कहना जरूरी है कि हिन्दू-मुस्लिम दुराव या अलगाव केवल अँगरेजो की ही देन नही थी। हिन्दुओ के रीति-रिवाज, खान-पान के, धार्मिक उत्सवो के और जीवन-दृष्टि के रस्म-रिवाज मुसलमानो से भिन्न थे और मुसलमानो के हिन्दुओ से भिन्न।

आज इन रीति-रिवाजो में से बहुत से गौण हो गये है। लोग समझने लगे है कि ये सब बातें धर्म का प्रधान अंग नही हैं। लेकिन उन दिनो हिन्दुओ मे (और मुसलमानो में भी) खान-पान के भेदो पर समाज अलग हो जाते थे। परस्पर जीवन ओत-प्रोत न होने देना, यही धार्मिकता की निशानी मानी जाती थी। हिन्दुओ के अन्दर इन सौ बरसो में बहुत-कुछ सुधार हुआ है। किन्तु जहाँ खान-पान का भेद आया वहाँ सामाजिक जीवन ओत-प्रोत नही हो सकता, न होना चाहिए ऐसी विचारग्रन्थि आज भी सर्वत्र फैली हुई है। धर्म यानी अलगाव बढाने का तन्त्र, ऐसा ही विचार अब भी जिन्दा है। इस से चिढ कर स्वामी विवेकानन्द जैसे हिन्दू धर्म के समर्थ उद्धारक हिन्दू धर्म के रूढिधर्म को 'किचन-रिलिजन'-'चूल्हा धर्म' और 'डोंट टचिज्म'—'छुओ मत वाला' धर्म कहते थे।

ऊपर जो विवेचन किया है उस से निर्णय निकलता है कि भारत के नेताओ मे दो धाराएँ चलती आ रही हैं · (१) कांग्रेस के द्वारा चलायी हुई सब धर्मों को साथ ले कर चलने वाली स्वराज्य धारा, (२) अलग-अलग धर्मों को मानने वाले समाज अलग हैं, और हमेशा अलग रहेंगे। इसे मानते हुए अपने-अपने

समाज की उन्नति पर (कम से कम आत्मरक्षा पर) सारा ध्यान केन्द्रित कर के अपने-अपने धर्म-समाज के प्रति निष्ठा और अभिमान बढाने वाली धारा ।

कांग्रेस ने सम्प्रदाय प्रधान धारा की निन्दा शुरू की, किन्तु वह हिन्दुओ तक सीमित रही । हम हिन्दू-सम्प्रदाय का, केवल हिन्दू-समाज का विचार न करें, समस्त देश का विचार करें और सब को साथ रख कर ही आगे बढें, यह रहा कांग्रेसी मानस का रुख ।

इन भेदो मे अँगरेज़ो की नीति अच्छी तरह से पनप सकी । अँगरेज़ो ने मुसलमानो को, ईसाइयो को और एंग्लो-इडियन लोगो को विशेष अधिकार और विशेप सहूलियतें देना और दिखाना शुरू किया । तब से अँगरेज़ सरकार और कांग्रेस के बीच होड चली । कांग्रेस ने मुसलमानो से कहा, अँगरेज़ आप को जो विशेष अधिकार देते है वे हम भी देंगे, आप स्वराजपक्ष में आइए । अँग्रेज़ों ने शब्दो से नही किन्तु कृति से कहना शुरू किया कि जो कांग्रेस देगी उस से अधिक हम देंगे, बशर्ते कि आप कांग्रेस की स्वराज्य की मांग में शरीक न हो ।

ये बीच के लोग समझ गये कि दोनों की प्रतिस्पर्धा में किसी एक पक्ष का होने से लाभ नही है, तटस्थ रहना और हर एक से कहना कि हमें आप के विरोधियो के साथ न मिलने के लिए आप क्या देते हैं यह बताइए । हम पूरे आप के तो होगे नही, हां विरोधी पक्ष के न बनने के लिए अगर हमें काफी मिला तो उन का बल हम नही बढ़ायेंगे ।

कांग्रेस के बाहर मुसलमान आदि जो भी जमातें रही, सब को यही नीति मुनाफे की दीख पडी ।

अन्त में जिन मुसलमानो ने कांग्रेस का विरोध कर के अँगरेज़ो की सहायता की उन के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए अँगरेज़ो ने भारत से हटने से पहले देश का बँटवारा किया । कांग्रेस की ओर से गान्धीजी ने अँगरेज़ो से कहा, 'क्विट इडिया'—भारत छोडो । कायदे-आज़म ने मुस्लिम लीग की ओर से कहा, 'फर्स्ट स्प्लिट एड देन क्विट'—पहले भारत को विभाजित करो, बाद में छोडो । वैसा ही हुआ । अँगरेज़ इस भूमि से चले गये, लेकिन अपनी भेदनीति का विषैला बीज इस अनुकूल धरती पर बोने के बाद ही ।

देश के दो टुकडे हुए । लेकिन भारत की जनता की नीति स्पष्ट नही हुई । गान्धीजी के सर्व-धर्म-समभाव को जवाहरलालजी ने धर्म-निरपेक्ष और शान्ति-मूलक सेक्युलर राजनीति का स्वरूप दिया और उसे ज़ोरो से चलाया । स्वराज्य-प्राप्ति के लिए और स्वराज्य चलाने के लिए हिन्दू बहुजनसमाज ने इस नीति को स्वीकार तो किया, लेकिन उन के मन में एक दर्द रहा है कि हमारा प्रचण्ड

बहुमत होते हुए भी हमें तो दब कर ही रहना पड़ता है। अन्दर और बाहर जो भी जोर करेगा उस के सामने सिर झुकाना पडता है। पाकिस्तान मजूर किया, अब देश के अन्दर किसी न किसी रूप में सिखीस्थान भी क़बूल करना पडा। नागा, मिज़ो आदि ईसाई आदिवासी प्रत्यक्ष धर्म का नाम तो नहीं लेते, किन्तु अलगाव बढाते जाते हैं और उन के सामने स्वराज्य सरकार को झुकना ही पड़ता है।

और क्या आर्य और द्रविड का भेद उभार कर दक्षिण भारत के लोग अपना असन्तोष और अपनी अस्मिता प्रकट नहीं करते ? जिस नीति में आन्तरिक कमजोरी है उस में एकता सँभालने की और मजबूत करने की शक्ति कब प्रकट हुई है ? उदारता के नाम पर कमजोरी ढँक देने से कब तक हम निर्वाह कर सकते हैं ?

यह सवाल सचमुच भारत सरकार के सामने ही केवल नहीं है। असल में हिन्दू संस्कृति की परम्परा के सामने भी है। जब मध्वाचार्य ने दो उँगलियाँ उठा कर द्वैत वेदान्त का परिस्कार करते कहा, 'सत्य भिदा,' जीव और शिव का भेद सत्य है, इस का इनकार हो नही सकता, तब उन के ध्यान में नही आया होगा कि हिन्दू सस्कृति के बारे में भी यही बात सही है कि हम लोग भेद ढूँढ़ने में और भेदो को मजबूत करने में बडे प्रवीण हैं। भेद को क़ायम किये बिना हमें सन्तोष ही नही होता।

आन्तरिक भेद दूर करने के महान् प्रयत्न का प्रारम्भ किया महात्मा गान्धीजी ने, जब उन्होंने अस्पृश्यो को हिन्दुओ से अलग न करने के लिए अपने प्राण की बाजी लगायी। और ईश्वर की कृपा ही समझ लीजिए कि गान्धीजी का कमर कस कर के विरोध करने वाले डॉ० अम्बेडकर ने हिन्दुओं से अलग होने के लिए जो रास्ता बताया वह सचमुच हिन्दू धर्म, हिन्दू समाज और हिन्दू संस्कृति का उद्धारक ही निकला। हिन्दू धर्म के महापाप से ऊब कर कई जातियाँ इस्लाम में शरीक हुईं तो भी हिन्दू सामाजिक नेताओ की धर्मदृष्टि न खुली। बाद में उसी हिन्दू धर्म के कलंक के कारण याने (उच्च-नीच भाव और अलगाव की प्रीति के कारण) कई जातियाँ ईसाई बन गयी। तो भी हिन्दू सामाजिक नेताओ की धर्मबुद्धि जाग्रत् और शुद्ध न हुई। डॉ० अम्बेडकर ने पहले सोचा कि सारे हरिजन सिख हो जायें तो कैसा हो ? लेकिन उन्होने पाया कि वहाँ पर भी जातियो का झमेला नहीं ऐसा नही। और 'पोपडम' नही तो 'गुरुडम' है। इस लिए ऐसा एक विशाल और शुद्ध-धर्म पसन्द करना चाहिए, जिस में प्रवेश करने से हम सकीर्णता से बच जायेंगे। उन्होने बौद्ध धर्म को पसन्द किया। उन के अनुयायी कहने लगे कि हम हिन्दू नही हैं, नवबौद्ध हैं। जातिभेद को हम नही मानते, केवल मानवता को ही हम मानते हैं। यह सब

ठीक हुआ। किन्तु सस्कृति के चरम सस्कार तो धर्म से भी बलवत्तर होते हैं। और संस्कृति के लिए अन्तिम प्रमाण कोई धर्म सस्थापक, कोई धर्मग्रन्थ, कोई तत्त्वदर्शन या कोई संस्था नही होती। सस्कृति तो उन्नत स्वभाव से ही बनती है।

जब अम्बेडकर के अनुयायी नवबौद्धो ने कहा कि, हम हिन्दू नही है तब न्यायनिष्ठा कहने लगी कि तब तो आप को हिन्दू हरिजनो को दिये गये विशेष अधिकार नही मिल सकते। बात न्याय्य थी। लेकिन इतनी तपस्या से मिले हुए विशेष अधिकार और सहूलियते छोडी कैसे जायें ? नवबौद्धो ने कहना शुरू किया कि हम हिन्दू तो नही हैं, किन्तु 'शेड्युल्ड कास्ट' (पूर्व-अस्पृश्य) तो हैं ही। हमें हरिजनो के सब विशेष अधिकार मिलने चाहिए।

'चुनाव की ओर पूरी नज़र रखनेवाली राजनीति' तुरन्त मान गयी। कहने लगी, "न्यायनिष्ठा अलग है, मानवतानिष्ठा अलग। मनुष्य के लिए तर्क या तराजू का न्याय नही चलेगा।" नवबौद्धो को अस्पृश्यो के सब विशेष अधिकार मिल गये। दूसरे शब्दो में कहें तो बौद्ध धर्म मे अस्पृश्यता घुस गयी। सामान्य बौद्धो को जो विशेष अधिकार नही मिल सकते वह इन पूर्व-अस्पृश्य नवबौद्धो को मिलने लगे। बौद्धो में दो जातियाँ हुईं। बौद्ध और नव-बौद्ध हरिजन।

अब ईसाइयो के बीच और मुसलमानो के बीच जो पूर्व-हरिजन हैं वे भी सोचने लगेगे कि हम ही वंचित क्यो रहें ? जब आदिमवासी ईसाई बनने पर आदिमवासी नही मिटते, उन्हें विशेष अधिकार मिलते हैं और ऐसे अधिकारो के लिए, ज़ोर भी कर सकते हैं तब हमारे पूर्व-अछूतो पर भी यह न्याय लागू क्यो न हो ?

गान्धीजी ने दीर्घदृष्टि से कहा कि अगर हर एक हिन्दू के मानस में से अस्पृश्यता पूरी नष्ट न हो गयी, निर्मूल न हुई तो हिन्दू धर्म और समाज का नाश अवश्य होने वाला है। हमारे राष्ट्रीय सविधान-कान्स्टिट्यूशन में अस्पृश्यता को जडमूल से नष्ट करने की घोषणा तो की गयी है, किन्तु हरिजनो को (पूर्व-अछूतो को) विशेष अधिकार भी रखे हैं। ऐसा क्यो ? कारण स्पष्ट है। अस्पृश्यता क़ानून से गयी। लेकिन गाँव वाली जनता के हृदय में से और रस्म-रिवाजो में से वह नही जा सकी है। शहरो में भी केवल खान-पान का भेद नष्ट हुआ है। लेकिन सवर्ण-हरिजन विवाहो का उत्साह के साथ अभिनन्दन अभी भी सर्वत्र नही हो रहा है। हमे दिन-रात कण्ठ कर के याद रखना चाहिए कि क़ानून का सहारा पौरुषयुक्त, कर्त्तव्यनिष्ठ, प्राणवान् जनता को ही मिल सकता है। जनता और उस की संस्कृति सोये और केवल कानून जागता रहे तो लाभ की जगह हानि ही होने की संभावना अधिक रहती है।

अब स्वराज्य हो चुका है। भारत मे पारसी हैं, हिन्दू हैं, ईसाई हैं, थोडे यहूदी हैं और मुसलमान भी हैं। इन सब जमातो के प्रति राष्ट्र का और धर्म-निरपेक्ष नीतिवाली स्वराज्य सरकार का रुख स्पष्ट है कि धर्मभेद दृष्टि में रखे बिना और संख्या का खयाल किये बिना सब की नागरिकता एक-सी है, इस बात को स्वीकार कर के चलना और अल्पसंख्यक सब जमातों को आश्वासन दिलाना कि भारत में तुम्हारे हित के लिए कोई खतरा नही है।

यह हुई राजनीतिक राष्ट्रीय-नीति। इस के प्रति हिन्दू समाज का सांस्कृतिक और राजनीतिक रुख कैसा होना चाहिए। इस की स्पष्टता हर एक के हृदय में और समाज में होनी चाहिए। हिन्दू समाज संख्या में, शिक्षा में, द्रव्य-बल में और दीर्घकालीन सांस्कृतिक परम्परा में नगण्य नही है। बलिष्ठ है। सारी दुनिया का ध्यान उस को ओर हमेशा से है। किन्तु स्वराज के बाद इस समाज की ओर सारी दुनिया, आदर से भले न हो, पूरे ध्यान से देख रही है और दुनिया स्वीकार करे या न करे, वह समझ गयी है कि इतने बड़े प्रचण्ड मानव समाज की संस्कृति का और पुरुषार्थ का असर कमोबेश सारी दुनिया पर पडने वाला ही है।

पश्चिम के गोरे लोगो की सस्कृति का राजनीतिक सूर्य अब अपना मध्याह्न पूरा कर के दुनिया के आकाश में कुछ नीचे उतर रहा है—यह बात सही है। किन्तु मानवीय ज्ञान, पदार्थ विज्ञान, यन्त्र कौशल, संगठन और विशाल चिन्तन में इसी पश्चिमी गोरी सस्कृति का नेतृत्व और प्रभुत्व क़ायम है। वह घटता नही, बल्कि कुछ बढता ही है। और एशिया, अफ्रीका आदि महान् खण्डों के राष्ट्र एक के पीछे एक उसी के असर नीचे जोरो से खिचे जा रहे हैं। पूँजीवाद, समाज-सत्तावाद, साम्यवाद आदि अनेकानेक वादो के बीच मतभेद और खींचा-तानी चाहे जितनी हो, पश्चिम की गोरी सस्कृति की ये केवल शाखाएँ ही हैं। इन में से विजय किसी भी वाद की यानी शाखा की हो, नेतृत्व, प्रभुत्व और गुरुत्व पश्चिमी संस्कृति का ही स्पष्ट है।

ऐसी हालत में जाति-बहुल, भाषा-बहुल, वंश-बहुल और धर्म-बहुल भारत देश में हिन्दू-धर्म का सिद्धान्त क्या होना चाहिए, हिन्दू-समाज का संगठन कैसा होना चाहिए और हिन्दू-संस्कृति का भविष्य क्या हो सकता है, इस का चिन्तन और दिशा-निर्णय इतिहास-परिष्कृत मानवीय दृष्टि से होना चाहिए, जिस में अभिमान की जगह भक्ति का प्राधान्य हो, और भूतकाल की उपासना और रक्षा की जगह भविष्यकाल के योग्य नवनिर्मित करने का निश्चय हो। इस महान् कार्य के लिए समाज में आस्तिकता का जन्म हो यही प्रार्थना है।

•

मेरे लेख, भाषण, खत-पत्र आदि का सकलन और सम्पादन कर के जो भाग प्रकाशित करने लायक है, उसे पुस्तक रूप देने का भार गोवा के मेरे तरुण स्नेही श्री रवीन्द्र केलेकर ने उठाया है। मेरे विचार और मेरी कार्यपद्धति वे अच्छी तरह से जानते हैं। मेरी प्रवृत्तियो से भी काफी वाकिफ हैं इस लिए उन को यह सारा कार्य करने की सम्मति मैं ने दी है।

इस व्यवस्था के अनुसार 'हिन्दू धर्म, समाज और संस्कृति के हित का जो चिन्तन' मैं ने किया है उस का अधिकाश श्री केलेकरजी ने यहाँ दे दिया है। उन का मेरा सम्बन्ध इतना आत्मीयता का है कि मैं उन्हें धन्यवाद नही दे सकता। इस पुस्तक को पढ कर पाठको को अगर प्रसन्नता हुई और उज्ज्वल भविष्य की सेवा करने का संकल्प मन मे उठा, तो मुझे विश्वास है कि वे केलेकरजी को धन्यवाद देंगे।

गान्धीजी का और हम सभी का प्रकाशन मन्दिर 'नवजीवन' मेरी सब पुस्तकें प्रकाशित करता है। मैं ने सब कापीराइट नवजीवन को दिये है, क्योकि मैं उस को अपनी ही संस्था मानता हूँ। यह पुस्तक ज्ञानपीठ को देने की मेरी इच्छा मैं ने नवजीवन को बतायी और उन्होने यह मान्य की। इस लिए अनुमति देने के लिए नवजीवन प्रकाशन मन्दिर को, और पुस्तक प्रकाशित करने का भार उठाने के लिए भारतीय ज्ञानपीठ को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ। इस प्रकाशन के द्वारा ज्ञानपीठ के साथ जो सम्बन्ध जुड गया उस की मुझे प्रसन्नता है।

—*काका कालेलकर*

३१-१०-७०
नयी दिल्ली

हिन्दूधर्म क्या है ?

विराट् हिन्दूधर्म

किसी ने मुझ से पूछा, "हिन्दूधर्म की व्याख्या क्या है ?"

मैं धर्म की व्याख्या नहीं करने लगूँगा, यद्यपि मेरे पास दो-एक व्याख्याएँ पडी हैं। मैं तो हिन्दूधर्म का स्वरूप समझाऊँगा। उस में हिन्दूधर्म की विशेषता भी स्वत आ जायेगी।

परन्तु हिन्दूधर्म के बारे में कहूँ इस से पहले धर्म के बारे में कुछ सामान्य बातें मुझे कहनी चाहिए, तदनन्तर हिन्दूधर्म को लूँगा।

धर्म—यानी जीवन-व्यवस्था। अपना, अपने कुटुम्ब का और अपने समाज का जीवन अच्छी तरह चले इस के लिए मनुष्य जो व्यवस्था पाता है, गढता है, स्वीकारता है और वंश-परम्परा चलाता है उस जीवन-व्यवस्था को धर्म कहते हैं। प्राणियो का जीवन सुखी हो, वशपरम्परा अच्छी चले और प्रभावशाली साबित हो इस के लिए धर्म बने हैं। "प्रभवार्थाय भूताना धर्म-प्रवचन कृतम्।" और जगह कहा है, "धर्मो धारयते प्रजा।" इस लिए कि धर्म की वजह से प्रजा का धारण, भरण और पोषण होता है। धर्म है इसीलिए मनुष्य प्राणी समाज बन कर एकत्र रहते है और उन्नति में परस्पर सहयोग करते हैं।

जिन सामाजिक सद्‌गुणो का अनुशीलन करने से लोगों का चरित्र बनता है और लोग सामाजिक जीवन की आदत डाल सकते है, वह है—धर्म।

मनु महाराज ने ऐसे दस सामाजिक सद्‌गुण बताये है और 'दशक धर्मलक्षणम्' कहा है .

"धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ॥"

गीता ने ऐसे सामाजिक सद्‌गुणो को दैवी सम्पत्ति कहा है और उस में २६ गुण बताये हैं। उन गुणो की बात आगे करेंगे। अभी तो इतना ही समझ लें कि जिन से व्यक्ति का जीवन उन्नति का पोषक बने और सामाजिक जीवन

कल्याणकारी और सर्वोदयी हो ऐसे सद्गुणों का अनुशीलन कर के जिस प्रकार की जीवन-प्रणाली मनुष्य बाँधता-बनाता है—वह धर्म है। धर्म का अर्थ ही है समाज को बाँधने वाला तत्त्व। 'धारणात् धर्मम् इति आहु.'।

मनुष्य निरोगी और सशक्त हो, दीर्घायुष्य भोगे। पति-पत्नी की पारस्परिक निष्ठा मज़बूत हो। बालकों को अच्छी शिक्षा मिले और वे संस्कारी बनें। आजीविका के साधन सुलभ हों। मनुष्य-मनुष्य के बीच का व्यवहार शुद्ध और परस्पर हितकारी हो। ज्ञान और कौशल्य की उत्तरोत्तर वृद्धि हो। साहित्य, संगीत, कला, स्थापत्य इत्यादि द्वारा जीवन की अभिरुचि उच्च बने। बालक, स्त्रियाँ, वृद्ध, बीमार और मेहमान आदि की उपेक्षा न हो और चारित्र्य की उन्नति के द्वारा जीवन सर्वोदयी मंगल और सर्वहितकारी बने इस के लिए जो जीवन-व्यवस्था, रस्मोरिवाज और आदर्श हम बनाते-बरतते हैं वे सब धर्म में आ जाते हैं।

ऐसे धर्म दुनिया में अनेक बने हैं। और इस से तरह-तरह के समाज इस दुनिया में विकसित होते हुए दिखाई देते हैं।

ऐसे सब समाजों ने मनुष्य की उन्नति के लिए चारित्र्य में संयम, खडतलपन (कठिनाई सहन करने की शारीरिक और मानसिक शक्ति), निष्ठा और उदारता को आवश्यक माना है। और ऐसे सद्गुणों के अनुशीलन के लिए ईश्वरनिष्ठा जरूरी है ऐसा महसूस किया है।

यह भी देखा कि मरण के साथ जीवन समाप्त नहीं होता। मरण के बाद भी जीवन-चक्र चलता रहता है यह खयाल दृढ करने के लिए इहलोक और परलोक की कल्पना की। स्वर्ग और नरक के चित्र खींचे तथा धर्म और नीति को मज़बूत करने के लिए पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की कल्पना की बात समाज के मन में पक्की बिठायी, समझाया कि जीवन यानी जन्म-परम्परा।

इस प्रकार धर्म की कल्पना में और व्यवस्था में ईश्वर, स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म, श्राद्ध आदि अनेक कल्पनाएँ आयी और दृढ हुईं। इस लिए जो मनुष्य ईश्वर को मानता है उसे आस्तिक और धर्मनिष्ठ कहते हैं। जो ईश्वर को नहीं मानता उसे अधार्मिक और नास्तिक बताते हैं। धर्मों को ईश्वर, इहलोक, परलोक, पुनर्जन्म आदि कल्पनाएँ भाती हैं, परन्तु धर्म की शुद्ध व्याख्या के अनुसार ईश्वर विषयक निष्ठा धर्म के लिए ज़रूरी ही है ऐसा नहीं है। आज जिन्हें हम आस्तिक और नास्तिक कहते हैं वे सब धर्मनिष्ठ हो सकते हैं। एक मिसाल लें। हमारे यहाँ जैनधर्म है। जैन आत्मा में विश्वास करते हैं, महावीर आदि तीर्थंकरों को भगवान् कहते हैं, 'केवलज्ञान होने से मुक्त हो सकते हैं' ऐसा

भी मानते हैं, फिर भी ईश्वर को नही मानते। दूसरी मिसाल बौद्धधर्म की है। बौद्ध न तो मानते हैं ईश्वर को न आत्मा को, फिर भी पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, जन्मान्तर सब को मानते हैं। आत्मा को नही मानते लेकिन संस्कार-समुच्चय को मानते हैं। ये संस्कार देह छूटने के बाद नयी देह धारण करते हैं ऐसा मानते है। संक्षेप में ईश्वर या आत्मा को न मानने वाले लोग भी धार्मिक हो सकते हैं।

नास्तिक लोग भी अगर जीवन-व्यवस्था का निर्माण उत्तम रीति से करें और वह व्यवस्था कल्याणकारी साबित हो तो उस व्यवस्था को धर्म कहने में कोई हर्ज नही है। इस प्रकार कुछ लोग साम्यवाद को एक नया धर्म मानते हैं।

अब यो धर्म की कल्पना स्पष्ट करने के बाद एक दूसरा भेद समझाऊँगा, तभी हिन्दूधर्म की विशेषता को स्पष्ट कर सकूँगा।

हमारे यहाँ धर्म और पन्थ ऐसे दो शब्द प्रचलित हैं। पन्थ को हिन्दी में फिरका भी कहते हैं। पन्थ का अर्थ क्या है? अमुक मनुष्य को ही, वह पवित्र है, सिद्ध है, धर्म-सस्थापक है या अवतारी पुरुष है ऐसा मान कर, उसी को स्वीकार कर जो चलता है उसे पन्थ कहते है। अमुक को ही धर्म-सस्थापक मानने के बाद उस का उपदेश, उस के वचन या ग्रन्थ वही प्रमाणिक है, उस का शब्द-शब्द मान्य है, ऐसा पन्थ वाले मान बैठते हैं। इस तरह व्यक्तिनिष्ठा और ग्रन्थनिष्ठा बनती है। धर्म-संस्थापक सर्वज्ञ है और उस के अनुयायित्व को स्वय स्वीकार किया है यह मन में निश्चित होने के बाद उस के चलाये हुए रस्मरिवाजो को भी स्वीकार करना ही चाहिए इस को भी मन स्वीकार करता है। इस प्रकार व्यक्तिनिष्ठा, वचननिष्ठा, ग्रन्थनिष्ठा और रीति-रिवाजो का आग्रह-ये सारी बातें पन्थ में आ जाती है।

हमारी व्याख्या के मुताबिक धर्म अमुक किसी सस्थापक व्यक्ति से बँधा हुआ नही है। अमुक किसी ग्रन्थ से चिपके रहना उसे स्वीकार नही है। परन्तु सभी धर्म-संस्थापको, नबियों, पैगम्बरो, ऋषि-मुनियो और सन्त-महन्तो को धर्मपुरुषो के तौर पर स्वीकार करता है। वेद, गाथाएँ (पारसियों की), उपनिषद्, कुरान, बाइबल (तौरात एवं इन्जिल) इत्यादि सभी धार्मिक ग्रन्थो को वह वन्दनीय मानता है। सब से प्रेरणा पाता है। सब का स्वीकार, इनकार किसी का नही, और अपनी हाजत के मुताबिक अपनी साधना निश्चित करने की छूट—यह है धर्म का लक्षण। जो वस्तु जँचती नही उसे तुरन्त अमान्य करने की अपेक्षा और उस का विरोध करने के बजाय सच्चा धार्मिक मनुष्य कहेगा कि "इस वस्तु का कुछ रहस्य तो होगा ही परन्तु इस वक्त वह मेरी समझ में

नही आता। जब इतने बड़े-बड़े और पवित्र लोग ऐसी बातो को मानते हैं, तब उस के प्रति मेरा अनादर कैसे हो सकता है ? और फिर भी जब तक वह मुझे जँचती नही, तब तक उस का स्वीकार भी मैं कैसे करूँ। इस लिए ऐसी बातो में मैं तटस्थ रहना पसन्द करता हूँ।" धार्मिक मनुष्य कहता है कि निर्णय मुलतवी रखना यही मेरे लिए शक्य है। और यह भी वह कहेगा (यह बात आज सब से महत्त्व की है) कि जहाँ मुझे दो बातों में विरोध मालूम होता है, वहाँ किसी दिन मैं देख सकूँगा कि शुद्ध और व्यापक दृष्टि से देखने पर विरोध होने पर भी उन में मेल बैठ सकता है। इस बात को हम समन्वय के तौर पर पहचानते हैं।

समन्वय का अर्थ एकवाक्यता नही है। एक ही शास्त्र में एक ही धर्मकार के उपदेश में परस्पर-विरोधी वचन पाये जायें, तब हम कहते हैं कि उस में सचमुच विरोध हो ही नही सकता, हम समझने में गलती करते हैं। ठीक तरह से अर्थ करेंगे तो विरोध समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार सब वचनों में से परस्पर अनुकूल अर्थ निकालना, इसे कहते हैं एकवाक्यता। ऐसा करते समय कभी बहुत अटपटी दलीलें करनी पड़ती हैं, अर्थ की खीचातानी भी करनी पड़ती है। पर लोग दूसरा करें भी क्या ?

सर्वज्ञ, अनुभवी और साक्षात्कारी मनुष्य के वचनो में परस्पर विरोध हो ही नही सकता, इतना स्वीकार करने के बाद उन में से एक ही अर्थ निकालना होगा।

हमारे यहाँ धर्मानुभव का मूल ग्रन्थ वेद माना जाता है। वेद के अन्त में ऋषि-मुनियों के जो वचन और उपदेश आते हैं वे हैं उपनिषद्। इन उपनिषदो में से ही ब्रह्मसूत्र अलग निकाले हैं। और इन उपनिषदो और ब्रह्मसूत्रों के आधार पर रचित ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र के अनुसार जो उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया वह है—भगवद्गीता। स्थिति ऐसी होने से माना गया है कि उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता, तीनो ग्रन्थो में एकवाक्यता ही हो सकती है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता तीनो मिल कर प्रस्थानत्रयी होती है। अपनी सर्व बुद्धिशक्ति और तर्कशक्ति खर्च कर के इस प्रस्थानत्रयी में एकवाक्यता है और उसी का स्वय प्रतिपादन करता है ऐसा जो दिखा सके उसे 'आचार्य' कहते हैं। जो कोई आचार्य प्रस्थानत्रयी में एकवाक्यता दिखाता है उसी की बात लोग सुनेंगे। यह हुई एकवाक्यता की बात।

समन्वय कभी मतभेद से इनकार करने का प्रयत्न नहीं करेगा। समन्वय हमेशा दृष्टिभेद को स्वीकार के लिए तैयार रहता है, परन्तु कहता है, हर एक

वचन के पीछे की भूमिका अलग होती है। उस भूमिका को समझने के बाद भेदो की उलझन नही रहती। अनुभव होता है कि सर्वभेद और अलग-अलग भूमिकाएँ जीवन के लिए और उन्नति के लिए पोषक हैं।

परन्तु हमारे यहाँ दर्शन अनेक चल पडे है। वे आपस में झगडते है। समन्वय-वादी ऐसे झगडो को टालते हैं, क्योकि वे सब पक्षो को यथार्थ रीति से समझते है और सब साधनाओ की खूबियाँ जान कर उन साधनाओ का क्रम भी बिठा देते हैं।

आज तक हमने शास्त्रार्थ के झगडे भी किये। परिणामस्वरूप हम जीवन से दूर गये। अब तो सब दर्शनो का समन्वय, सब धर्मों का समन्वय, सब सस्कृतियो का समन्वय करने के दिन आये है। समन्वय कोई अलग दर्शन नही है, एक वृत्ति है, चाहें तो उसे जीवन-दर्शन भी कह सकते है।

यहाँ गौडपादाचार्य की एक कारिका याद आती है। वे कहते हैं, "भेदो पर भार देने वाले आपस में भले ही लडें-झगडें, हम एकतावादी इतनी ऊँची भूमिका पर हैं कि हमारा किसी से झगडा हो ही नही सकता।"

इतना स्पष्ट होने के बाद ही कहूँगा कि इस्लाम और विश्वासी धर्म—क्रिश्चियानिटी पन्थ ही है, क्योकि वे एक ही प्रोफेट-पैग़म्बर को अनन्य भाव से मानते है, एक ही ग्रन्थ को अपना धर्मग्रन्थ मानते है, एक ही प्रकार के सिद्धान्तो, एक ही प्रकार की परम्परा और रस्मोरिवाजो को स्वीकार करते हैं।

हिन्दूधर्म में अनेक पन्थ हैं। हिन्दूधर्म उन सब को अपने में समा लेता है। अगर दूसरे लोग आपत्ति न करे तो हिन्दूधर्म इस्लाम को और ईसाई धर्म को खुशी से अपने में समा लेने को तैयार हो जाये। हिन्दूधर्म का स्वभाव ही धर्मों और पन्थो का एक कुटुम्ब बनाना पसन्द करता है। इस लिए मैं कहता हूँ कि हिन्दूधर्म अनेक पन्थो का एक विशाल कुटुम्ब है। उस में सब के लिए स्थान है, जितने पन्थ ऊर्ध्वगामी हैं, उन्नति की ओर ले जाते है, उन सभी को स्वीकार करना हिन्दूधर्म पसन्द करता है। स्वीकार करने के बाद उन में परस्पर मेल और व्यवस्था पैदा की जा सकती है।

हिन्दूधर्म है तो एकेश्वरवादी। परन्तु जैसे निरीश्वरवादियो के प्रति वह द्वेषभाव नही रखता वैसे ही अनेक देव-देवियो की कल्पना से भी उसे घृणा नही है। वेदो में ही कहा है, "एकम् सत् विप्रा बहुधा वदन्ति"। ईश्वर या परम तत्त्व तो एक ही है। परन्तु सुज्ञ (सुजान) लोग इसे अनेक नामो और रूपो से पहचानते हैं। हिन्दू-समाज में अनेक प्रकार के वंश (Races), जातियाँ और पन्थ मिल गये है। वे सब अपनी-अपनी अभिरुचि के अनुसार जैसी चाहें

उपासनाएँ चलाते हैं, देव-देवियो की कल्पना करते हैं। उस समाज में संस्कृति के ऊँचे-नीचे विविध स्तर हैं। उन सब का समन्वय ही है हमारा हिन्दूधर्म। इस धर्म में विविधता को पूरी-पूरी (हद से ज़्यादा) गुंजाइश है। और फिर भी सब में एक प्रकार के वातावरण की एकता क़ायम रखी हुई है या पैदा की जाती है। यही है हिन्दूधर्म का वैशिष्ट्य। हम एक ही मिसाल लें। असंख्य देव-देवियो में कुछ व्यवस्था लाने के लिए अनेक श्रुतियों, स्मृतियों, पुराणों, आगमो और तन्त्रो को एकत्र लाने के लिए श्रीशंकराचार्य ने शिव, विष्णु, देवी, गणेश और सूर्य इन पाँचो की प्रधानता मानी और सब देव-देवियो को इन पाँचो के ही रूप, विभूतियाँ, प्रकार या अवतार माने और सुझाया कि अपने अभ्युदय के लिए मनुष्य इन पाँचो की एक साथ पूजा करे। इन पाँचो में से जिस के प्रति विशेष भक्ति हो उसे इष्टदेव मान कर उसे बीचमें रख कर शेष चारो को चार कोनों में बिठावे, परन्तु पूजा तो पाँचों की एक साथ करे। ऐसी पंचायतन पूजा के द्वारा विरोध टला और समन्वय सधा।

जब बौद्धधर्म बहुत फैला और समाजमान्य हुआ तब वैष्णवों को लगा कि इस का भी पंचायतनों में स्वीकार होना चाहिए। इस लिए उन्होने स्वीकार किया कि बुद्ध भगवान् राम और कृष्ण के बाद का नया और नवाँ अवतार है। उन्होने यह भी माना कि बुद्ध भगवान् के बाद दसवाँ अवतार होने वाला है। (मुझे स्वय लगता है, बुद्ध भगवान् का जीवन, उन की जीवन-दृष्टि और उन का जीवन-कार्य देखते बुद्ध भगवान् को विष्णु का अवतार कहने की अपेक्षा शिव जी का अवतार कहना चाहिए। विष्णु तो इस मायामयी सृष्टि के पालक हैं, जब कि शिव जी भव-बन्धन का नाश करते हैं।)

पंचायतन के बाद मनुष्य को लगा कि ईश्वर जब मनुष्य हो कर उद्धार का मार्ग दिखाता है और मनुष्य जाति का पथ-प्रदर्शन करता है तब उसे गुरु के रूप में ही पूजना चाहिए। उस में सब देव-देवियाँ समा गये हैं। सगुण और निर्गुण ब्रह्म भी वही है। इस प्रकार पंचायतन में एक बढा ऐसा कह सकते हैं। इस लिए अब हिन्दूधर्म षडायतन हुआ।

इस प्रकार विचार करने से गुरु द्वारा ईश्वर को भजने वाले सिख लोग जैसे हिन्दू-धर्म, हिन्दू-समाज और हिन्दू-संस्कृति के एक अंग हैं उसी प्रकार भारत के ईसाइयों को भी गुरु-सम्प्रदाय के मानकर हम खुशी से अपना सकते हैं।

और जो ईश्वर को नहीं मानते, उन्हें भी बाहर रखने की ज़रूरत नहीं है। ईश्वर जैसे सद्रूप है वैसे असद्रूप भी है। अपनी विभूतियाँ गिनाते हुए गीता के भगवान् कहते हैं—"सत् असत् च अहम्, अर्जुन!।" मतलब कि ईश्वर असत्

रूप मे भी मनुष्य को मिल सकता है और उस का मार्गदर्शन भी कर सकता है। ईश्वर के लिए कुछ भी असम्भव नही है। यो हिन्दूधर्म अत्यन्त व्यापक है और उस में सब पन्थ, दर्शन और धर्म समा सकते हैं। वह एक विशाल धर्म-समाज है। मानव-मात्र उस में आ सकते है।

ऐसे विशाल, व्यापक, सर्वसमन्वयकारी धर्म को हम दूसरो का अनुकरण कर के संकुचित न बनायें। उस की व्यापकता ही उस की सर्वकल्याणकारिता है, वही उस की विशिष्टता है।

(१ मई १९६५)

प्रामाण्य बुद्धि का आज का अर्थ

हिन्दूधर्म को वैदिक धर्म कहते हैं। विदेशी लोग उसे ब्राह्मण धर्म भी कहते हैं। हम लोगो ने उस का वर्णन दो तरह से किया है : १ सनातनधर्म, २. श्रुति-स्मृति-पुराणो का धर्म। कभी-कभी लोग श्रुतिस्मृति-पुराणो के अन्दर आगम और तन्त्र को डाल कर उस व्याख्या को अद्यतन बनाते हैं। कभी-कभी लोग हिन्दू-धर्म को सकुचित बना कर उसे 'वर्णाश्रमधर्म' भी बताते है।

इसी धर्म का विशुद्ध रूप बना कर राजा राममोहनराय ने उसे नाम दिया ब्राह्मधर्म। लेकिन उन का दावा था कि ब्राह्मधर्म हिन्दूधर्म नही है। वह एक स्वतन्त्र धर्म है जिस के ऊपर इस्लाम का और ईसाईधर्म का भी असर है। इसी तरह मध्यकाल में सिख गुरुओ ने हिन्दूधर्म को विशुद्ध करने का प्रयास किया था। आज सिख लोग अपने को कभी-कभी हिन्दुओ से अलग मानते हैं।

असली हिन्दूधर्म को अगर पहचानना है तो उसे वैदिक धर्म ही कहना चाहिए। जो लोग वेदग्रन्थ को प्रमाण मानते हैं वे ही शुद्ध सनातनी धर्म के अन्तर्गत माने जाते है।

आर्यसमाज ही एक ऐसा पन्थ है जिस ने केवल वेद को ही प्रमाण माना है और उस के बाद जो धार्मिक साहित्य तैयार हुआ है उसे छोड दिया। उस के प्रति कुछ अनादर भी शुरू-शुरू में बताया जाता है।

मनुस्मृति ने कहा है, "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" इत्यादि। वेद के नाम से पहचाने जाने वाले समस्त साहित्य को धर्म का मूल कहा है। लोकमान्य तिलक

ने इसी धर्म की व्याख्या करते पहला लक्षण बताया है—"प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु।" हर एक हिन्दू को सब वेदो के प्रति प्रामाण्यबुद्धि धारण करनी चाहिए।

इस प्रामाण्य का अर्थ क्या है ? रूढिवादी पण्डित कहेंगे—हमारे सब वेद अनादि अनन्त है, किसी के बनाये हुए नही। वेद परमात्मा का श्वसित है। ऋषियो ने ये मन्त्र बनाये नही, सिर्फ देखे। सब वेद ईश्वर का वचन होने से उन की सत्यता के बारे में, कभी शका होनी ही नही चाहिए। वेद में जो कुछ कहा है वह परम सत्य है। उस को स्वीकार करने के लिए हम बँधे हैं। अगर वेद की कोई बात हमारी बुद्धि में नही आती, नही बैठती तो वह बुद्धि का दोष है। वेद में अचिन्त्य बातें भी होती हैं। उन पर तर्क का प्रहार नही करना चाहिए। जिस का ज्ञान और पाण्डित्य कम है उस से वेद भी डरते हैं कि वह मूर्ख मुझ पर प्रहार करेगा।

दूसरे-दूसरे धर्म के लोग भी कहते हैं कि हमारे धर्मग्रन्थ भी ईश्वर प्रदत्त हैं (They are revealed)। यहूदियो के तौरात (Old Testament) को इस तरह से प्रमाण-ग्रन्थ ही मानना चाहिए। ईसाई लोग कहते हैं कि तौरात प्रमाण-ग्रन्थ तो है किन्तु अधूरा है। ईसामसीह ने आ कर उसे पूर्ण किया। ईसा के शिष्यो ने जो कुछ लिखा है उसे 'इजील' (New Testament) कहते है। ये दो मिल कर ईसाइयो का धर्मग्रन्थ बनता है।

इस्लामियों का कहना है कि भगवान् ने समय-समय पर हर एक देश में कोई न कोई नबी भेजा ही है। भगवान् स्वय इन नबियो के द्वारा मनुष्य को धर्म का ज्ञान देता है। लेकिन मनुष्य अपनी बुद्धि की जडता के कारण धर्म का स्वरूप बिगाड देता है। इस लिए खुदाताला अल्लाह ने बाबा इब्राहीम के धर्म को शुद्ध कर के मुहम्मद पैग़म्बर साहब को शुद्धधर्म दिया। वह इतना स्वच्छ और शुद्ध है कि सुनते ही जँच जाता है। ईश्वर के फरिश्ते आ कर ईश्वर का सन्देश मुहम्मद पैग़म्बर साहब को सुनाते थे। वही सन्देश ध्यान की अवस्था में मुहम्मद पैगम्बर साहब के मुँह से निकलता था जो आस-पास के लोग लिख रखते थे और पैग़म्बर साहब होश में आने के बाद इन वहियो की रचना बताते थे।

धर्म का इतिहास लिखने वाले आज-कल के विद्वान् धर्मों के दो विभाग करते हैं। एक को कहते है 'Natural religions' और दूसरा है 'Revealed religions'।

अफ्रीका अथवा और दूसरे किसी जगह के जगली लोगो के मन में जो धर्म-भावनाएँ आप-ही-आप उठती हैं अथवा उगती हैं वह है क़ुदरती या प्राकृतिक

धर्म। वह ईश्वरप्रणीत न होने से उस में गलतियाँ हो सकती हैं। उस में मनुष्य का बुद्धिबल चल सकता है। उस में समय-समय पर परिवर्तन भी होता है। लेकिन आखिरकार मनुष्य की बुद्धि की भी कुछ कीमत है। कुदरती तौर पर उगी हुई धर्मभावना में काफी अच्छाइयाँ भी हो सकती हैं। इसी लिए हम कुदरती या नैसर्गिक धर्म का अध्ययन तो जरूर करे। उस में जो अच्छाइयाँ मालूम हो उन का आदर भी करें। लेकिन वे धर्म भावनाएँ ईश्वर का वचन न होने से उन के लिए हम प्रामाण्य बुद्धि न रखें।

अब जो धर्म ईश्वर प्रणीत (Revealed) हैं उन में भी भिन्नता दीख पडती है। ईसाई लोग बाइबिल को मानेंगे लेकिन कुरान को नही। मुसलमान लोग इसी तरह बाइबिल को अच्छा ग्रन्थ कहते हुए भी इस को प्रामाणिक नही मानेंगे।

तब सवाल उठता है कि एक ही भगवान्ने मनुष्य जाति को जो धर्म दिया उस में इतना फर्क क्यो ? अगर हम मानें कि वे धर्म ईश्वर-प्रणीत है तो सब ग्रन्थो को मानना चाहिए। उन का मनमाना अर्थ करने का अधिकार हर एक को होना चाहिए।

अब ये जितने ईश्वर की ओर से आये हुए धर्म हैं उन मे दो-तीन बातें पायी जाती है। हर-एक धर्म वाला किसी एक धर्म-सस्थापक ईश्वरप्रेरित पैगम्बर, नबी (अथवा prophet)•को मानता है और एक ही ग्रन्थ को प्रामाणिक मानता है और उसी मे बतायी हुई राह पर चलता है। पारसी लोग जरथुस्त्र के वचन के अनुसार चलेंगे। ईसाई ईसामसीह के उपदेश को ही प्रमाण मानेंगे। और इस्लामी लोग पैगम्बर मुहम्मद साहब की वही को और उन की हदीसो को ले कर चलेंगे।

यहूदियो के नबी अथवा पैगम्बर एक से अधिक हैं। हज़रत मूसा, हज़रत अब्राहम आदि कई पैगम्बरो के वचनो के अनुसार वे चलते हैं। वे मानते है कि भगवान् ने यहूदियो को खास पसन्द कर के उन्ही के लिए धर्मोपदेश किया और जीवन-सगठन का रास्ता बताया।

हिन्दू धर्म ही एक ऐसा धर्म है जो वेदकाल के ऋषियो को ले कर आज तक के सब पवित्र धर्म-सस्थापको को मानता है। सब धर्म-ग्रन्थो के प्रति उस के मन में आदर है। हिन्दू धर्म का यह भी कहना है कि हरएक मनुष्य को उस का स्वभाव और उस की अभिरुचि के अनुसार मन-पसन्द जीवन-साधना का अधिकार है। पिता द्वैतवादी हो और उस का लडका अद्वैतवादी तो उस का विरोध कोई नही करेगा। पति शाक्त हो और पत्नी वैष्णव हो तो दोनो एक-

दूसरे की साधना का आदर करते हैं। और तो और, गुरु और शिष्य की साधना एक समान हो, यह भी जरूरी नहीं। महाराष्ट्र के जनार्दनस्वामी दत्त उपासक थे और उन के लोकोत्तर गुरुभक्ति वाले अनन्य शिष्य एकनाथ कृष्णोपासक थे। इतनी स्वतन्त्रता और उदारता अन्यत्र नही मिलती।

हिन्दूधर्म का कहना है कि ईश्वर तो एक ही है, एक ही हो सकता है। लेकिन हरएक आदमी ईश्वर को एक ही ढग से नही पहचानता। कोई कहेगा ईश्वर न्यायी है, कोई कहेगा ईश्वर दयालु है, कोई कहेगा ईश्वर माँ के समान है, दूसरा कहेगा, नही ईश्वर तो पिता तुल्य ही हो सकता है। ऐसो को मुसलमान कहेंगे, कैसी वाहियात बातें करते हो! ईश्वर शादी थोडे ही करता है? ईश्वर न किसी का पिता है न लडका। वह है मालिक और हम हैं गुलाम।

दुनिया के ज्यादातर लोग कहते हैं, ईश्वर है सर्जनहार। दूसरे कहते हैं, ईश्वर सर्जनहार तो है लेकिन हम उस की पूजा करेंगे पालनहार के तौर पर ही।

गहराई में उतर कर सृष्टि का रहस्य समझने वाले लोग तीसरे ढग से कहते हैं, कि सृष्टि में दिन-रात विनाश का क्रम भी तो चलता ही है। नाश करने वाले भी भगवान् ही हैं। नाश किये बिना नव-निर्मिति नही हो सकती। जो चीजें पुरानी हो गयी, कालग्रस्त हो गयी, बिगड गयी उन को सड़ते रहने देना बडी कठोरता और लापरवाही होगी। इसलिए जो लोग जीवन में ताजगी चाहते हैं, प्रगति चाहते हैं, उन को तो भगवान् का सहार करने वाला रूप ही हिम्मतपूर्वक पहचानना चाहिए, मुलायम दिल के लोग भले ही ईश्वर के संहारक रूप से डरें, हम तो बुजदिल नहीं हैं, हम तो ईश्वर को माता भी कहेंगे और उस की काली के रूप में पूजा भी करेंगे। हिन्दूधर्म कहता है कि भगवान् की विभूतियाँ अनन्त हैं। जिस का दिल जिस विभूति पर बैठ जाये उसी रूप में वह भगवान् की पूजा करे। भगवान् सब के हृदय को पहचानता है। हर एक की पूजा स्वीकार करता है। यूँ देखा जाये तो भगवान् के सामने सब-के-सब लोग अज्ञान ही हैं। भगवान् थोडा ही भेद करता है कि एक के अज्ञान को क्षमा करूँगा और दूसरे के अज्ञान को सजा दूँगा। भगवान् कहता है कि मुझे नहीं मानने वाले और जोर-जोर से मेरा विरोध करने वाले भी आखिरकार मेरे ही बच्चे हैं। मेरा बहिष्कार करते हुए भी वे मेरा ही ध्यान करते हैं। उस ध्यान का पुण्य मैं उन्हें देता हूँ।

हिन्दू धर्म का यह खास लक्षण है कि वह सब ऋषि-मुनियो के अवतारो को और नबी-पैग़म्बरों को मानता है। यानी उन की ओर इज्जत की निगह से देखता है। हिन्दू धर्म को सब धर्म-ग्रन्थ पूज्य हैं। सच्चा हिन्दू सब ग्रन्थों को

आदर से पढेगा। उन में से जो बात दिल को जँच जाये उस को ग्रहण करेगा। जो बात समझ में नही आती उस की निन्दा न करते हुए उसे बाजू पर रखेगा। गान्धीजी ने भी एक बार कहा था, "ईश्वर न किसी का पिता है न किसी की माता है। लेकिन ईश्वर इतना उदार है कि वह हमें इजाजत देता है कि हम उस की पिता या माता के रूप में पूजा करे।" गीता के भगवान् ने कहा ही है कि "जो लोग जिस ढंग से मेरे पास आते हैं उसी ढंग से मैं उन को स्वीकार करता हूँ और उन की उसी ढग से सहायता करता हूँ। आखिरकार वे आना चाहते हैं मेरे ही रास्ते पर।"

एक मुसलमान ने इस्लाम के कलमा का ऐसा ही अर्थ लगाया था। एक ईश्वर के बिना दूसरा कोई ईश्वर नही है। यानी लोग किसी भी तरह भगवान् को पहचाने, उन की इबादत अकेले भगवान् को अवश्य पहुँचती है। जिन में भी भगवान् माने जाते है उन सब में एक ही भगवान् है।

जब हम सब धर्म-संस्थापको को मानते हैं, सब धर्म-ग्रन्थो को आदर से पढते है और सब साधनाओ को स्वीकार करते है तब हमें एक तरह की पवित्र स्वतन्त्रता भी मिलती है। 'सब को सुनना, अपने हृदय की बात करना' यह वचन केवल धूर्त लोगो के व्यवहार की बातें नही उस में एक उदार आध्यात्मिक तत्त्व भी भरा हुआ है।

इस तरह के सर्वधर्मसमभाव के साथ वेद-प्रामाण्य का अर्थ क्या होता है? जो लोग दुनिया के सब देशो के और सब वशो के लोगो का इतिहास जानते हैं और जिन्होने विकासवाद को सार्वभौम बनाया है, ऐसे लोग सब धर्मों के प्रति विकासवाद की दृष्टि से देखते हैं। वे कहते है कि किसी भी धर्म का इतिहास लीजिए, उस में धीरे-धीरे परिवर्तन होता जाता है। पुरानी बातें छूट जाती हैं अथवा गौण बनती है, नयी-नयी प्रवेश होती हैं। और मनुष्य का स्वभाव भी ऐसा है कि वह पुरानी बातो का नया अर्थ कर के पुरानी और नयी दोनो को एकरूप बना देता है। इसी को रसायन कहते है। हिन्दूधर्म दुनिया के सब धर्मों से पुराना है। उस में समय-समय पर परिवर्तन होता आया है। उस ने कई बाते छोड दी और गौण बनायी और बहुत-सी नयी-नयी बातें ले ली और आत्मसात् की।

ऐसे धर्म के लिए, नये धर्म को भी अपनाना कठिन नही है। इसीलिए तो हिन्दू लोगो का विश्वास सनातन धर्म पर है। 'सनातन' का मूल रूप है 'सदातन'— जो हमेशा है, हमेशा रहेगा और बढता जायेगा, उसी को कहते हैं सनातन धर्म। मैंने सनातन की एक नयी व्याख्या की है—'सनातन' याने 'नित्य-नूतन'।

जो धर्म कालग्रस्त चीजों को छोड़ देता है, नयी-नयी जरूरी बातें अपनाता है और हमेशा के लिए जो ताजा रहता है— वही है नित्य-नूतन। उस के लिए बुढ़ापा नही है। सब को स्वीकार करके वह सार्वभौम बनता है। उस के लिए कोई भी धर्म पराया नहीं है।

हिन्दूधर्म का इतना ही कहना है कि हमारा मूल स्रोत वैदिक साहित्य में है, वैदिक परम्परा में है। इस उद्गम के प्रति हमारा आदर, हमारी भक्ति होनी ही चाहिए। हम अपने पुरखों का अनुकरण नहीं करते, उन के रास्ते नही चलते, तो भी, उन के प्रति एक तरह का आदर रखते हैं। हम इस बात को इनकार नहीं करते कि वह हमारे पुरखा हैं। हम लोगो में जो भी धर्मबुद्धि है, अच्छाइयाँ हैं, पुरखो की बदौलत ही हैं दुनिया की सब चीजो की हम टीका-टिप्पणी करेंगे लेकिन अपने पुरखों की टीका-टिप्पणियाँ नही करेंगे। आज हमारे वेद-प्रामाण्य का इतना ही अर्थ है। वेदकाल की जो बातें हमें अच्छी नही लगती, किंबहुना, जो चीजें हमें बुरी लगती हैं, उन को हम स्पष्ट शब्दो में बुरी नहीं कहेंगे। हम इतना ही कहेंगे कि उस जमाने मे वे चीजें अच्छी होंगी, आज के कलियुग में वे अच्छी नहीं हैं। इसी लिए उन को छोड देते हैं। ऐसी चीजों को कलिवर्ज्य कहते हैं।

आज देखा जाये तो वेद की भाषा इतनी पुरानी है कि उस का अर्थ करना मुश्किल है। अनेक लोगो ने अनेक अर्थ किये हैं। कोई नही कह सकता कि वेद के हर एक वाक्य का सच्चा अर्थ हमें मालूम है। लोग वेदो को पढते हैं। उन में से जो वाक्य, ऋचा अथवा मन्त्र उन को अच्छा लगता है उस पर बडे-बड़े भाष्य लिखते हैं। जो बातें समझ में नही आती अथवा नही जँचतीं उन के बारे में आदर के साथ मौन रखते है। आज हमारे वेद-प्रामाण्य का इतना ही अर्थ है। हम अपनी बुद्धि का उस्तरा हर बात पर चलायेंगे; किन्तु पुरखों के वचन पर नही इस से हमारा तनिक भी नुकसान नहीं होगा। उलटे हमारी परम्परा अक्षुण्ण रहेगी।

जब हम अपने पुरखो के प्रति और अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति आदर से देखते हैं तो औरो को भी,वही अधिकार देना चाहिए। इतना ही नहीं, दूसरो को यही सिखाना चाहिए कि प्राचीनो के प्रति आदर रखना सदाचार का एक लक्षण है और संस्कृति की एक बुनियाद है।

अब दूसरी एक बात।

जो लोग धर्म पुरुष हैं, धर्म संस्थापक हैं उन के मुँह से निकली हुई सब-को-सब बातें धर्म नहीं हो सकती। बल्कि उन के आचरण में भी भले और बुरे

अश होंगे। इसी लिए कहा गया है—"न देवचरितं चरेत्।" पवित्र से पवित्र और परम ज्ञानी ऋषियो ने भी अपने शिष्यो को कहा है—जो हमारे अच्छे आचरण हो उन को स्वीकार करो, उन का अनुकरण और अनुसरण करो। हमारे जो आचरण अच्छे न हो उन को छोड दो। "यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वया सेवितव्यानि, नो इतराणि।"

यही नियम सब धर्म सस्थापको के लिए और धर्मग्रन्थो के लिए है। सनातन हिन्दू धर्म के अभिमानी और सरक्षक श्रीशंकराचार्य ने कहा है कि "सौ श्रुतियाँ (वेदवचन) भी कहे कि अग्नि शीतल है तो भी हम स्वीकार नही करेंगे।"

यही नियम धर्मसाधको के लिए सार्वभौम है कि जो बातें जँचें उन्ही को स्वीकार किया जाये, दूसरो को नही। और भगवान् का वचन है कि जैसे-जैसे तुम निष्ठापूर्वक सत्य का पालन करोगे वैसे-वैसे भगवान् सत्यनारायण तुम को अपने सत्यरहस्य का अधिकाधिक दर्शन करायेंगे। "The spirit of truth will lead you to all Truth" भगवान् की भक्ति करने से भगवान् का सशयरहित और समग्र दर्शन होगा ही। "असशयम् समग्रम् मा ज्ञास्यसि।"

प्रामाण्य का आज हम इतना ही अर्थ करें कि उन वचनो के प्रति हमारे मन में आदर रहे और उन वचनो का यथासम्भव अच्छा ही अर्थ करें और टीका-टिप्पणी करने न बैठे। इस में परम्परा सँभालने की ही मुख्य बात रहती है। बुद्धि का दास्य कभी भी इष्ट नही है।

जहाँ दास्य आया वहाँ समन्वय बुद्धि ही नष्ट हो जाती है। बुद्धि और हृदय को प्रखर रखने से ही समन्वय सूझ सकता है।

(२५ नवम्बर १९६५)

प्रामाण्य-बुद्धि

असल मे हिन्दू धर्म अनेक पन्थो का एक विशाल धर्म-कुटुम्ब है। हम लोग यातो हिन्दू धर्म की संकुचित व्याख्या कर के एक धर्म के अनेक टुकडे कर सकते हैं अथवा उस की व्यापक व्याख्या करके इस धर्म का क्षेत्र, उस की आत्मीयता और कल्याणकारिता बढा सकते हैं।

हम लोगो को भूतकाल की परिस्थिति और भूतकाल के अनुभव के अनुसार चलने की आदत पडी है। वर्तमान काल की परिस्थिति का हम पूरा सर्वेक्षण

नही करते हैं। वर्तमान काल ने जो नयी शक्ति पैदा की है और नये मौक़े हमारे सामने खड़े किये हैं, उन का दर्शन और साक्षात्कार नही होने से हमारी नीति पुराने ढग की हो सकती है। और जहाँ इतिहास-विधाता ने हमारे लिए उज्ज्वल भविष्य सोच रखा है, वहाँ हम पुराने ढंग की आत्मरक्षा की नीति चला कर अपने को दिन-पर-दिन अधिकाधिक कमज़ोर करते जा रहे हैं इसे बदलकर हिन्दू-धर्म, हिन्दू-समाज और हिन्दू-सस्कृति का हमे अद्यतन, व्यापक और विकासक्षम विचार करना चाहिए।

हिन्दू नाम हमारा स्वय पसन्द किया हुआ नही है। औरो ने हमें वह दे दिया। और अपने तई सोचने की आदत न होने से औरो का दिया हुआ यह नाम हम लोग प्रथम लाचारी से, बाद मे सन्तोषपूर्वक और अब अभिमान के साथ चला रहे हैं।

प्रथम हमारे धर्म का नाम था, वैदिक-धर्म। इस का जब विकास हुआ और केवल वेद ही नहीं किन्तु इतर ग्रन्थ भी हमारे प्रेरक बने तब अपने धर्म को हम लोगों ने नाम दिया, श्रुति-स्मृति पुराणोक्त धर्म।

इस व्यापक धर्म ने अनेक पुराने और नये, स्थानिक और व्यापक पन्थो को अपना लिया। इतना ही नही, भूत-प्रेत आदि की पूजा करने वाले आदिम जाति लोगो की धार्मिक-कल्पनाओ, रस्म-रिवाजों और उत्सव आदि का भी समावेश इस में कर दिया। असल वैदिक-धर्म में जो बाते नही थी, ऐसी भली-बुरी कई चीज़ें हम लोगो ने अपनी स्मृतियो में आने दी। और हमारे पुराण तो सब तरह की धार्मिक मान्यताओं को अपनाने के लिए बडे द्वार ही थे।

इस तरह श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त धर्म व्यापक हुआ। उसे भारतीय-धर्म कहना ही उचित था। भारत में जो-जो पन्थ और उपासनाएँ प्रचलित है, उन को एक विशाल कुटुम्ब के अन्दर लाने और उन की व्यवस्था करने की शक्ति हमारे धर्म में थी और एक ओर मनुष्य-मानस के अन्दर डुबकी लगा कर उस में से हम लोगो ने अनेक विशाल, अद्भुत दर्शनरत्न ढूँढ निकाले और उन्हें पहलूदार बनाया। पूर्व-मीमासा, साख्य, योग, वैशेषिक, न्याय और वेदान्त आदि अनेक दर्शनो के द्वारा हम लोगो ने अपना तत्त्व विचार व्यवस्थित और संगठित किया।

दूसरी ओर गृह्य-सूत्र, धर्म-सूत्र से ले कर अनेकानेक स्मृतियो के द्वारा विशाल सामाजिक सगठन भी हम ने किया। इन सब में धर्मपरायणता ही प्रधान थी।

हम कह नही सकते कि हमारे धार्मिक-सामाजिक संगठनों में दोष नही थे

या उस में गलतियाँ नही हुई, लेकिन सब विशाल धार्मिक-सामाजिक प्रयोगों के प्रति हम आदर-बुद्धि से देखते हैं।

इन स्मृतियो ने अपने नियमो के द्वारा जो व्यवस्था चलायी उसे अधिक लोकप्रिय और व्यापक बनाने का काम पुराणो ने किया। इन पुराणो को लिखने वाले अथवा बनानेवाले लोगो की योग्यता एक-सी नही थी। ये पुराणकार भले ही व्यासजी का नाम लें, इन पुराणो की योग्यता समान नही हैं। विशाल धर्म के बारे में इन का आकलन भी हमेशा सन्तोषकारक नही था। सर्व-सग्राहक बुद्धि से इन्हें इकट्ठा किया गया और इन्हें भी धर्म का आधार माना गया।

पुराणो से कुछ भिन्न, और पुराणो से अधिक महत्त्व के, दो ग्रन्थ माने जाते हैं। लेकिन इन का असर हमारे धर्म पर सब से अधिक हुआ है, रामायण और महाभारत।

रामायण, महाभारत और (अठारह पुराण तथा अठारह उपपुराण मिल कर) छत्तीस पुराणो के अन्तर्गत बाद के लोगो ने मनमाने प्रक्षेप डाले है और धर्म-शास्त्र मे अराजकता ही पैदा की है। अराजकता न कह कर अव्यवस्था और अनवस्था पैदा की है, ऐसा ही कहना चाहिए।

इस सर्व-सग्राहक नीति के पीछे व्यवस्था न होने से, हमारे धर्म को श्रद्धा-मूलक स्वतन्त्रता मिल गयी है। वेदकाल से ले कर वर्तमानकाल तक जो भी धर्म-विचार हमारे सामने आये उन को हम स्वीकार ही करते गये। ऐसा करने से धर्म में हर एक को जी चाहे वैसा परिवर्तन और वृद्धि करने का मानो अधिकार ही मिल गया। फ़कीर, औलिया और जादूगर भी जो कुछ विचार या रिवाज ले आये उस को हमारे चंद लोगो ने अंगीकार ही किया है।

इस तरह श्रुति-स्मृति, इतिहास और पुराण और दर्शन के साथ आगम और तन्त्र भी हमारे धर्म में आ गये और हम लोगो ने अपने धर्म के लिए व्यापक नाम दिया, सनातन धर्म। सनातन का अर्थ है सदातन, हमेशा के लिए चलने वाला। वह पुरातन भी है। इस में सब तरह की विचारधाराएँ बहती आती हैं, इसलिए हमने सनातन की व्याख्या की है नित्य-नूतन। सनातन-धर्म में बुढापा नही आ सकता। इस के विशाल प्रवाह में चाहे सो पुरानी चीज़ लुप्त हो सकती है और चाहे सो नयी चीज़ दाखिल हो सकती है,—आओ-आओ घर तुम्हारा—यह हो गयी है इस धर्म की हालत।

ऐसे धर्म की व्याख्या करना आसान काम नही था। लोकमान्य तिलक ने जो व्याख्या बनायी है, सोचने योग्य है।

"प्रामाण्यवुद्धिर्वेदेपु साधनानाम् अनेकता ।
उपास्यानाम् अनियमा. एतद् धर्मस्य लक्षणम् ।"

अथवा 'हिन्दु-धर्मस्य लक्षणम्' कह सकते हैं ।

इस व्याख्या में वेद के प्रति प्रामाण्य वुद्धि का ही आग्रह है, वाकी सव ढीला और खुला है। लेकिन उसी में हिन्दू-धर्म की विशेषता है। उपास्य के वारेमें पूरी स्वतन्त्रता, साधना के वारे में कही भी वन्धन नही। सिर्फ़ वेद का प्रामाण्य मान जाओ तो तुम्हारा हिन्दुत्व सिद्ध हो चुका ।

अव इस वेद-प्रामाण्य-वुद्धि का ही थोडा विचार करना है। यही है इस लेख के चिन्तन का मुख्य विषय और मुख्य हेतु ।

वेदो में 'सत्' याने सत्यनारायण एक होते हुए भी 'वहुवा' याने अनेक प्रकार की देव-देवियो की उपासना है। तरह तरह के यज्ञ और स्वर्ग-प्राप्ति उन का फल, सव देख कर किसी का भी मन इस धर्म के प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक था। इस वैदिक धर्म को आज हम जैसा समझते हैं, इस में स्वर्ग और नरक हैं, मोक्ष है या नही ढूंढना होगा। चार वर्ण हैं और अनुलोम-प्रतिलोम मिश्र वर्ण भी हैं। लेकिन उन की रचना कैसी थी सो हम कह नही सकते। वेदो में स्वर्ग-नरक हैं, किन्तु मोक्ष है या नही इस के वारे मे दो मत हो सकते हैं। वैदिक देवी-देवताओ का लोप कब हुआ और पचायतन-पूजा कव शुरू हो गयी, कहना मुश्किल है। वैदिक धर्म परलोक में विश्वास रखता था। उस के पास परलोक के सुन्दर चित्र भी हैं। लेकिन वह इहलोक-विमुख कभी भी नही था। भुक्ति और मुक्ति दोनो के लिए उस की अनुकूलता थी। लेकिन वैदिक चित्र आदर-पात्र होते हुए भी टिक नही सका। आज हमारे धर्म में शिव, विष्णु, देवी गणपति और सूर्य की ही प्रधानता है। वाकी के सव करोडो देव-देवियाँ अव इन पाँचो के ही रूप अथवा अवतार माने जाते हैं ।

इस पचायतन में और एक को वढा कर अव पडायतन वनाया गया है। यह छठा स्थान है गुरु का। गुरु को ही मानने वाला अवधूत-पन्थ हिन्दूधर्म मे मजवूत हुआ है। आज का सिख-धर्म गुरु के द्वारा भगवान् की उपासना करने वाला धर्म है। और मैं तो कहूँगा कि ईसामसीह के द्वारा भगवान् को पहचानने वाला ईसाई धर्म भी एक तरह से सिख-धर्म ही है। हालाँकि उस के पुराण अलग हैं ।

अव भारत में ऐसे भी पन्थ पनपे जिन्होने सामान्य जनता की उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया। पशु-हत्या करने वाले यज्ञयाग और चार वर्णों का

उच्च-नीच-भाव उन्हें अखरने लगा। इस लिए उन्होने वेदो को प्रमाण मानने से इनकार किया। ऐसे पन्थ हैं—बौद्ध, जैन, लिंगायत आदि।

'प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु' कह कर इन पन्थो को हम ने नाहक अपने सनातन धर्म से बाहर रखा। ईश्वर को न मानने वाले साख्य भी जब हमारे घर के अन्दर रह सकते थे तब बौद्धो को और जैनो को घर के अन्दर रखने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए थी।

जैन और बौद्धो की साधनाएँ, इतिहासक्रम देखते, वैदिक परम्परा में से ही निकली हुई हैं। मैं अपने पुरखो की बातें मानूँ या न मानूँ, पुरखो का इनकार तो नही कर सकता। बुद्ध और महावीर वेद, उपनिषद् और चातुर्वर्ण की सस्कृति के ही फरज़न्द है। जैनियो ने आत्मा को माना और परमात्मा की उपेक्षा की। बौद्ध लोगो ने आत्मा-परमात्मा दोनो को परे रख कर कल्याणकारी धर्म को ही प्रधान पद दे दिया। आत्मा को न मानते हुए सस्कार-समुच्चय का पुनर्जन्म माना और अवतारवाद की जगह बोधिसत्त्वो की पारमिताओ-द्वारा बुद्ध बनना स्वीकार किया।

हमारे चन्द पूर्वजो ने बौद्ध धर्म को वेद-बाह्य माना। लेकिन दूसरे पूर्वजो ने गौतम बुद्ध को विष्णु का नौवाँ और वर्तमान अवतार ही बना दिया। आजकल हमारे धर्मकार्य के सकल्प भी 'जम्बू-द्वीपे' और 'बौद्धावतारे' का स्मरण कर के ही शुरू होते है। ऐसे बौद्ध-धर्म को हम अपने घर से बाहर नही रख सकते।

इस लिए 'प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु' वाली व्याख्या को हटा कर 'वेदान्वयस्य स्वीकार' याने वेद-परम्परा का जिस ने स्वीकार किया है, ऐसा कुछ लक्षण बनाना चाहिए।

आज जो हिन्दू है अथवा जो कोई हिन्दू बनता है वह वेद आदि श्रुति-ग्रन्थो के प्रति आदर तो रखेगा, उन की परम्परा को स्वीकार करेगा, किन्तु उन ग्रन्थो को प्रमाण मानने के लिए बँधा हुआ नही है।

इस प्रामाण्यवाद को हमें एक ओर ही रखना चाहिए। जिन ग्रन्थो को हमने पढा भी नही, जिन का अर्थ हो सकता है या नही इस की भी चर्चा चल रही है, ऐसे ग्रन्थो को आँख मूँद कर प्रमाण मानना और इन ग्रन्थो से जो कुछ भी निकले, उस के अनुसार अपने जीवन को सौंप देने को तैयार हो जाना ज़रा विचित्र-सी बात लगती है।

धर्म हृदय की चीज़ है। जो चीज़ जँचती है, सो तो हम मानेंगे ही, जो नही जँचती उस के बारे में हम आदर के साथ तटस्थ रह सकते हैं। पवित्र

वचनों का अर्थ समझने के लिए हम राह देखेंगे, जीवन की साधना चलायेंगे, धर्म-ग्रन्थ (श्रुति-ग्रन्थ) आदर के साथ पढ़ेंगे, लेकिन प्रमाण तो वही ग्रन्थ होंगे जिन्होंने हमारे हृदय में प्रवेश कर के हमारी बुद्धि को और श्रद्धा को सन्तोष दिया है।

मैं अपने को सनातनी मानता हूँ। आद्य ग्रन्थ के तौर पर वेदों के प्रति आदर रखता हूँ। वेदों के चन्द वचन मेरे लिए शिरोधार्य हो गये हैं। लेकिन वेदों के बारे में प्रामाण्यबुद्धि मुझ में उगी ही नहीं है। महात्मा गान्धी के सत्संग से मेरा जीवन धन्य हुआ है। महात्माजी के वचन आदर से पढ़ता हूँ। उन का कोई वचन न जँचे तो मैं नम्रता के साथ कहूँगा कि उस को स्वीकार करने की हालत में नहीं हूँ। भगवान् से प्रार्थना करूँगा कि उस वचन का पूरा अर्थ समझने की बुद्धि मुझे मिले। लेकिन अगर कोई वचन मुझे जँच न सके (और ऐसे वचन हैं भी) तो उन का स्वीकार करने के लिए मैं बँधा हुआ नहीं हूँ। अगर अन्धा बन कर स्वीकार करूँ तो वह गान्धी-द्रोह होगा। स्वयं गान्धीजी ने ही कह रखा है कि मेरी जो बात तुम्हें पसन्द न आये उस का स्वीकार मत करो। जरूरत पर उस का विरोध भी करो। सब से श्रेष्ठ है आत्मनिष्ठा और सत्य-निष्ठा। उस के अनुसार ही चलो।

वैदिक ऋषियों ने भी यही कहा है कि जो हमारी बातें और हमारा आचरण अच्छा लगे, उसी का अनुसरण करना। गीता के भगवान् ने भी यही कहा है कि मेरा उपदेश आदर के साथ सुनो, उस पर विचार करो और फिर जैसा ठीक लगे वैसे अपनी इच्छाओं का ही अनुसरण करो।

प्रामाण्य बुद्धि अपने हृदय में उगे हुए सत्य के प्रति हो सकती है, आत्मा-नुभव के प्रति हो सकती है। कोई भी धर्म हुक्म कर के अपना प्रामाण्य किसी पर लाद नहीं सकता। सब के सब धर्म भगवान् की ओर से प्रेरित हैं लेकिन उन को सुना, माना, शब्दबद्ध किया और चलाया मनुष्य ने ही। हरेक धर्म में और धर्मग्रन्थ में जो अच्छी बातें हैं, ईश्वर प्रेरित हैं लेकिन ये सारे ग्रन्थ बस उस जमाने के मनुष्य ने अपनी मर्यादा में रह कर ही चलाये हैं।

सार्वभौम सनातन-धर्म सब ऋषि-मुनियों को, अवतारों को, नबी-पैग़म्बरों को और सन्तों को आदरणीय मानता है। सब धर्म-ग्रन्थों को अध्ययन योग्य मानता है। हरेक साधना के प्रति सद्भाव रखता है, क्योंकि वह किसी-न-किसी की मददगार होगी ही। जहाँ एक ही धर्म-संस्थापक, एक ही धर्म-ग्रन्थ और एक ही धर्मसाधना स्वीकार्य है और दूसरों के प्रति अनादर है, वह एक आग्रही पन्थ

है, धर्म नही । धर्म तो सर्वसंग्राहक पारिवारिक वृत्ति का कुटुम्ब-वत्सल होता है । धर्म के परिवार में सब के सब पन्थ अपना-अपना स्थान ले लेते हैं और कृतार्थ होते हैं ।

(१५ अप्रैल १९६७)

सनातन-धर्म किसे कहे ?

भारत में प्राचीन काल से जो धर्म-परम्परा चलती आयी है उस का इतिहास बडा उद्‌बोधक, क्रान्तिकारी और प्रेरणादायक है । जो लोग इस इतिहास का रहस्य यथार्थ रूप में जानते हैं उन्ही के अन्दर कल्याणकारी क्रान्ति करने की विशिष्ट शक्ति प्रगट हो सकती है । इस धर्म-परम्परा को हम वैदिक कहते आये हैं । वेदपूर्वकाल का न है हमे स्मरण, न उस के रूप का परिचय । इस लिए लोगो ने आसान रास्ता लिया और कहा कि वेद सनातन हैं । न उन का कभी प्रारम्भ हुआ, न उन का कोई जन्मदाता है ।

जो चीज अनादि है वह अनन्त भी होती है । इस सिद्धान्त के अनुसार अगर हम वेद शब्द का अर्थ करें तो उस का व्यापक अर्थ करना पडेगा । स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका में अपने भाषण में यही कहा कि अनाद्यनन्त वेद से किन्ही किताबो का बोध नही होता, वेद यानी सनातन आध्यात्मिक ज्ञान । ऋग्वेद आदि जो चार वेद हमारे पास हैं उन का आदि-अन्त हो सकता है । प्रत्यक्ष वेदो में ऋषियो को कहीं-कही 'मन्त्र देखने वाले' कहा है, तो कही-कही 'मन्त्र बनाने वाले' । इन वेदो का कोई एक द्रष्टा अथवा कर्त्ता नही है । अनेक ऋषियो को इन मन्त्रो की प्रेरणा हुई और इन मन्त्रो में से इन को गूढ़ ज्ञान मिलता गया ।

सनातन का दूसरा एक अर्थ है । जो वस्तु अपने पुराने एक ही स्वरूप को पकडने का आग्रह नही करती, जो कालानुसार समय-समय पर अपने रूप में परिवर्तन करने को तैयार है उसे भी हम सनातन कहते हैं । हमारा शरीर बचपन में छोटा था, हमारी हड्डियाँ भी छोटी थी । हम उस को पोषित करते गये । शरीर एक रहते हुए भी उस मे परिवर्तन होने लगा । श्वास के द्वारा, पसीने के द्वारा, मलमूत्र के विसर्जन के द्वारा और नहाते समय शरीर को मलने के द्वारा शरीर के कई तत्त्व हम बाहर फेक देते हैं और अन्न, पानी, हवा और

प्रकाश के द्वारा नये-नये तत्त्व शरीर मे प्रवेश करते हैं। इस तरह शरीर में क्षण-क्षण कुछ कमी भी होती है और कुछ वृद्धि भी। और इस तरह शरीर ताज़ा, जीवित और वर्धमान रहता है।

इस तरह शरीर की ऊँचाई, वज़न आदि में अमुक हद तक वृद्धि होती है। बाद में यह वृद्धि रुक जाती है। लेकिन जैसे वनस्पति आदि में होता है, मनुष्य-शरीर में भी वृद्धि की जगह परिपक्वता आने लगती है, हड्डियाँ मज़बूत होती हैं, शरीर की इन्द्रियाँ ज्यादा समर्थ होती हैं, बुद्धि प्रगल्भ होती है और सारे शरीर की कार्य-शक्ति बढती ही चली जाती है।

मानव सस्कृति का भी क्रम ऐसा ही होता है। सामाजिक विकास, सास्कृतिक विकास किस तरह होता जाता है उस का प्रत्यक्ष अनुभव हम करते आये हैं।

अपने धर्म को हम वैदिक धर्म कहते है इस का सच्चा अर्थ है वैदिक परम्परा का धर्म। जो लोग कहते हैं कि 'हम केवल वेद को ही मानेंगे, वैदिक परम्परा में जो ग्रन्थ पैदा हुए उनके प्रति आदर रखते हुए और उन से इष्ट प्रेरणा पाते हुए उन को मानने के लिए हम बँधे हुए नहीं हैं, मानेंगे केवल वेदो को ही' ऐसे लोग वैदिक परम्परा के प्रति अन्याय करते है। जो ऋषि-मुनि वेदकाल के नज़दीक थे और जिन्हो ने वैदिक सस्कृति का सगोपन किया वे वैदिक संस्कृति को अच्छी तरह जानते थे और वे मानते थे कि उस सस्कृति का विकास करने का उन्हें अधिकार है। हम भी मानते हैं कि ईश्वर की योजना में हर एक ज़माने के पवित्र धर्मनिष्ठ मनीषियो को अपनी संस्कृति का विकास करने का पूरा अधिकार है।

उपनिषद् के कई ऋषि धर्म-चर्चा में अथवा शिष्य को उपदेश देते हुए एक विचार को स्पष्ट करने के बाद कहते हैं—"तद् एतद् ऋचा अभ्युक्तम्।" अर्थात् मैं जो कह रहा हूँ वही वेद की इस ऋचा का भाव है। व्याकरण की दृष्टि से वह सारा भाव इस ऋचा के अर्थ में निकलता है या नही यह देखने का काम ऋषि का नही था। जो भाव वैदिक ऋचा में एक ढग से व्यक्त हुआ वही उपनिषद्कालीन ऋषि के मुँह से व्यापक रूप में ज्यादा स्पष्ट हो कर प्रगट हुआ है।

विकास (evolution) का तत्त्व केवल भौतिक सृष्टि में ही काम नही करता, मानसिक और आध्यात्मिक सृष्टि में भी हम विकास का तत्त्व पूरा-पूरा पा सकते है। इतना ही नही ईश्वर जब मनुष्य को ज्ञान देता है, प्रेरणा देता है, धर्म-रहस्य प्रगट करता है तब उस में भी यह विकास का तत्त्व पाया जाता है।

धर्म के विधान में समय-समय पर विकास होता जाता है। धर्मवचन को समझने में भी मनुष्य शक्ति का क्रमश विकास पाया जाता है। इस विकास को ले कर ही हमने भगवान् को 'काल' का नाम दिया है। भगवान् काल अपनी शक्ति काली के द्वारा सृष्टि की परम्परा चलाता है। परम्परा, विकास, परिपक्वता, परिवर्तन ये सारे शब्द कालबोधक है। भगवान् काल जो कुछ करता है उसी को आजकल के वैज्ञानिक मनीषी विकास कहते हैं। दार्शनिक लोगो ने इस के आगे जा कर उत्पत्ति, विकास, विनाश, पुनरुत्पत्ति नवसर्जन, नवजीवन पर एक साथ विचार कर उसी को कालतत्त्व कहा हैं।

इस अर्थ में सनातन का अर्थ होता है नित्यनूतन। काल भगवान् पुराने रूपो को बदल देता है, उन का विसर्जन करता है, विसर्जन के साथ नवसर्जन करता है। काल को बासी रहना पसन्द नही है। सनातन वही है जो हमेशा ताजा रहता है, अद्यतन होता है। इस नित्यनूतन, अद्यतन तत्त्व को ही सदातन कहा है। (सदातन का ही आसान रूप है सनातन।)

जब कभी कोई मुझ से पूछता है कि आप वेद को मानते है ? तब मैं कहता हूँ, मैं वैदिक परम्परा को मानता हूँ। जब कोई पूछता है वेद को आप प्रमाण मानते है या नही ? मैं कहता हूँ, वैदिक परम्परा का मैं भक्त हूँ, वेदो को परम आदरणीय मानता हूँ। इस का स्पष्टीकरण करते मैं कहता हूँ कि वेदो को पुरानी भाषा में, पुराने शब्दो मे और पुराने अर्थों में मैं बाँध कर रखना नही चाहता। वैदिक परम्परा के पूर्ण विकसित स्वरूप को मैं ग्राह्य मानता हूँ। और प्रमाण मानना तो बुद्धि की और हृदय की चीज है। जो जँच जाये वही मेरे लिए प्रमाण है। आत्मनिष्ठा ही अन्तिम धर्म है। जो चीज़ जँचती नही उस का मैं तुरन्त अनादर न करूँ, नम्र हो कर कहूँगा कि बडो के वचनो के प्रति मेरे मन में परम आदर है। उन के अनुसार चलने की कोशिश भी करूँगा। लेकिन बडो में से एक-दो या दस-बीस आदमियो को ही मैं क्यो मानूँ ? सब बडे लोग मेरे लिए आदरणीय हैं। सब के वचनो के प्रति मेरा सद्भाव रहेगा। इसी सद्भाव को दुनिया श्रद्धा कहती है। श्रद्धा के अनुसार चलने का मेरा प्रयत्न रहेगा। लेकिन मैं चलूँगा तो अपने हृदय की प्रेरणा के अनुसार ही।

मेरी इस भूमिका में कोई नवीनता या विशेषता नही है। प्रत्येक जीवित मनुष्य जब पारमार्थिक रूप से सोचता है तब ऐसा ही करता आया है। ऐसे ही एक आदमी ने दलील की थी "कपिलो यदि सर्वज्ञ कणादो नेति का प्रमा ?" कपिल महामुनि सर्वज्ञ थे, ऐसा आप अगर कहते हैं तो उन्ही के जैसे किन्तु दूसरे ढग से समझाने वाले कणाद महामुनि सर्वज्ञ नही है ऐसा सिद्ध करने के लिए

आप के पास प्रमाण यानी सबूत कौन-सा है ? सारी दुनिया में हर एक आदमी अपने ही ढंग से चलता है। जिस परम्परा के प्रति उस का पक्षपात है उस पक्षपात को निष्ठा कह कर वह अधिक महत्त्व देता है। और उस के बारे में विशेष तर्क चलाने की तकलीफ़ न उठाते हुए उस की बात मानने को तैयार होता है। मनुष्य के लिए यह स्वाभाविक है, मनुष्य की यह मर्यादा है। लेकिन हम कह नहीं सकते कि यही परम सत्य है अथवा यही न्याय है। दूसरे की दृष्टि के प्रति सहानुभूति रखना, और उस दृष्टि से भी सोचने की तैयारी रखना यही है मनुष्य की सस्कारिता और यही है अन्तिम रूप में सत्यनिष्ठा।

भारतीय धर्म-परम्परा में किसी एक व्यक्ति को धर्म-संस्थापक नहीं माना है जैसे इस्लाम में अथवा ईसाई धर्म मे माना है, किसी एक ही ग्रन्थ को सर्वोपरि प्रमाण नही माना है, जैसे ऊपर के दो धर्मों के साथ आर्यसमाजी भी मानते हैं, किसी एक साधना को मान्य साधना मान कर अन्य साधनाओ को अमान्य नहीं किया है।

सनातन धर्म का आग्रह इसी बात का है कि वैदिक परम्परा को मान्य रखा जाये। इस आग्रह को बाद के लोगों ने सकुचित कर के बिगाड़ दिया। वेदों के प्रति आदर-भाव रख कर उस परम्परा को मान्य रखना एक बात थी, और वेदो को ईश्वर का वचन (नि श्वसित) मान कर वेद-वचनो को प्रमाण याने अबाधित सत्य को मानने का आग्रह रख कर सनातनियो ने बौद्ध, जैन, लिंगायत, ब्राह्म आदि दर्शनों को और पन्थो को वैदिक परम्परा से नाहक हटा दिया और खो दिया। इतना कर के भी वैदिक माने जाने वाले आस्तिक दर्शनो में न वे एकवाक्यता ला सके न उन का समन्वय कर सके। बौद्ध, जैन आदि दर्शन और पन्थ भारतीय चिन्तन से ही अनुप्राणित हुए हैं। केवल दार्शनिक नही, किन्तु देव-देवियों की पौराणिक कथाएँ और मोक्ष-प्राप्ति के आदर्श भी किसी-न-किसी रूप में सभी ने अपनाये हैं।

शास्त्रप्रामाण्यवाद का सारा झगड़ा निरर्थक, निष्फल और नि सार-सा मालूम होता है। सर्वज्ञता का संकुचित अर्थ भी वैसा ही है। हम क्यो आग्रह रखे कि कोई एक ऋषि-मुनि, आचार्य, अवतारी पुरुष या धर्मसंस्थापक, नबी, पैग़म्बर अथवा प्रॉफेट सर्वज्ञ थे, त्रिकालज्ञ थे ? अगर काल अनन्त है और विकासशील है, नवनवोन्मेषशाली है और बद्ध नही है तो कोई व्यक्ति, ग्रन्थ, शास्त्र या अध्यात्म साधना त्रिकालदर्शी अथवा परिपूर्ण हो ही कैसे सकते हैं ? अपने-अपने जमाने से बहुत-कुछ आगे, दूर तक देख सकते थे और संकुचित भाव छोड़ कर व्यापक भाव से वे सोच सकते थे, एकांगिता अथवा पक्षाभिमान दूसरों

से कम था इतना हम कह सकते हैं। इस से ज़्यादा कहना और उसी का आग्रह रखना श्रद्धाजडता है और दुरभिमान भी।

बहुत से धर्माभिमानी लोग कहते है कि ऐसा कोई स्थिर आधार माने बिना हम धर्म की इमारत खडी कर ही नही सकते। इन धर्मों के इतिहास कहते हैं कि नीव के लिए जो मजबूत ईंटें रखी जाती हैं उन में जब असत्य, भ्रम अथवा दुराग्रह रहता है तब ऐसी नीव पर खडी की हुई इमारत पूर्णतया सर्वोदयकारी नही होती, उस में दोष आते हैं और सत्य की उपासना खण्डित होती है और झगडे पैदा होते हैं।

हम सत्य के उपासक हैं। सत्य का स्वरूप स्थूल रूप से जानते हैं। उसी के आधार पर उपासना करते सत्य का शुद्ध, विशुद्ध और सम्पूर्ण दर्शन करने की हमारी कोशिश है। इस लिए अनुभूत सत्य के आधार पर जीवन-साधना चलाते हुए सूक्ष्म सत्य का रूप जैसे-जैसे स्पष्ट होता जाये, वैसे स्थूल रूप को सुधारते जायेंगे, अपूर्ण या एकागी ज्ञान का दुरभिमान न रखते हुए गलतियो को स्वीकार करते जायेंगे तो इसी मे उद्धार का रास्ता मिल जायेगा। इस लिए किसी एक ग्रन्थ को नही, सब धर्मशास्त्रो को हम आदरणीय मानेंगे। साधना के अनुभव के बल पर उन का व्यापक अर्थ करते जायेंगे। और जो बातें अनुभव से गलत या बाधक सिद्ध हो जायेगी उन को हम बाजू पर रखेगे, छोड देंगे।

मनुष्य जाति के विकास में ऐसा ही होता आया है। हर एक परिवार में लोग किसी-न-किसी कुल-सस्थापक की परम्परा को स्वीकार करते हैं, पुरखो के प्रति आदर रखते हैं, लेकिन पुरानी काल-ग्रस्त बातो को खुशी से छोड देते हैं, क्योकि उस से अच्छी, ज्यादा सन्तोषकारक बातें मिलने से जीवन-साधना का मार्ग अधिक अच्छा हो जाता है।

ऐसा करते हुए गलतियो की सम्भावना है। किसी अच्छी चीज का महत्त्व ध्यान में न आने से उसे हम छोड बैठेंगे और दूसरी किसी रोचक किन्तु बाधक वस्तु को उत्साह के साथ ले बैठेंगे। ऐसी गलतियाँ होगी। इस का इलाज नही है। गलतियाँ होगी तो उन की कीमत देनी पडेगी। गलतियाँ सुधार देंगे। लेकिन गलतियाँ होगी इस डर के कारण न जँचने वाली चीजो को अन्ध-श्रद्धा से पकड कर नही बैठेंगे।

प्राचीन परम्परा को आदर के साथ चलाना स्वाभाविक है। यह तत्त्व मनुष्य स्वभाव मे है ही किन्तु पुरखो के बारे में आदर बढा कर हम अपनी प्रगति और प्रयोगपरायणता मन्द नही करेंगे। जो लोग कहते हैं कि हम पुरानी बातो को सँभाल रहे है उन में भी अच्छा या बुरा परिवर्तन आ ही जाता है,

फिर वे उसे कबूल करें या न करें। काल भगवान् सर्वसमर्थ है। परिवर्तन उस का ही स्वरूप है। प्रयोगशीलता उस का धर्म है। नयी-नयी चीज़े आजमा कर देखना जीव का प्रधान लक्षण है। इस की उपेक्षा कर के अगर हम भूत काल की बातें फिर से सजीवन करने की चेष्टा करेंगे तो उस में काल-भगवान् का द्रोह होगा। काल-भगवान् कहता है कि भूतकाल के प्रति आदर रखो, उस के प्रति प्रमादी मत बनो, किन्तु स्वीकार करो वर्त्तमान काल को और साधना करो काल के निर्माण की। जिन की नज़र भविष्य काल को न देखते हुए भूतकाल की तरफ ही चिपकी हुई है, उन की प्राणशक्ति क्षीण होती है और उन का जीवन नि सार होता है। काल-भगवान् का सच्चा उपासक साधना करेगा भविष्य काल की ही।

सच्चा सनातन धर्म शरीर-विकास की प्रक्रिया, मनोविज्ञान की प्रक्रिया और सामाजिक प्रगति की प्रक्रिया ध्यान में रख कर धीरे-धीरे परिवर्तन करता जायेगा। ऐसे आदमी को ही हम त्रिकालनिष्ठ कह सकते हैं। सनातनियो ने जब से भूतकालनिष्ठा को सर्वोपरि बनाया तब से उन का सनातनीत्व नाम में ही रह गया। सच्चा सनातन धर्म त्रिकालनिष्ठ, परिवर्तनशील और प्रगतिपरायण ही हो सकता है।

१५ फ़रवरी १९६८

पुराने धर्मों को ले कर क्या करेंगे ?

हम अपने धर्म को सनातन धर्म कहते हैं। जो धर्म परा पूर्व से चलता आया है उसे सनातन कहते हैं। जो हमेशा है, जो 'सदा के लिए' है वह 'सनातन' है। उस सदातन को ही लोग सनातन[1] कहने लगे। 'सबसे पुराना और वैसा ही जैसा पहले था' ऐसा कहने का भाव होता तो हम ने उसे पुरातन कहा होता। जो धर्म हमेशा चलता है, जो सदा के लिए काम का है वह बासी हो ही नही सकता। उसे हमेशा ताजा रहना चाहिए। जैसे गन्दी हवा बदबू फैलाती है, बरतन में

१ ऐसे सब शब्द हमें इकट्ठा करने चाहिए। जो पुराना है वह पुरातन। जो गत कल का है वह ह्यस्तन। जो आगामी कल का है वह श्वस्तन। 'उस समय का' ऐसा कहना हो तो तदानींतन। आज का या up-to-date कहना हो तो उसके लिये शब्द है अद्यतन। इस प्रकार अनेक शब्द बनते हैं।

रखा पानी कुछ अरसे बाद पीने लायक़ नही रहता, उसी प्रकार कभी भी न बदलने वाला जीवनतत्त्व एक अरसे के बाद निष्प्राण याने संग्रहालय में रखने योग्य बनता है। खुली हवा अच्छी, बहता पानी अच्छा। नदी बहती है, आसपास के प्रदेश को पानी पहुँचाती है, नये-नये झरनो का स्वागत करती है और ज्यो-ज्यो आगे बढती है त्यो-त्यो परिपुष्ट होती है। इस लिए नदी को हम पवित्र मानते हैं। उसे लोकमाता कहते हैं। और उसके दर्शन से ही धन्यता का अनुभव करते हैं। नदी पवित्र है क्योकि वह जीवनशुद्धि स्थापित कर जीवन-समृद्ध होती चली जाती है। यही न्याय सनातन धर्म में भी लागू होता है।

गगा का उद्‌भव गगोत्री से होता है। वहाँ उसका प्रवाह इतना सँकरा है कि एक बार मैं वहाँ एक पैर एक किनारे पर और दूसरा पैर दूसरे किनारे पर रख कर खडा रहा था। उस से भी ऊपर की ओर गोमुख पर जायें तो गगा का पानी आकाश से टपकता हुआ मालूम होगा। भले ही कवि उसे गगावतरण कहें। वह स्थान और वह उद्‌भव अत्यन्त आदरणीय है, पवित्र है परन्तु उसे सन्तोष-कारक तो नही कह सकते। हिमालय के असख्य झरनो को लेकर गगा नदी पुष्ट होती चली जा रही है। अलकनन्दा, भागीरथी इत्यादि अनेक स्रोत मिल कर गगा बनती है। उसी प्रकार प्राचीन काल के अनेक ऋषियो के रचे हुए या देखे हुए वचन मिल कर वैदिक धर्म बनता है। जैसे हमारे पिता हमारे लिए पूज्य होते हैं और दादा उन से भी ज्यादा पूज्य होते हैं, परदादा या प्रपितामह उन से भी बढ कर पूज्य होते हैं तथा हमारे कुल के जो आद्य पुरुष माने जाते हैं वे तो पूज्यतम होते हैं, उसी प्रकार धर्म का सब से प्राचीन रूप अत्यन्त आद-रणीय होता है, होना ही चाहिए। परन्तु इस का यह अर्थ नही कि जितना पुराना उतना ज्यादा ग्राह्य, मान्य या सन्तोषकारक होता है।

कोई भी विचार हमारे दिल में एकाएक उठता है तब कभी-कभी वह अन-गढ़ होता है। उचित शब्दो में जब तक उसे प्रकट न किया जाये तब तक वह हमें सन्तोष नही देता। बाद में उस विचार के बारे में हम ज्यादा चिन्तन करते हैं, उसे अमल में लाने के लिए उस विचार या चिन्तन के अनुसार जीवन में ज्यो-ज्यो प्रयोग करते जाते हैं त्यो-त्यो वे विचार ज्यादा परिमार्जित होते हैं, कसे जाते हैं और विशुद्ध हो कर अन्त में व्यापक और सन्तोषकारक रूप लेते हैं। यही बात धर्म के लिए भी सही है। जो विचार वैदिक-वाणी में अनगढ रूप से प्रकट हुए उन्ही को ऋषियो ने अमल मे लाने की कोशिश की, उनके बारे में चिन्तन किया, आपस में उनके बारे में चर्चा की, शिष्यो को उन विचारो की दीक्षा दी, समान महत्त्व के दो भाव प्रकट होते प्रतीत हुए

तब दोनों को अनुभव करने के लिए एक मन्त्र की दो शाखाएँ बनायी और ऋषि आगे बढ़े।

ऋषि शब्द ऋष् धातु पर से आया है। ऋ अथवा ऋष् के मानी हैं चलना, आगे बढना, भाले की तरह घुस कर प्रवेश करना, अन्तपार पाने के लिए पर्याप्त अनुभव लेना। वेद में भाले को ही इष्टि कहा है। ज्ञान के भाले से संसार को छेद कर जो आर-पार प्रवेश करता है वह ऋषि है, ऐसी ऋषि शब्द की व्याख्या है।

यह सब देख कर और सनातन धर्म का उज्ज्वल इतिहास देख कर मैं ने व्याख्या की है "सनातन यानी नित्य-नूतन।" जो धर्म बासी नहीं होता, प्रवाहित होकर नित नया रहता है वह है सनातन धर्म। वेद काल का धर्म-प्रवाह उपनिषत्काल में ज्ञान-पुष्ट हुआ। आगे चल कर दर्शनशास्त्र ने उसे बुद्धि पर घिस कर उसको अनेक पहलूदार बनाया जिस से वह ज्यादा चमकीला हुआ।

स्मृतिकारों ने उस धर्म को जीवन में अमल करने के लिए अनेक नियम बनाये। इस में मतभेद खड़े हो गये। हमारे पूर्वज न तो मतभेदों से अकुलाये, न ही एक-दूसरे को मारने के लिए लड पडे। उन्होंने कहा, दोनों विचारों के पीछे कुछ वजूद है। जीवन में दोनों को आजमा कर देखेंगे। अनुभव से जो लाभदायी मालूम होगा उसका प्रचार अपने-आप होगा। जो हितकर नही होगा वह भी आग्रह के कारण कुछ समय टिकेगा, परन्तु अन्त में सूख जायेगा।

जीवन-धर्म के दो तत्त्व प्रधान हैं, श्रद्धा और अनुभव। जो वस्तु प्रथम दर्शन में अच्छी लगी, जिस विचार के पीछे कुछ गाम्भीर्य है ऐसा मालूम हुआ, जिस वचन को किसी महान् व्यक्ति के मुख से सुना, उस को हम अन्धे हो कर सहसा स्वीकार नहीं करते। और केवल नया है इसी लिए उस का उपहास कर टालते नही या उस की अवहेलना नही करते। उस के प्रति श्रद्धा बढा कर आदर रखते हैं। कहते है इस बात के सही होने की सम्भावना ज्यादा है' इस भावना से उसे आजमा कर देखते है। 'अनुभव से जो सिद्ध हुआ' वह 'केवल श्रद्धा का विषय' न रहा। वह बात हमारे जीवन में उतर गयी। हम कहते हैं कि उस वस्तु का मुझे साक्षात्कार हुआ; हमने उसे जीवन में आत्मसात् कर लिया। 'वह मुझ में लीन हुई, मैं उस में लीन हुआ'।

अब जीवन-धर्म ने हमें दो सुन्दर शब्द दिये हैं। जो वस्तु अनुभव से सही साबित हुई उसे हम कहते हैं सत्य। फिर जब उस सत्य को हम जीवन में लाते हैं, समाज में चलाते हैं तब उसी सत्य को नाम मिलता है ऋतम्। जो यकीनन है वह सत्यम् है, जिस को सचमुच प्रयोग में लाया जा सकता है; जो लाभदायी

मालूम हो, सामाजिक नियम के रूप में जिस को स्वीकार किया जा सकता है, वह है ऋतम्।

गति, प्रगति, परिवर्तन, अनुभव, सुधार, प्रयोग, संस्करण ये सब सनातन धर्म के मूल तत्त्व हैं। इस लिए सनातन धर्म नित्य-नूतन रहता आया है।

अब समाज के विकास में दिवस और रात्रि तो आयेंगे ही। लोगो में जड़ता आये तब अनुभव का आधार छोड कर लोग वचन-श्रद्धा की ओर मुडते हैं। अब परम्परा कायम रखनी हो तो वेदो के लिए आदर का आग्रह ज़रूर रखा जा सकता है। कुल के मूल पुरुष का अस्वीकार कभी नही हो सकता। परन्तु वेदो के प्रति आदर होना एक बात है और वेदो के हर एक वचन को प्रमाण मान कर चलने के लिए बाध्य हो जाना दूसरी बात। मुझ से यदि कोई पूछे कि, "आप वेद को प्रमाण मानते हैं या नही?" तो मैं नम्रतापूर्वक, फिर भी दृढता-पूर्वक, कहूँगा कि, "मेरा धर्म वेद-परम्परा से चला आ रहा है, इसी लिए वेदों के प्रति मेरे मन में असीम, अनन्त आदर है। परन्तु मेरे पूर्वज जिस ढग से चले उसी ढग से चलने के लिए मैं बँधा हुआ नही हूँ। इसी प्रकार वेद-वचनो से मैं अपने को बँधा नही मानता। और मैं यह भी कहूँगा कि, "भले आदमी! जिन वेदो को मैं ने देखा नही है, जिन का पूरा अर्थ मैं जानता नही हूँ, जिन के अर्थ के बारे में भले-भले लोगो के मन में मतभेद है उन वेदो के बारे में मैं आँखे मूँद कर कैसे कह सकता हूँ कि वेदो में जो कुछ भी कहा गया है वह सब मुझे मान्य है और उस के अनुसार चलने के लिए मैं बँधा हुआ हूँ? और अपने वशजो से भी कैसे कहूँ कि आप भी उसी तरह बँधे हुए है?"

और कुछ लोग मुझ से यह भी कहते हैं कि, आप वेद के बाहर जा ही नही सकते। यह बात मैं कभी भी नही मानूँगा। इस तरह तो सारी प्रगति रुक जायेगी। मेरे धर्म का सनातनत्व नष्ट हो जायेगा। मैं भूतकाल का उपासक बन जाऊँगा और मुझे जीवलोक छोड कर भूतयोनि और प्रेतयोनि में प्रवेश करना होगा। और उस में वेद का अपमान भी है। वैदिक ऋषियो ने कहा था . "अनन्ता वै वेदा"। और जो लोग कहते है कि वेद गूढ है, उनके अर्थ का ज्ञान होगा ही नही, उनके लिए भी ऋषियो ने कहा था "विवृताश्च वेदा, वेद खुले हैं।" इतना स्पष्ट जानने पर भी जो लोग वेदो की अन्धी उपासना करना चाहते हैं और वेदो से हमें बँधा हुआ रखना चाहते हैं वे तो वेदो की दुर्दशा ही करते हैं। हम उन की बात स्वीकार न करें।

हम वेद, उपनिषद्, स्मृति, आगम, पुराण, तन्त्र, सुधार और समन्वय ऐसी अनेक पीढियो से गुज़रे हैं। जिन आदिम जाति गिरिजनो के बीच हम रहने लगे

उन के धर्म-वचनों और रस्म-रिवाजों को हमने समझ लिया, कुछ को स्वीकार किया और कुछ तोड़े भी। इस तरह हम ने उन्हें अपने समाज में क्रमशः मिला दिया और ऐसा करते हुए हम ने उन के विचारों को परिष्कृत रूप दिया, उन के रिवाजों का नया अर्थ लगाया और धीरे-धीरे हम ने समन्वय के बल सनातन धर्म को सर्वव्यापी और समृद्ध बनाया। ऐसा करते समय यह सही है कि उस में तरह-तरह का कचरा भी मिल गया। परन्तु जो जीवननिष्ठ है, समाजनिष्ठ है, समष्टि का सार्वभौमत्व पहचानता है वह कुछ काल के लिए कचरे की भी उपयोगिता को स्वीकार करता है। वह जानता है कि कचरा आया है जाने के लिए ही। वह टिकने वाला नहीं। अगर टिकने का प्रयत्न भी करेगा तो अवसर आने पर उसे फेंक देना चाहिए। परन्तु कचरे को लेकर दो पन्थ और दो समाज नहीं बनाये जा सकते।

(१५ अगस्त, १९६८)



नवसंस्करण की आवश्यकता

हिन्दू संस्कृति का नवसंस्करण

एक पक्ष इस देश में है जो कहता है—"हिन्दू-धर्म तो हिन्दुओ का ही है। लेकिन हिन्दू-सस्कृति सब की है। हिन्दू-सस्कृति ही भारतीय सस्कृति है। हिन्दू-सस्कृति को स्वीकार करने वाले को ही पूर्ण भारतीय समझना चाहिए। उन्ही की देशनिष्ठा विश्वासपात्र समझनी चाहिए"। इतनी स्पष्टता से कहने वाले लोग शायद कम हो, लेकिन राजनैतिक और सास्कृतिक शुद्ध चिन्तन करने की जिन को आदत नही है, ऐसे अपने इर्द-गिर्द के रोजमर्रा के जीवन को ही स्वाभाविक समझ कर पसन्द करने वाले लोग बहुत है। सारे देश के समन्वित वातावरण का विचार करने वाले लोग कम है, और वे अपने अनुभव की छान-बीन कर के उस पर से शुद्ध सर्वोदयकारी क्या निर्णय हो सकता है इस का पूरा विचार नही करते।

देश में सामान्य लोगो को सत्तालोलुप, राजनीतिक लोगो की ओर से दिन-रात एक विशेष प्रकार की शिक्षा मिलती रहती है। इस कारण भी वे गहरा विचार नही करते।

ऐसे लोगो ने पश्चिम के चरण में बैठ कर जो सम्पत्तिशास्त्र पढ़ा है उसी को ले कर वे थोडा-बहुत सोचते है। वस्तुस्थिति की छान-बीन करने की आदत ही उन्हें नही रही।

और पुराने ज़माने में धर्म का जो स्वरूप प्रचलित था उस की शिक्षा भी चन्द लोग जनता को देते है। उस में भी भारत में प्रचलित सर्वधर्मों की शिक्षा लोगो को बहुत कम मिलती है। अपने-अपने धर्म का अभिमान और दूसरो के धर्मों के प्रति अनादर और अविश्वास और विकृत जानकारी—यही होती है भारत में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि भारतीयो की धर्म-शिक्षा। आज की परिस्थिति में ऐसे राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक विचारो में क्या-क्या परिवर्तन करना ज़रूरी है इस का कोई विचार ही नही करता। जहाँ नेताओ की ऐसी हालत है वहाँ जनता के बारे में कहना ही क्या ? अगर लोग भूल गये कि हमें वर्तमान

काल में ही सफलतापूर्वक जीना है और उज्ज्वल भविष्य काल के लिए तैयारी करनी है तो ऐसे लोग विचार भी क्या कर सकते हैं ? भूत काल की और वह भी एकदेशीय उपासना करना और केवल संकुचित संगठन कर के अपने मनोरथ सिद्ध करने की आशा रखना, यही है आज के समाज का स्वरूप अथवा चित्र।

अपने लोगों को भारत भेज कर हर एक क्षेत्र में धीरे-धीरे लोकमानस में परिवर्तन करने का भला-बुरा, सफल या विफल प्रयत्न युरॅप-अमेरिका के जागरूक देश करते रहते हैं। इतना भी प्रयत्न हिन्दुस्तान के लोग अपने लिए नहीं कर रहे हैं। क्या भारत के हिन्दुओं ने अपने देश के मुसलमान, ईसाई, यहूदी, बौद्ध और पारसी लोगो का जनमानस अपने लिए अनुकूल करने का प्रयत्न कभी किया है ? सन्त कहते-कहते थक गये कि 'करने से सब कुछ होता है"। लोग इस वचन को कण्ठ तो करते हैं लेकिन उतनी श्रद्धा या उतना विश्वास नहीं रखते। और श्रद्धा, विश्वास हो तो भी पुरुषार्थ करने की आवश्यकता महसूस नही करते।

भारत के स्वदेशी मुसलमान, ईसाई आदि लोग केवल नजदीका स्वार्थ और अविश्वासमूलक आत्मरक्षा की ही नीति का विचार करेंगे तो उन की भारतीयता कैसे पनपेगी ? भारतीय एकता सब कोई चाहते हैं लेकिन उस के लिए परस्पर का जीवन ओत-प्रोत करने की और एक-दूसरे का अनुनय करने की आवश्यकता किसी के ध्यान में नही आती। ऐसी हालत में दिन-पर-दिन देश की कमजोरी बढती न गयी तो ही आश्चर्य समझना चाहिए।

सवाल केवल मुसलमानो का नहीं है। परस्पर अविश्वास और परस्पर असन्तोष और शिकायत का वातावरण कही भी नही होना चाहिए। अगर मुसलमान, ईसाई (इन में केरल, गोवा, नागालैण्ड और मिजो प्रदेश के सब ईसाई आ जाते हैं।), बौद्ध (इन में नेफा के, नेपाल के, पूर्व भारत के और बम्बई के नव-बौद्ध भी आते हैं।) और सिख, इन सब में कुछ-न-कुछ विकृति आ गयी तो उस के लिए हमारी ग़फ़लत भी काफ़ी हद तक जिम्मेवार है। जिन में भारत के हिन्दू लोगों के प्रति अथवा अधिकांश लोगों के प्रति आत्मीयता नही है उन पर नाराज़ होने से उन में आत्मीयता बढेगी या घटेगी ? क्या केवल दबाने से आत्मीयता उत्पन्न हो सकती है ? इस का विचार हम क्यो न करें ? आज कल के राजनैतिक लोग एक ही बात जानते हैं। कभी-कभी दबाना और सिरज़ोरों को राजनीतिक या नौकरी विषयक विशेष अधिकार दे कर सन्तुष्ट करने की कोशिश करना। जो लोग समझ गये हैं कि 'राष्ट्र' तो सिरजोरी को पहचानता है और 'घूस' देने को तैयार होता है वे तो कहते ही हैं "बिगड कर

रहने से ही सब-कुछ मिलता है, न बिगड बैठने से न कभी कुछ मिला है, न मिलने वाला है।"

भारत में कोई एक भी नेता है जो जानता है कि धमकाने और घूस देने के अलावा दूसरे-दूसरे अनेक कारगर उपाय हैं? अधिकारलोलुप राजनीति, सोशलिज्म की दुहाई देने वाली अर्थनीति और अपने गुण-दोष न पहचानते हुए केवल अभिमान से चलायी हुई भूतकाल की धर्मनीति—ये तीन नीतियाँ आज भारत के प्रेरक बल हैं। स्वार्थनीति तो सर्वत्र प्रधानता रखती ही है। ऐसे देश को अध्यात्म-मूलक और मानवता-मूलक समाजविज्ञान सिखाने की जरूरत है। लेकिन जनता को सिखाने के पहले राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और शैक्षणिक नेता लोग स्वय ऐसा समाज-विज्ञान तैयार करें। इस के बिना सारा प्रयास व्यर्थ हो रहा है।

जब लोग हिन्दू-सस्कृति की दुहाई देते हैं तव वह हिन्दू-संस्कृति कौन-सी? किस युग की? किस प्रदेश की?

वेदकाल में स्वर्ग की उपासना चलती थी और उस के लिए तरह-तरह के यज्ञ होते थे। आज यह सस्कृति कही भी दीख नही पडती। यज्ञ का अर्थ ही बदल गया है।

उपनिषद् काल में मोक्ष की उपासना जोर पकड सकी। उस का प्रभाव, आज हमारे जीवन पर भले ही न हो, हमार दिमाग पर और हृदय पर जरूर है। वेदकाल के इन्द्र, वरुण, मित्र आदि देव उपेक्षित रह गये। अब तो राम, कृष्ण, गणपति, देवी आदि देवो की अनेक रूपो मे उपासना होती है। और वेदान्त कहता है कि इन्हें गौण बना दो, परब्रह्म की ही उपासना करो।

हिन्दू-सस्कृति ने एक अच्छा काम किया। वैदिक-अवैदिक का भेद बाजू पर रख कर आर्य-द्रविड, आदिवासी आदि सब लोगो के देवो को स्वीकार किया। सब तरह की धर्म-साधनाओ को मान्यता दी और विविधता बढ़ने का डर नही रखा। धार्मिक जीवन में मलिनता आयी उसे भी बर्दाश्त किया। और सभी को सार्वभौम हिन्दू-सस्कृति की छत्रछाया के नीचे ला कर धीरे-धीरे एकता लाने की उम्मीद रखी। ऐसे दीर्घदृष्टि धर्मकारो ने देखा कि एकता लाना कठिन है एकदम एकता लाने की कोशिश खतरनाक भी है, इस लिए सभी को धर्ममान्य बना कर संघर्ष टाल दिया, आत्मीयता उत्पन्न की और एक तरह का समन्वय का वायुमण्डल सार्वभौम बना दिया।

भारतीय समाज मे कुल, गोत्र और जाति की प्रधानता थी। इन तीनों को गौण बनाने के लिए और विराट् समाज का निर्माण करने के लिए भारत के

धर्मपरायण मनीषियो ने चातुर्वर्ण की स्थापना की। यह एक बडा विराट् सामाजिक प्रयोग था, जिस के लिए हम आज भी गौरव ले सकते हैं। चातुर्वर्ण के द्वारा जातियाँ भले टूट न सकी लेकिन गौण जरूर हुईं। जातियो में जो संकुचितता थी और केवल जन्म का तत्त्व था (जन्मना जाति) उस की जगह गुणकर्म का तत्त्व काफ़ी हद तक मान्य हुआ और समाज ने लोकोत्तर उन्नति की।

उस ज़माने का मानस ध्यान में लेते हुए धार्मिक नेताओ ने जन्म के तत्त्व का सीधा विरोध नही किया, सस्कारो को महत्त्व दे कर धीरे-धीरे अनेक जातियो को एक-एक वर्ण में ला कर अन्तरजातीय विवाहो के लिए रास्ता खुला किया।

इतनी प्रगति करने के वाद मानव-समाज शायद थक गया। चार वर्ण चार आश्रम, असख्य जातियाँ, उन के अन्दर का उच्च-नीच भाव, हरेक जाति के अपने-अपने संस्कार और अपना-अपना सगठन, शिव, विष्णु देवी, गणपति, सूर्य और गुरु इन पाँच-छह उपास्यो की प्रधानता और आर्य-द्रविड़, अनार्य सव तरह के देवो का स्वीकार और उन सभो का पचायतन में समावेश, भारतव्यापी तीर्थयात्रा, व्रत, उत्सव, गुरुभक्ति, सकामभक्ति, रामायण-महाभारत की प्रतिष्ठा उन का और पुराणो का वाचन, असख्य त्योहार, योगविद्या के प्रति और मन्त्र विद्या के प्रति अन्धश्रद्धा, दान-धर्म का माहात्म्य, पितरो का श्राद्ध, पुरोहितो की पूजा, मन्दिरो की स्थापना, मेले, फलज्योतिष, भूत-प्रेतों का डर, राजसत्ता की खुशामद (ना विष्णु पृथिवी-पति) और सव धर्मो के सन्तो के प्रति आदर और मान्त्रिको का डर, यह हो गयी हमारी हिन्दू-सस्कृति।

वेद काल से ले कर ई० स० १५०० से १७०० तक भली-बुरी प्रगति जिस ने की उस धर्म को और सस्कृति को आगे वढने का अधिकार और कर्त्तव्य है या नही ?

हिन्दू-सस्कृति के अभिमानी कहेंगे विचारपूर्वक परिवर्तन करने का, सुधार करने का, किसी चीज़ को विचारपूर्वक छोड देने का अधिकार अव किसी को नही है। परिस्थितिवश, स्वार्थवश अथवा उत्साह के अभाव में, जडता से समाज में आप-ही-आप जो परिवर्तन होंगे उन को जीवन में और समाज में धीरे-धीरे मान्यता हम ज़रूर देंगे। लेकिन तत्त्वत और चर्चा में उस का विरोध ही करेंगे। निगम और आगम के ग्रन्थ, स्मृतियाँ, सन्तवचन, साधु, पण्डित और उन का अखण्ड शास्त्रार्थ चलते हुए भी और कथा-कीर्तनो का प्रचार वन्द न हुआ तो भी अधिकारपूर्वक अखिल भारतीय सुधार या परिवर्तन करने की हमारे यहाँ कोई गुंजाइश है नही। किसी सिद्धान्त, चिन्तन या कल्याण के हेतु सुधार करने का

रास्ता कोई है नही। जिस को जो प्रचार करना हो कर सकता है। उस का जो परिणाम होना हो, हो सकता है। जीवन मे जो परिवर्तन आप-ही-आप होगा सो होगा ही।

यह है आज की हिन्दू-संस्कृति। विचारपूर्वक भूत काल की तरफ शायद हम जा सकते हैं, भविष्य काल की तरफ नही—यह है इस का सूत्र। ऐसी हमारी सस्कृति में हिन्दू-सस्कृति के नेताओ ने समय-समय पर जो सुधार किये उन्ही से प्रेरणा ले कर भविष्य के लिए कुछ दिशा निश्चित करने का यहाँ विचार है।

हिन्दू-सस्कृति ने अपने ढग का भला-बुरा समन्वय चलाया, लेकिन सफलता-पूर्वक जीने की जीवनकला उस के हाथ में नही आयी। बाहर की दुनिया का उसे परिचय न रहा। आन्तरिक सगठन का महत्त्व उस के ध्यान में नही आया। व्यक्तिगत जीवन की प्रधानता बढी और सारा देश गफलत में आ गया।

इतना बडा देश, इतनी पुरानी सस्कृति और अटूट अमर्यादा साधन-सम्पत्ति पास होते हुए मुट्ठी-भर ही पठान लोग भारत को क्रमश परास्त कर सके। इतना ही नही किन्तु हमारे ही लोगो की मदद से अपने छोटे-बडे राज्य मज़बूत कर सके। पठानो के बाद मुगल आये। उनके सामने भी हम लोगो ने अपना सिर झुकाया और उन का साम्राज्य मज़बूत कर दिया। पठान और मुगल लोगो की अपेक्षा हम लोग ज्यादा ग़फलत मे थे, लेकिन यहाँ आ कर हमारे वे विदेशी राज्यकर्त्ता भी वैसे ही गफलत मे फँस गये और मुट्ठी भर पुर्तगाली, फ्रान्सीसी और अँगरेज़ हम पर राज्य कर सके।

हम लोग क्यो हारे इस की मीमासा हमारे लोगो ने काफी कर देखी। आपसी फूट के कारण हमारे लोगो ने सब कुछ खोया। राजपूत लोग बहादुर थे, धर्मनिष्ठ थे, किन्तु एक-दूसरे की ईर्ष्या वे कभी छोड न सके। समान सकट के सामने अन्दरूनी भेद भूल कर एक बनने का विचार उन को सूझा ही नही। जिस नीति से शिवाजी ने हिन्दवी स्वराज्य की स्थापना की वह नीति हम लोगो को गोरो के खिलाफ मदद दे न सकी।

यह सारा इतिहास लम्बा-चौडा है। आज भारत स्वतन्त्र हुआ है। हिन्दुओ का राज्य बनाने के ये दिन है नही। भारतीयो का राज्य हम बना सकते हैं। अँगरेज़ लोग यहाँ से जाते-जाते देश का बँटवारा कर सके उस का इलाज हमारे पास कुछ नही रहा। विभाजन मजूर कर के भी हमें न मिली शान्ति, न मिला सुख।

अब भारत का उद्धार न होगा राजनीतिक समझौते से और न होगा अन्तर-राष्ट्रीय राजनीतिक खेल खेलने से।

समस्त प्रजा का मानस बदलना होगा। व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का आदर्श बदलना होगा। आज तक जो हिन्दू धर्म चलता आया है उस से आगे का काम चल नही सकेगा। भारत में और भारत के बाहर दुनिया में इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म और साम्यवाद ऐसे चार धर्म फैले हुए हैं। इनका हम न विरोध कर सकते हैं, न इनकार कर सकते हैं। इनका बहिष्कार करना भी हमारे लिए अशक्य है। भगवान् की इच्छा भी नहीं दिखती कि हम इनका बहिष्कार करें।

सारी दुनिया में इन चारो के बीच होड़ चल रही है। हम उनके झगडे को मोल नही ले सकते। हमारे ख्याल से कॅम्युनिज्म भी एक धर्म ही है। पुराने धर्मों के दोष धोने के लिए दबे हुए लोगो को ऊपर लाने के वास्ते उस का अवतार हुआ है। लेकिन हम उन सब धर्मों के झगड़ों में पड़ेगे तो दुनिया का नाश होने के पहले, हमारा ही नाश हो जाएगा। हम तो इन सब धर्मो की खूबियों की क़दर करेंगे। जब तक उन के दोष दूर नही हुए हैं उन्हें दरगुज़र करेंगे और सब के बीच समन्वय लाने की प्राणपन से चेष्टा करेंगे।

पारसियो का गाथिक धर्म, बौद्धो का कल्याण धर्म, ईसाईयों का विश्वासी धर्म और मुसलमानो का इस्लाम, सब के साथ हम पारिवारिक सम्बन्ध बाँधेंगे। इस में हमें औरो से कितनी मदद मिल सकती है, इस का हिसाब लगाने नही बैठेंगे। जो मदद मिलेगी प्रसन्नतापूर्वक ले लेगे। लेकिन हमारा पुरुषार्थ अपने ही बल पर खडा होगा। समन्वय-धर्म प्रेमधर्म है। और प्रेम की शक्ति कभी भी परास्त नही हुई है। इसी लिए उसे अमोघ कहते हैं।

हिन्दू धर्म को व्यापक बनना है। हिन्दू संस्कृति को सर्वग्राही बनना है। हिन्दू धर्म इतना व्यापक बने कि उस की नव-संस्कृति भारतीय संस्कृति के नाम से पहचानी जायेगी। और उस की प्रेरणा होगी विश्व-समन्वय की। उस में समस्त मानव जाति के उद्धार करने की कल्याणकारी शक्ति होगी। वही होगा सासारिक युगधर्म।

(८ दिसम्बर १९६६)

आत्म-परीक्षण और आत्म-परिचय

पिछले तीन-चार सौ वर्ष हुए विदेशी लोगो ने हमारी निन्दा करने में कोई कसर नही रखी थी। एक पुराना समाज और पुरानी सस्कृति तरह-तरह के प्रयोग करेगी। हमारे समाज में अनेक वश के लोग अपनी-अपनी भली-बुरी संस्कृति को ले कर एकत्र रहे थे। आर्यों ने उन के जीवन में अनावश्यक तवदीलियां न करने का निश्चय किया। "तुम अपने ढग से जियो, हम अपने ढग से जियेगे। ज्ञान के बिना और योग्यता के बिना आप हमारा अनुकरण करेंगे तो आप को वह हजम नही होगा, उस में विकृति आयेगी, हमारी संस्कृति वदनाम होगी और तुम्हें सन्तोष नही होगा। इस लिए अधिकार के बिना हमारा अनुकरण मत करो। अनधिकार चेष्टा हम वर्दाश्त नही करेंगे", ऐसा कह कर आर्यों ने यहाँ की आदिम जातियो को अपने ही ढग से रहने के लिए प्रोत्साहन दिया, एक तरह से बाध्य किया।

उन्हो ने अपने समाज में भी ज्ञान का प्रचार करने की जगह थोडा धर्म-प्रचार किया। और समाज में जो अनेक जातियाँ स्वाभाविक ढंग से हो गयी थी उन्हें स्वधर्मपालन का नाम दे कर मज़बूत किया।

यह सब किया गया सद्भाव से; लेकिन इस का फल कुछ हद तक अच्छा और दूर हद तक बुरा निकला। सारे समाज के अनेक स्तर हो गये। उन में आन्तरिक स्वायत्तता थी और सब स्तर शान्ति से रह सके और एक-दूसरे के साथ सहयोग भी कर सके। सिर्फ सब लोगो को उच्च-नीच-भेद का वर्गीकरण मान्य करना पडा। और निचले स्तरो को अधिकाधिक अपमानित और दयनीय स्थिति में रहना पड़ा।

यह एक वडा विशाल, अद्भुत और आकर्षक सामाजिक और सास्कृतिक प्रयोग था। कोई कह नही सकता कि यह प्रयोग असफल सावित हुआ। एक विशाल देश में वहुवशी, वहुभाषी और अनेक ढग से रहने वाले लोगो का शान्ति से एकत्र रहना और एक-दूसरे के साथ जरूरी सहयोग करते रहना और एक उच्च 'पवित्र' सस्कृति का सर्वोपरि महत्त्व स्वीकार करना यह कोई मामूली अथवा सामान्य सिद्धि नही थी। अगर हमारे पुरखो ने माना कि यही सब से अच्छी स्थिति है तो कोई आश्चर्य नही। हमारे पुरखो ने माना और कहा भी

कि सारी दुनिया के सब तरह के लोग इसी देश के ब्राह्मण आदि उच्चवर्णियो के पास से अपने-अपने जीवन-क्रम के बारे में शिक्षा ले सकते हैं, यानी हमारे सामाजिक नेता ही समस्त दुनिया का सास्कृतिक नेतृत्व कर सकते हैं।

शान्ति और सहयोग, सन्तोष और धार्मिकता ये चार चीजें जिस व्यवस्था मे निश्चित रूप से प्राप्त हो सकती हैं वही व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ हो सकती है। ऐसा अगर उन्होंने माना तो इसमें आश्चर्य क्या ? और अनुचित भी क्या ?

लेकिन ऐसी समाज-व्यवस्था में गम्भीर कमियाँ रह गयी थी, अक्षम्य दोष आ गये थे। इन को हम पहचान न सके इस लिए भगवान् ने हमारे सामने नयी-नयी कसौटियाँ खडी कर के हमें बता दिया कि प्रतिकूल परिस्थिति में तुम हार जाओगे। और जो सस्कृति प्रतिकूल परिस्थिति में हार जाती है वह टिक नही सकती, जी नही सकती, उस का सर्वोपरि होने का दावा झूठा ही हो सकता है न ?

हम हारे, लगातार हारे, लेकिन दूसरो से सीखने की नम्रता हम मे नही थी। 'मियाँ गिरे तो भी टाँग ऊँची', ऐसे स्वभाव वाले हम लोगो ने कहना शुरू किया कि "हमारी सस्कृति की श्रेष्ठता के बारे में तनिक भी शका नहीं है। उस सस्कृति के बारे में हम कच्चे साबित हुए इस लिए हम हारे। इस लिए अब स्वधर्म पालन अगर कट्टरता से करेंगे तो जरूर हम फिर से अच्छे दिन पायेंगे।"

ऐसी अन्धी श्रद्धा ने हम लोगो को अधिक जड बनाया, अन्तर्मुख हो कर अपने बुनियादी दोष क्या हैं, वह देखने से हम को रोका। हम भूतकाल के उपासक बने। 'हमारे पुरखे सर्वज्ञ थे, उन की बाते कभी ग़लत हो नही सकती' ऐसा कह कर हम लोगो ने भूतकाल में जीना शुरू किया। सामाजिक सत्य ढूँढना छोड कर 'सर्वज्ञ' पूर्वजो के ग्रन्थो का अर्थ करने बैठ गये। हमारे पास जो ज्ञान था उस का ठेका उच्च वर्ण के लोगो ने अपने पास रखा। उस के गुण-दोष ढूँढने की जरूरत नही समझी। और सामान्य जनता को श्रद्धा, सन्तोष और आज्ञापालन के पाठ दिन-रात पढाये।

हम विदेशियो से कुछ भी न सीखे सो नही। सहजीवन के साथ सस्कारों का आदान-प्रदान होता ही है। और विदेशी लोग यहाँ आते ही हमारे राज्यकर्ता और प्रभु बन गये। उन की खुशामद करना, एकनिष्ठ सेवा करना और उन की दया पर जीना हमारे लिए अपरिहार्य हो गया। इस तरह आक्रमणकारी जेता लोगो से हम जो कुछ लाचार हो कर सीख सके, हमने सीख लिया। और ऐसी अपमानित दशा में हमारी प्राचीन सस्कृति की श्रेष्ठता के स्तोत्र गाने में

आत्मश्रद्धा टिकाने का उपाय देखा।

विदेशी लोग आये तब से हम लोगो ने अपनी मौलिकता छोडी, प्राण को क्षीण होने दिया, और विदेशियो के असर के नीचे हम आ गये। हम मुसलमानो के अनुयायी बने, ईसाईयो के अनुयायी बने लेकिन अपने सास्कृतिक दोषो की ओर हमने ध्यान नही दिया।

और जब ध्यान दिया तब उतनी ही अन्धता से कहने लगे कि हमारा सब-कुछ खराब था, विदेशियो का सब-कुछ अच्छा है। उन का अनुकरण करना ही बचने का एकमात्र उपाय है।

इस के मानी यह हुए कि अगर हम पुरानी बातों को चिपक रहे तो अन्धे हो कर, और अब अगर विदेशी बातें ले ली तो भी हमारी अन्ध जड़ता कायम की कायम।

यह है आज की हमारी हालत। लेकिन अब हमारे राष्ट्रीय जीवन में बडी क्रान्ति हो चुकी है। हम आज़ाद बन गये है। किसी स्वदेशी या विदेशी राजा का नही, किन्तु अब प्रजाराज्य हो गया है। अब हमें नये सिरे से राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रयोग करने का पहली बार मौका मिला है। भारत के लोगो के लिए सब से अच्छा क्या है यह सोचने का काम अब भारत के सब लोग मिल कर करने लगे है। कुछ निर्णय पर आना आसान नहीं है। एक राग बनने में कुछ देरी लगेगी ज़रूर, कुछ गलतियाँ भी होगी लेकिन आज़ादी के स्वच्छ वायुमण्डल में हमें जरूर अपना रास्ता मिलेगा।

अब अपने गुण और दोष हम स्वय देखेंगे और पहचानेगे। औरो द्वारा की हुई निंदा से हम मायूस और पस्त भी न हो जाये। अब हम अपनी गलतियो पर अपनी दृष्टि से विचार करेंगे और अपनी सास्कृतिक सिद्धियो में ठोस बातें क्या हैं सो भी ढूँढ लेंगे। आत्मपरीक्षण और आत्मपरिचय यही होगा हमारा प्रधान और प्रथम व्यवसाय। इसी मे हमारी सस्कृति का निचोड आ जायेगा और भूतकाल की उपासना छोड देने से उज्जवल भविष्य का हमें दर्शन होगा। शर्त एक ही है कि हिम्मत के साथ हम नये-नये प्रयोग करने के लिए तैयार हो जाये।

ऐसी आत्म-परीक्षा और आत्म-परिचय का प्रारम्भ करने का अवसर आ गया है। एकाग्रता से अब यही कार्य करेगे ताकि हमारा पुरुषार्थ विशुद्ध ढग से आगे बढ़े।

(१५ मार्च १९६७)

धर्म का प्राण बनाम रूढ़ि का आग्रह

रूढ़िवाद का सामना

हिन्दुस्तान के धार्मिक और नैतिक वायुमण्डल में कैसे-कैसे परिवर्तन होते गये उसका इतिहास देखने योग्य है। पुराने जमाने में कर्मकाण्ड को चिपके हुए और ज्ञान-निष्ठा से मुक्त बने हुए ऐसे दो वर्ग थे। ज्ञानमार्गी लोग कर्मकाण्डी विधियो की उपेक्षा करते, उनको गौण समझते। लेकिन अर्थविहीन कर्मकाण्ड के विनाश के लिए उन्होंने कमर नही कसी थी।

धार्मिकता का जिनमें अभाव था ऐसे चार्वाक लोग संगठित नहीं थे। चन्द लोग मन से चार्वाक होते हुए भी वाह्यत. शाक्त पन्थ में घुसे हुये थे और अपने स्वैराचार पर धार्मिक विधियों का परदा डालते थे। सामान्य जनता संयमित भोगमार्गी ही थी। सनातनी लोग जिस तरह अनाश्रमी रहना नही चाहते थे, उसी प्रकार सामान्य लोग किसी-न-किसी धर्म मे रहना आवश्यक मानते थे। केवल इसलिए कि मुसलमानो ने या ईसाइयो ने ठगा कर धर्मान्तर कराया, कोई मुसलमान या ईसाई नही बनेगा। किसी आदमी ने किसी स्त्री पर बलात्कार किया तो क्या उतने पर से वह स्त्री उस आदमी की पत्नी बनने को तैयार होगी? लेकिन जबर्दस्ती धर्मान्तरित किये गये मनुष्य को अगर हिन्दू धर्म ने प्रायश्चित न देने का या बहिष्कृत करने का तय किया तो फिर ऐसा मनुष्य किसी धर्म मे तो रहना ही चाहिए इस भावना के कारण मुसलमान या ईसाई बनेगा। किसी समाज में तो रहना ही चाहिए, जीवन असामाजिक नही होना चाहिए इस भावना का यह परिणाम था।

अँगरेजी राज्य और शिक्षा आने के बाद मिशनरियों की आलोचना से और अँगरेजी शिक्षा के कारण भी सुधारक वर्ग पैदा हुआ। जिनको धर्मान्तर ही करना था वे ईसाई बन चुके। ऐसो की सख्या बहुत कम थी। जो धर्म या नीति के बन्धन ही नही चाहते थे वे स्वैरता से जीने लगे। लेकिन ऐसे लोग संगठित नही हो सकते थे। बाकी के सच्चे सुधारक अपने ही समाज और धर्म के अन्दर रह कर जीवन में परिवर्तन करने की कोशिश में थे।

ये सुधारक अपने समाज में क्या-क्या बुरा है इसी की चर्चा करते रहते थे। नतीजा यह होता था कि हिन्दू धर्म की बहुत-सी अच्छी बाते उनको मान्य होते हुए भी आभास होता था कि वे हिन्दू-धर्म के विरोधी है। इसके विपरीत रूढिप्रिय उद्धारक लोगो ने (या दक्षिण तरफ का एक शब्द लेना हो तो यथा-स्थिति कर लोगो ने भली-बुरी सभी बातो का बचाव शुरू किया। इससे उन की समझदारी के बारे में तटस्थ लोगो के मन में शक होने लगा। अंगरेजी शिक्षा प्राप्त और सुशिक्षित कहे जाने वाले चन्द लोगो ने भी पुरानी रूढियो की तरफ-दारी की। उसी में कुछ थियॉसॉफिस्ट आ कर शामिल हुए। रूढिवाले लोगो की जान में जान आ गई।

ऐसे झगडे ने काफी उग्र रूप धारण करने के बाद, समझदारी के कारण नही बल्कि उनसें केवल ऊब कर लोगो ने ऐसे झगडे छोड़ दिये।

उसके बाद स्वामी विवेकानन्द जैसे नये लोग तैयार हुए। उन्होंने पुराने रिवाजो में से जो अच्छे थे उनको प्रतिष्ठित किया और इस तरह सनातनी समाज का विश्वास प्राप्त किया। और फिर जो रूढ़ियाँ बुरी थी उनको बुरा कह कर उनका विरोध किया। ऐसे लोगो ने पुराने ग्रन्थो का अध्ययन करके, उनकी महत्ता का वर्णन करके उनके बारे का आदर बुद्धियुक्त करके बढ़ाया। और अन्धा ग्रन्थ-प्रामाण्य छोड दिया।

इस का नतीजा यह हुआ कि सनातनी समाज में दो वर्ग हुए—एक अन्धा रूढ़िवादी और दूसरा परिवर्तनशील, बुद्धियुक्त, श्रद्धापरायण, सस्कृतिवादी। सुधारक पक्ष में भी ऐसे ही दो भेद हुए। अन्धेपन से नये को स्वीकार करने वाले लोगो का एक वर्ग और पुराने में से जो कुछ अच्छा हो उसे समाजहित की बुनियाद देकर उसको प्रतिष्ठित करने वाले और बुरी बातो का सौम्य प्रेमल शब्दो में निषेध करने वाले लोगो का दूसरा वर्ग।

सुधारक और उद्धारको के दलो में से समझदार, दीर्घदर्शी और समाज-हितचिन्तक लोग अब एक हो गये। उनको न तो सुधारक पुकारे जाने में आपत्ति थी, न सनातनी पुकारे जाने में।

ऐसे लोगो के सामने सबसे बडा कार्य था पुराने में से क्या ग्राह्य है और क्या त्याज्य, इसकी छानबीन करने का। सुधारको को ये लोग नरम और रूढि-वादी लगते। और रूढ़िवादी इनको प्रच्छन्न सुधारक और सनातन धर्म के सशयास्पद मित्र मानते। इन मध्यस्थ लोगो ने सनातन धर्म में से जिन चीजो का बचाव किया वह काफी जोरदार सिद्ध हुआ। इससे उनका समाज के ऊपर प्रभाव बढ़ा। और जिन बातो का उन्होने विरोध किया वे सब बाते सचमुच तुच्छ

था ही, ऐसा महसूस होने से उनको विचारशील सनातनी समाज का नेतृत्व अपने-आप प्राप्त हुआ। और केवल रूढि को स्वीकार करने वाले लोग प्रभावहीन हो गये। उन्होने अपना पक्ष सँभालने के लिए सुधारकों पर और इन संस्कृतिवादी सग्राहक लोगों पर जितना हमला किया उतना सब उनके अपने लिये ही बाधक साबित हुआ। क्योकि संग्राहक लोगों ने सब अच्छी बातो का संग्रह किया ही था। इतना ही नही बल्कि अच्छी बातो को पायदार बना कर और आवश्यक चमक दे कर उनको अपनाया था और उनका प्रचलन बढाया था। इसलिए आखिर कट्टर रूढिवालो के भाग में बचाव के लिए फ़ालतू माल ही रहा। उनको स्थापित करने के कितने ही प्रयत्न करने पर भी समझदार समाज पर उनका प्रभाव नही पड सका।

इसलिए आखिर ऊब कर उन्होने चर्चा ही छोड दी और धर्म और सुधार के बारे में मौन हो कर वे लोकप्रिय राजनीति में घुसे। वहाँ भी महात्माजी ने उनको मुश्किल में डाला। गान्धीजी ने अपनी धर्मनिष्ठा और धर्मपालन से लोगों को अपना लिया और बुरी चीजों का त्याग करने के लिए आवश्यक धर्मतेज प्रकट किया। लेकिन इतना ही करके वे रुके नही। यह सब शक्ति लेकर उन्होंने राजनीति में प्रवेश किया। रूढि से चिपक कर सामाजिक अन्याय चालू रखना चाहने वाले राजकारणी पुरुषो के लिए यह एक बडा संकट-सा था। रूढि को पकड कर बैठें तो राजनीति से उच्चाटन होगा। और राजनीति में अपना स्थान कायम रखना हो तो धीमे-धीमे अपनी पुरानी भूमिका छोड कर तरह-तरह के सकुचित ख्याल मन से निकाल कर रूढ़ि पक्ष का त्याग करना आवश्यक था।

इन रूढियो में से चन्द रूढियाँ उच्च माने जाने वाले कुछ वर्गों को विशेष हक़ और प्रतिष्ठा देने वाली थी। जनता के जागृत हो जाने के बाद इन रूढ़ियो का टिकना असम्भव था। रूढिवादी लोगों ने सामान्य जनता को धर्म-तत्त्वो का ज्ञान देने के बजाय सिर्फ़ रूढियाँ ही सिखायी थी। अब लोगो के सामने धर्म का शुद्ध स्वरूप चारो ओर से प्रकट हुआ। इससे रूढिवादियो का अनुयायी वर्ग भी एक दम क्षीण हुआ।

और एक बात ध्यान में लेनी चाहिए। एकनाथ, रामदास, तुकाराम, ज्ञानेश्वर आदि महाराष्ट्र के सन्त कवि अपने समय के धर्मपरायण समाज-सुधारक थे। इसलिए उस समय के रूढिवादियो ने उनको हर तरह से परेशान किया था। मध्यकाल में श्री आद्य शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि आचार्य भी ऐसे ही समाज-सुधारक थे। इसलिए उस समय के रूढिवादियो ने उनको हर तरह परेशान किया था। मध्यकाल में श्री आद्य शंकराचार्य, रामानुजाचार्य

आदि आचार्य भी ऐसे ही समाज-सुधारक थे। इस लिए उन के समय के रूढ़िवादियो ने उनको यथेच्छ परेशान किया था। आज का रूढ़िवादी समाज उन्ही के नाम का एक किला बना कर उसके अन्दर आज की रूढियो को सुरक्षित रखना चाहता है। हमारे सन्तों के बारे में भी ऐसा ही हुआ है। आज के धर्मनिष्ठ सुधारक जहाँ तक जाना चाहते है वहाँ तक जाने की इन पुराने सन्तो की तैयारी स्वाभाविक रूप से नही थी। इसके कारण रूढ़िवादी लोगों को एकनाथ, तुकाराम या रामदास जैसे सन्तो के साहित्य में से पुरानी रूढियो का बचाव करने वाले वचन आसानी से मिल जाते हैं। समाज में सन्तो के लिए जो आदर है उस का फायदा उठा कर रूढ़िवादी लोग कई अनिष्ट रूढियो का बचाव करने की इच्छा रखते है। और फिर समाज-हितचिन्तक धर्मनिष्ठ सुधारक सन्त वचनो का उदार और व्यापक अर्थ करने की कोशिश करते है। कुछ हद तक यह प्रयत्न इष्ट होगा, लेकिन प्रामाणिक मार्ग यही है कि धर्म ग्रन्थो के बारे में जो विशुद्ध भूमिका हमने धारण की है वही इन सन्तो के बारे में भी धारण की जाये। अर्थात् हमें चाहिए कि अब शब्द-प्रामाण्य का त्याग कर के सन्तवचनो मे से अमुक ग्राह्य हैं और अमुक अब निरुपयोगी हैं और अमुक तो बिलकुल त्याज्य ही है ऐसा अपना अभिप्राय हम स्पष्टता से कहें। विवेकयुक्त, श्रद्धापरायण धार्मिको को जिस तरह रूढिवादियो ने परेशान किया उस तरह ये अन्धे सन्त-भक्त हमें भी परेशान करेंगे। वह सब हमें सज्जनता की सौम्य दृढता से सहन करना होगा, जिससे पुराने कट्टर रूढिवादियो की जो गत हुई वही इन सन्तवचनो के ठेकेदारो की होगी। और उस के बाद ही समाज को सच्चा और अच्छा मार्ग-प्रदर्शन मिलेगा।

(२४ जून, १९५८)

संकुचित एकता

जो लोग एक ही प्रदेश में हमेशा के लिए एक साथ रहते हैं उन को आपस में कमोवेश सहयोग करना ही पडता है, धीरे-धीरे उन के रहन-सहन का ढाँचा एक-सा बनता है। जीवन का आदर्श और जीवन का क्रम जब सर्वसमान बनता है तब उन लोगो का एक समाज बनता है। जीवन-क्रम की समानता के कारण

ही लोगों के लिए आदान-प्रदान करना, सहयोग करना आसान बनता है, सुखकर बनता है।

जीवन-क्रम एक-सा बने यही है किसी भी समाज का मुख्य लक्षण।

लेकिन ज़िद से नियम बना कर सब के ऊपर ऐसी एकता लादने से समाज की प्रगति रुक जाती है। सब-के-सब लोग एक ही आदर्श से चल नहीं सकते। जब समाज बड़ा होता है तब उस में श्रम-विभाग और कार्य-विभाग आ ही जाता है। चन्द लोग किसान बनेंगे, चन्द मवेशी का पालन करेंगे, कोई जुलाहा बनेगा, कोई कुम्हार या राज बनेगा, कोई शिक्षक बनेगा तो कोई व्यवस्थापक। इन सब का जीवन-क्रम एक-सा हो नहीं सकता। हरेक पेशे में अपनी खूबी होती है और जब ये पेशे वंश या परम्परा से चलाये जाते हैं तब हरेक धन्धे की अपनी एक अलग जाति बन जाती है, हमारे पुरखो ने मनुष्य के इस स्वभाव को पहचान कर हरेक जाति के असंख्य नियम बना कर धर्म की मदद से उन्हें मज़बूत किया। इस तरह से समाज की जातियाँ बनी और हरेक जाति-समाज में रूढि की स्थिरता आ गयी। साथ-साथ वह जाति-समाज अपरिवर्तनशील रूढि के कारण जड बनता चला।

हर आदमी समाज के प्रति आदर रखते हुए अपने-अपने ढंग से जीवन के बारे में सोचता जाये, यह होगी उत्तम स्थिति।

किन्तु हमारे समाज ने सोचने का काम दीर्घदर्शी और अनुभवी ऋषि-मुनियो को सौंप दिया और उन के नियमों का पालन समाज के लोग बिना सोचे-विचारे, केवल श्रद्धा से करने लगे। इस तरह समाज में धार्मिकता तो आयी, निष्ठा भी, किन्तु वह यान्त्रिक बनी।

सारे समाज को एक ही ढाँचे में ढालना जब नामुमकिन हुआ तब समाज की जो असंख्य जातियाँ थीं उन में से एक जाति को अलग-अलग बन्धनो से जकडने की कोशिशें हुईं। हमारी वैज्ञानिक वृत्ति ने ही हमें रूढ़िवादी बना दिया।

छोटे-बड़े विस्तृत नियम बना कर जीवन को जकड़ देने का प्रयत्न वैज्ञानिक हो या धार्मिक, हमारे देश में वह निष्प्राण किन्तु ज़बर्दस्त रूढि ही बन जाता है। और इस से समाज जड बनता है। नियम बनाने वाले विज्ञाननिष्ठ और तत्त्वनिष्ठ भले ही हो, जड़ समाज तो धर्म-संस्थापको की दुहाई दे कर रूढिनिष्ठ ही बनते हैं और कालग्रस्त, निरुपयोगी और बाधक रस्म-रिवाजों को ही पकड़ कर चलते हैं।

इन लोगो का एक नियम अथवा स्वभाव है—

जहाँ आदर्श कठिन है वहाँ उस के लिए एक पर्याय ढूँढ कर जीवन आसान करते हैं। और जिन नियमो का महत्त्व कम है और उन के लिए पालन आसान है, उन्ही को महत्त्व दे कर ऐसे मामूली नियमो को ही निष्ठा की कसौटी बना देते हैं।

ऐसे दोषो का विस्तार से वर्णन करना जरूरी नही है। हमारे समाज में जडता और रूढिनिष्ठा शिखर तक पहुँच गयी। जीवन की शिथिलता के कारण और आदर्शनिष्ठा हृदय से गायब होने के कारण अपनी-अपनी जाति मे चाहे जितनी ढिलाई आयी हो, समाज उसे बर्दास्त कर लेता है और इस तरह जो सुधार या बिगाड होता है, उसे शाब्दिक नाराजी के साथ चला लेता है। किसी ने हिम्मतपूर्वक तात्त्विक या खुला विरोध किया तो ये रूढिवादी उसे नास्तिक और भ्रष्ट कहेंगे। विचारपूर्वक कुछ भी सुधार नही करेंगे। जो परिवर्तन—सुधार हो या बिगाड—काल-बल से आप-ही-आप होते हैं, उन के लिए वे कलिकाल की दुहाई देंगे और समाज को शिथिल, पुरुषार्थहीन और दम्भी बनायेंगे।

भारत में जब कभी किसी पुरुषार्थी व्यक्ति ने समाज-सुधार का काम किया है, समाज शुरू में उस की निन्दा करता है, घोर विरोध करता है और उसे परास्त करने का आनन्द पाने के बाद उस की सुलझायी हुई सब बातें धीरे-धीरे मान्य कर के उन्हें आत्मसात करता है। सुधार के प्रति आदर व्यक्त करने की जगह उस की निन्दा करना, उसे गिरा देना और बाद मे उस के कहने के अनुसार चलाना यह केवल कृतघ्नता ही है।

समाज-व्यापी ऐसे दोषो का क्या इलाज है?

इलाज दो ही हो सकते है। नियम या रस्म-रिवाज बनाने का काम ऋषि-मुनियो पर न छोड कर समाज के अनुभवी जीवित नेताओ पर ही इस का भार डालना चाहिए और समय-समय पर बडे लोग एकत्र हो कर रीति-रिवाजों में जरूरी बदल करने का निर्णय करें। और उस मे काफी विकल्प भी रखें (विकल्प यानी दो रास्ते, जो दोनो मान्य हों। जिस का जी जैसा चाहे वैसा दो में से एक को पसन्द कर सके)।

दूसरा इलाज हर एक बुद्धिमान समाज के लिए अधिक शोभा देता है—समाज को अनेक नियमो से बांधना ही नही, रस्म-रिवाजो का पालन हरेक आदमी अपनी अभिरुचि और समाज का आग्रह दोनो का विचार कर के जैसा ठीक लगे वैसा करे।

समाज में रस्म-रिवाजों की एकता रहे यह अत्यन्त जरूरी है। इस के बिना सामाजिक जीवन सरल व सुवासित नही बनता। लेकिन ये सारे रस्म-

रिवाज, आदर्श और सिद्धान्त स्वेच्छापूर्वक प्रसन्नता से चलाये जायें। इन्हें न मानने वाले लोगों का न बहिष्कार हो, न अपमान। हरेक मनुष्य की कद्र उस के चारित्र्य पर हो, न कि केवल रूढि-निष्ठा पर। आज कल हमारे देश में रूढि-निष्ठा शहरों में कम हुई है। गाँव के लोग आज भी ज्यादातर रूढिनिष्ठ हैं। हालाँकि वहाँ पर भी समाज-जीवन जोरों से शिथिल हो ही रहा है। इस तरह सामाजिक आदर्श ढीले हो रहे हैं जिस के पीछे कोई चिन्तन और सुधार-दृष्टि नही है। साथ-साथ लोगों के राग-द्वेष, परस्पर अनुदार वृत्ति और अविश्वास तो बढ़ते ही जाते हैं। इस का इलाज एक ही है, समय-समय पर लोगों के बीच आदर्शों की चर्चा शान्त-भाव से, उत्तेजना के बिना चलानी चाहिए और साधक-बाधक दोनों विचार आदर के साथ लोगों के सामने रखने चाहिए।

(१५ अप्रैल १९६७)

गम्भीर संकट और भयाक्रोशी लोग

अँगरेज में एक शब्द है एलार्मिस्ट। इसके लिए एक देशी शब्द बनाना होगा। एलार्म के मानी हैं भय अथवा संकट की सूचना। लोग एलार्म वाली बड़ी टाईमपीस घडी का उपयोग करते ही हैं। अगर सुबह चार बजे उठना है तो ऐसी घडी की खास सूई चार पर रख कर चाबी देने से, ठीक चार बजे घडी एक दम जोरों से चिल्लाने लगती है कि, 'समय हो गया, उठो, तैयार हो जाओ।' नीद से घिरा हुआ आदमी कभी-कभी अपनी ही इस कर्तव्यनिष्ठ आज्ञाकारी घड़ी पर चिढ जाता है और बटन दबा कर उसकी आवाज बन्द कर फिर से सो जाता है। सुबह जल्दी उठने का अगले दिन का निश्चय जब बन्द होता है तब आदमी घडी की आवाज का गला घोट कर उसे शान्त करता है, और नीद में डूब जाता है, एलार्म की सूचना सुनता नही और उसका फल भुगतने को तैयार हो जाता है।

एलार्म के मानी होते हैं भय या संकट की गम्भीर और चिल्लाने वाली सूचना।

अब दुनिया में ऐसे भी लोग होते हैं जो सचमुच के गम्भीर सकट के बिना ही 'सकट आ रहा है—सकट आ रहा है' करके चिल्लाने लगते हैं। भय की गम्भीर से गम्भीर सूचना देते हैं। मामूली लोग ऐसे भयाक्रोश के फन्दे में आ

जाते हैं, डर के मारे कुछ इलाज करने लगते हैं और देखते हैं कि भय तो था ही नही, हमने नाहक भयाक्रोश को सही माना और मूर्ख बने।

मिस्र के बुद्धिदाता ईसप की ऐसे भयाक्रोश फैलाने वाले लोगो की एक कथा है। एक गाँव का आदमी 'बाघ आया, बाघ आया, शेर! शेर! करके चिल्ला कर लोगो को डराता था। लोग एक-दो बार धोखे में आये। बाद मे उसकी चिल्लाहट की ओर कोई ध्यान ही न देता था। और जब सचमुच शेर आया और उस आदमी की भेड-बकरियाँ खा गया तब उसकी मदद करने कोई नही गया।

भय के न होते हुए अथवा अल्प-मात्र होने पर जो आदमी भय की सूचना दे कर चिल्लाने लगता है और लोगो को नाहक घबराता है उसे अँग्रेजी में ऐलार्मिस्ट कहते हैं। जब तक कोई अच्छा शब्द नही मिलता तब तक हम ऐला-र्मिस्ट के लिए शब्द चलायेंगे 'भयाक्रोशी'।

सचमुच आने वाले गम्भीर भय दो प्रकार के होते हैं। एक भय या सकट ऐसा है जिसके तुरन्त आने की सम्भावना होती है और उसका इलाज भी तत्काल करना होता है। ऐसे भय की सूचना मिलते ही समाज के बहुत से जाग-रूक लोग और नेता तुरन्त समझ जाते हैं और समय पर इलाज करके अपने को और समाज को बचाते हैं। लेकिन दूसरे ऐसे गम्भीर विनाशकारी भय और सकट होते हैं जिनके आ पडने पर इलाज हो नही सकता, अथवा बहुत महँगा होता है ऐसे सकट प्रत्यक्ष आने के पहले, दस-बीस साल पहले ही उनका खतरा पहचान लेना, समाज-हित-चिन्तक दीर्घदर्शी सयाने लोगो का काम होता है। समाज की हालत देख कर और लोगो के स्वभाव का रुख समझ कर ऐसे सज्जन समय पर सूचना देते हैं कि अब तुरन्त इलाज न किया, दृढ़ता से सुधार न किया, तो पन्द्रह बीस वर्ष में फलाँ सकट आने वाला ही है। अगर अविश्वास कर के समाज सो गया तो ऐसी जडता की कीमत समाज को देनी पडेगी, सज़ा भुगतनी पडेगी।

मानव का स्वभाव और मानव का इतिहास जो जानते हैं, इतिहास के उत्कृष्ट अध्ययन से जो दीर्घदर्शी बने हैं वे कभी-कभी गम्भीर चेतावनी देते है, कि भाइयो, चेतो, समय पर चेतो, नही तो पछताना पडेगा। गान्धीजी जैसे राष्ट्रपुरुष समाज को समय पर आगाह करते रहते हैं। लोग अगर जागरूक रहे तो उनकी सूचना समय पर मान लेते हैं और सकट का इलाज करके बच जाते है। लेकिन मनुष्य का स्वभाव ही अदूरदर्शी होता है। धर्मराज के जैसे मानव हितकारी लोक-नेताओ ने कहा है—"दीर्घं पश्यत, मा ह्रस्वम्।" भविष्य

काल में दीर्घ तक, दूर तक देखने की आदत डालो, केवल नजदीक की सोच कर न बैठ जाओ। लेकिन मनुष्य का स्वभाव दूर तक—दीर्घ देखने का नही होता, जब तक सकट प्रत्यक्ष दीख न पडे उसके बारे में सोचता ही नही। और जब सकट प्रत्यक्ष आ कर खडा हो जाता है तब बस मनुष्य हिम्मत हार कर कहने लगता है, "अब क्या होगा? अब हम क्या कर सकते हैं? जो होगा सो होगा, भुगत लेंगे, हार जायेंगे और तक़दीर को दोष देंगे।" प्यास लगने के बाद कुँआ खोदना आरम्भ करने पर प्यास थोडे बुझ सकती है?

जिनमें पुरुषार्थ कम होता है ऐसे लोग भी समय पर सूचना मिली तो कहते हैं; "आगे देखा जायेगा। आज तो कुछ करने को है नही।" और जब सकट अपना भयानक रूप प्रगट करता है तब कहने लगते हैं, "अब तो कुछ होगा नही, बाजी हाथ से चली गयी।"

सकट के गम्भीर खतरे की सूचना देने वालों में थोड़े दीर्घदर्शी भी होते हैं। उनकी बात लोग समय पर मानते नही। जो लोग नाहक भयाक्रोशी होते हैं उनकी बात मानकर लोग पछताते हैं, और फिर तो योग्य राष्ट्रपुरुषों की सूचना की भी उपेक्षा करते हैं। और उनको भी भयाक्रोशी के दल में समा देते हैं।

इसका इलाज क्या? इलाज एक ही है, सारी जनता को अथवा जनता के अधिकाश स्त्री-पुरुषो को काफी इतिहास सिखाना, समाज-विज्ञान के प्राथमिक पाठ देना, सामाजिक जीवन-क्रम में कार्य-कारण सम्बन्ध कैसा पिरोया हुआ है समझा देना और अज्ञानी जनता को प्रबुद्ध बनाना।

जो लोग व्यक्ति का और समाज का मनोविज्ञान जानते हैं, सामाजिक परि-बल कैसे काम करते है इसका जिन्हें ख्याल है वे ही समाज को समय पर आगाह कर सकते हैं। और व्यर्थ के भयाक्रोशी लोगो से बचने की सूझ भी देते हैं।

जो संकट दूर का है, आ पड़ा नहीं है उसका दीर्घदृष्टि से समय पर इलाज करने वालो को 'अनागत-विधाता' कहते हैं। जो लोग सकट देखते ही बडी स्फूर्ति से तुरन्त कुछ इलाज करते हैं उनको कहते हैं 'प्रत्युत्पन्नमति'। ये दोनो अपने को और अपने समाज को कमोवेश बचाते हैं। पुरुषार्थहीन, जड और अकर्मण्य लोगों का तो नाश निश्चित है ही।

अब मुख्य सवाल एक ही है कि जो भयानक और गम्भीर संकट आने वाला है उसे अच्छी तरह पहचान कर जो सयाने लोक-हितचिन्तक अपने समाज को जाग्रत करते हैं और सकट का उपचार तुरन्त शुरू करने की सलाह देते हैं उनको भी अगर समाज अपनी जडता के कारण, पुरुषार्थ के अभाव के कारण, भयाक्रोशी कहें और उनका उपहास करके उन्हें उपेक्षित रख दें तो उसका इलाज क्या?

इसका इलाज कोई है नही। लोक-हित-चिन्तक बिना डरे, बिना दबे, अपनी देखी हुई बात समाज को स्पष्ट शब्दो में समझा दें और लोग उपहास करें तो उसे सहन करें। और अगर उसकी बात सचमुच भयाक्रोशी की बात साबित हो गयी तो अपनी गलती कबूल करके खामोश हो जाये। मनुष्य समाज ऐसे ही चलता आया है। सामाजिक प्रगति इसी ढग से होती आयी है।

समाज विज्ञान इसी तरह से बढ़ता चला है। कोई किसी साक्षात्कारी पुरुष ने ऐसा-ऐसा कहा है, धर्मग्रन्थो में ऐसा-ऐसा लिखा है, ऐसी दलीलें देकर समाज को सचेत करने के दिन अब चले गये हैं। शुद्ध और स्पष्ट दलीले दे दो, अपना ज्ञान समाज के सामने रख दो, फिर समाज है और उसका भाग्य।

[१५ फरवरी १९६७]

धर्म का प्राण बनाम रूढि का आग्रह

महात्मा जी के साथ मैं सिलोन गया था। सिलोन यानी लंका में जो भारतीय लोग रहते हैं उन में तमिल भाषी लोगो की संख्या काफी बडी है। खादी कार्य के लिए उन से धन इकट्ठा करने का विचार राजा जी ने सोचा था और इस के लिए आठ-पन्द्रह दिन का गान्धीजी का कार्यक्रम उन्हों ने बनाया था।

दक्षिण भारत की सन् १९२१ की यात्रा कर के गान्धीजी काफी थक गये थे। इतने में उन को वाइसराय के आमन्त्रण के कारण शिमला जाना पडा था। महादेव भाई और मैं दोनो काफी चिन्तित थे कि गान्धीजी को आराम कब और कैसे मिलेगा। इतने में मेरे समुद्र-प्रेम ने एक सुन्दर रास्ता दिखाया। मैं ने कहा, शिमला से लौटते ही गान्धीजी बम्बई से कोलम्बो तक जहाज़ की यात्रा करें। उन्हें काफी दिन का आराम मिलेगा और समुद्री हवा का लाभ भी मिलेगा। गान्धीजी को मेरी योजना पसन्द आयी। राजा जी ने भी स्वीकृति दी। और बम्बई के श्री शान्तिलाल मोरारजी ने किसी युरॅपियन शिपिंग कम्पनी के साथ तय किया कि गान्धीजी और उन की पार्टी एक मालवाहक—कार्गो स्टीमर से बम्बई-कोलम्बो की यात्रा करें। स्टीमर के कैप्टन ने अपना बडा कमरा गान्धी जी को दे दिया। दूसरे अफसरो ने अपने-अपने कमरे हम लोगो को दिये। और हम लोग बादशाही ढग से एक सुन्दर समुद्र-यात्रा करते हुए पश्चिम समुद्र के रग किस तरह बदलते रहते हैं—देख सकें। जहाज़ पर दूसरे यात्री नही थे।

गान्धीजी जहाज पर अच्छी तरह से टहल सकते थे। हम लोगों से तरह-तरह की चर्चा होती थी। और देखते-देखते गान्धीजी का स्वास्थ्य बहुत सुधर गया।

एक दिन रास्ते में कोलम्बो से राजा जी का बेतार का तार आया। उस में एक ही शब्द था, 'when'। हम समझ गये कि राजाजी पूछते हैं कि कोलम्बो में गान्धी के दर्शन कब होंगे? गान्धी जी भी कम कृपण नही थे। उन्हो ने एक ही शब्द का जवाब भेजा, 'Friday' (मैं सोचता हूं कि मैं ने वार की भूल नही की है।) जो भी हो, हम कोलम्बो पहुँच गये। क्या लोगो का उत्साह था! भारतवासी और लंकानिवासी के बीच मानो भक्ति की होड चली थी। ईसाई, बौद्ध और हिन्दू हरेक को लगता था कि गान्धीजी विशेष रूप से हमारे हैं। वहाँ इतने कार्यक्रम हुए कि गान्धीजी तो क्या हम भी काफी थक गये। बनिया गान्धी बम्बई से निकलते मीठुबेन पिटिट के पास से तरह-तरह की खादी के गट्ठे ले आये थे। देखते-देखते सब खादी बिक गयी। राजा जी की व्यवस्थाशक्ति का, उदारता का और दीर्घदृष्टि का वहाँ हमें अच्छा परिचय हुआ।

इस यात्रा के एक प्रसंग का जिक्र किये बिना मुझ से रहा नही जाता। सिलोन के असंख्य बौद्धो की एक बहुत बडी सभा में गान्धी जी बोल रहे थे। प्रारम्भ में ही उन्हों ने कहा—

मैं ने बौद्ध धर्म का अथवा भगवान् के उपदेश का विशेष अध्ययन नहीं किया है। आप मेरी परीक्षा लेंगे तो प्राथमिक परीक्षा में भी शायद मैं उत्तीर्ण नही हो सकूंगा। लेकिन, बुद्ध भगवान् के प्रति मेरी भक्ति किसी से कम नहीं है। उन के कार्य का महत्त्व मैं जानता हूं। हिन्दू धर्म के सुधार के लिए बुद्ध भगवान् ने जो सेवा की है उस से हम कभी उऋण नही होंगे। जो लोग कहते हैं कि भारत से बौद्ध धर्म का लोप हुआ है, ग़लत कहते हैं। हिन्दू धर्म ने बुद्ध भगवान् के उपदेश के महत्त्वपूर्ण भाग को पूरा-पूरा आत्मसात् किया है। बुद्ध भगवान् के पहले का हिन्दू धर्म वैसा का वैसा रह नही सका। आज के हिन्दू धर्म पर बुद्ध भगवान् का असर स्पष्ट रूप से दीख पडता है। इसी लिए तो हम बुद्ध भगवान् को ईश्वर का अवतार मानते हैं। (मैं गान्धीजी के प्रत्यक्ष शब्द नहीं दे रहा हूँ। उन के मुँह से जो सुना उस का सही-सही सार ही दे रहा हूँ।)

बुद्ध भगवान् ने भारत की जो धार्मिक स्थिति देखी और उस के सुधार के लिए क्या सोचा इस का वर्णन करते गान्धीजी बुद्ध भगवान् के साथ इतने तल्लीन और एकरूप हो गये थे कि बोलते-बोलते 'Then he saw' (तब उन्हो ने देखा) कहने के बदले उन के मुँह से निकला 'Then I saw' (तब मैं ने देखा)। मैं चकित हो गया। सभा के अन्त में डेरे पर आ कर जब हम खाने को बैठे,

तव मैं ने महादेव भाई से कहा "महादेव भाई, आप के ध्यान में आया कि बापूजी बुद्ध भगवान् की बातें करते-करते उन के साथ इतने एकाकार हो गये कि 'देन आई सॉं' बोल गये ?" महादेव भाई कुछ कहें, उस से पहले राजाजी उत्तेजित हो कर बोले : काका, 'डिड यू आलसो मार्क दैट' हम तीनो हँस पडे। फिर हम ने कृष्णमूर्ति के ऐसे ही एक किस्से का जिक्र किया।

अशोक के पुत्र-पुत्री महेन्द्र और सघमित्रा के प्रयास से जो टापू बौद्ध धर्मावलम्वी बन गया था उस टापू में अगर हम भी बुद्धोपासक बन गये तो उस में आश्चर्य क्या ? सिलोन के बौद्ध लोग भगवान् बुद्ध के मूल उपदेश को मानते हैं इस लिए उन्हें थेरवादी (स्थविरवादी) अथवा हीनयानी अर्थात् सँकरे रास्ते से जाने वाले कहा जाता है। मैंने बुद्ध भगवान् का चरित्र और थेरवादी साहित्य का थोडा-कुछ अध्ययन किया था। 'दीपवश' और 'महावश' जैसे सिलोनी बौद्ध इतिहास को भी मूल पाली में पढा था। इस लिए सिलोन के कट्टर बौद्धो से थोडा वार्त्तालाप करने की इच्छा हुई। मैंने देखा कि सिलोन की वर्त्तमान राजधानी कोलम्बो में काफी युरोपियन बौद्धधर्मी वन कर शिरोमुण्डन करके और पीली चादर धारण करके लका के निवासियो से घुल-मिल गये हैं। उन के साथ अँगरेजी में बातचीत करना वहुत आसान है। लेकिन मुझे तो शुद्ध सनातनी सिलोनी बौद्ध साधुओ से जानकारी प्राप्त करनी थी। लोगो ने कहा ऐसे साधु आप को लका के मध्य मे प्राचीन राजधानी कैण्डी में मिलेंगे।

कैण्डी पहुँचते ही वहाँ मैंने उन दो कट्टर पवित्र साधुओ की तलाश शुरू की। अँगरेजी अच्छी जानने वाले एक सिलोनी वकील गान्धीजी से मिलने आते थे। मेरी प्रार्थना मान्य करके वे उन दो साधुओ को गान्धी-कैम्प में ले आये। उन बेचारे वकील को अपने धर्म का ज्ञान नही के बरावर था। लेकिन मेरे लिए वही एक दुभाषिये थे। मैं अँगरेजी मे सवाल पूछूँ उस का सिंहली जवाब का अँगरेजी अनुवाद उन से मुझे मिलता था।

लाभ इतना ही था कि मैं अँगरेजी में बोलते समय बौद्ध परिभाषा का उपयोग करता था, इस लिए मेरे सवाल का भावार्थ वे साधु उन वकील से भी ज्यादा अच्छी तरह से समझ सकते थे। साधुओ का जवाब भी मैं ठीक समझ सकता था।

काफी चर्चा के वाद दोनो साधु देख सके कि मैं केवल तटस्थ जिज्ञासु नही हूँ। बुद्ध भगवान् के प्रति मेरी भक्ति गहरी है और उन के उपदेशो के प्रति मैं

७

श्रद्धा रखता हूँ। तब उत्साह मे आकर उन्होंने मुझ से प्रश्न पूछा, जिस का अनुवाद करने से वकील साहब ने इनकार किया। मैं ताड गया कि गडबड़ी है। मैंने वकील साहब से पूछा कि 'माजरा क्या है?' उन्होने कहा कि इन भोले साधुओ को मैं समझा रहा हूँ कि मेहमानो से ऐसा सवाल पूछना शिष्टाचार के विरुद्ध है। मैंने तुरन्त कहा, "नही जी, इन दोनो के प्रति, विशेषत. इन के धर्माग्रह के प्रति मेरे हृदय में काफ़ी आदर है। इन का प्रश्न मुझे जानना ही है।" तब वकील साहब ने कहा, "ये साधु आप से पूछते हैं कि "हम देखते हैं कि भगवान् तथागत के प्रति आप की श्रद्धा है, उन का उपदेश आप को मान्य है, तब आप बौद्ध क्यो नही बन जाते?"

सवाल सुनते ही, उन दो बुद्ध-भक्तो के प्रति मेरे मन में स्नेह उमड़ आया। मैंने वकील साहब के द्वारा खूबी से जवाब दिया।

मैंने कहा कि आप का सवाल योग्य है। आप मेरी कठिनाई समझ लीजिए। मैं बुद्ध भगवान् के प्रति शरण गया ही हूँ। उन का धम्म मुझे मान्य है। लेकिन, 'संघम् शरणम् गच्छामि' कहने को मैं तैयार नही हूँ। शरणत्रय में से दो शरणो को स्वीकार करने पर आप अगर मुझे स्वीकार करने को तैयार हैं तो अभी आप मुझे बौद्ध बनाइए। मेरा हिन्दू धर्म बीच में नही आयेगा।"

दोनो साधुओ ने गम्भीरता से आपस में बातचीत की और बडे विषाद के साथ कहा, "यह नही हो सकता। रत्नत्रय को जो स्वीकार करेगा वही बौद्ध बन सकता है। तथागत का ही यह वचन है। उस का उल्लंघन नही हो सकता।" परस्पर सद्भाव के स्वरूप हमारी मुलाकात पूरी हो गयी। वकील साहब भी थोडा-कुछ समझ सके और उन को सन्तोष हुआ कि भेंट शान्ति से और परस्पर सद्भाव से पूरी हो गयी।

यह छोटा-सा व्यक्तिगत क़िस्सा मैंने विस्तार से यहाँ दे दिया है इस का एक खास कारण है जो मैं एक अलग लेख में ही दे सकूँगा। बुद्ध, धर्म और संघ तीनों की शरण स्वीकार करने का आग्रह मैं समझ भी सकता हूँ और उस की सकुचितता अथवा मर्यादा मुझे अखरती भी है। सब धर्मों का आदर के साथ आवश्यकीय अध्ययन करने के बाद और सब पैग़म्बरो के प्रति एक-सा आदर रखते हुए भी धर्मों की रूढिनिष्ठा अथवा परम्परा का आग्रह मैं मान्य नही कर सका हूँ। हिन्दू धर्म के प्रति मेरा विशेष आदर इसलिए है कि "हिन्दू धर्म ने (यानी हिन्दू समाज ने) मुझे अपनाया है, लेकिन, कभी किसी तरह से बाँध नहीं रखा है। जब तक हिन्दू धर्म के प्रति मेरे मन में निष्ठा और आत्मीयता है तब तक हिन्दू धर्म मुझे कभी भी फेंक नहीं देगा। मेरे विचार में चाहे जो भी परि-

वर्तन हो, और किसी भी धर्म के प्रति मेरा आदर बढ जाये तो भी, हिन्दू धर्म को तनिक भी एतराज नही है। मैं स्वय हिन्दू धर्म का त्याग करूँ तभी मैं हिन्दू मिट सकता हूँ।" इतनी उदारता जिस धर्म में है, उस का अस्वीकार कभी भी मुझ से नही होगा। मैंने दुनिया के सब खण्डो की यात्रा की है, सब धर्मो के आग्रही सज्जनों से विचार-विनिमय किया है, और सभी को मै यही कहता आया हूँ कि "आप अपने-अपने धर्म में ज़रूर रहिए। अपना धर्म छोड कर हिन्दू धर्म में आइए ऐसा मैं कभी भी आपको नही कहूँगा। लेकिन ईश्वरमान्य इस उदारता को आप आत्मसात् कीजिए तभी जा कर आप की धार्मिकता कृतार्थ होगी। कट्टरता से धार्मिकता थोडी-बहुत मज़बूत होती है, सही, लेकिन, साथ-साथ सच्ची धार्मिकता काफी निष्प्राण हो जाती है। कट्टरता हरेक धर्म के लिए श्मशानभूमि बनती है।"

(१५ सितम्बर, १९६७)



नवसंस्करण की गतिविधि

आमूलाग्र सामाजिक क्रान्ति

जब नदी बहती है, किस दिशा से बहना उस की इच्छा की बात नही होती। जहाँ मार्ग मिले वहाँ जाना, ऊपर से नीचे उतरना, रास्ते में कोई पत्थर आदि दीख पडे तो उसे डुबो देना, बडी रुकावट आयी तो रुक जाना और ऊपर से आते हुए पानी के भार से रुकावट को तोड़ डालना यही है नदी का धर्म। नदी किसी भी दिशा में बहेगी। उस का निर्णय पानी नही करता, जमीन करती है। नदी केवल अपने जीवन धर्म का पालन करती है। ऐसा करते अगर सामने मरुभूमि आयी तो नदी उस में लुप्त हो जाती है। कभी-कभी हज़ारो साल तक अपना पानी रेगिस्तान में छोड कर नदी उस का दलदल बना देती है और फिर वहाँ बडे-बडे जंगल भी उगते हैं। उन को भी प्रश्रय देना नदी का काम है।

इस के विरुद्ध मनुष्य ने पानी को इष्ट दिशा में ले जाने के लिए नहर खोदना शुरू किया। नदी के प्रवाह को भी बाँध कर बाद में उस के पानी से बिजली आदि पैदा करने का विचार मनुष्य को सूझा और उसने नदी के पानी को समुद्र तक जाते हुए रोकना भी शुरू किया।

एक दिन ऐसा ज़रूर आयेगा जब नदी का सारा पानी नहरो के द्वारा मनुष्य इष्ट दिशा में ले जायगा। और सारे पानी का खेती आदि के लिए उपयोग करेगा।

सारी नदियाँ आज तक प्रकृति की पुत्रियाँ हैं। जब मनुष्य का विज्ञान बढेगा, नदियाँ अपने प्रवाह से नही बहेंगी। जिस तरह भागीरथी का प्रवाह भगीरथ और जह्नु जैसे सम्राटो ने तय किया, उसी तरह छोटी-मोटी सब नदियो के प्रवाह मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार ले जायेगा और काम में लायेगा। विज्ञान की प्रगति देखते नदियो का पूर्ण उपयोग करते मनुष्य जाति को सौ-दो-सौ बरस से अधिक समय नही लगेगा। तब नदियाँ कुदरत की कन्या नहीं कहलायेंगी। मनुष्य के पुरुषार्थ की अनुगामिनियाँ कहलायेंगी। इस

प्रगति के आसार अभी से कुछ-कुछ दीख पडते हैं। नदियो के जीवन और विकास का और उन के भविष्य का चित्र अभी से हमें सोचना चाहिए।

जो बात नदियो के बारे में हमने कही, वही मनुष्य के सामाजिक जीवन के बारे में भी होनी चाहिए। क्योंकि दोनो का जीवन प्रवाहरूप है।

मनुष्य ने अपने संगठन के द्वारा अरसे तक आँकडे इकट्ठा कर के अभी निश्चय किया है कि मनुष्यजाति की कुल आबादी अमुक करोड है। इसमें जो हर साल वृद्धि होती है उस के कारण और उसका क्रम भी हम निश्चित कर सके हैं। इस मनुष्य जाति के प्रधान वंश कहाँ रहते हैं, उन को वहाँ खाने-पीने को कितना मिलता है—स्थानान्तर करने की गुंजाइश कितनी है इत्यादि सब जानकारी आज मनुष्य के पास है। खाद्य की दृष्टि से फल और मेवे, शाक और अनाज, दूध और अण्डे, तथा मांस के लिए पशु-पक्षी और मछलियाँ कितनी उपलब्ध हो सकती हैं इसका भी हिसाब सारी दुनिया के लिए मनुष्यजाति के पास है। जीवन-विज्ञान का यह सब प्राथमिक पुरुषार्थ है। अन्न धान्य बढाने के तरीक़े भी मनुष्य ढूंढ रहा है। जहाँ अन्न की ज़रूरत हो वहाँ उसे ले जाना पहले की तरह अब कठिन नही है। ज़मीन, समुद्र और हवा तीनो का उपयोग आवागमन के लिए हो रहा है। रोगो के कारण और इलाज ढूँढे जाते हैं। परस्पर सहयोग से सब राष्ट्र उन्नति के पथ पर अग्रसर हुए हैं।

ऐसी हालत में हमारी जागतिक, सामाजिक प्रगति केवल कुदरत पर हम छोड दें, यह शोभा नही देता। अब नदी का ज़माना खतम हुआ है, नहरो का ज़माना शुरू हुआ है। सन्तति-नियमन इस का एक और प्राथमिक पहलू है। सहयोगी खेती को हम दूसरा पहलू कह सकते है। साम्यवाद का सहजीवन भी वैज्ञानिक युग का एक प्रयोग है। अब मनुष्य का भाग्य काफी हिस्से मे उसी के हाथ में आया है। यदृच्छा के दिनो में लोग मानते थे कि मनुष्य का भाग्य उस की कपाल की रेखा पर निर्भर है, दैवाधीन है। अब मनुष्य जानता है कि उस का भाग्य उस के हाथ की कलाई और उस की अँगुलियो की कुशलता पर निर्भर है।

ऐसी हालत में मनुष्य-जीवन के जितने भी पहलू हैं, उन में जीवन-रेखा कैसे बहती है यह देख कर हम उस का एक समाज-विज्ञान तैयार करें, यह सब नये सत्ययुग की बात है।

इस के लिए अब हमें नये सिरे से नया समाज-विज्ञान तैयार करना पडेगा। चार वर्ण की व्यवस्था, जाति-व्यवस्था स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध और कौटुम्बिक व्यवस्था, धर्मप्रधान समाज-रचना और आजकल का अर्थतन्त्र, दाम्पत्य-जीवन के

आदर्श और सत्तामत्ता के हमारे आज तक के आदर्श, सब की उपयोगिता के बारे में हमें सवाल पूछने हैं। और बिलकुल नयी ही समाज-व्यवस्था अब आजमानी पड़ेगी। आज का अर्थतन्त्र हमें एक ओर खीचता है और हमारे धार्मिक, सामाजिक और प्राकृतिक बन्धन हमे दूसरी ओर खीच रहे हैं। यह तनाव दीर्घकाल तक टिक नही सकता। वृद्धि और अवृद्धि के तनाव में वृद्धि की ही जीत होने वाली है। लेकिन उस के लिए हम लोगो को अपनी बौद्धिक जडता और सकीर्णता छोड देनी पडेगी। और केवल क्रान्ति के लिए क्रान्ति करने का यौवन-सहज उन्माद भी छोड देना चाहिए। मस्तिष्क ठण्डा रख कर और समाज प्रगति के कानूनो को समझ कर नव-समाज-रचना का सारा चित्र और सुधार की प्रक्रिया हमें दुनिया के सामने रखनी होगी।

और एक बात है। आज तक भारत बहुत हद-तक दुनिया से अलग रह सका। सारा भारत तो अलग रहा ही, किन्तु भारत के अन्दर ही एक-एक जाति के लोग, एक-एक धर्म के लोग अपना-अपना अस्तित्व स्वतन्त्र रखने के लिए अलगाव का आग्रह रखते आये है। शादी-ब्याह में और खानपान में जातियाँ और धर्म अलग-अलग रहे ही। किन्तु सहकारी सस्थाएँ बनाने में, आर्थिक सहकार बढाने में, शहर की और गाँव की रचना में और नौकरियाँ देने में और लेने में जाति के तत्त्व का ख्याल अब भी निर्णयात्मक साबित होता है। इसलिए हमारी एकराष्ट्रीयता ,ऊपर-ऊपर की साबित होती है। किसी के हाथ का 'खाना नही खाना' स्वच्छता का सवाल है। लेकिन हम लोगो ने उसे सास्कृतिक रूप दे दिया। धर्म के नियम बना दिये। और यह सारा परहेज़ इतने आग्रह से चलाया कि अब राष्ट्रमानस ऐसे बन्धनो को स्वाभाविक और योग्य समझने लगा।

इस में भी पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो के बन्धन अधिक बने और इन सब बन्धनो का समर्थन पवित्रता के नाम से किया जाने लगा। एक पुराना उदाहरण नमूने के तौर पर देना हो तो हम कह सकते हैं कि चन्द देशो मे रिवाज था कि रास्ते पर से जाने वाली राजकन्या आम जनता की दृष्टि से अपवित्र न हो जाये, इसलिए लोगो को कहा जाता था कि जब तक राजकन्या रास्ते पर से गुज़र न जाये, तब तक रास्ते के राहगीर एकदम नीचे बैठ कर सिर ज़मीन तक ले जायें। दक्षिण भारत में एक जाति है नैयाडी। उस जाति के लोगो पर अगर किसी की नज़र पडे तो देखने वाला भ्रष्ट हुआ गिना जाता था। उसे नहाना पडता था या ऐसा ही कुछ प्रायश्चित्त करना पडता था। समाज को ऐसी आपत्ति मे से बचाने के लिए नैयाडी जीवन के लिए एक नियम बनाया था कि भिक्षा भी माँगनी हो तो किसी पेड के पीछे छुपकर रोतल आवाज की पुकार करे और

भद्र पुरुष जब खाने की चीजें रास्ते पर रख कर लौट जाये, तब पेड के पीछे से आगे आकर भिक्षा का अन्न उठावे और एकान्त मे जाकर खा ले। यह सब हमारी देखी हुई बात है।

ऐसे-ऐसे नियमो के बचाव मे काफी दलीलें सुनायी जाती हैं। लेकिन मानवता का अपमान तो अपमान ही है। उस का समर्थन रूढि की दुहाई दे कर नही हो सकता।

जब तक हम पुराने आदर्शों को कायम रखते हैं और आचार-व्यवहार में इधर-उधर थोडा सुधार करते है तब तक लोक-मानस में सकीर्णता ही कायम रहेगी। अब छोटे-छोटे सुधार काम के नही रहे। आमूलाग्र क्रान्ति ही करनी होगी। और ऐसी क्रान्ति लोक-हितैषी ज्ञानी लोगो का मन जब पुराने वहमो से मुक्त होगा, तभी हो सकेगी।

अब हमारी समाज-व्यवस्था पुराने ढग से नही चलेगी। बाकी की दुनिया के रस्म-रिवाजो का असर भी हम पर होगा। और हमारा असर औरो पर होगा। स्वतन्त्र भारत का दुनिया के साथ का सहयोग बढ़ता जायेगा, जिस तरह रेडियो की बदौलत हरएक देश का सगीत दूसरे देश के घरो तक पहुँच गया है, वैसा ही रस्म-रिवाजो के बारे में भी होने वाला है। जब शाकाहारी लोग दुनिया की यात्रा करते हैं तब मूल सिद्धान्त का पालन करते हुए कहाँ-कहाँ समझौता करना पडता है इस का विचार उन्हें आता है। जेल मे दिन काटते हुए भी यही अनुभव हुआ। इसलिए समाज के नेताओ का धर्म है कि वे अपने-अपने फिरके के लोगो को दुनिया की परिस्थिति समझाये और नये सिरे से नयी समाज-रचना की तैयारी करें।

लोगों का मन इस बात के लिए तैयार हो जाये कि दुनिया के लोगो के साथ सहयोग करना अपरिहार्य है इस सिद्धान्त की बुनियाद पर ही अपने नये सामाजिक जीवन का रूप निश्चित करें।

(१५ अगस्त, १९६२)

जीवन के विविध दर्शन

समाज-सेवा की या समाज-सुधार की बातें जब हम करते हैं, अक्सर दो तरह के, दो स्वभाव के लोगो की कल्पना करते है—रूढ़िवादी और सुधारक अथवा प्रगतिशील। यह भेद हमारा किया हुआ नही है। अँगरेजी में कांज़र्वेटिव और लिबरल ऐसे दो वर्ग माने जाते थे। उन्ही शब्दो का अनुवाद करके, उन ही का वर्गीकरण हमने चलाया है।

वहाँ पर लिबरल से भी कुछ आगे बढे हुए लोगो ने अपने लिए नाम लिया रॅडीकल। वे तो जड-मूल से सुधार चाहते हैं। हिम्मतवान् होते हैं। बहुजन समाज अपने साथ सहयोग करता है या नही इस की परवाह वे नही करते। इसलिए अक्सर उन की अल्पसख्या ही रहती है। इन आमूलाग्र सुधार करने वाले रॅडीकल लोगो की हस्ती से लिबरल सुधारको की प्रतिष्ठा बढती है। वे कह सकते हैं कि, "एक ओर हम रूढिवादी भी नही, दूसरी ओर आमूलाग्र परिवर्तन की ज़िद करने वाले व्यवहार शून्य रॅडीकल भी नहीं हैं। हम सर्व कल्याण का बीच का रास्ता लेते हैं।" दोनो के बीच रहने से वे अपने को व्यवहारकुशल और शान्तिवादी बता कर समाज का नेतृत्व आसानी से ले सकते हैं।

काज़र्वेटिव, लिबरल और रॅडीकल इन तीनो वर्गों ने यूरप के समाज की बडी सेवा की है और अपनी-अपनी दृष्टि का दर्शन यानी तत्त्वज्ञान बना कर साहित्य की भी सेवा की है। समाज-विज्ञान पर इन तीनो का गहरा असर है। इन तीनो की तत्त्व चर्चा का साहित्य देशी भाषा में लाना हमारे लिए हितकर ही होगा। चिन्तनधारा का रास्ता साफ़ होगा और चिन्तन-शक्ति बढेगी।

हम जब अपने समाजो की सेवा करते अनुभवमूलक चिन्तन करते हैं तब हमारे मन में भी समाज के भिन्न-भिन्न वर्ग दीख पडते हैं। इन की थोडी-सी चर्चा करनी है।

हम रूढिवादी को अपरिवर्तनशील कहते हैं। और इसलिए उन को बिल-कुल हीन समझते हैं। हम मानते हैं कि इन से भी नीचे का एक वर्ग है जिस की लोक-संख्या सब से अधिक है।

जिस दर्शन के पीछे विशेष चिन्तन नही करना पडता, जो आसान है और

जिस का बहुमत हमेशा रहा है ऐसो को हमारे लोगो ने चार्वाक अथवा लोकायतिक नाम दिया है। चार्वाको को मैं चारुवाक् कहता हूँ। वे श्रेय की उपेक्षा कर के प्रेय को अपनाते हैं। बुद्धि के आरामतलब होते हैं। उन की वाणी समाज को मीठी लगती है इसलिए वे चारुवाक् हैं। लेकिन आज तो चार्वाक् उन्हे कहते हैं जो ईश्वर को नही मानते, आत्मा को और परलोक को नही मानते, वेदादि धर्मग्रन्थो की उपेक्षा करते हैं और सयममूलक समाज-व्यवस्था को कोसते हैं। जो हो, हमारे देश में चार्वाको की काफी निन्दा हो चुकी है। अब उन का सच्चा दर्शन क्या था इस की शोध-खोज होने लगी है। समाज में जिन की निन्दा होती है उन को जाहिरा तौर पर स्वीकार करते लोग डरते हैं। नाहक बदनाम क्यो होये ? लेकिन हृदय से चार्वाक् दर्शन को मानने वाले, छिपे चार्वाको की सख्या इन दिनो बढती चली गयी है। लेकिन उन की बात आज हमें नही करनी है। हम जिस वर्ग का स्वरूप-वर्णन सबसे प्रथम करना चाहते है वे रूढिवादी नही हैं। वे है जडमार्गी।

पानी में पडे हुए एक लकडी के टुकडे का अपना आग्रह कुछ नही होता। बहना या नही, तैरना या डूब जाना, सगठित होना या असगठित होना, सस्कार ग्रहण करना या नही, उस का निजी आग्रह तनिक भी नही होता। अगर उस टुकडे के गले में पत्थर बाँध दिया तो वह पानी में डूबेगा। पानी में रह कर सडता जायेगा। उस का अपना निजी आग्रह या प्रयत्न तनिक भी नही होगा। पत्थर की रस्सी टूट गयी और लकडी पर का उस का बोझा हट गया तो पानी अपने स्वभाव-धर्म से लकडी को ऊपर ले जायेगा। वह भी उसे मजूर है।

अगर वह लट्ठा या कुन्दा बहते प्रवाह मे पडा तो खूब प्रगति करेगा। किन्तु स्वेच्छा से ,या अपने पुरुषार्थ से नही। बहते-बहते कोई रुकावट आयी तो रुक जायेगा। उस के रुकने से उस की तरह दूसरा कुन्दा उस के नज़दीक आया तो दोनो रुक जायेगे। ऐसे ही तीसरा-चौथा करके उन का बडा सगठन हो जायेगा। इस में भी किसी का पुरुषार्थ नही। सगठन की लाभ-हानि उन को मिलेगी ज़रूर, लेकिन उस का पाप-पुण्य उन का नही।

पानी के क्षोभ से अगर ऐसे कुन्दे एक-दूसरे से घिसते जायें तो घिस-घिस कर उन का आकार सुधर जायेगा। गोलमटोल बनेगा। उन में सस्कारिता आयेगी। सुन्दरता भी। लेकिन इस में भी उन का पुरुषार्थ नही। परिस्थिति ऐसे कुन्दे का कभी भला भी करेगी, कभी नुकसान भी। ऐसी जड वस्तु को अगर हृदय हो सकता है तो वह आरामतलब और सन्तोषसेवी ही हो सकता है।

कभी-कभी पुरुषार्थविहीन असन्तोष और चिढ़ का थोडा अनुभव कर के ऐसा हृदय तुरन्त सो जाना ही पसन्द करता है और अपनी जडता के समर्थन में ईश्वरनिष्ठा का ढोंग कर के अपने असन्तोष को वह दूर भी कर सकता है। "ठेविलें अंनतें तैंसेचि रहावें।" भगवान् ने जिस हालत में रखा उसी को स्वीकार करना चाहिए यह होता है उन का जीवन-सूत्र। ऐसे लोग कभी प्रगति भी करते हैं। सगठित होकर कभी-कभी किसी पराक्रमी पुरुष के अनुयायी बनते हैं और क्रान्ति में भी हिस्सा लेते हैं। नास्तिकवाद, आस्तिकवाद जो भी रूढ हो, फ़ैशनेबल हो, उस को स्वीकार करते और बाद में अस्वीकार करते इनको कोई भी तकलीफ नहीं होती। किसी ने इन से सुधार करवाया तो इन के हाथो सुधार हो जायेगा। इन के अपने हाथो स्वेच्छा से कोई सुधार होगा नहीं। सुधारको को कभी उन की मदद मिलती है, कभी उन का विरोध सहन करना पडता है। लेकिन इस में उन का पुरुषार्थ कहीं भी नही। जडधर्मी का अपना कोई दूसरा स्वधर्म नही होता। आप हिन्दू क्यो हैं, जैन, मुसलमान, ईसाई क्यो हैं? इस का उत्तर वे देंगे, "हैं इसलिए हैं।" ऐसे लोग रूढिवादी भी हो सकते हैं, और रूढिभंजक भी। क्योंकि वे किसी इंजन के पीछे जानेवाले जडवादी डिब्बे होते हैं। अगर इंजन ने कही ग़लती की तो डिब्बे टकरा कर चूर हो जायेंगे। दुनिया कहेगी कि ये डिब्बे एक भयानक क्रान्ति में शरीक थे। ऐसे जड़वादी भी क्रान्ति में शरीक हो सकते हैं, शहीद हो सकते हैं लेकिन उस का पाप-पुण्य इन के लिए नहीं है। भला और बुरा फल तो इन्हें भुगतना ही पडेगा।

यह जडवाद, जडमार्ग या जडधर्म बहुत पुराना है। इस रास्ते दुनिया हमेशा चलती आयी है। जिन्होंने जडता छोडी है, ऐसों की संख्या बहुत कम होती है। ऐसों को सफलता मिलती है। इस के अनेक कारणों में एक कारण यह भी होता है कि दैववशात् उन को उन के मार्ग में जडवादी अनेक अनुयायियो का अनुयायित्व मिला और वह काफ़ी समय तक क़ायम रहा।

मुडदाल जडवादी से कुछ अच्छे होते हैं रूढिवादी लोग।

रूढिवादियो में समय समझने की शक्ति भले ही न हो, अनुभव और चिन्तन से लाभ उठा कर प्रगति करने की तैयारी उन में भले न हो, उन में कम-से-कम रूढि का पालन करने का और रूढिविरोधी प्रयत्नो का मुक़ाबला करने का आग्रह तो होता ही है। उन के इस भूतकाल-परस्त अपरिवर्तनवादी पुरुषार्थ के लिए उन की क़द्र करनी चाहिए कि वे बिलकुल जडवादी तो नही हैं।

रूढिवादियों का अत्यधिक विश्वास होता है समाज के प्राचीन नेताओ की त्रिकालज्ञ बुद्धि पर और उन की दैवी शक्ति पर। उन का कहना होता है कि

'सामाजिक स्थिति में और धर्मव्यवस्था में परिवर्तन करने का अधिकार अल्पज्ञ और राग-द्वेष से भरे हुए सामान्य लोगो को नही है। दैवी पुरुष ही ऐसा कर सकते है, जिन को ये युगकर्त्ता कहते है। इस में कठिनाई यह आती है कि किसी भी प्रभावशाली दैवी पुरुष का भी युगकर्तृत्व और अधिकार उस के जीते-जी सर्व-मान्य नही होता। और जब मान्य होता है, युगकर्ता का ज़माना चला जाता है। और उस की व्यवस्था, सूचना अथवा आज्ञा कालग्रस्त होने के कारण युगानुकूल न होने की सम्भावना रहती है। "बुखार था तब दवा न ली और जब दवा ली तब या तो बुखार मिट गया या प्रकृति में विचित्र-विचित्र परिवर्तन हो गये।" रूढिवादियो को इतनी अन्धता मान्य करनी ही पडती है।

और रूढ़ि भी स्थिर कहाँ होती है? हमारी प्राचीन काल से या सनातन काल से चलती आयी सस्कृति मे परिवर्तन तो बहुत हुए ही है, क्रान्तियाँ भी कम नही हुई है। इस वास्ते रूढियाँ बदलती आयी हैं। काल-भेद से और स्थल-भेद से भी रूढ़ियो में भेद पाया जाता है। अब तो काल-भेद और स्थल-भेद के साथ धर्म-भेद, पन्थ-भेद, आचार्य-भेद, दर्शन-भेद आदि अनेक कारणो से भिन्न-भिन्न रूढियाँ चलती है और उन मे परिवर्तन भी होते चले जाते हैं।

रूढ़िवादी अपने को रूढि का दास बनाने के लिए तैयार होते हैं। यह काम इतना आसान नही है। परिस्थिति और मानव बुद्धि उसे परिवर्तन की ओर ले ही जाती है। रूढ़िवादी जो कुछ भी करते हैं, समयानुकूल नही होता। इसलिए उन्हें परिवर्तन का सुफल नही मिलता।

मैं ने एक बार सनातनी व्यक्ति की व्याख्या की थी। सनातनी मनुष्य केवल रूढि का दास नही है। किसी ने रूढि में परिवर्तन किया, वह थोडा कुछ बहुजन-मान्य हो गया तो सनातनी उस को स्वीकार करेगा। किन्तु समय पर नही। इस वास्ते मैं ने कहा कि सनातनी पुरुष कालभगवान् के कथनानुसार प्रगति करता है, दौडता रहता है। लेकिन हमेशा इस दौड-धूप में एक मजिल पीछे रहने में वह सुरक्षा अनुभव करता है, अथवा यही है उस का सनातनित्व। और लोगो की अपेक्षा कुछ पीछे रहा यही है उस की प्रतिष्ठा भी। फलत कालभगवान् की आज्ञा के अनुसार प्रगति करते हुए भी इस दौड-धूप और प्रगति के फलो का और पुरस्कार का वितरण जब कालभगवान् करता है तब वह फल और पुरस्कार उस के हाथ में कभी नही पडते। क्योकि वह एक मजिल पीछे रहता है।

रूढिवाद मनुष्य-बुद्धि का पूरा आदर नही करता। प्रयोग परायणता का अपमान करता है। प्रयोग के पीछे रही हिम्मत का उसे विश्वास नही है। सलामती की यह उपासना रूढिवाद को शापित बना देती है। और रूढिवादी

लोग हमेशा सही-सलामत रहे हैं ऐसा भी अनुभव नही है। बीमार पड़ने पर भी रूढ़िवादी अद्यतन वैद्यकीय दवा नही लेगा। कोई भी रिवाज या विचार जब तक समयग्रस्त नहीं हुआ है, उसे रूढि की प्रतिष्ठा नही मिलती। यह है रूढ़िवाद का सर्वसामान्य स्वरूप। इन में छोटे-मोटे भेद तो रहते ही हैं। किन्तु वे गौण होते हैं।

रूढिवाद के बाद आता है परम्परावाद। रूढिवादी लोग रूढ़ि के लिए ही परम्परा शब्द का व्यवहार करते हैं। लेकिन वह ग़लत है।

(१५ सितम्बर, १९६२)

दर्शन के बाद सहज समाधि

परम्परावाद रूढिवाद का एक प्रगतिशील संस्करण है। ऐसा अनुभव नही है कि रूढिवाद में भी लोग सब से प्राचीन रूढि को ले बैठते हैं। अगर परस्पर भिन्न दो रूढियाँ सामने आ कर खड़ी हुई तो रूढिवादियों को बुद्धि का प्रयोग कर के दो में से एक पसन्द करनी ही पड़ती है। इस में ऐसा नियम नही है कि दो में से जो रूढि अधिक पुरानी है उसी को स्वीकार किया जाये। यह भी नहीं कि दो में से जो रूढि प्रगति के लिए विशेष अनुकूल है उसी को ग्रहण किया जाये। रूढिवादी इतना ही देखते है कि वर्तमान परिस्थिति में विशेष परिवर्तन न करना पडे। इस में रूढिवाद की छाया काफ़ी दीख पड़ती है।

परम्परावाद में रूढि की प्रतिष्ठा रखते हुए वर्तमान काल के लिए अनुकूल बनने की और प्रगति करने की वृत्ति का स्वीकार इरादतन होता है।

परम्परावाद कहता है कि प्रगति करनी है, यह निश्चित है, लेकिन पुरानी रूढि को छोड कर बहुत दूर नही जाना है। रूढि छोड दी और नया क़दम उठाया ऐसा साहस नही करना चाहिए। रूढि को सँभालते थोड़ी-थोड़ी प्रगति अवश्य करनी चाहिए। और ऐसी जो भी प्रगति करनी है उस के लिए भी कुछ-न-कुछ पुराना समर्थन तो मिलना ही चाहिए।

जन्म के पश्चात् बालक तेजी से बढ़ता जाता है। लेकिन बालक का शरीर, उस की हड्डियाँ, मास, चमड़ी सब वही-के-वही रहते हुए उन में धीमे-धीमे परिवर्तन होता चला जाता है। यह परिवर्तन रोज-रोज़ दिखाई नही देता। इसी तरह रूढि में, रस्म-रिवाज़ों में जीवन-विकास के नियम के अनुसार अन्तर तो होता ही

रहेगा। लेकिन वह सूक्ष्म रूप से धीरे-धीरे होना चाहिए। इस बात का समर्थन करने वाले प्रगतिशील रूढिवादी कहते हैं, जेब घडी को देखिए, उस में क्षण यानी सेकेण्ड बताने वाला कांटा घूमता दिखाई पडता है। इस से भिन्न निमिष यानी मिनिट बताने वाला कांटा इस ढग से प्रगति करता है कि सामान्य दृष्टि से देखने पर तो प्रगति दीख न पडे, लेकिन दो-चार मिनिट के बाद हम देखते हैं कि मिनिट के कांटे ने काफी प्रगति की है। घण्टे बताने वाला कांटा भी आगे बढता रहता है लेकिन बहुत ही धीमे-धीमे। परम्परा की प्रगति निमिष कांटो की और घण्टो के कांटो की प्रगति जैसी होनी चाहिए। बहुत पुरानी रूढि छोड दी, परवर्ती रूढि ग्रहण कर ली। इस तरह धीरे-धीरे आगे बढना चाहिए। स्थिरता और प्रगति, सुरक्षा और प्रयोगपरायणता दोनो को एक साथ स्वीकार करने में ही बुद्धिमानी है।

परम्परावादियो का प्यारा सूत्र है—"From precedent to precedent, daily self-surpassed" हमारे यहाँ परम्परावादी एक सूत्र का सहारा लेते हैं, लेकिन वह सूत्र प्रगतिवादियो को ज्यादा अनुकूल है—"चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन पण्डित । न असमीक्ष्य पर स्थान पूर्वम् आयतनम् त्यजेत् ॥" सयाना आदमी जब चलता है, (चिडिया को तरह दो पांव से कूद कर नही चलता) एक पांव स्थिर रख कर दूसरे पांव को आगे बढाता है। आगे बढाया हुआ यह पांव जब नये स्थान पर स्थिर होता है तब उसी को नया आधार बना कर पीछे के पांव को उठाता है और उसे और आगे ले जा कर स्थिर करता है। ऐसा करने से प्रथम आगे रखा हुआ पांव, पीछे वाला बनता है। फिर उसे उठा कर और आगे रखा जाता है। इस लिए कहा गया है कि सयाना आदमी एक पांव से चलता है और एक पांव से खडा रहता है। जब तक आगे का दूसरा स्थान दृष्टि में स्थिर नही हुआ पहले का पुराना स्थान नही छोडना चाहिए। यह नया पसन्द किया हुआ स्थान पुराने स्थान से बहुत दूर नही हो सकता। एक कदम के फासले पर ही होता है।

परम्परावाद का रहस्य ब्रिटिश प्रजा अच्छी तरह जानती है। पुराने जमाने में राजा की ओर से कानून बहुत कम बनाये जाते थे। न्यायालय में जब कोई कजिया विवाद के लिए पहुँच जाता था तब न्यायाधीश पुराने कजियो के निर्णय ढूँढ कर देखते थे कि कौन-सा पुराना कजिया इस नये कजिये के अनुरूप माना जा सकता है। अगर पुराने दो कजिये इस नये कजिये के समान दीख पडे तो खूब सोच कर तय करते थे कि इन दो में से कौन-सा कजिया इस नये कजिये से अधिक नजदीक है। इस का फैसला होने पर उस कजिये का निर्णय विवाद्य नये

कजिये को लागू करते थे और कहते थे कि हम कोई नया निर्णय करते ही नही। पुराने निर्णय के अनुसार ही चलते हैं।

इस नये कजिये का इस तरह निर्णय करने के वाद यह भी एक नया आधारभूत किस्सा वनता है। और अगले किसी कजिये में इसका आधार लिया जा सकता है। इस तरह कजिये पर से पाये जाने वाले निर्णयो को अँगरेज़ी में 'केस लॉ' कहते हैं। 'केस लॉ' यानी कजियों के निर्णयो पर से समझ में आने वाला क़ानून। परम्परावाद का सारा रहस्य इस केस-लॉ में हम पा सकते हैं।

प्रगतिवाद को इस तरह अपरिवर्तन का दिखावा नही करना पडता। प्रगतिवाद सयाने आदमी की तरह नये-नये कदम उठाता है। लेकिन जितना आसानी से आत्मसात हो सके इतना ही नया क़दम उठाता है।

सिनेमा के परदे पर प्रति-क्षण पुराना चित्र ओझल हो कर, नया चित्र सामने आता है। ऐसी चित्र-परम्परा के द्वारा ही भ्रम उत्पन्न होता है कि परदे पर एक ही आदमी हाथ-पाँव हिलाता हैं और अन्यान्य चेष्टा करता है। एक चित्र गया और दूसरा आया इस वस्तु-स्थिति का मनुष्य को भान ही नहीं होता।

पुराने दार्शनिक भी कहते है कि हर क्षण यह सारी सृष्टि नष्ट होती है और क़रीव उसी के समान नयी सृष्टि उस आकाश-विभाग में, उस अवकाश मे, पैदा होती है। सिनेमा की चित्र-परम्परा का अनुभव होने से अव उन दर्शनकारो का कहना ठीक-सा मालूम होता है। प्रगति करते हुए स्थिरता का और अपरिवर्तन का आभास उत्पन्न करना यही है परम्परित प्रगति का रहस्य।

प्रगतिवादियो का कहना है कि अगर समय-समय पर मनुष्य प्रगति करता रहे, वीच-वीच में लापरवाही कर के सो न जाये, तो जड-मूल से क्रान्ति करने की नौवत आयेगी ही नही। समस्त जीवन परम्परित प्रगति पर ही निर्भर हैं। ग़फलत में भी न रहो और तेज़ी से दौडो भी नहीं। गम्भीरतापूर्वक आगे वढते रहो और प्रगति की गति जीवनानुकूल वना दो। यही है सच्चा जीवन-धर्म-कर्म। वैद्य लोग भी कहते हैं रात को जव हम सोते हैं हमारा शरीर पूरे उत्साह के साथ आगे वढता है। (इसीलिए उन का कहना है रात को सोने के कपडे काफी ढीले होने चाहिये ताकि शरीर-विकास को वे रोकें नही।) जीवनानुकूल प्रगति करने वाले प्रगतिवादियो की और एक सीख है।

अगर विना सोचे जल्दवाज़ी से अत्यधिक जोर से आगे वढे तो उस से जीवन-द्रोह होता है और ग़लता सुधारने के लिए कुछ पीछे आना पडता है। उसे कहते है प्रतिक्रिया। प्रगतिवादियो का सिद्धान्त है कि ऐसी प्रगति करो कि उस से कोई प्रतिक्रिया उठे नही। आज अगर खर्च ज्यादा किया तो कल कजूसी करनी

पडेगी। आज अगर हद से ज़्यादा खाया तो उस की बदहज़मी टालने के लिए कल फाका करना पडेगा, शायद रेचन भी लेना पडेगा। जब समाज जड़वादी या रूढिवादी वन कर प्रगति को रोकता है और सामाजिक स्थिति कालानुकूल नही रहती तब एकदम बडा और तेज़ परिवर्तन करना पडता है, जिसे क्रान्ति कहते हैं। और क्रान्ति अन्धी होने के कारण अपने ही वेग से अति प्रगति करती है, जिस के विरुद्ध फिर प्रतिक्रान्ति करनी पडती है। अतिप्रगति या क्रान्ति के बाद परागति करनी ही पडती है। ऐसी पीछेहट से सच्ची प्रगति होती है।

सामाजिक इतिहास में भी पाया जाता है कि पति-पत्नी की परस्पर निष्ठा और सयमित जीवन के द्वारा समाज का आरोग्य सँभाला जाता है। लेकिन जब ऐसे जीवन-रहस्य की उपेक्षा करके मनुष्य संयम छोड कर विलासी वनता है और परस्पर निष्ठा का द्रोह करता है तब समाज में अनाचार फैलता है और समाज का अध पतन होता है।

इससे बचने के लिए समाज के नेता सयम और ब्रह्मचर्य का प्रचार ज़ोरो से करते हैं। ब्रह्मचारियो के बडे-बडे सघ स्थापित किये जाते है। उन की सामाजिक प्रतिष्ठा इतनी वढती है कि लोग उन की पूजा करने लगते हैं। ऐसे 'ब्रह्मचारी सन्तपुरुषो' को खिलाने-पिलाने का मौका मिला तो लोग अपना अहोभाग्य मानते है। लेकिन इस तरह ब्रह्मचारियो के सघ में असख्य लोगो के दाखिल होने से भी समाज का स्वास्थ्य विगडता है। जीवन में विकृति आती है और फिर आदर्श गृहस्थाश्रम के माहात्म्य लिखे जाते हैं। इग्लैण्ड के इतिहास में सामाजिक विलासिता के वाद क्रॉमवेल का प्युरीटन धर्म बढ गया। उस का अतिरेक होने के कारण समाज में विलासिता फिर से राजमान्य हुई। हमारे यहाँ कहते ही है कि त्यागी और परोपकारी माँ-वाप के लडके लोभी, खुदगरज़ या उडाऊ वन जाते है।

क्रिया का वेग हद से अधिक वढने से प्रतिक्रिया पैदा होती है। और इस तरह प्रगति का सूत्र सँभाला जाता है।

इसलिए समय-समय पर जीवानुकूल परिवर्तन करते रहना यही है जीवन-विकास का प्रधान नियम।

लेकिन कुदरत ने क्रिया, प्रतिक्रिया और क्रान्ति तीनो को आवश्यक माना है। ऐसा नही होता तो हर एक बच्चे के वचपन के दूधिया दाँत गिराने की और उन की जगह अन्दर से 'अकल के दाँत' लाने की व्यवस्था कुदरत ने नही की होती। हमारे शरीर की चमडी उम्र के साथ वढती जाती है। रोज़ जव हम अच्छी तरह नहाते हैं और नहाते वक्त शरीर की मालिश करते हैं तव चमडी

के ऊपर का सूक्ष्म भाग निकल जाता है और अन्दर का नया भाग खुला होता है। पेड़ों का ऐसा नहीं है। पेड़ की छाल या त्वचा उस की चमड़ी है। त्वचा के अन्दर की लकड़ी पेड़ की हड्डी की तरह है। वह हड्डी जब बढ़ती है तब शीतकाल के दिनों में पेड़ों की छाल टूटती है और इस तरह पेड़ का घेरा बढ़ने के लिए सहायक होती है।

पेड़ के पत्तों का गिरना और अन्दर से कोंपलों का आना कुदरत की रचना है।

और मरण भी तो निसर्ग की प्रगति का ही एक साधन है। पुराने लोग मर जाते हैं। नये पैदा होते हैं। इसे हम क्रान्ति ही कह सकते हैं। ऐसी क्रान्ति के बिना समाज की जीवनधारा आगे चल नहीं सकेगी।

हजारों बरस का इतिहास एक-साथ पढ़ने से प्रगति और क्रान्ति, विनाश और नवसृष्टि इन सब प्राकृतिक तत्त्वों का रहस्य ध्यान में आता है। लड़की माँ-बाप के घर में छोटी से बड़ी होती है और एक दिन किसी नवयुवक के साथ अपना जीवन सम्बन्ध जोड़ कर मायके को छोड़ देती है। और नये घर में जा बसती है। यह भी तो हमेशा होने वाली क्रान्ति ही है। जो क्रान्ति बाक़ायदा होती है, बार-बार होती रहती है, उसे हम क्रान्ति नहीं कहते, परिवर्तन कहते हैं। यह तो केवल परिभाषा का ही सवाल है।

भारत में सनातन काल से जो धर्म चला और फूला-फला उसे हम सनातन धर्म कहते हैं। सनातन यानी सदातन। सदा के लिए जीवित और कार्यक्षम रहने वाला धर्म और समाज। यह समाज कभी-कभी बूढ़ा हो जाता है। जड़-वाद या रूढ़िवाद के कारण ही उस पर बुढ़ापा छा जाता है। बूढ़े साँप की तरह उस की आँखें भी मन्द होती हैं। लेकिन जब अन्दर का प्राण ऐसे बुढ़ापे के कारण अस्वस्थ होता है तब वह मरने से इनकार करता है और ऊपर की केंचुल उतार देता है और युवा बनता है। बार-बार युवावस्था प्राप्त करने की इस शक्ति के कारण भी हमारे धर्म और समाज को हम सनातन कहते आये हैं। सनातन समाज अगर जड़वादी होता तो कब का मरण धर्म को प्राप्त हो जाता। केंचुल उतारने की शक्ति के कारण ही भारतीय समाज सनातन का गौरव नाम प्राप्त कर सका। सनातन यानी नित्य नूतन।

ऐसे धर्म के लिए किसी एक ही संस्थापक का बन्धन मान्य नहीं हो सकता। एक ही ग्रन्थ का प्रामाण्य सदा के लिए ग्राह्य नहीं होता। एक ही साधना या यात्रा-क्रम के बन्धन में वह फँस नहीं जाता। उस की प्रगति विश्वतो-

मुखी होती है। बेशक वह फूँक-फूँक कर क़दम रखता है। लेकिन आवश्यकता पडने पर छलांग मार कर वह आगे भी बढता है।

इस के इतिहास में और भी एक खूबी पायी जाती है।

समाज में लोग अक्सर स्थैर्य की उपासना करते हैं, प्रगति से डरते है। इसलिए समाज में जडता आ जाती है। ऐसी हालत में बुद्ध, महावीर, शकर, रामानुज, कबीर, चैतन्य आदि अनेक धर्म-सुधारक समय-समय पर पैदा होते है। वे समाज को सुधारने की कोशिश करते हैं और जब देखते है कि पूरा समाज दौडने के लिए तैयार नही है तब दौडने वाले लोगो का अलग सघ बना कर मजल-दर-मजल कूच करते जाते हैं। बाद में जब यह जोश नरम पडता है तब उस में कुछ अपरिवर्तनवादी तत्त्वो का प्रवेश होता है। सुधारक के वचनो की रूढि बन जाती है। ग्रन्थ-प्रामाण्य भी आ जाता है और सुधारक पन्थ में बुढापा आ जाता है। हमारा सनातन धर्म इतने काल में सुधारक तत्त्वो का रहस्य पी जाता है, काफी प्रगति करता है और मूल स्रोत से अलग हुई धाराओ को अपनी ओर खीच लेता है और नयी शक्ति पा कर जीवनगगा को नये जोश के साथ और नयी जीवन-समृद्धि के साथ सागर-यात्रा में आगे चलाता है।

अपना यह सारा इतिहास देख कर हम कह सकते है कि अब सागर-दर्शन बहुत दूर नही है। सागर में विलीन होने के दिन नज़दीक आये है। सब संस्कृतियाँ सागरायण तो होती ही है। अब हमारी सनातन संस्कृति-गगा सब वादो को आत्मसात् कर के मानवता के महासागर में विलीन होने की तैयारी मे आगे बढ रही है। इसलिए हमें गूढ-चिन्तन की पराकाष्ठा कर के अपना सकल्प-सामर्थ्य बढाना है। और सब सकुचितता छोड कर मानवता के पारावार में एक रूप होना है। यही होगी हमारी नयी सहजसमाधि।

(१ अक्तूबर, '६२)



जातिनिष्ठा का भूत

वर्ण और जाति–१

जाति और वर्ण के वारे मे सोचने वाले वहुत से लोग अक्सर मानते हैं कि वर्ण-व्यवस्था में जो चार वर्ण वताये गये हैं उन्ही की शाखा-प्रशाखाएँ वढते-वढते अनेक जातियाँ वन गयी है। यह वात सही नही है।

आज कई जातियाँ अपने-अपने पेशे के कारण वन गयी हैं। हर तरह की कारीगरी का काम करने वाले लोगो की अलग जाति वनती है। इस तरह की पेशेवार जाति को हम वर्णव्यवस्था का विस्तार कह सकते है। लेकिन जाति का असली स्वरूप या असली सगठन पेशे के अनुसार नही हुआ था।

प्राचीन काल में जव मनुष्य का विशाल समाज नही वना था, तव अनेक कुटुम्वो के कवीले और गोत्र वनते थे, एक ही पूर्वज के वशज एक गोत्र में शुमार हो जाते थे। अगरेज़ी में जिसे 'Clan' अथवा 'Tribe' कहते हैं, वही था जाति का असली स्वरूप।

जिन लोगो का खून एक है अथवा हो सकता है उन को हम एक कुटुम्व, परिवार या खानदान कहते हैं।

जिन खानदानों में यानी कुटुम्वो में परस्पर शादियाँ हो सकती हैं उन को हम जाति कहते है। जिन व्यक्तियो में एक ही रक्त या खून पाया जाता है उन का होता है खानदान या कुटुम्व। जिन खानदानो का रक्त और खून विवाह सम्वन्ध के द्वारा एक होने की सम्भावना है वह है जाति।

ऐसी जातियाँ असल में मानो एक-एक भिन्न स्वतन्त्र समाज थी। आज भी कही-कही एक जाति के लोग अनेक पेशे कर सकते है।

धर्मान्तर कर के जो लोग अपनी जाति को छोड देते है वे भी स्वय एक नया और सम्पूर्ण समाज वन सकते हैं। उत्तर भारत में सिख लोग है। हम नही कह सकते कि उन्होने धर्मान्तर किया है। वे सव हिन्दू ही हैं। सिखो में अनेक जातियाँ होती हैं। सिख गुरुओ का एक पन्थ है जिस में अनेक जातियाँ एकत्र होकर एक नयी जमात वन गयी। दक्षिण में शिवपूजक, लिंगपुराण के अनुयायी

लिंगायत लोगो की एक जमात है। उस जमात मे भी सब तरह के पेशे पाये जाते हैं। ये सब हिन्दू ही हैं, लेकिन इन की जमात अलग हुई है।

कभी-कभी एक ही जाति के चन्द लोग सनातनधर्मी होते हैं। उसी जाति के दूसरे चन्द लोग सिख इन दोनो में परस्पर शादियाँ होती हैं, हालाँकि सिख जमात में जितनी अन्दरूनी जातियाँ है केवल उनमे आपस में विवाह होते हो हैं ऐसा नही कहा जा सकता। सिख या लिंगायत या जैन या आर्य-समाजी ये सब हिन्दू समाज की ही शाखाएँ हैं।

लेकिन जो हिन्दू, मुसलमान या ईसाई बनते हैं वे भी कई बार अपनी जाति छोडते नही। गोवा के रोमन कैथॉलिक ईसाइयो में जब शादियाँ होती हैं तब कही-कही जाति का तो क्या, गोत्र का भी ख्याल रखा जाता है।

जाति एक स्वतन्त्र सामाजिक सगठन है, जो अक्सर धर्म से बँधा हुआ होते हुए भी इस बन्धन की उपेक्षा भी कर सकता है। यह संगठन अक्सर पेशे के साथ सम्बन्ध रखता है। गाँवो मे जातियो का सम्बन्ध पेशे के साथ पाया जाता है। लेकिन यह जरूरी नही है कि एक जाति का पेशा एक ही हो। आज ब्राह्मण जाति में सब तरह के पेशे पाये जाते हैं।

जाति-व्यवस्था यौन-सम्बन्ध से बँधी हुई है, बॉयलॉजिकल चीज़ है।

वर्ण की रचना जाति से बिलकुल उलटी है। भिन्न-भिन्न वर्ण एक ही समाज के भिन्न-भिन्न अवयव हैं। वर्ण-व्यवस्था है विभिन्न कार्यानुसार समाज का विभाग। चार वर्ण मिलकर एक समाज होता है। एक वर्ण कभी पूर्ण और स्वतन्त्र समाज नही बन सकता। एक-एक वर्ण मानो किसी यन्त्र का एक-एक पुर्जा है।

वर्णव्यवस्था आने से अनेक जातियाँ अपना भेद भूल कर एक वर्ण हो गयी। इतिहास में जिन लोगो को हम क्षत्रिय कहते है और जिन की आपस में शादियाँ हो सकती है, वे सब एक ही जाति के, वश के या नस्ल के नही है। आर्य, द्रविड, पल्लव, शक, हूण, मिसर आदि अनेक वश के लोग क्षत्रिय बन कर एक हो गये हैं। इस तरह वर्ण का प्रभाव बढने से जाति-भेद कही टूट गया, कही नरम हुआ, कही कुछ काल के लिए स्थगित हुआ। वर्ण का आधार सास्कृतिक है। वर्ण का प्रभाव बढने से जाति का प्रभाव कम होता है। वर्ण की एकता शिथिल होने से जातियाँ फिर से जाग्रत होती हैं।

आर्य लोगो की चलायी हुई समाज-व्यवस्था चार प्रमुख वर्णों मे विभक्त थी। जो जातियाँ असली आर्य नही थी वे भी धीरे-धीरे उस में घुल-मिल गयी।

हमारी ग्राम-रचना अनेक जातियो के सगठन पर निर्भर है। ग्राम-रचना मे मुसलमान, ईसाई आदि भी बाहर नही रह सकते है। (मेरे गाँव के ग्राम-

देवता रवलनाथ के वार्षिक उत्सव में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ही नही किन्तु गाँव के हरिजन, मुजावर याने मुसलमान और ईसाई भी अधिकार के साथ मन्दिर में आ कर बैठते थे। आज भी शायद वह रिवाज जारी होगा। इन सब की उपस्थिति के बिना ग्राम-देवता के उत्सव का प्रारम्भ ही नही हो सकता था।) जैसा ग्रामसंगठन चलता है वैसा पंचक्रोशी संगठन, तर्फ़ या फिरक़ा संगठन है। जाति-भेद, धर्म-भेद, कुल-भेद सबको गौण बना कर ये प्रादेशिक संगठन अपना प्रभाव चलाते हैं।

मध्यकाल में संगठन होता था प्रादेशिक। और सास्कृतिक प्रभाव होता था सार्वदेशिक। इसलिए जाति-भेद, वर्ण-भेद के होते हुए भी और ऊँच-नीच भाव के बावजूद समाज में सहयोग, शान्ति और बन्धुता पायी जाती थी। और विराट् सामाजिक एकता और अस्मिता टूटती नहीं।

अब यह स्थिति बदल गयी है। अब राष्ट्रीयता आ गयी है। प्रादेशिकता अपना सिर ऊंचा करती है। विदेशी लोगो ने हमारे यहाँ धर्म-भेद को तीव्र बनाया और विराट् सामाजिक संगठन ने नया रूप धारण किया जो अभी पूरी तरह मजबूत नही बना है।

समाज-संगठन के पुराने प्रकार क़ायम रखने का प्रयत्न मिथ्या है। जिन्दे समाज में नये-नये प्रयोग करने की शक्ति होनी चाहिए। नये संगठन, नये वर्ण, नये आदर्श, नये त्योहार आदि के द्वारा समाज का प्राण अपनी अभिव्यक्ति की परीक्षा करे यह बहुत ही आवश्यक है। अब जाति-व्यवस्था भी टूट रही है और वर्ण-व्यवस्था कालग्रस्त हो चुकी है। अब नये सामाजिक प्रयोग करने का सुनहरा समय आया है।

काल भगवान् नये-नये प्राणवान् नेताओ की राह देख रहा है।

(अक्तूबर १९५५)

वर्ण और जाति–२

कुछ मास हुए, बम्बई की 'इलेस्ट्रेटेड वीक्ली' में भारतीय लेखको के बारे में अँगरेजी मे एक लेख लिखा था, जिस मे प्रसगवशात् जाति या जाति-पाँत के विषय का जिक्र किया था।

मैं ने लिखा था—"जाति-पाँत संस्था के विरुद्ध इन दिनो हर कोई बडे ज़ोर-

शोर के साथ बोलता है। लेकिन इस सस्था के पीछे रहे ऐतिहासिक सामर्थ्य का अध्ययन शायद ही कोई करता है। यह तो ठीक, लेकिन राजकीय नेता लोग और सार्वजनिक कार्यकर्ता भी अपने-अपने संकुचित स्वार्थ के लिए (और खास कर चुनाव के दिनों) इस सस्था से लाभ लेते सकोच नही करते।

भारत के सामाजिक और सास्कृतिक सवालो का कोई व्यावहारिक और तात्कालिक हल ढूँढते जाति की उत्पत्ति हुई और अगणित पीढियो तक इस सस्था से लोगो ने सन्तोष माना है।

ऐसी सस्था का विसर्जन या नाश वे ही कर सकेंगे जिन्होने इस सस्था की बुनियाद में रही सामाजिक शक्ति पहचान ली है। आज हम देखते है कि जाति-संस्था का जो विरोध चलता है उस में बहुताश चिढा हुआ अन्ध-विरोध ही है। कभी-कभी ऐसा विरोध ऊपर-ऊपर का और 'आधे दिल' का होता है।"

वर्ण और जाति दोनो सस्थाओ की खूबियाँ पहचानने की मैंने काफी कोशिश की और अब मैं जाति और वर्ण दोनो का कट्टर वैरी बन गया हूँ। ऐसी हालत में मेरी कलम से उपरोक्त बाते लिखी हुई देख कर एक महाशय असमजस में पडे और उन्होने मुझ से स्पष्टीकरण माँगा। यह है मेरा स्पष्टीकरण—

१ मैं मानता हूँ कि हिन्दू-समाज के विकास में वह दिन आ गया है जब वर्ण और जाति दोनो व्यवस्था छोड देनी चाहिए, क्योकि दोनो हिन्दू सस्कृति के आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और व्यावहारिक उत्कर्षो में अब बाधक हो रही है।

२ मैं वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था दोनो के विसर्जन की ताईद करता हूँ लेकिन मेरी नजर में वर्ण और जाति एक नही है। यह भी नही, जैसा कि बहुत से लोग मानते और कहते हैं, कि जाति-व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था का ही उपविभाग, पेटाविभाग या विस्तार है। वर्ण-व्यवस्था की बुनियाद मे जो तत्त्व है और जाति-व्यवस्था के पीछे जो तत्त्व हैं वे परस्पर भिन्न हैं, परस्पर पोषक भी नही है, एक-दूसरे के विरोधी हैं। जाति और वर्ण एक-दूसरे के सहारक साबित होगे। वैसे वे साबित हुए भी है। जाति-व्यवस्था ने वर्ण का सीधा विरोध नही किया, किन्तु उसे करीब-करीब मार डाला है। वर्ण-व्यवस्था केवल अभिमान में ही रही है। जहाँ देखे जाति-व्यवस्था ही अपना प्रभाव जमाये हुए है।

३ सनातन वैदिक धर्म और आर्यसमाज भी वर्ण-व्यवस्था को धार्मिक व्यवस्था मानता है। हिन्दू धर्मशास्त्रो मे जाति-व्यवस्था और कुल-व्यवस्था को भी स्वीकार किया है, इस लिए वर्ण और जाति दोनो को धार्मिक भावना का पोपण मिला है।

४. यूँ तो वर्ण-व्यवस्था दुनिया के सब देशो में और सब समाजो मे किसी-न-किसी रूप में पायी जाती है। हमारे धर्म-शास्त्रो ने इस व्यवस्था को मान्य रख कर उसे एक स्पष्ट रूप दे दिया, वर्णो की सख्या मुकर्रर की और एक-एक वर्ण का सामाजिक कार्य भी कमोवेश तय किया। लेकिन कह नही सकते कि वह कभी ठीक चला।

५ ज़रा सोचने से मालूम होगा कि एक-एक जाति अपने स्वभाव के कारण एक अलग समाज बनती है। जिन परिवारो में आपस में शादियाँ आसानी से हो सकती है और होती आयी हैं उन की एक जाति बनती है। अपनी जाति के बाहर खानपान का व्यवहार भी न रखने का पुराना रिवाज था, जो अब टूट गया है। अब यह नियम न रहा कि जिन परिवारो में आपस में विवाह हो सकता है उन्ही के बीच ही भोजन-व्यवहार हो, बाहर नही। अब उलटी बात भी नही रही कि जिन लोगो के साथ भोजन व्यवहार जारी है, उन लोगो के अन्दर शादियाँ भी अवश्य हो। रोटी-व्यवहार और बेटी-व्यवहार का सम्बन्ध अब पहले की तरह नही रहा।

भोजन-व्यवहार में बडा सवाल आता था 'किस के हाथ की कच्ची रसोई खायी जाय और किस के हाथ की नही। अब यह सारा सवाल टूट गया है। बडा सवाल है मासाहार और निरामिषाहार के भेद का। लेकिन वह भी अब जोरो से टूटने लगा है। जो लोग मासाहारी नही हैं, धान्य, कन्द, मूल, फल, शाक-सब्जियाँ खाते हैं और गोरस ही पीते हैं अण्डे तक नही खाते, वे भी अब अपने लिए अनुकूल व्यवस्था देख कर मासाहारियो के साथ बैठ कर खाने लगे है। रसोई किस के हाथ की बनी है यह देखने का रिवाज अब क़रीब-क़रीब टूट गया है। तो भी बहुत से शाकाहारियो की निष्ठा मजबूत रही है। मैं स्वय सब देश के, सब धर्म के, मासाहारी और शाकाहारी सब तरह के लोगो के हाथ की बनी रसोई बिना सकोच खाता हूँ। लेकिन मेरा निरामिषाहार का आग्रह मैं ने कायम रखा है। मैं मास, मछलियाँ और अडे तक कुछ भी नही खाता। शराब का भी सेवन नही करता। लेकिन पकाने वाला, परोसने वाला और साथ में बैठ कर खाने वाला किसी भी धर्म का हो और कुछ भी खाता हो मुझे एतराज नही है। विदेशों में मुझे एक बात को बहुत ही सँभालना पडता है। क्योकि वहाँ अनेक 'शाकाहारी' चीज़ो में अण्डे इस्तेमाल किये जाते है और पदार्थ तलने मे तेल, घी या मक्खन की जगह मास से निकली हुई चरबी का उपयोग किया जाता है। पश्चिम के शाकाहारी लोग अण्डे को निषिद्ध नही मानते, और पूर्व के कई शाकाहारी लोग मत्स्य आदि जलचरो का आहार निषिद्ध नही मानते।

मै अपने लिए इस बात पर दृढ़ हूँ कि अण्डे और मत्स्य आदि जलचरो का आहार त्याज्य ही गिना जाये। लेकिन भारत के अनेक लोगो को मैं सलाह देता हूँ कि अगर आप को वंश-परम्परागत शाकाहार का आग्रह न हो तो, अण्डे लेने पडते है और मत्स्यादि जलचर खाने पडते है इसी कारण पशु-पक्षियो का मास आप खाने को तैयार न हो जाइए।

शुद्ध शाकाहार सब से श्रेष्ठ आहार है। इस का पालन अगर न हो सके तो अण्डा ले कर सन्तोष मानिए, आगे न बढिए। इस से भी सन्तोष न होता हो तो मत्स्यादि जलचर खाने का निषेध छोड दीजिए। लेकिन पशु-पक्षियो का मास न खाना ही अच्छा। ऐसी सलाह देने में मेरी दृष्टि यह रही है कि मानव-जाति निरामिषाहारी क्रमश ही बनेगी। एकदम नही। (इसीलिए तो मनुस्मृति आदि स्मृतियो ने मासाहारी लोगो से कहा कि बन्दर आदि पचनख प्राणियो का मास छोड दोगे तो भी अच्छा प्रारम्भ होगा। इस नियम की कठिनाई देख कर पचनख प्राणियो में भी पाँच अपवाद करने पडे।)

६ अब यह बात तो स्पष्ट हो गयी है कि खानपान के नियम पहले के जैसे कडे नही रहे। रहन-सहन में सब जातियाँ करीब-करीब एक-सी होती जा रही हैं। नहाने-धोने के और स्वच्छता के नियम सब के एक-से होने चाहिए। जहाँ शिथिलता है वहाँ उसे दूर कर घर, घर की चीज़ें, बिस्तरे आदि सामान, खाने-पकाने के बरतन, पहनने के कपडे और वाहन सब क्षेत्रो में स्वच्छता का आग्रह व्यवहार को सँभालते हुए बहुत ऊँचाई तक ले जाना चाहिए। चन्द लोग स्वच्छ रहें और चन्द अस्वच्छ, यह भेद अब नही रहना चाहिए। (विदेशो में जब होटलो में रहते हैं तब प्रथम यही देखना पड़ता है कि वहाँ का स्वच्छता का आग्रह कैसा है।)

७ इतनी चर्चा करने के बाद फिर से कहूँगा कि 'खानपान के कारण जाति-भेद या वर्ण-भेद चलाने की आवश्यकता अब नही रही'।

शादी-ब्याह मे भी अब जाति और वर्ण के कारण शादियो पर निर्बन्ध रखने की आवश्यकता नही है।

अपनी ही जाति में विवाह करने के कारण अलग-अलग छोटा-सा सकुचित वर्ग तैयार होता है। आत्मीयता सकुचित होती है। स्वजाति के बाहर भी मदद देने का कर्तव्य मनुष्य भूल जाता है। पिछडी हुई जातियाँ हमेशा पिछडी ही रहती है और ऊँच-नीच दोनो समाजद्रोह करने लगते हैं।

एक-एक वर्ण समाज का अलग-अलग अग बनता है। ब्राह्मण सम्पूर्ण मनुष्य नही है। क्षत्रिय और वैश्य भी वर्णगत सस्कृति के कारण एकागी बनते है।

उन में सम्पूर्ण मानवता का विकास नहीं होता, जो अत्यन्त जरूरी है।

और शूद्रों को तो बहुत ही कम संस्कार मिलते हैं। वर्णव्यवस्था के नाम शूद्रों को शुभ संस्कारों से वंचित रखना महा अन्याय, पाप और समाजद्रोह है।

और आजीविका के लिए एक ही निश्चित पेशे से बँधे रहना आज कोई पसन्द भी नहीं करता। चारों वर्णों के सब लोग सब तरह के व्यवसाय करते दीख पडते हैं। इस से स्पष्ट होता है कि वर्ण-व्यवस्था अब रही नहीं। फिर से वह व्यवस्था न जागृत हो सकती है न चलाने की जरूरत है। अपने जमाने में उस व्यवस्था ने अपना कार्य किया होगा। अब वह व्यवस्था कालग्रस्त हुई है। उस का केवल अभिमान रखने से लाभ कुछ भी नहीं। हर तरह की हानि ही है।

८ जाति-व्यवस्था की बुनियाद में वर्ण की तरह कोई सांस्कृतिक सिद्धान्त भी नहीं है। एक-एक जाति अलग-अलग स्वयंपूर्ण समाज ही है। ऐसे छोटे-छोटे समाजों का एक राष्ट्र बन नहीं सकता। जाति-भेद के कारण हिन्दू समाज असंगठित और दुर्बल हुआ है। किसी ने सही कहा है. "जाति-व्यवस्था तो हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। सब हिन्दुओं में ऐसी कोई एकता भी दीख नहीं पडती। जब तक जातियाँ हैं, हिन्दुत्व नाममात्र ही रहेगा। जातियाँ अलग-अलग रखने से कोई सामाजिक कार्य सिद्ध भी नहीं होता।"

जिन समाजों में जातिभेद नहीं है उन का कोई खास नुकसान हुआ हम देख नहीं सकते। ऐसे कोई सांस्कृतिक तत्त्व दीख नहीं पडते जिन के कारण जाति-व्यवस्था आगे चलाने की इच्छा हो सके।

जाति का अभिमान और जाति की निष्ठा के कारण एकराष्ट्रीयता हमारे देश में पनप नहीं सकती।

और हमारे देश में मुसलमान समाज, ईसाई समाज, यहूदी समाज, पारसी समाज ऐसे भिन्नधर्मी समाजों में जाति के सब तत्त्व आ कर राष्ट्रीयता खतरे में पडी है।

वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था का इतिहास समझ कर शुद्ध तात्त्विक चिन्तन के द्वारा उन के गुण-दोष समझने पर मनुष्य इन दोनों संस्थाओं का मोह छोड देगा और व्यापक निष्ठा को स्वीकार करेगा।

वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था अब हृदय से ही निकल जानी चाहिए।

(१५ मई, १९६१)

जनगणना और जातियाँ

जातियाँ और वर्ण तो प्राचीन काल से हमारे यहाँ हैं। किन्तु उन का सगठन अक्सर स्थानिक ही रहता था। जाति के सगठन और जाति के झगडे ब्रिटिश राज के दिनो में बढने लगे और स्वराज्य होने पर वे सडने भी लगे हैं। देश के राजनीतिक, साम्पत्तिक, सास्कृतिक और धार्मिक नेता सब सोचने लगे है कि जाति-भेद को, जातिभाव को नष्ट करना चाहिए, दफनाना चाहिए।

इसी खयाल से राष्ट्र ने तय किया है कि अब की बार जनगणना में व्यक्ति की जाति दर्ज नही की जायेगी।

सब विचार के लोग इस बात पर एकमत हैं कि जातिभेद को नष्ट किया जाये तो भी जाति मरती ही नही। पौराणिक काल के 'रक्तबीज' नाम के राक्षस जितने मारे जाते थे, उतनो ही उन की सख्या बढती थी। हमारे देश में जाति-सगठन का यही हाल है।

जब व्यक्ति देशहित की बात सोचता है तब इस निश्चय पर आता है कि जातिभेद मिटाना ही चाहिए। लेकिन जब वही अन्तर्मुख हो कर अपने स्वार्थ पर विचार करता है तब अन्तर्मन कहता है कि जाति के बिना हित सुरक्षित नही है। राष्ट्र तो अपना है ही, लेकिन सच्चा और हार्दिक सगठन तो जाति का ही हो सकता है। सकट के समय और चुनाव के समय आखिरकार जाति ही मदद देती है। यह अनुभव इतना सार्वजनीन है कि लोगो से अपनी-अपनी जाति के प्रति पक्षपात किये बिना रहा ही नही जाता।

अँगरेज़ो के दिनो में किसी समय हमारे देश में जाति परिषदो की बाढ आयी। इस में प्रतिष्ठित, पढी हुई जातियो ने ही शायद आरम्भ किया। जिन जातियों मे पढ़ाई कम थी और इसलिए सरकारी नौकरियो में जिन को स्थान मिलना मुश्किल हो गया उन जातियो ने अपनी-अपनी परिषदो द्वारा फण्ड इकट्ठा करना शुरू किया और होनहार लडको को और कभी-कभी लडकियो को वज़ीफ़ा देने का उपक्रम किया। इस तरह जातियो का सगठन मज़बूत होने लगा। जातियो के सम्मेलनो और परिषदो में एक-दो प्रस्ताव तो हमेशा पाये जाते थे। अपनी-अपनी जाति का प्राचीन गौरव ढूँढ कर उसे प्रकाशित करना यह था एक काम। दूसरा काम था सरकार से प्रार्थना करने का कि आइन्दा की जनगणना में

हमारी जाति के लोग कौन और कितने हैं उन की जानकारी इकट्ठा करने में सरकार हमें मदद दे।

सरकार के यहाँ नृवंशशास्त्र (ऐन्थ्रोपॉलॉजी) के अभ्यासी थे ही। उन्होंने इस वारे में उत्साह दिखाया और हर एक जाति की तादाद कितनी है इस के आँकडे मिलने लगे।

अव अगर हम नये आँकडे नही देते तो लोग पुराने आँकड़े ले कर दस साल में लोकसख्या की औसत वृद्धि कितनी होती है इस का हिसाव लगा कर नये अन्दाज़ी आँकडे तैयार करते हैं। आँकडे तैयार करने में कोई भी जाति कंजूसी से काम नही लेती। अगर सव जातियो के ऐसे आँकडे इकट्ठा किये जायें तो भारत की लोकसंख्या शायद जो आज है उस से दुगुनी सावित होगी !!

जव तक जाति के नाम से वज़ीफे मिलने की सम्भावना है और सरकारी नौकरी मे कोई पक्षपात होने की सम्भावना है तव तक जाति का संगठन टूटने वाला नही है। ये दोनो वातें वन्द करने का सरकार निश्चय करे तो भी जव तक चुनाव चलेंगे और लोगो के मन में अपनी-अपनी जाति के प्रति पक्षपात रहेगा तव तक जाति-सघटना टूटने की नही। और जव तक शादियाँ भी जाति के खयाल से की जाती हैं तव तक ये जातिसंगठन अमर रहेंगे।

शुरू-शुरू में लोग अपनी-अपनी जाति की प्रतिष्ठा वढ़ाना चाहते थे कि हम व्राह्मण है, क्षत्रिय है इत्यादि। अव जव पिछडेपन का वोलवाला हैं तव लोग अपनी जाति शुद्ध और दवी हुई होने का दावा भी कर रहे हैं। व्रिटिश राज के प्रारम्भ काल में जव जाति का कोई महत्त्व नही था, प्रामाणिक आँकडे मिल सकते थे। जव से स्वराज्य का आन्दोलन शुरू हुआ और अँगरेजो ने मुसलमान, ईसाई आदि अल्पसंख्यक लोगो का राजनीतिक महत्त्व वढ़ाया, जनगणना के आँकड़ो में गडवडी शुरू हुई। यहाँ तक कि स्वराज्य के आन्दोलनो के दिनों में असम प्रान्त की साम्प्रदायिक सरकार ने जनगणना के मनमाने आँकडे इकट्ठा किये, लेकिन प्रकाशित करने से इनकार किया, ऐसा कह कर कि युद्ध के दिन हैं, देश पर आक्रमण करने वाले शत्रु इन आँकड़ों से नाजायज़ लाभ उठायेंगे।

जव सरकार जातियो की प्रतिष्ठा वढाना नही चाहती, जाति-संगठन को प्रोत्साहन नहीं देती, जातिसंख्या के आँकडे इकट्ठा करने में कोई खतरा नही दीख पडता।

भारत का समाजशास्त्र पूर्ण रूप से विकसित नही हुआ है। समाज-शास्त्रीय सशोधन के लिए, सामाजिक विज्ञान की वुनियाद मज़वूत करने के लिए हमारे खयाल से जाति के आँकडे कुछ काल के लिए ज़रूरी हैं। इन आँकड़ों के वारे में

अज्ञान चलाने से राष्ट्र का सामर्थ्य नही बढेगा। आँकडे इकट्ठा करने न करने से नही, किन्तु जातिभेद की बुनियाद ही दूर करने से राष्ट्र प्रगति कर सकेगा।

(१५ फ़रवरी, १९६१)

जाति-निष्ठा का भूत !

"इस तरह जाति-निष्ठा समाप्त होने की नही। जाति-निष्ठा के खिलाफ हम बोलते रहेंगे तो लोग जाति-निष्ठा स्वीकार करते हिचकिचायेंगे। उसे दूसरा नाम देंगे। खुल्लखुल्ला जातिनिष्ठा का समर्थन नही करेंगे। लेकिन चीज़ को छोडेंगे नही। ऐसा क्यों होता है ?"

जब समाज कुनबे का ही बना हुआ था तब हर-एक व्यक्ति को अपने-अपने कुनबे के प्रति वफादार रहना जरूरी था। उस के बिना आदमी जी नही सकता था। बाद में जब छोटे-छोटे कुनबे नज़दीक आये और उन के बडे-बड़े फ़ेडरेशन बनने लगे तब लोग अपनी कुनबानिष्ठा कायम रखते हुए बडे फ़ेडरेशन की सेवा करने लगे। यही हालत आज हम देखते हैं राष्ट्रो की। लोग अपनी-अपनी राष्ट्रीयता और राष्ट्रनिष्ठा सँभाल कर अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर बढने लगे है। वैसा ही हमारे यहाँ होने लगा है। जाति-निष्ठा को सँभालो लेकिन व्यापक समाज-निष्ठा को भूलो नही। व्यापक समाज-निष्ठा श्रेष्ठ है। उस के सामने जाति-निष्ठाको गौण बनना ही चाहिए यह थी लोगो की वृत्ति। हिन्दू-धर्म अथवा हिन्दू समाज रचना असल में जाति-सगठन को मान्य रख कर सब में एक तरह की सर्वसामान्य जीवन-निष्ठा और जीवन-व्यवस्था लाने का सफल प्रयत्न था। ट्रायबल जीवन को गौण बनाकर (भले उच्च-नीच भाव को स्वीकार कर के), सब में एक सार्वभौम एकता लाने का वह प्रयत्न था।

आज राष्ट्रसंघ में क्या हो रहा है ? हर एक राष्ट्र की स्वतन्त्रता और सार्वभौमता हम पहले मंजूर करते हैं। बाद ही ऐसे छोटे-बडे सभी राष्ट्रो में समानता लाने की हमारी ख्वाहिश है। लेकिन बडे-बडे प्रबल राष्ट्र इस चीज को मानने को तैयार नही हैं और उन के बिना राष्ट्रसघ के कोई माने ही नही होते। इसलिए समानता की बात बाजू पर रखकर बडे राष्ट्रो का बडप्पन दुनिया ने मजूर किया। वीटो करने की शक्ति बडे राष्ट्रो को दे दी और इस बडी हार को स्वीकार कर के सगठन को चलाया। पाँच-सात बडे राष्ट्रो को राजी करके बाकी के राष्ट्रो को

समानता को भूमि पर हम ले आये। लेकिन अब दूसरी कठिनाई खड़ी हो गयी है।

एक ऐतिहासिक मिसाल से बात स्पष्ट होगी। हिन्दू समाज में चन्द जातियाँ अपने को द्विज कह कर श्रेष्ठ बनीं और बहुमतीवाला विराट् समाज संस्कारहीन शूद्र का नाम स्वीकार कर के द्विजों के प्रभुत्व के नीचे रहने लगा। द्विजों को इस से बड़ा सन्तोष हुआ। आज अमेरिका में गोरे और नीग्रो दोनों रहते हैं। 'गोरे ईसाई' यहूदी और नीग्रो ऐसा त्रैवर्णिक समाज वहाँ है। गोरे ईसाई चाहते हैं कि उन की प्रधानता हो। बाक़ी के लोग अपना स्थान 'समझकर' सन्तोष से रहें। जब नीग्रो लोग जोर करने लगे और उन्होंने एकवर्णी समाज की माँग की, तब अमेरिका के गोरो ने नया सूत्र चलाया है। हम अपनी श्रेष्ठता छोड़ देंगे। नीग्रो को समानता का अधिकार देंगे। लेकिन इस शर्त पर कि गोरे और काले सामाजिक जीवन में पूर्णतया अलग-अलग रहें। काले लोगों के स्कूलों पर इतना ही खर्चा करेंगे जितना गोरों की स्कूलो पर करते हैं। असमानता रहने नहीं देंगे।.लेकिन काले-गोरे बच्चे अलग-अलग ही पढ़ेंगे।

हम यु० एन० ओ० की बात कर रहे थे। वहाँ गोरे राष्ट्रों की प्रधानता थी। वह अब समाप्त होने लगी है। एशिया और अफ्रिका भूखण्ड के छोटे-बड़े राष्ट्र राष्ट्रसंघ में समानता की गद्दी पर बैठते हैं। अब गोरे राष्ट्र इस से घबड़ा गये हैं। घबड़ा कर अपना बहुमत तो नही कर सकते। इसलिए राष्ट्रसंघ का महत्त्व कम करने की कोशिशें हो रही हैं। गोरे राष्ट्र मानो संस्कारी द्विज हैं और ॲफ्रोएशियन राष्ट्र असंस्कारी, कमविकसित, पिछडे हुए शूद्र हैं।

इस तरह का असन्तोष होते हुए भी यु० एन० ओ० वाला संगठन इष्ट माना जाता है। इसी तरह हिन्दू समाज में कहीं ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और कही क्षत्रियो की। लेकिन ब्राह्मण-क्षत्रिय के सामने बाक़ी के लोग तो हीन माने ही जाते थे। और हरिजन आदि वर्णबाह्य तो सारे हिन्दू समाज से गये-गुज़रे गिरे हुए।

यह सारा उच्च-नीच भेद अन्यायमूलक था सही। किन्तु लोकमानस को मान्य था। ऐसे अन्यायमूलक संगठन को मान्यता दी इसलिए कि सगठन अत्यन्त जरूरी था। भले उच्च-नीच के भेद की बुनियाद पर खड़ा हुआ हो, किन्तु हिन्दू समाजतन्त्र में एक व्यापक विराट् संगठन की एकता थी, जो सब को उस समय मंजूर थी। 'अनेक ट्राइब्ज का, कुनबों का एक विराट् संगठन' यही है हिन्दू समाज का स्वरूप। मेरे खयाल से हमारे यहाँ जाति-व्यवस्था शुरु में ट्रायबल थी। एक-एक ट्राइब मानो एक-एक अलग स्वतन्त्र समाज था। जन्मना जातिः। बाद में यह जन्मगत भेद—रेशियल डिफरेन्स—छोड़ कर संस्कार-भेद के

अनुसार और सामाजिक सेवा के प्रकार के अनुसार वर्णों की स्थापना हुई। जातिधर्म और कुलधर्म 'शाश्वत' थे, 'सनातन' थे। उन को गौण बना कर बाद में गुणकर्म-विभाग के अनुसार चार वर्ण बनाये गये। चातुर्वर्ण्य भावनात्मक सामाजिक एकता की एक अद्भुत विजय थी। चार वर्ण मिलकर समाज बनता था। इन वर्णों का एक-दूसरे के बिना चलता नही था। इस तरह जाति-व्यवस्था के बाद आयी वर्ण-व्यवस्था। जातियो को चार वर्णों के अन्दर कोई-न-कोई वर्ण कबूल करना पड़ा।

हिन्दू जाति में वर्ण-व्यवस्था के प्रति जो निष्ठा है, सचमुच अद्भुत है। इतना सफल सामाजिक प्रयोग दुनिया में शायद ही दूसरा होगा। लेकिन जाति-निष्ठा तो वर्णनिष्ठा से भी पुरानी थी। वह नष्ट होने के लिए तैयार नही थी।

मै कब से कह रहा हूँ कि जाति-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था अलग-अलग चीज़ें हैं। एक-दूसरे की पोषक भी नही है। जाति जन्म से बनती है, वर्ण सस्कार से। बाद में वर्णो ने भी जन्म का तत्त्व मान लिया और इस तरह जाति-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था के बीच एक तरह का समझौता हो गया। दोनो ने अपने-अपने ढग से हिन्दू समाज में भावनात्मक एकता (इन्टीग्रेशन) कर के दिखाया है। लेकिन अब उन की ज़रूरत नही रही। क्योकि हमे व्यापक एकता करनी है और प्रमुख तो उच्च-नीच भाव को हटाना है, तिलाजलि देनी है।

मैं यह भी कहता आया हूँ कि वर्ण और जाति का स्वरूप और ऐतिहासिक समर्थन समझे बिना उन का नाश हम नही कर सकेंगे और समाजसत्तावाद भी स्थापित नही कर सकेंगे।

(१ मई, १९६२)

सुधार होगा—और अवश्य करेंगे

सन् १८९७ के दिन थे (या एकाध साल पहले के) न जाने कहाँ से बम्बई मे प्लेग आ गया। मनुष्य की जाँघ में फोडे की तरह एक गाँठ ऊपर आती थी, बुखार एकदम चढ जाता था और दो-तीन दिन के अन्दर आदमी मर जाता था। प्लेग होने पर कोई भी आदमी बच गया ऐसा एक भी उदाहरण नही सुना। देखते-देखते प्लेग फैलने लगा। एक शहर के बाद दूसरे शहर में, वहाँ से तीसरे शहर में। जैसे आग फैलती है अथवा जगल में दावानल, चार-छह महीने के

वाद प्लेग शान्त हुआ। दूसरे साल फिर शुरू हुआ। सरकार ने—उस समय के अँगरेज़ सरकार ने इलाज शुरू किये। वीमारो को घर से हटाकर अस्पतालों में रखा। झोपड़ियो में अस्पताल वनाये। डॉक्टर और पुलिस की मदद पर्याप्त न थी। गोरे सोल्जर घर-घर जा कर मरीज़ो को ज़वरदस्ती उठा कर गुनहगार की तरह अस्पताल में भरती करने लगे। प्लेग की वीमारी से भी सरकारी इलाज वदतर सावित हुए। लोग परेशान हुए। आख़िरकार चन्द राष्ट्रभक्त जवानो ने महारानी विक्टोरिया के डायमण्ड ज्युविली के दिन दो अँगरेज़ फौजी अफ़सरो की हत्या कर दी। सरकार ने चिढ कर ज़ोरो से दमन चलाया। लोकमान्य तिलक जैसे अनेक देशभक्तो को जेल में भेजा। सव जगह हाहाकार फैल गया।

यह सारा इतिहास यहाँ देने का उद्देश्य नही है, हालाँ कि इस सारी परेशानी मे मेरे वचपन के दिन गुज़रे इसलिए उन का सविस्तार वर्णन करने को दिल अनेक वार चाहता है।

प्लेग का प्रकोप सारे देश में जव फैल गया। तव लोगो को एक ही इलाज सूझा कि छूत से वचने के लिए शहर की और गाँवो की वस्ती छोड कर जंगलो में झोपडियाँ वना कर रहें। उन दिनो हर एक परिवार के लोग एक वैलगाडी रखते ही थे। दोपहर को शहर में जा कर वेचने की चीज़ें वेच डाली, खरीदने की खरीद ली और सूर्यास्त के पहले अपनी झोपडी में आ गये।

अव जान बचाने के लिए ऐसी जो कामचलाऊ रचना वनायी उस में वर्ण और जाति के वन्धन कहाँ तक टिक सकते है? उस ज़माने में दिनो ब्राह्मण, वनिया, कायस्थ आदि उच्च वर्णों के लोग गाडी चलाने का हीन काम नही करते थे। शूद्र सेवकों में भी असंख्य जातियाँ थी। अपनी जाति का काम छोड कर दूसरी किसी जाति का काम करना जाति खोना ही था। आदमी अपने प्राण खोने को तैयार हो सकता है लेकिन जाति नही छोडेगा। जाति को जो मान्य नहीं ऐसा काम कभी करेगा नही। लेकिन प्लेग के सामने किसी की क्या चले? धर्म, जातिनिष्ठा, खानपान के विधि-निषेध सव ढीले हो गये। लोगों ने धर्म-शास्त्र पढ कर आपद् धर्म की सहूलियत निकाली—'सकट आने पर, जव तक आफ़त क़ायम है, मनुष्य अपने सारे व्रत नियम और जाति का विचार छोड कर जैसे भी हो सके जीने का प्रयत्न करे।'

समाज-सुधारक और धर्म-प्रचारक जो सुधार या परिवर्तन नही कर सके वह प्लेग के कारण हुए। भोजन के समय जो रेशम का पवित्र कपडा पहनने

का रिवाज था वह चला गया। ऐसे परिवर्तन होते-होते आज के हिन्दू रस्म-रिवाज बने हैं।

किसी के घर में आग लगी। अन्दर के स्त्री-पुरुषो को, बाल-बच्चो को और सामान-असबाब को बचाने की बात थी। घर था ब्राह्मण का। आसपास के हरिजन इकट्ठा हुए। लेकिन ब्राह्मण के घर में प्रवेश कैसे करें ? बच्चो की चीत्कार और सामान जलने की ज्वालाएँ सुनते-देखते खडे रहे। घर के मालिक ने चिल्ला कर कहा, "छुआछूत सोचने का यह वक्त नही है। घुसो अन्दर और जो कुछ बचा सको, बचाओ। तुम को इनाम मिलेगा।" बाल-बच्चे, स्त्री पुरुष और क़रीब सब का सब सामान बहादुर हरिजन सही-सलामत बाहर ले आये।

दूसरे दिन से हरिजनो ने अपनी पहली मर्यादाएँ चलायी। किसी को छूना नही, घर के अन्दर जाना नही इत्यादि। लेकिन ब्राह्मण को शरम आयी। जो कुछ भी बचा इन हरिजनो की हिम्मत और साहस के कारण ही। अब उन को किस मुँह से घर के बाहर रखे ? उन की धर्म-दृष्टि में परिवर्तन हुआ और जहाँ तक उन का सम्बन्ध था, अस्पृश्यता मिट गयी।

ऐसे ही किस्से हिन्दू-मुस्लिम एकता के भी जानता हूँ। गोवा में हिन्दू-ईसाइयो के बीच ऐसा ही नया सामाजिक रिवाज बन गया है। गुजराती में एक कहावत है, 'वार्यो नही माने ते हार्यो माने' (रोकने पर भी, समझाने पर भी जो नही मानता है वह हारने के बाद चुपचाप मान जाता है। स्वीकार नही करेगा तो जायेगा कहाँ ?)

हिन्दू समाज के इतिहास में शुरू से धर्म-सुधारक और समाज-सुधारक पैदा हुए हैं। विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, उषस्ति चाक्रायण आदि अनेक ऋषियो ने सुधार किये है। लेकिन जहाँ उपदेश की बात आयी वहाँ मानने वाले और न मानने वाले दो वर्ग बन ही जाते हैं। उन की अलग जातियाँ बनती हैं, परस्पर नफरत के कारण खान-पान के सामाजिक सम्बन्ध भी टूट जाते हैं और जातियो की सख्या बढ़ती है तथा समाज क्षीण-प्राण और मुमूर्षु बनता है।

आग, बाढ, अकाल, स्वचक्र, परचक्र आदि आपत्तियाँ आने पर सारे समाज को लाचारी से सोचना ही पडता है और जरूरी परिवर्तन करने पर वही रस्म-रिवाज मान्य होते हैं और सनातनी गिने जाते है। समाज के लिए यह सारी प्रक्रिया स्वाभाविक भले हो, शोभा नही देती। स्वेच्छा से विचारपूर्वक कुछ नही करना और लाचार होने पर वस्तु को मजूर करना जडता का लक्षण है। मरे हुओ का वह धर्म है। जिस समाज में पुरुषार्थ कम और लाचारी अधिक होती है यही नियम बनता है।

आग, बाढ़, छूत की बीमारी के निर्णय हम मानते हैं और धर्म-बुद्धि के निर्णय को हज़ारों बहाने निकाल कर टालते हैं यह जीवित समाज का लक्षण नही है।

मुसलमानो के रस्म-रिवाजो के प्रति और ईसाइयो के रस्म-रिवाजो के प्रति भी असन्तोष, तुच्छता, घृणा और परायापन मन में चाहे जितना हो, ये दोनों राज्यकर्ता बन कर आये। हिन्दुओ को उनके सामने सिर झुकाना ही पड़ा। हिन्दू धर्म केवल रोटी-बेटी के व्यवहार मे ही सीमित रहा। और सरदार सामन्त लोगों ने तो विजेताओ को शादी-ब्याह मे अपनी लड़कियाँ देने में गौरव अनुभव किया।

अब समय आ गया है जब हम कोई महान् राष्ट्रीय सकट या आपत्ति की राह न देखते हुए राष्ट्रीय एकता, सामाजिक आत्मीयता और राष्ट्रीय आज़ादी तथा प्रगति के लिए जाति-भेद और धर्म-भेद को तिलाजलि दे दें। धर्मो के अन्दर जो ईश्वरमान्य धार्मिकता है उसी को बढावा दे। और कोई ऐसा भी न माने कि राष्ट्रीय संकट और महान् विपत्ति के सिर पर टूट पडने में अब कोई देरी है।

भारतीय जनता सन्तो के पीछे चलने वाली है। गान्धीजी सरीखे सन्तो ने थोडा-थोडा रास्ता दिखलाया ही है। आज के सन्त पुकार-पुकार कर कहते है कि अब जातियो का सगठन छोड कर और तोड कर गाँवो का संगठन करें। अपने सारे गाँव को एक परिवार समझें। सुख-दु:ख में आत्मीयता बढा कर एकरूप हो जायें। उपनिषद् के ऋषियो ने कहा था कि जो लोग भेद में, नानात्व में और अलग-अलग रहने में विश्वास रखते हैं वे एक मौत से दूसरी मौत में जा गिरते है। "मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति इह नानेव (नाना इव) पश्यति"। और ऐसे हारते-गिरते सर्वनाश ही हो जायेगा। वह होगी "महती विनष्टि"। हमारी संस्कृति ने इतिहास काल में जो प्रगति की वह विनाश के लिए नहीं, आगे बढने के लिए।

(१५ अगस्त, १९६१)

हम सब ओतप्रोत बनें

सनातनी हिन्दू धर्म में हरएक जाति का रहन-सहन, खान-पान और वेष-भूषा अलग-अलग रहती थी। प्रयत्नपूर्वक अलग सँभाली जाती थी। इसी के द्वारा धार्मिकता प्रकट होती थी। किसी को कभी लगा ही नही कि इस में कुछ अनुचित है। हम लोग भेद बढाते गये, भेद पर ज़ोर देते गये किन्तु फिर भी कुछ सास्कृतिक एकता तो रहती ही थी। उसी से हमें सन्तोष रहता था।

बाद में इस्लाम आया, ईसाई पन्थ आये। हम ने उन को भी एक एक अलग जाति माना। वे भी अलग जाति की तरह रहने लगे। हिन्दुओ से हम भिन्न हैं इस बात पर वे भी ज़ोर देने लगे। लेकिन हिन्दुओ में जैसी आन्तरिक सास्कृतिक एकता पायी जाती थी (भेद में अभेद) वैसी सास्कृतिक एकता न सँभालने का ही इन लोगो का आग्रह रहा।

हम लोगो में सनातनी जाति-भेद का आग्रह था ही। उस में यह नया धर्म-भेद चाहे जितना कट्टर बना, तो भी किसी को उस का आश्चर्य या दु:ख नही था।

जब तक राज्यकर्त्ता मुसलमान थे, भारतीय मुसलमानो की प्रतिष्ठा ज्यादा थी।

जब पुर्तगाली, फ़्रान्सीसी और अँगरेज़-जैसे ईसाइयो का राज्य हुआ तब भारत के ईसाइयो की प्रतिष्ठा शासक-वर्ग के समानधर्मा होने के कारण अधिक रही।

हिन्दूकाल में ब्राह्मणो की और सस्कृत भाषा की प्रतिष्ठा ज्यादा थी। मुस्लिम राज्यकाल में अरबी और फारसी भाषा की प्रतिष्ठा थी। युरॅपियन काल में अँग-रेज़ी आदि पश्चिमी भाषाओ की प्रतिष्ठा बढी। अँगरेज़ी की प्रतिष्ठा बढाने के लिए हम लोगो का आग्रह विदेशी राज्यकर्त्ताओ से कम न था, कुछ अधिक ही था।

ऐसी हालत में देशी भाषाओ की प्रतिष्ठा कभी जम न सकी।

अब जब स्वराज्य के यानी प्रजाराज्य के दिन आ गये हैं तब हमें एकता की आवश्यकता अधिक तेज़ी से अनुभव होने लगी। लेकिन एकता, कितनी दृढ होनी चाहिए इस का आदर्श हमारे पास था ही नही, आज भी नही है। जाति-भेदों के

कारण हिन्दू-समाज की एकता हमेशा शिथिल रही। एकतरही सर्वमान्य सांस्कृतिक एकता से हमें सन्तोष था। जब विदेशी राज्य मान्य किया तब राजनीतिक अथवा राष्ट्रीय एकता की जरूरत बहुत कम थी।

राजनीतिक एकता अत्यन्त आवश्यक है इस का अनुभव सब से पहले और सब से अधिक किया कांग्रेस ने, यानी राष्ट्रीय महासभा ने। तो भी 'धर्म-भेद, जाति-भेद और भाषा-भेद के कारण राष्ट्रीय एकता कम होने का कोई कारण नहीं हैं' ऐसा ही हम कहते रहे।

स्वराज्य होने के बाद हम पूरी तरह से अनुभव कर रहे हैं कि 'धर्म-भेद, जाति-भेद और भाषा-भेद एकता को मजबूत नहीं होने देते'। इस का इलाज क्या ?

हम देखते हैं कि भाषा-भेद को तोड़ना नामुमकिन है। भाषा-भेद रहेगा ही। इस लिए कुछ व्यवहार प्रादेशिक भाषा में और बाकी का व्यवहार एक अथवा दो सार्वभौम भाषाओं में चलाया जाये, यही कारगर उपाय है।

इसी में से 'हिन्दी या अँगरेजी' का सवाल खडा हुआ, जिस ने अब झगड़े का रूप लिया है। जब समन्वयबुद्धि प्रबल होगी तब रास्ता यही निकलेगा कि भारत की सार्वभौम भाषा तो हिन्दी ही हो, और उस में जरूरी सार्वभौम अँगरेजी शब्दों का व्यवहार बिना रुकावट के किया जाय।

(मुग़लकाल में जिस समन्वय-वृत्ति से खडी बोली ने उर्दू का जामा पहन लिया उसी समन्वय-वृत्ति से नयी हिन्दी आप ही आप अँगरेजी-शब्द बहुल बनेगी। फ़र्क़ इतना कि राज्य अँगरेज़ों का नहीं है, प्रजा का है, इस लिए अँगरेज़ी के शब्द कम आयेंगे और संस्कृत से बने हुए कठिन देशी शब्द भी प्रजामान्य होने में कठिनाइयाँ आयेंगी।)

यह होगा भाषा-भेद का हल।

धर्म-भेद का हल आज तक आसान नहीं था, अब आसान होगा। अँगरेज़ों ने धर्म-भेद को राजनैतिक महत्त्व दिया और हम लोग उस में फँस गये। आज कल लोगों में रूढि-निष्ठा और धर्म-निष्ठा तनिक भी नहीं रही। जो है सो धर्माभिमान है। धर्म के नाम गुटबन्दी हो सकती है। धर्म का अब इस से अधिक उपयोग नहीं है।

ऐसी हालत में अगर हम धर्म-भेद को महत्त्व नहीं देंगे और भिन्नधर्मी लोग आपस में घुल-मिल जायेंगे तो हल आसान है। मांसाहार और शाकाहार का आहार-भेद रहेगा ही, रहना भी चाहिए। लेकिन 'मांसाहारी और शाकाहारी' एक-दूसरे के घर खाना खाये, एक-दूसरे के हाथ का पकाया हुआ खाये। धार्मिक

और सामाजिक त्योहारो मे एक-दूसरे को बुलावें, स्कॉलरशिप-वजीफा आदि सेवा में केवल अपने लोगो का विचार न करें। धर्म-भेद होते हुए भी आत्मीयता कम न होवे, इस के लिए पूरी-पूरी जोरो की कोशिश होनी ही चाहिए।

यह सब तब होगा जब हिन्दू लोग प्रथम अपने अन्दर-अन्दर का जाति-भेद भूल जायें। इस का तो एक ही उपयोगी इलाज है। भिन्न-भिन्न जाति के लोगों में जात्यन्तर विवाह अब थोडे-थोडे होने लगे हैं। ऐसे विवाहों का सामाजिक विरोध भी पहले की तरह नही हो रहा है। लेकिन इतना पर्याप्त नही है। काफी समय तक हमें नियम ही करना पडेगा कि 'विवाह हो तो भिन्न जाति के साथ ही'। जिस तरह भाई-बहन का विवाह किसी भी समाज को मान्य नही है, एक परिवार के अन्दर विवाह हो नही सकते, सगोत्र विवाह निषिद्ध है, उसी तरह एक कदम आगे बढ कर 'एक जाति के अन्दर होने वाले विवाह आइन्दा के लिए निषिद्ध होने चाहिए'। सगोत्र विवाह टालने के लिए जिस तरह गोत्र की पूछताछ होती है इसी तरह सजातीय विवाह टालने के लिए ही जाति का विचार किया जाये।

आज देश मे भिन्नधर्मी लोगो में भावनात्मक ऐक्य कुछ तो है ही, लेकिन राष्ट्र की मजबूती के लिए वह काफी नही है। कोई महान सकट दरवाजे पर आ जाता है तब सब लोग एकदम एक हो जाते हैं यह खुशी की बात है, अच्छा लक्षण है। लेकिन ऐसी एकता हमेशा के लिए दृढ रहे इस का इलाज ढूंढना ही होगा। (कौरवो पर कुछ बाहरी सकट आते ही धर्मराज उन की मदद में दौडे तब उन्होंने कहा था कि, "कौरवो और पाण्डवो का जब घरेलू झगडा चल रहा है तब कौरव सौ हैं और हम पाँच हैं। लेकिन बाहरी शत्रु का आक्रमण होने पर हम दोनो मिल कर एक सौ पाँच हैं।" पाकिस्तान के मन में यह बात कब उगेगी यह हम नही जानते, लेकिन हम इतना जानते हैं कि "हम एक सौ पाँच हैं" इतनी बुद्धि रखने वाले धर्मराज भी महाभारत युद्ध को टाल नही सके। जीत हुई पाण्डवो की लेकिन नाश हुआ दोनो का। और भारत को फिर से सिर ऊँचा करते एक हजार वर्ष की राह देखनी पडी।)

हमें याद रखना चाहिए कि संकट काल में ही दीख पडने वाली एकता से राष्ट्र मजबूत नही हो सकता। राष्ट्र की मजबूती के लिए, प्रगति के लिए और विश्व-सेवा के लिए सनातन, सर्वकालीन एकता यानी हृदय की पारस्परिक दृढ आत्मीयता ज़रूरी है।

भिन्नधर्मी लोगो में हार्दिक आत्मीयता हम तब पैदा कर सकेंगे जब हिन्दुओ

की आज की शिथिल एकता से जो सन्तोष है वह टूट जायेगा और हिन्दुओ में राजनीतिक नहीं किन्तु सामाजिक एकता भी दृढ हो जायेगी।

हिन्दुओ का सगठन करने पर तुली हुई हिन्दूमहासभा और दूसरी संस्थाएँ मुसलमान और ईसाइयो के प्रति असन्तोष वढा कर उस असन्तोष को वुनियाद पर राजनीतिक और सकुचित एकता सिद्ध करने की कोशिश करती रहती हैं। अस्पृश्यता निवारण का काम जितना गान्धीजी ने किया उस का सौवाँ हिस्सा भी हिन्दूमहासभा ने नही किया। जाति-भेद तोडने का काम जितना गान्धीजी ने किया, प्रार्थना-समाज और ब्रह्मसमाज ने जितना किया, उतना हिन्दूमहासभा ने किया हो तो हमारे देखने में नहीं आया। जाति-भेद समाप्त करने का वीडा उठाया था आर्यसमाज ने। शुरू-शुरू में उस ने इस दिशा में कुछ काम अवश्य किया। लेकिन वर्ण-व्यवस्था को महत्त्व देते हुए उस ने जाति-भेद को ही जीवन-दान दिया।

जाति-भेद के अन्दर जो धर्मभावना थी, रस्म-रिवाज के भेद थे वह तो आज नही रहे। खान-पान के नियमो में काफ़ी शिथिलता आ गयी है, लेकिन जातियो की गुटवन्दी पहले की अपेक्षा कम नही, वल्कि वढी ही है। जहाँ चुनाव आया वहाँ जाति-भेदमूलक गुटवन्दी वढती ही जाती है। चुनाव, सरकारी नौक-रियाँ और विद्यार्थियों के वज़ीफे तीनो के कारण जातियो की गुटवन्दी मज़वूत होती है। और जो पहले नही था वह उस का अखिल भारतीय स्वरूप वनता जाता है। मध्य काल में जाति भेद, खान-पान और रस्म-रिवाज के भेद के कारण हो थे। अव तो चाय की दुकान, होटेल का भोजन और रेल की मुसाफिरी के कारण खान-पान का सवाल रहा ही नही। अव तो अपना कौन और पराया कौन इस की सव गुटवन्दियाँ हो रही हैं। मध्यकाल में हिन्दू धर्म का अर्थ होता था रोटी-वेटी व्यवहार की मर्यादा का धर्म। इस में रोटी-व्यवहार की मर्यादा नाम-मात्र रही है। वेटी-व्यवहार कुछ ढीला हुआ है। लेकिन वेटी-व्यवहार की मर्यादा पारसियो में, मुसल्मानो में और ईसाइयों में भी पहुँच गयी है। इसी लिए कहता हूँ कि जाति-भेद के सर्वलक्षण भारत में सव धर्मो के अन्दर पहुँच गये है। जाति-भेद के गुण-दोष जितने हिन्दुओं में है इस से ज्यादा मुसलमानों में और ईसाइयो में पाये जाते है। क्योकि गुटवन्दी ही उस का लक्षण है।

(१ दिसम्वर १९६१

यह है गांधी-प्रेरित कार्यक्रम

आज़ाद भारत एक राष्ट्र है। धर्म-भेद, भाषा-भेद, वश-भेद और जाति-भेद के होते हुए भी समूचा भारत एक राष्ट्र है।

हम चाहते हैं कि इस राष्ट्र को हम एक समाज भी बना दें। ख्रिस्ती अँगरेज़ और यहूदी अँगरेज़ एक ही समाज के घटक होते हैं। प्रॉटेस्टट अँगरेज़ और कैथलिक अँगरेज़ दो अलग राष्ट्र नही बनते।

बहुत से जापानी लोग बौद्ध हैं। इन बौद्धो में बारह-तेरह अलग पन्थ हैं। चन्द जापानी लोग पुराने शिन्तोधर्मी हैं। कहा जाता है कि, इस धर्म में प्रकृति-पूजा और पूर्वजो की पूजा की प्रधानता है। चन्द जापानी ईसाई हो गये है। इन में भी अनेक पन्थ हैं। और अब ऐसे भी जापानी पाये जाते हैं जो किसी धर्म के नही हैं। इतने भेद होते हुए भी सब जापानी आपस में घुलमिल कर रहते हैं, एक साथ खाते-पीते है, परस्पर शादियाँ भी करते हैं। सब जापानियो का राष्ट्र एक है, समाज एक है।

हम चाहते हैं कि भारत में भी धर्म-भेद होते हुए भी आन्तर-धर्मी विवाह होने में बाधा न होनी चाहिए। विवाह किया इस वास्ते धर्मान्तर करना पडे यह अनुचित दबाव है। भिन्न धर्मी लोग एक साथ रह सके, खा-पी सके और आपस में शादियाँ भी कर सके तो हमारी एक-राष्ट्रीयता मज़बूत होगी और सब धर्मों का वातावरण भी स्वच्छ, शुद्ध और समृद्ध होगा।

हमारे यहाँ जातियाँ बहुत हैं। हर एक जाति मानो अलग-अलग समाज है।

प्रत्येक जाति के लोगो में परस्पर निष्ठा होती हैं। एक जाति के लोग आपस में एक दूसरे को स्वकीय समझते हैं। जो अपनी जाति के नही हैं उन को परकीय समझते हैं। यह स्व-पर-भाव राष्ट्रीय ऐक्य को कमज़ोर बनाता है।

जाति-भेद के मुख्य लक्षण दो हैं। एक है, 'स्व-पर भाव' और दूसरा है 'उच्च-नीच भाव'। एक जाति अपने को उच्च मानती है, दूसरों को अपने से श्रेष्ठ या कनिष्ठ मानती है।

भारत के मुसलमान और ख्रिस्ती एक-दूसरे से अलग रहते हैं। मुसलमान अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। ईसाई अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। मुसलमान ईसाइयो की श्रेष्ठता स्वीकार नही करेंगे। ईसाई मुसलमानो की श्रेष्ठता स्वीकार नही करेंगे।

दोनो अपनी-अपनी जगह श्रेष्ठ है ! कौन अधिक श्रेष्ठ इस का झगडा वे नहीं करते । अपनी श्रेष्ठता दूसरों से कवूल करवाने की कोशिश भी कभी नहीं करते । इसीलिए उन में झगडा नही होता । 'सशस्त्र तटस्थता' की तरह इन का परस्पर सम्वन्व माना जा सकता है । ईसाई और मुसलमान दो स्वतन्त्र समाज हैं । इन के वीच एकता स्थापित नही हो सकती । हिन्दुओ का ऐसा नहीं है, हालांकि हिन्दू भी अनेक जातियो में विभक्त हैं ।

जातिभेद में जव तक रोटी-वेटी व्यवहार आम-तौर पर चालू नहीं है, हर एक जाति मानो स्वतन्त्र समाज, स्वतन्त्र कुनवा (class or tribe) है। लेकिन इन के वीच उभयमान्य उच्च-नीच भाव होता है। यही हिन्दू-जाति व्यवस्था की खूवी है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण हैं । ये जातियाँ नही हैं । हर जाति स्वतन्त्र और स्वयपूर्ण समाज होता है । वर्ण का ऐसा नहीं है ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अति शूद्र सव मिल कर सिद्धान्तत. इन का एक समाज होता है। परस्परावलम्वी चार वर्ण की मूल कल्पना के अनुसार ब्राह्मण स्वतन्त्र समाज के तौर पर जी नही सकते । जैसे शरीर से सिर अलग होकर जी नही सकता । क्षत्रिय सव मिलकर के भी एक समाज नहीं वना सकते, जैसे सव हाथ एकत्र कर के भी एक शरीर नही वना सकते ।

सव वर्ण तथा सव जातियाँ मिल कर हिन्दू-समाज वनता है। इन जातियो में जैसा भेद है वैसी धार्मिक-सामाजिक आत्मीयता-एकता भी है । चन्द जातियाँ अपने को श्रेष्ठ मानती हैं। वाक़ी की जातियाँ उन की ऐसी श्रेष्ठता मंजूर रखती है।

चन्द जातियाँ नीच गिनी जाती हैं । ऊपर की जाति के लोग तो उन को हीन समझते ही हैं । आश्चर्य यह है कि निचली जातियाँ भी अपने को जन्मत. हीन अथवा नीचे की समझती हैं। और ऊपर की जातियों के लोगों के प्रति आदरभाव भी दिखाती हैं ।

इस तरह का उच्च-नीच भाव उभयमान्य, सर्वमान्य और समाज-मान्य होने के कारण ही जाति-व्यवस्था या जाति-संस्था सर्वमान्य हुई है ।

हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, यहूदी, पारसी आदि धर्म-भेद ने ऐसा रूप पकडा है कि वह राष्ट्रीय एकता को कमजोर करता है ।

जातिभेद हिन्दूधर्म के अन्तर्गत होने के कारण राष्ट्रीय एकता के लिए इतना वाधक नही है, तो भी जातिभेद दूर करना ही चाहिए । और वह भी जल्दी से जल्दी ।

जाति-भेद दूर करने का एक कार्यक्रम हम यहाँ वताते हैं । जिस की मदद

से जाति-जाति के बीच का उच्च-नीच भाव और स्व-पर भाव (अपने-पराये का भेद) आसानी से और निश्चित रूप से क्षीण हो जाये।

१ आइन्दा जितने भी विवाह हो अपनी जाति के बाहर ही होने चाहिए।

जिस तरह एक ही खानदान के अन्दर भाई-बहन के विवाह नही होते, एक ही गोत्र के अन्दर स्त्री-पुरुष के बीच विवाह नही होने चाहिए।

विवाह के मानी ही अन्तर-जातीय विवाह हो।

२ भिन्न जाति के और भिन्न धर्म के लोग जहाँ एकत्र रहते हैं, एकत्र खाते-पीते हैं, ऐसे ही छात्रालय, हॉस्टेल, होटेल, वसतिगृह बनाने चाहिए। इन में नियम हो कि रसोई बनाने में सब जाति के और सब धर्म के स्त्री-पुरुषों का हाथ अनिवार्य रूप से, आवश्यक रूप से होना ही चाहिए। समुदाय में रह कर अगर अन्न खाना है तो सब के पवित्र हाथो का स्पर्श जिस में है ऐसा ही अन्न खायेंगे। और साथ-साथ जाजरू, टट्टी, पाखाना आदि साफ करने का काम भी सब जाति के, सब धर्म के लोग, नेता, व्यवस्थापक, अध्यापक, विद्यार्थी, कारकून आदि सब बिना भेदभाव के बारी-बारी से करते चले जायें। ऊँच-नीच भाव तोडने का यही एक अच्छा तरीका है।

३. सुबह-शाम प्रार्थना का प्रबन्ध रहे। वह काफी रोचक किया जाय और उस में सब धर्मों की प्रार्थनाओ का कुछ-न-कुछ हिस्सा रखा जाय।

प्रार्थना का प्रबन्ध लाज़िमी तौर पर किसी पर लादा न जाय और प्रार्थना का प्रचार ऐसे जोरों से न किया जाय जिस से उसी की चर्चा हो कर उस में से विरोध का वायुमण्डल जाग उठे।

४ आज सरकारी महकमो में साधारणतौर पर बडा अफसर अपने ही किसी रिश्तेदार के लडके को, भाई या भतीजे को, जमाई को या ऐसे ही किसी को अपना सेक्रेटरी, मददनीस या ऐजेंट बनाते डरता है और लोग भी खुल्लम-खुल्ला शिकायत करने लगते हैं। वैसे ही राष्ट्रपति से ले कर सब के सब, मन्त्री, सचिव, संस्था के मुख्य, बैंक, शाला, कारखाना आदि के कर्मचारी अपने निजी सेक्रेटरी या पर्सनल असिस्टेंट अपनी जाति के आदमी को न रखे ऐसा एक रिवाज़ होना चाहिए।

ऐसा नियम केवल जाति या धर्म के बारे में न हो। प्रान्तीय भेद के कारण जो सकुचितता और पक्षपात का वातावरण पैदा होता है उस के लिए भी ऐसा ही कुछ-न-कुछ रिवाज या कन्वेनशन बनाना चाहिए।

जहाँ एक बगाली गया वहाँ वह दूसरे बगालियो को भी इकट्ठा करता है। सिन्धी-सिन्धी को खीचता है। अय्यगार अय्यगार, मेनन मेनन के प्रति

पक्षपात करता है। पंजाबी दूसरे किसी को अपने पास आने नहीं देते, ऐसे प्रवाद सुनने की नौबत नहीं आवे।

५. किसी को नौकरी सकारण नहीं मिली, किसी की अर्जी सकारण मंजूर नही हुई या तरक्क़ी का क़ानूनी हक़ होते हुए भी वह प्राप्त नहीं कर सका। तुरन्त अधिकारी के बारे में लोग शिकायत करने लगते हैं कि उस आदमी को मेरी जाति के प्रति सहानुभूति नही है। ब्राह्मण कभी ब्राह्मणेतर की मदद करेगा ही नहीं। इस तरह की खुल्लम-खुल्ला शिकायत करने वालों को बराबर डाँटना चाहिए। क्योंकि ऐसे लोग भी जाति-भेद और जाति-वैमनस्य को अपने स्वार्थ के लिए बढाते हैं।

६. कभी-कभी मुसलमान, ईसाई, हरिजन या बीच के लोग अपने लोगों के प्रति खुल्लम-खुल्ला पक्षपात करते हैं और कहते हैं "हम क्या करें? दूसरे लोग जब हमेशा हमारे विरुद्ध होते हैं तब हम को भी इन्साफ़-ग़ैर-इन्साफ़ की बात भूल कर अपने ही लोगों की मदद करनी पडती है। देश का वायुमण्डल सुधार दीजिए। बाद में हम भी सुधर जायेंगे।" कभी-कभी ब्राह्मण भी ऐसी ही दलीलें करते हैं। कहते हैं "पक्षपात, ईर्ष्या और द्वेष सभी करते हैं। और बदनाम हम हुए हैं। अँगरेज़ों के शासन के दिनों में राज्यकर्ता कहते थे कि हम ब्राह्मण राजद्रोही हैं इस वास्ते हमें नौकरी न दी जाय। और अब स्वराज्य के दिनो में हम ब्राह्मण हैं इसी लिए हमें दबाया जाता है। तो क्या इस देश में हमारे लिए स्थान ही नही? आप के नेहरू तो हिन्दुओं की जातीयता दूर करने पर तुले हुए हैं, लेकिन मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि ग़ैर-हिन्दुओं की जातीयता को ऐसा प्रोत्साहन देते हैं, जैसा आज तक किसी ने नहीं दिया होगा। हिन्दुओं में सत्ययुग आवे और ग़ैर-हिन्दुओं को कलयुग के लाभ मिलते जायें यह कोई आदर्श है? और क्या ऐसा हो भी सकता है?"

७ चन्द लोग हर चीज़ के लिए आर्थिक इलाज ही ढूँढते हैं। पिछड़ी हुई जातियो की आर्थिक दशा सुधार दीजिए। जाति-भेद आप-ही-आप नष्ट हो जायेगा। हर चीज के लिए आर्थिक इलाज ही ढूँढना यह है आज के युग की अन्धता। अगर घूसखोरी का ही दोष देखा जाय, तो क्या 'जिन लोगों की आर्थिक हालत अच्छी है वे ही ज्यादा घूस लेते हैं? ग़रीबों के भाग्य में घूस खाने का मौक़ा कम आता है। वे ग़रीब हैं इसी लिए क़दम-क़दम पर घूस दिये बिना उन का काम नहीं हो सकता। धनी लोगों को कभी-कभी घूस देनी नहीं पड़ती। वे सीधा ऊपर के आदमी के पास चल कर अपना काम कर लेते हैं।

प्राचीन भारत में अपनी जाति अपना धर्म और अपने रिश्तेदारो के प्रति

पक्षपात दिखाना बुरा माना नही जाता था। और घूसखोरी तो इतनी मान्य थी कि उसे दस्तूर ही कहते थे। वशीला, पक्षपात, ज्ञाति-निष्ठा और घूसखोरी हमारी संस्कृति के स्वदेशी रोग हैं। उन के खिलाफ, कानून बनाना और टीका करना पर्याप्त नही है। लेकिन जिस तरह प्राचीन धार्मिको ने, वैष्णवो ने और मिशनरी लोगो ने प्रचार कर-कर अपने रिवाज और विचार लोकमान्य बनाये वैसी ही श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नया प्रचार प्रारम्भ करना चाहिए। दुनिया में भाई-बहन के विवाह बन्द हुए। भ्रूणहत्या बन्द हो गयी। किसी को जहर दे कर मारने का रिवाज करीब-करीब बन्द हुआ। यह सब आसानी से नही हुआ है। इस के लिए धार्मिको ने और प्रचारको ने, समाज-सेवको ने और तपस्वियो ने भावना की भट्टी तेज की और लोकमानस दृढमूल बनाया इस लिए यह सब सुधार सामाजिक जीवन की बुनियाद में पहुँच गये।

जाति-भेद दूर करना है, सकुचितता, स्वार्थ, लोभ, जडमूल से हटाने हैं और दूसरे दुर्गुण दूर करने हैं तो तपस्वी, सस्कारी, उदार-हृदय लोक-हित-चिन्तको की ओर से सतत प्रचार की धुन चलनी चाहिए।

और मुख्य बात—बुद्धिभेद करने का रिवाज जो देश में फैला हुआ है उस का कुछ इलाज होना चाहिए। गान्धीजी का बहुत-सा काम बुद्धिभेद करने वालो ने नष्ट किया। इस बात से सबक लेना जरूरी है।

(६ जून १९५९)



विवाह संस्था और धर्म संस्कृति

सार्वभौम पारिवारिक जीवन

बम्बई के एक सज्जन पूछते हैं—"राष्ट्रीय एकता की चिन्ता यदि हम सब को है तो इस उद्देश्य के लिए आन्तर-प्रान्तीय, आन्तर-जातीय विवाहों को प्रोत्साहन हम क्यो न दें ?" पत्र अँगरेजी भाषा में है ; उस में तीन शब्द हैं—inter-provincial, inter-communal and inter-caste marriages. Inter communal शब्द साधारण तौर पर भिन्न-भिन्न जाति के विवाह के लिए ही आता है। लेकिन यहाँ पर शायद भिन्नधर्मी विवाह का उद्देश्य होगा।

मैं तीनों के बारे में अपना अभिप्राय थोडे में दूँगा।

आन्तर-प्रान्तीय विवाह के बारे में धर्म का विरोध नही है। सवाल या कठिनाई ज्यादातर भाषा के बारे में है।

आन्तर-जातीय विवाह का सवाल हिन्दुओं का है। इस में भी धर्म का विरोध नही है। सवाल आता है सिर्फ़ आहार का। क्योकि मांसाहारी और शाकाहारी लोगों की रसोई एक साथ नही हो सकती। जाति-जाति में ऊपर की जाति, नीचे की जाति ऐसा भेद भी विचारा जाता है।

और आन्तर-धर्मीय विवाहो के अन्दर मुख्य सवाल धर्मान्तर का है। इस के साथ कभी-कभी भाषा का और आहार का भी सवाल आ जाता है। ये तीनों या चारों सवाल बड़े टेढे हैं। आसानी से इन का हल नही हो सकता।

मेरी स्पष्ट राय है कि आन्तर-प्रान्तीय, आन्तर-धर्मीय विवाहो का हम तनिक भी विरोध न करें। अगर हमारे धर्म में, जाति में या प्रान्त में ऐसा कोई विवाह हुआ तो समाज उस के बारे में नाहक हो-हल्ला न करे। जिन को पसन्द नही है खामोश रह कर भगवान् से प्रार्थना करें कि ऐसा विवाह भी सफल हो, टूटे नही। और कोई दुखी न हो।

लेकिन साथ-ही-साथ मैं यह भी कहूँगा कि ऐसे विवाहो को प्रोत्साहन देने के लिए हम प्रचार करने नहीं बैठें। प्रचार से चर्चा बढती है, समाज में मन-मुटाव पैदा होता है और छोटी-छोटी बातों को महत्त्व दिया जाता है।

आदमी विवाह करता है परस्पर प्रेम के कारण, सहजीवन के लिए और बच्चो को अच्छे-अच्छे सस्कार देने के हेतु। इसलिए विवाह का सवाल जितना नैतिक है उतना सामाजिक भी। विवाह के बारे में प्रगति सोच-विचार कर धीमे-धीमे होनी चाहिए। लेकिन सुधार तो तुरन्त होना ही चाहिए।

आहार के बारे में मेरी स्पष्ट राय है कि मासाहारी और अन्नाहारी लोगो के बीच विवाह तब हो 'जब दोनो में से एक भी पक्ष दूसरे पक्ष पर ज़बर-दस्ती नही करेगा', यह सिद्धान्त हृदय से स्वीकार करें। हमारे सामने बर्नार्ड शॉ का क़िस्सा है। वे स्वयं अन्नाहारी थे। उन की पत्नी मासाहारी थी। वे अलग-अलग बैठ कर खाते थे। बाकी के जीवन में कोई कठिनाई नही आयी। पश्चिम भारत में सारस्वत एक ऐसी ब्राह्मण जाति है जिस में पुराने रूढिवादी लोगो में भी चन्द लोग मत्स्याहारी हैं (मछली खाते हैं) और चन्द लोग बिलकुल अन्ना-हारी हैं। तो भी उन्होने इस कारण अलग-अलग दो जातियाँ नही बनायी। अगर पति मछली खाता है और पत्नी नही खाती, तो उस पर खाने के लिए ज़बरदस्ती नही होती। और वह भी पति के लिए मछली पका कर देती है, ताकि उस की कठिनाई न हो। इस से उल्टा अगर पत्नी मत्स्याहारी है तो पति के घर पर वह अन्नाहारी रहती है। और जब जी चाहे मायके जा कर मछली आदि का स्वाद चख लेती है। आगे जा कर इस से भी ज्यादा सहूलियत हो जाती है, वह बात अलग। मुख्य नियम यही है कि किसी की किसी पर ज़बरदस्ती न हो और निन्दा तो बिलकुल ही न हो।

भाषा के बारे में कोई खास नियम बनाने की ज़रूरत नही है। भाषा चीज़ ही सामाजिक है। पति-पत्नी जहाँ रहते हैं, जिस ढग से रहते हैं भाषा का सवाल हल होता जाता है। जो लोग अँगरेज़ी भाषा के अभिमानी उपासक होते हैं, वे घर पर अँगरेज़ी ही चलाने की बेवकूफी कर बैठते हैं। पति-पत्नी और उन के बच्चे जब अँगरेज़ी में ही अपना व्यवहार चलाते हैं तब आस-पास के समाज के साथ उन का सम्बन्ध टूट जाता है। घर पर अँगरेज़ी का व्यवहार करने वाले लोगो की ऍग्लोइडियन के जैसी अलग जाति बन जाती है। देश में अँगरेज़ी का वायुमण्डल व्यापक तो होने वाला है नही। इसलिए नौकरो की भाषा भी घर पर चलानी पडती है। ऐसे लोग सस्कारशून्य बनते जाते हैं और अँगरेज़ी के अभिमान के कारण ऐंठ कर चलते हैं। वे देखते नही कि उन का जीना हास्यास्पद बन जाता है।

(जो अँगरेज़ लोग यहाँ के हो कर बसे हैं उन की सख्या कम है। उन में से चन्द लोग यहाँ की भाषा सीख लेते हैं और अच्छी तरह से प्रयोग करते हैं।

ऍंग्लो-इण्डियन लोगो का सवाल वे अपने ढंग से हल कर रहे हैं। उन की बात आज हम नही सोच रहे हैं। बच्चो को जिस प्रान्त में रहना है वहाँ की भाषा अपनानी होगी।)

आन्तरधर्मी विवाह आज हमारे यहाँ ज्यादा होनें वाले नही हैं। और हुए तो सारा वायुमण्डल शुद्ध होने के बाद, सुधरने के बाद ही होंगे। आज मुख्य नियम यह होना चाहिए कि विवाह के कारण धर्मान्तर करने की सख्ती न होनी चाहिए। (दिल्ली के बादशाह ने अपनी जोधपुरी रानी के लिए एक हिन्दू मन्दिर भी बनवाया था। ताकि उसे पूजा का सन्तोष मिले। वह मन्दिर आज भी देखने को मिलता है।) आन्तरधर्मी विवाह में जब ज़बरदस्ती नही होती तब तक सुगन्धमय उदार वातावरण तैयार होता है जिस में दोनों धर्मों के प्रति आदर भी रहता है और अपने-अपने धर्म के सब रस्म-रिवाजो का आग्रह भी नही रहता। जब भगवान् ने अपनी दुनिया में सब धर्मों को और भले-बुरे विचारों को पनपने दिया है तब 'भगवान् का नाम लेने वाले एक घर में' और 'एक परिवार में' सब धर्मों का परस्परानुकूल वायुमण्डल भी क्यों न रहे ? और भगवान् को न मानने वाले लोग भी अच्छे सस्कारी सज्जन होते हैं। हम उन्हें शैतान न समझें। भगवान् के कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच झगडा या मनमुटाव पैदा होना ही नही चाहिए।

ऐसे आन्तर-धर्मी विवाह के फलस्वरूप जब बच्चे पैदा होते हैं तब उन में सब धर्मो के प्रति आदरभाव के संस्कार आना ही चाहिए। कभी-कभी उपेक्षा आती है और वायुमण्डल धर्म-विरोधी बनता है। उस में भी अगर सज्जनता और सस्कारिता कायम रही तो किसी एक धर्म को न मानने वाले भी धार्मिकता की क़दर करते हैं और अपने जीवन के द्वारा धार्मिकता की खुशबू फैलाते हैं।

आन्तर-जातीय हिन्दू विवाहों का सवाल बिलकुल आसान है। अब वर्णभेद तो सिर्फ अभिमान हो रहा है। जातिभेद तोडने में तनिक भी कठिनाई नही आ सकती। कोई अपने को श्रेष्ठ न माने, दूसरे को हीन न समझे, समान भाव से एक-दूसरे के प्रति आदर रखे, आन्तर-जातीय विवाहो को अपनावे और सेवावृत्ति बढा कर अपना जीवन आशीर्वाद रूप बनावें।

मुसलमानो में और ईसाइयों में अपनी संख्या बढाने का असंस्कारी आग्रह अगर कायम रहे तो आन्तर-धर्मी विवाह बढेंगे नही, न बढने चाहिए। हम खुदापरस्त बनें, धार्मिक बनें, यह अच्छा है। संख्यापरस्त और जमातपरस्त बनना खुदापरस्ती का द्रोह ही है उस में भी शिर्क का गुनाह आता होगा।

शादी कर के दूसरी जमात को या दूसरे धर्म को कमज़ोर करने की अगर नीयत रही तो वह मानवता का द्रोह होगा। ऐसी चालबाज़ी धर्म को ही हीन

और कमजोर करती है और मानवता को तोड देती है ।

जिस तरह हम राष्ट्र राष्ट्र के बीच शान्ति, प्रेम और सहयोग के द्वारा कौटुम्बिक भाव पैदा करना चाहते हैं, उसी तरह सब धर्मों के बीच भी परस्पर आदर और पारिवारिक भाव पैदा करना भी मानवता का तकाजा है । सब धर्मों के प्रति जिस के मन में आदर नही है उस की धार्मिकता सकुचित है, वह खुदा का प्यारा नही बन सकता ।

(१५ अगस्त १९६७)

वर्णान्तर-विवाह

इतिहास और पुराण कहते हैं कि वहुत प्राचीन काल से हिन्दू-समाज में असवर्ण विवाह होते आये हैं । स्मृतियो ने अनुलोम विवाहो को मान्यता दी और प्रतिलोम विवाहो को अमान्य ठहराया—इस से भी सिद्ध होता है कि हिन्दू समाज में वर्णान्तर विवाह होते थे ।

अनुलोम और प्रतिलोम का भेद किस तत्त्व पर आधारित है ? क्या इस भेद का आधार यह है कि 'पुरुष से स्त्री हीन है', अथवा 'पुरुष से स्त्री अधिक पवित्र और श्रेष्ठ है', यह सिद्धान्त इस भेद के मूल में है ? कैसा भी हो, वर्णान्तर विवाह काफी मात्रा में होते होगे, वरना अनुलोम-प्रतिलोम जातियो का विस्तार ही नही हो सकता ।

वर्णान्तर विवाहो के कारण वर्ण नष्ट हो जायेंगे इस डर के लिए कोई आधार है ? यह सच है कि वर्णान्तर विवाह सम्पन्न होने लगने से वर्ण-वर्ण के बीच का उच्च-नीच भाव अपने आप नष्ट हो जायेगा, लेकिन वर्णान्तर विवाह से वर्ण-भेद का नाश होगा ऐसा मानने के लिए कोई कारण नहीं है ।

एक ही गोत्र में विवाह न हो, शादी-ब्याह का सम्बन्ध भिन्न गोत्रो में ही होना चाहिए, ऐसा नियम आज तक चला आया है । लेकिन क्या उस से गोत्रो का नाश हुआ है ? अगर हम ऐसा नियम बनायें कि अपनी जाति या वर्ण के बाहर जा कर ही शादी करनी चाहिए तो भी उतने भर से जाति या वर्ण का नाश होगा, ऐसा सिद्ध नही होता । अब दिन आ गये हैं जब कि कई एक समाजो के लिए ऐसा नियम हो कि जिस प्रकार सगोत्र विवाह निषिद्ध माना गया है, उसी प्रकार अपनी ही उप-जाति में शादी-ब्याह करना निषिद्ध माना जाय ।

अव एक कदम आगे वढ कर कुछ सोचें। क्या चातुर्वर्ण्य या वर्ण-व्यवस्था हिन्दू समाज का सनातन अंग है ?

अगर यह स्वीकार किया जाय कि सत्ययुग के मानी हैं आदर्श हिन्दू समाज, तो हमारे धर्म-ग्रन्थो में यह जो कहा है कि सत्ययुग में एक ही वर्ण होता है और एक ही भगवान् होता है, उस से क्या अनुमान निकाला जाय ? सत्ययुग में मूल एक ही ब्राह्मण-वर्ण था। आगे चल कर एक के अनेक वर्ण हुए। इस उपपत्ति को अगर स्वीकार किया तो क्या सत्ययुग की स्थापना के लिए एक ही वर्ण पर आ जाना इष्ट नही होगा ?

आज जो चार वर्ण माने जाते हैं उस वर्ण-भेद में अव कोई रहस्य रहा दिखाई नही देता। डोरी जलने के वाद भी उस के वल कायम रहते हैं वैसे ही ये वर्ण-भेद कायम रहे मालूम होते हैं। ऐसे वर्ण-भेदो के पालन से समाज की क्या रक्षा होने वाली है ? जीवन-यात्रा और जीवन-कलह का खयाल करते और आज की दुनिया के मानवी जीवन के स्वाभाविक प्रश्नो को देखते हुए मालूम होता है कि जाति-भेद और वर्ण-भेद चला कर हम समाज को छिन्न-भिन्न कर रहे हैं यह पहचानने के दिन कव के आ चुके हैं।

माध्व सम्प्रदायी और शंकर सम्प्रदायी लोगो के वीच शादियाँ होती हैं। द्वैत-अद्वैत का दर्शन-भेद आडे नहीं आता।

शैव, शाक्त और वैष्णवो के वीच भी काफ़ी शादियाँ होती हम देखते हैं। आस्तिक-नास्तिक भेद भी आडे नहीं आया। ऐसी हालत में वर्णान्तर-विवाहों का प्रचलन वढा तो उस में क्या हानि है ?

इस सारे भेद के मूल में जो कुछ धर्मभावना किसी समय होगी, उस के उठ जाने या नष्ट होने के वाद केवल जायदाद के वॅटवारे के कानून के वल पर ये भेद टिकाने की कोशिश करना अच्छा नही मालूम होता।

धर्म की निर्वीर्यता पर कानून का नुस्खा कहाँ तक असर करेगा ?

अगर समाज सत्तावाद को अवकाश मिला और खानगी मिल्कियत ही नष्ट हुई तो फिर विरासती हक़ का और उस के वल पर टिकायी हुई वर्ण-व्यवस्था का क्या होगा ?

मेरा अपना अभिप्राय यह है कि जिन-जिन को जीवन-पद्धति और विचार-पद्धति एक-दूसरे के अनुकूल है ऐसे स्त्री-पुरुषो को अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार शादी करने की छूट होनी चाहिए। अपवाद केवल एक ही हो। वह यह कि नजदीक के रिश्ते में शादियाँ नही होनी चाहिए, यह जो सामान्य क़ानून है उस को सव स्वीकार करें। वधू-वरों की आयु में असह्य अन्तर नहीं होना चाहिए।

पुनर्विवाह की इजाज़त उभयपक्ष को समान हो। वधू-वरो की पूर्ण सम्मति के बिना कोई भी शादी न की जाय।

इन और ऐसे सर्वसाधारण नियमो को ही कानून का सरक्षण मिले। इस से अधिक नियम या लोकाचार हो तो उन के पालन का आग्रह उस-उस समाज का लोकमत यथाशक्ति रखे। लेकिन उस के लिए कानून की मान्यता की कोई आवश्यकता नही है। विवाहादि सामाजिक सम्बन्धो में कही भी ज़बरदस्ती होती हो तो उस पर कानून से कडा प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए।

ऐसा करने से सामाजिक दम्भ और दुराचार काफी हद तक दूर होगे। सामाजिक वातावरण निरोगी और विशुद्ध बनेगा। धर्म का आसन अंध-रूढ़ि पर अवलम्बित न रह कर, धर्म-विचार और आध्यात्मिक आदर्शों का ही अनुसरण हो सकेगा।

हमारे आर्य धर्म-सिद्धान्तो को, समाजहित की आधुनिक दृष्टि के अनुसार, नये-नये प्रयोग करने का अवसर देने का समय आया है।

वर्णान्तर विवाह की मीमासा और चर्चा अब सचमुच बासी हो गयी है। आज का सवाल तो यह है कि भिन्नधर्मी लोगो में विवाह होना इष्ट है या नही।

फिर भी वर्णान्तर विवाहो की चर्चा बीच-बीच में सिर ऊँचा करती ही रहती है। पाण्डवो का पक्ष न्याय का था या कौरवो का, इस की भी चर्चा कभी-कभी होती ही है न।

वर्णान्तर विवाह के सम्बन्ध में चर्चा न करते हुए अपना अभिप्राय थोडे शब्दो में और चन्द प्रश्नो में मैं ने स्पष्ट किया है। यह अभिप्राय पढ कर इस प्रश्न के बारे में आस्था रखने वाले लोगो के विचारो को कुछ गति मिली तो मेरे लिए काफी है।

(२५ अगस्त १९५६)

हिम्मत है हिन्दुओ मे ?

मैं ने इस के पहले कई बार कहा है कि वर्ण और जाति एक नही हैं। चन्द लोग मानते हैं कि वर्णों के अन्दर पेटा-विभाग हो कर जातियाँ बन गयी। लेकिन यह बात सही नही है। जातियाँ पहले थी। वर्ण बाद में आये। भगवद्गीता ने कुलधर्म और जातिधर्म को शाश्वत कहा है। इस का अर्थ यह हुआ कि माता-पिता

और बच्चे मिल कर जिस तरह एक कुल बनता है उसी तरह जिन लोगो के बीच में खानपान का व्यवहार होता है और जिन लोगो के बीच विवाह-सम्बन्ध भी बन सकता है उन की एक जाति होती है। कुल और जाति दोनों संस्थाएँ प्राकृतिक याने कुदरत की बनायी हुई हैं। 'कुल' छोटे से छोटा समाज है। अनेक 'कुल' मिल कर जाति बनती है। इस का अर्थ यह हुआ कि जाति एक सम्पूर्ण समाज है। और कुल जाति का एक घटक है, अंश है। एक कुल के अन्दर-अन्दर शादियाँ नही होती। शादी के लिए दूसरे कुल के साथ ही सहयोग करना पडता है। इस लिए 'कुल' एक स्वयपूर्ण समाज नही है। कुल और जाति दोनो 'बॉय-लॉजिकल युनिटस्' हैं। 'जन्मना जाति' इस वचन में यह भाव स्पष्ट होता है।

वर्ण का ऐसा नही है। महाभारत में लिखा है कि प्रारम्भ में वर्ण थे ही नही। सारे समाज का एक ही वर्ण था, (जिस के लिए नाम की आवश्यकता नही थी)। बाद में जब चार वर्ण बनाये गये तब ऋषियो को कहना पडा कि वर्णव्यवस्था नही थी, तब सारा मनुष्य समाज ब्राह्म था।

गीता में भगवान् कहते हैं—"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश। इस वचन की बहुत चर्चा हुई है। वर्ण जन्म से होता है या गुण और कर्म के अनुसार निश्चित होता है—'Varna according to birth' या 'according to worth' इस की चर्चा दीर्घकाल तक चली। ऋषियों ने कहा 'जन्मना जायते शूद्र. संस्कारात् द्विज उच्यते।' कुदरती तौर पर मनुष्य का जन्म होने पर वह असस्कारी शूद्र होता हैं। गुरु के पास रह कर विद्या-सस्कार ग्रहण करने के बाद वह द्विज बनता है। ऐसे दूसरे जन्म के 'पिता होते हैं गुरु और माता होती है सावित्री याने विद्या'। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि गुणकर्म के विभाग के अनुसार मैं ने चातुर्वर्ण्य बनाया, पैदा किया। लोग अर्थ करते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण 'Varna according to wortb' के पक्ष के हैं। दूसरे लोग कहते हैं कि चातुर्वर्ण्य तो मनुष्यकृत नही है, ईश्वरकृत है (मया सृष्टम्)। लेकिन चार वर्ण बनाने में ईश्वर ने उन के गुणकर्म ही सोचे थे। याने 'Varna is according to birth, but was created on the basis of worth' (गुणकर्म)।

वर्ण वश परम्परागत थे ऐसा मानने में हमें कोई ऐतराज़ नही है। हालाँकि एक ही कुल के लोगो के वर्ण भिन्न होने का वर्णन वेद में आता है।

वर्ण वंश-परम्परागत मान कर भी कहना पडता है कि वर्ण की रचना सामाजिक जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओ के अनुसार हुई थी। सस्कारप्राप्त वर्ण तीन—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। और संस्कारविहीन वर्ण एक—शूद्र। चारों मिल कर के सम्पूर्ण समाज होता है। अकेले एक वर्ण का पूर्ण समाज हो नही

सकता। चार अपूर्णांक मिल कर समाज बनता है। इस तरह जाति 'बॉयलॉजिकल युनिट' biological unit थी और है। और वर्ण है 'फक्शनल युनिट' functional unit।

चार वर्णों की रचना होने के बाद अनेक जातियो को मिला कर एक-एक वर्ण बनाया होगा। हम यह भी कह सकते हैं कि जाति का भाव जब प्रधान बनता है तब वर्ण की कल्पना शिथिल होती है। वर्ण को जब प्रधानता मिलती है तब जाति गौण और ढीली बनती है।

भारत में जब प्राचीन काल में बाहर से नये-नये लोग आये तब उन को अलग जातियाँ बनी। उन के साथ बेटी व्यवहार चल नही सकता था। लेकिन जब वे भारतीय समाज में घुल-मिल गये तब उन को किसी-न-किसी वर्ण में ले लिया। राजा लोग क्षत्रिय बने। धर्म का अध्ययन कर के पुरोहित बनने वाले ब्राह्मण वर्ण में आये होगे। वर्ण की प्रधानता के साथ एक वर्ण की सब जातियो में विवाह-सम्बन्धी सहूलियत हो गयी होगी। लेकिन इस का लाभ कितना उठाया ?

मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियो में चार वर्ण और उन के बीच होने वाले अनुलोम-प्रतिलोम विवाह के द्वारा पैदा हुए मिश्र वर्ण का जिक्र आता है। ये सारे मिश्र वर्ण समाजमान्य थे। उन की प्रजा को किसी ने सकर प्रजा नही कहा था। समाजमान्य विवाहो की भिन्न वर्णी प्रजा को सकर प्रजा कहना ग़लत है। गीता का वचन है—स्त्रीषु दुष्टासु (वार्ष्णेय) जायते वर्णसकर। यानी जब स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं, व्यभिचार को प्रवृत्त होती है तब वर्णसकर होता है।

यह हो गयी वर्णव्यवस्था। लेकिन जाति का क्या ?

इतिहासकार कहते हैं—वर्णव्यवस्था का विस्तार स्मृतियो में काफी किया है। तो भी वर्णव्यवस्था कहाँ तक रूढ हुई थी, कहना मुश्किल है। लेकिन जातियाँ तो सनातन काल से चली आ रही हैं। हम चार वर्णों की बात करते हैं। लेकिन स्मृतियो मे 'अन्तरप्रभव' बीच के अनेकानेक वर्णों का वर्णन है। इन वर्णों की भी धीरे-धीरे जातियाँ हो गयी।

जाति का स्वरूप हम ने ऊपर बताया कि जिन कुलो में रोटी-बेटी का व्यवहार मान्य है उन को एक जाति गिनी जाती है। लेकिन ये जातियाँ बनी कैसे ?

जाति के बनने के तत्त्व अनेक हैं। किसान, बढई, जुलाहा, लुहार, सोनार, कुम्भार आदि अलग-अलग पेशे के अनुसार जातियाँ बनती हैं। लेकिन ऐसा भी पाया गया है कि एक ही जाति के लोग भिन्न-भिन्न पेशो में बँटे हुए होते हैं। कई जातियाँ प्रादेशिक होती है। कोकणमें रहने वाले कोकणस्थ, सह्याद्रि के ऊपर 'देश' में रहने वाले देशस्थ, गौड देश में रहने वाले गौड इत्यादि प्रादेशिक

भेद जातियो में हैं। वेद आदि की शाखाओं के कारण भी जातियों के भेद पाये जाते हैं। और कभी-कभी तो लोग स्वेच्छा से एक जाति की अनेक जातियाँ बना लेते हैं। भिन्न-भिन्न जातियों को तोड कर उन में से एक मिश्र जाति बनायी हो, ऐसे उदाहरण हमने कही देखे नही हैं। रस्म-रिवाज़ बदलने के कारण जाति के भेद होते ही हैं।

पुराने जमाने में भिन्न-भिन्न वर्णों के (और जातियों के भी) विवाह होते थे। इन वर्णों में श्रेष्ठ-कनिष्ठका भेद था। ब्राह्मण सब से श्रेष्ठ, बाद में क्षत्रिय बाद में वैश्य और आखिर में शूद्र, ऐसी सीढी मानी जाती थी। पति ऊपर के वर्ण का और पत्नी नीचे के वर्ण की, ऐसे मिश्र विवाह को अनुलोम कहते हैं। इस के विपरीत पत्नी ऊपर के वर्ण की और पति नीचे के वर्ण का होने से उसे प्रतिलोम विवाह कहते थे।

जब वर्णव्यवस्था स्थिर हुई तब अनुलोम विवाह समाज को मान्य थे। प्रतिलोम विवाह नापसन्द थे। लेकिन होते थे तो सही।

जब अनुलोम विवाह मान्य और प्रतिलोम विवाह अमान्य ऐसी बात चली तब निचले वर्गों के लोगो को बुरा लगा होगा कि ये उच्च वर्णीय लोग हमारी लड़कियाँ लेंगे लेकिन अपनी लड़कियाँ हमें देंगे नही। यह कौन पसन्द करेगा ?

फलत. अनुलोम-प्रतिलोम दोनों तरह के विवाह अमान्य किये गये। वर्णान्तर विवाह बन्द हुए। और भिन्न जातियो के बीच विवाह भी होना मुश्किल हो गया होगा।

इस के बाद ही भिन्न-धर्मी लोग भारत में आ कर राज्यकर्ता बने और उन का देशवासियों में घुलमिल जाना मुश्किल हो गया। मुसलमान समाज एक अलग जाति ही बन गया। युरॅप से ईसाई लोग आये। उन की भी जाति अलग बन गयी। स्वधर्मरक्षा के लिए ईरान से जरथुस्त्री लोग आये उन की भी एक पारसी जाति बन गयी।

केवल हिन्दुओं में ही जातियाँ है, ऐसा नहीं। भिन्नधर्मी लोग भी हमारे देश में अपनी-अपनी अलग जाति के बन कर ही रह रहे हैं। (इन इसलामी, ईसाई आदि जातियो में भी अन्दर-अन्दर की उप जातियाँ बन गयी यह बात अलग है। ईसाइयो में, मुसलमानो में और बौद्धों में अनेक जातियाँ पायी जाती हैं। पारसियो में शायद पुरोहित और सामान्य लोग ऐसी दो जातियाँ होंगी।)

भारत में अनेक धर्मों के लोग आये। अनेक पन्थ यहाँ नये निर्मित हुए। लेकिन जाति-संस्था तो शुरू से आज तक चलती आयी ही है। जब ये जातियाँ बनीं तब उन का कुछ अर्थ होगा। लेकिन आज जाति-भेदों का कुछ विशेष अर्थ

नही रहा। इन का अध्ययन कोई नही करता। तो भी जाति-भेद हमारे देश में शुरू से आज तक चला ही आ रहा है।

भारत के ऋषि-मुनियों की वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था में बडी दिलचस्पी थी। क्योंकि वे समाजशास्त्र में प्रवीण थे, सस्कृति-समन्वय चाहते थे। उन के बाद आये सन्त लोग। उन्होने वर्ण और जाति का सीधा विरोध नही किया किन्तु उन की प्रतिष्ठा कम की। उपेक्षा के द्वारा वर्ण और जाति को गौण बनाने का काम सन्तो ने किया। उन के पहले बुद्ध भगवान् और महावीर ने वर्ण और जाति का एक तरह से बडा विरोध किया। इस में इन को काफी सफलता मिली। किन्तु सनातनी समाज ने इन दोनो को एक तरह से वहिष्कृत किया। बाद में बौद्ध और जैनो में भी जाति के तत्त्व आ गये।

यह सब देख कर ही सन्तो ने जाति का न तिरस्कार किया, न पुरस्कार।

जब युरॅपियन लोगो का राज यहाँ हुआ और उन की विद्या यहाँ आयी तब हिन्दू समाज के दोषो की ओर उन का और हमारा ध्यान केन्द्रित हुआ और जाति के विरुद्ध आन्दोलन शुरू हुआ। इस का इतिहास यहाँ देने की जरूरत नही है। ब्राह्म-समाज ने जाति और वर्ण दोनो का विरोध किया। बम्बई के प्रार्थना-समाज ने भी वही किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती के आर्य-समाज ने वर्णों का पुरस्कार किया और जाति को अमान्य किया।

शुरू-शुरू में गान्धीजी जाति-व्यवस्था के विरोधी नही थे। वे उसे सयम का एक साधन मानते थे। बाद में उन्होंने सूत्र चलाया Varna saveth, caste killeth और आखिरी दिनो में भिन्नवर्णी विवाह भी उन्होंने पसन्द किये और उन में प्रतिलोम-अनुलोम का भेद नही रखा।

वैष्णव लोग जैनियो के हाथ का नही खाते। क्योकि वैष्णव जितना परहेज़ करते हैं, उतना जैन नही करते। यह देख कर गान्धीजी ने आश्रमवासियो के लिए यहाँ तक एक दफे नियम बनाया था कि "आश्रमवासी आश्रम के अन्दर हर किसी के हाथ का खा सकते हैं। किन्तु आश्रम के बाहर किसी भी घर पर नही खावें। अपने हाथ से पका कर खावें।" यह नियम चला नही, सो बात अलग। लेकिन गान्धीजी ने ऐसा नियम बनाने की आवश्यकता अनुभव अवश्य की थी।

खान-पान के झगडो को काफ़ी हद तक दूर करने का श्रेय सिखो को है। सन्तो ने भी खान-पान के झगडे की उपेक्षा की।

पश्चिम के गोरे लोगो के आने के बाद उन की विद्या के प्रचार से और उन की टीका-टिप्पणी के प्रभाव से खान-पान के सकुचित नियम टूटने लगे और रेलगाडी का सफर, सरकारी नौकरी के लिए कही भी जा कर रहने की ज़रूरत,

चाय-कॉफ़ी की दूकानें, होटल आदि का प्रबन्ध, ऐसे असंख्य सामाजिक परिवर्तनों के कारण खान-पान का सब पाखण्ड दूर हो गया। लेकिन उस की दृष्टि लोगों के मन से पूरी-पूरी गयी नहीं है।

अब भिन्न जाति के विवाह और भिन्न-धर्मी विवाह भी होने लगे हैं। पहले-पहले ऐसे विवाहों का जबरदस्त विरोध और बहिष्कार होता था। अब यह सारा नरम हो गया है। अन्तर-जातीय विवाह और भिन्न-धर्मी विवाह पुराने समाज को पसन्द तो नहीं हैं लेकिन कोई करे तो समाज उसे सहन कर लेता है।

इस तरह का सुधार अब होता रहेगा। लेकिन जाति-भेद दूर करने की शक्ति ऐसे सुधार में है नहीं। ऐसे अपवादात्मक विवाह हर साल सौ-दो सौ हुए तो जाति-भेद का दोष पाँच सौ बरस में भी दूर नहीं होगा। जाति की पुरानी शुद्धि नहीं टिकेगी और जाति-भेद के झगड़े तो कायम रहेंगे ही। जातियों का संगठन, हरएक जाति के अलग फण्ड और अपनी जाति के विद्यार्थियों के लिए वजीफ़े, ऐसे संकुचित संगठन के कारण जाति-भेद मजबूत हो रहा है। पहले-पहले जातियों का संगठन स्थानिक ही रहता था। हरएक जाति का अखिल भारतीय संगठन बिलकुल नयी ही वस्तु है।

और जब से स्थानिक स्वराज्य से ले कर अखिल भारतीय राजनैतिक स्वराज्य तक हर संगठन में इलेक्शन का सवाल आया है तो वहाँ जाति-भेद का ज़हर उस की बुनियाद तक पहुँच गया है। और जाति-संगठन कभी नहीं था उतना मजबूत होने लगा है। देश के नेता और चुनाव के उम्मीदवार मुँह से जाति-भेद की निन्दा करते हैं लेकिन चुनाव के दिन आये तो जीतने के लिए जाति-निष्ठा की ही शरण जाते हैं।

देश के नवयुवक चर्चा में जाति-भेद का तो क्या धर्म का भी विरोध करते हैं और विचार की उदारता में दुनिया के अग्रगण्य बनते हैं। खान-पान में कोई परहेज़ रहा ही नहीं है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के बारे में भी किसी बन्धन का महत्त्व उन्हें मंजूर नहीं है। लेकिन जब शादी की बात आती है तब उन के सब उदार विचार बाजू पर रह जाते हैं और वे जाति के अन्दर ही शादी करना पसन्द करते हैं।

जैसा कि हम ने कहा है, भिन्न-जाति के विवाहों के लिए अब कोई सजा नहीं होती। ऐसी शादियों का बहिष्कार भी कोई नहीं करता। लेकिन लोगों में अपनी-अपनी जाति का आकर्षण जबरदस्त होता है। राष्ट्रीय एकता, आन्तर-जातीय बन्धुता, न्याय, ईमानदारी सब बातें भूल कर मनुष्य अपनी जाति वालों के प्रति पक्षपात दिखाता ही है। यह मर्ज़ इतना बड़ा है कि देश के सर्वोच्च

नेताओं के प्रति भी जातिगत पक्षपात का आरोप कोई भी विना सकोच कर सकता है और लोग बिना सोचे ऐसे आरोप को सही मानने लगते हैं। देश की स्वातन्त्र्य-निष्ठा, राष्ट्रीय एकता, सास्कृतिक उदारता सब कुछ भले ही खतरे में आ जाय, जाति का आकर्षण और जाति-निष्ठा को छोडने को और तोडने को आदमी तैयार नही होता।

इस में अपवादरूप जवाहरलालजी जैसे, गान्धीजी जैसे चाहे जितने लोगो के उदाहरण हमारे सामने भले ही हो, अपनी-अपनी जाति का आकर्षण कम हुआ दीखता नही। दस-पाँच आन्तर-जातीय विवाह होते रहने से स्थिति तनिक भी सुधरती नही।

ऐसी दु स्थिति के बारे में लोग दिन रात चर्चा करते हैं, रोते भी हैं लेकिन सुधार करने की बात कोई सोचता है न इलाज ढूँढता है।

हम ने देखा है कि इस का इलाज है और वह हमारी सस्कृति के अनुकूल भी है। सिर्फ उसे समझ कर अमल में लाने की हिम्मत चाहिए। इलाज का स्वरूप हम एक वाक्य में ही कहेंगे—'भिन्न जातियो के बीच अगर विवाह हुए तो उस का कोई विरोध न करे' ऐसा फरमान निकालना काफी नही। इस से जाति-निष्ठा टूटेगी नही। जाति-निष्ठा तोडे बिना उस का जहर समाप्त करने का एकमात्र इलाज यह है कि समाज हिम्मत के साथ तय करे कि 'कोई भी विवाह अपनी जाति के अन्दर हो नही सकता। विवाह मात्र भिन्न जाति के साथ ही हो सकता है।'

हमारे ऋषि-मुनियो ने ऐसे ही उपायो से सामाजिक सकुचितता दूर की थी।

पहले उन्होने नियम बनाया कि भाई-बहन का विवाह निन्द्य है, अधर्म्य है, महापाप है। यह नियम सारी दुनिया में मनुष्य जाति के सब वशो ने इतनी दृढता से मान्य किया कि जिन में यौन-सम्बन्ध (स्त्री-पुरुष सम्बन्ध) ढीला है और जो व्यभिचार भी करते हैं ऐसे लोगो में भी भाई-बहन का सम्बन्ध शुद्ध पाया जाता है। सम्बन्ध में इतना सयम मनुष्य जाति ने आत्मसात किया है। शादी अपने परिवार मे नही होती, अपने कुल में नही होती। शादी कुल के बाहर ही होनी चाहिए ऐसा नियम बनाते समय किसी के भी मन में कुल-सकर का डर नही उठा।

हमारे समाज में गोत्र का खयाल अभी भी मौजूद है। शादी करते समय गोत्र को याद करते हैं, क्योकि सनातन नियम है कि शादी अपने गोत्र में हो नही सकती। (यहाँ पर भी किसी ने गोत्र-सकर का डर आगे नही बढाया।)

अब थोडा मध्यकालीन इतिहास देखें। मध्यकाल में जब राजसत्ता मजबूत

नहीं थी, हर एक गाँव को आत्म-रक्षा के लिए संगठित होना पड़ता था, उसी जमाने में हरएक गाँव ने अपनी बस्ती के इर्द-गिर्द क़िले की दीवारें खड़ी की जिन को कोट कहते थे। ऐसे कोटों से गाँवों की सुरक्षा तो बढ़ी। लेकिन समाज का संगठन एक-एक गाँव तक सीमित रहा। गाँव-गाँव के बीच झगड़े होने लगे। मारपीट भी सामान्य-सी हो गयी। दो अखाड़े वाले जिस तरह झगड़े-कुश्ती के लिए तैयार रहते थे, वैसे ही गाँव-गाँव के बीच झगड़ा-बनाना रहना मामूली-सी बात हो गयी।

समाज-हितैषी बूढ़ों ने इस का इलाज किया। उन्होंने कहा कि एक गाँव के अन्दर स्त्री-पुरुष की शादी हो ही नहीं सकती। एक गाँव के लड़के-लड़कियाँ भाई-बहन-से माने जायें। शादी करनी है तो अपना गाँव छोड़ कर किसी दूसरे गाँव के लड़के या लड़की से शादी की जाय। नतीजा यह हुआ कि अगर हमने नज़दीक के गाँव के किसी युवक को मार डाला तो हमारे ही गाँव की ही कोई लड़की विधवा बनेगी। दूसरे को सज़ा देने गये और भुगतना पड़ा अपनों को ही। 'युद्ध का इलाज शादी' यह सूत्र असरकारक मालूम हुआ।

शादी हो तो अपने कुल में नहीं, कुल के बाहर ही। अपने गोत्र में नहीं, परगोत्र में ही, अपने गाँव में नहीं, किसी दूसरे गाँव के साथ ही; यह नियम हमारी संस्कृति के लिए अनुकूल है। उसी नियम को अब व्यापक बना कर समाज के नेताओं को हिम्मत के साथ तय करना चाहिए कि शादी अपनी जाति में नहीं, भिन्न जाति में ही हो सकती है। आज तक हुई सो हुई, आयन्दा के लिए अपनी जाति के अन्दर शादी करना अपराध है, अधर्म्य है ऐसा ही नियम बनाना चाहिए। तब जा कर जाति-भेद के रहते हुए स्वजाति का आकर्षण टूट जायेगा। आदमी जैसे अपने लड़के-लड़कियों को वज़ीफ़े देता है उसी तरह जमाई को भी तो देता है।

ऊपर बताये हुए एक सार्वभौम नियम से जातियों का ऊँच-नीच भाव टूट जायेगा और इस युग के अनुरूप सामाजिक संगठन व्यापक और विराट बनने लगेगा। सारी बात हमारी संस्कृति, हमारी परम्परा और हमारी सामाजिक, धार्मिक धारणा के अनुकूल होने से समाज इसे जल्दी मंज़ूर करेगा। शुरू-शुरू में सनातनी वृत्ति को आघात लगेगा ज़रूर, लेकिन सनातन धर्म विचारणा ही मदद में आयेगी और एक युग का मर्ज शुद्ध रीति से दूर करने का सन्तोष-समाधान हमें प्राप्त होगा। लोगों को समझाना कठिन नहीं होगा। मनवाने में ज़रा देरी लगेगी। विचार धर्मानुकूल है, उस का स्वीकार और प्रचार जल्दी होगा—"धर्मस्य त्वरिता गति।"

(१ अगस्त १९६१)

चाहिए आन्तरजातीय शादीलाल

गान्धी-युग में एकाग्रनिष्ठा से राष्ट्रकार्य करने वाले बहुत से सेवक तैयार हुए और उन्होंने आजन्म सेवाव्रत लिया। ऐसे नैष्ठिक श्रेष्ठ राष्ट्रसेवको में श्री जमनालालजी बजाज का स्थान ऊँचा था। लेकिन उन की एक दूसरी महत्ता थी जो शायद बेजोड यानी अद्वितीय थी। वे राष्ट्रसेवको के सेवक थे और यह सेवा वे विशाल, पारिवारिक भाव से यानी आत्मीयता से करते थे। भारत-भर में अनेक प्रान्तो में राष्ट्रसेवा करने वाली जो असख्य सस्थाएँ थी उन का आत्मीयभाव से निरीक्षण करना और उदारता से उन्हें मदद करना जमनालालजी अपना कर्तव्य समझते थे, लेकिन ऐसी सस्थाएँ चलाने वाले राष्ट्रसेवको की पारिवारिक कठिनाइयो का भी वे खयाल रखते थे। और सब को एक तरह अपने ही कुटुम्बी-जन समझ कर उन के बाल-बच्चो की पढाई का और शादी-ब्याह का ख़याल भी वे रखते थे। सज्जनता, और उदारता के साथ व्यवहारकुशलता भी उन में पूरी मात्रा में होने के कारण वे हर एक युवक और युवती के स्वभाव का और योग्यता का निरीक्षण करते थे और जब देखते थे कि फलानी लडकी के लिए वर के रूप से फलाना लडका अच्छा है, तब दोनो पक्ष के माँ-बाप और अभिभावको के साथ बातचीत कर के विवाह-सम्बन्ध तय कर देते थे। उन की यह प्रवृत्ति देख कर हम लोग कुछ विनोद से और कुछ प्रसन्नता से जमनालालजी को शादीलाल कहते थे। और यह कहते प्रसन्नता होती है कि उन्होंने ऐसी जितनी भी शादियाँ करवायी, सब की सब परस्परानुकूल और सुखी साबित हुई हैं। कभी-कभी नवयुवको से हम कहते भी थे कि "भले आदमी तुम्हारी पढाई पूरी हो चुकी है। अब तुम्हें सेवाक्षेत्र भी मिला है अगर सिर्फ शादी की ही कमी हो तो श्री जमनालालजी के रजिस्टर में अपना नाम दर्ज क्यो नही करवाते?" एक दो लडको ने स्वाभिमान के साथ जवाब दिया, "यह तो आसान रास्ता है। पर क्या हम अपने लिए अपनी सहधर्मचारिणी भी नही ढूँढ सकते? हम असहाय होकर उन की मदद क्यो माँगें? हो सकता है कि पसन्द करने में हमारी भूल हो, लेकिन पुरुषार्थ तो अपना ही होना चाहिए।"

दूसरे किसी ने कहा, "सवाल पुरुषार्थ का नही है। हमारे समाज में लडके-लडकियो के परस्पर परिचय पाने के लिए मौके ही कहाँ मिलते हैं? अनुनय की

प्रथा प्राचीन काल में हमारे देश में भले ही हो। आजकल हमारे समाज में अभी तक वह शिष्टजनमान्य नही हुई है। जब जमनालालजी घटक बनते है तब शादी से पहले परस्पर परिचय का मौक़ा भी हमें देते हैं और हमारी सम्मति के बाद ही आखिरी निर्णय माँ-बाप से करवाते हैं। शादीलाल श्री जमनालालजी का पुण्य स्मरण आज विशेष कारण से हुआ है।

भारत-राष्ट्र की भावनात्मक एकता का खयाल करते और हिन्दू-समाज की शिथिलता का उपाय ढूँढते एक धर्मानुकूल सुधार ध्यान आया। जिस के पीछे ऋषि-मुनियो की प्राचीन परम्परा का बल है। जिस ढंग से हमारे ऋषि-मुनि और धर्मकार सोचते थे उसी का अध्ययन-चिन्तन करने के बाद जो रास्ता सूझा उस का प्रचार पूरे-पूरे धर्मभाव मे और विश्वास मे हम कर रहे हैं।

जिस तरह समाज-हित का व्यापक खयाल कर के हमारे पुरखो ने तय किया कि परस्पर इतर अनुकूलता चाहे जितनी हो भाई-बहन के बीच शादियाँ नही हो सकती, एक परिवार के अन्दर शादियाँ करना बुरा है; स्वगोत्र शादी करना भी धर्म-बाह्य है, उसी तरह हमारे मध्यकालीन पूर्वजों ने नियम बनाया कि एक ही गाँव के लडके-लडकियों को भाई-बहिन की तरह समझना। शादी हो तो अपने गाँव के अन्दर नही, दूसरे गाँव के जोडीदार के साथ। (लाभ स्पष्ट था। जिन दिनो पडोस के गाँव के लोग जमीन के मामले में अथवा नदी के बँटवारे को लेकर आपस में लडाई करते थे उन दिनो लडाई टालने का यही उपाय था कि सामाजिक सम्बन्ध व्यापक बनाया जाये)।

अब वही परम्परा आगे बढा कर हम सुझाते हैं कि किसी को भी शादी करनी हो तो वह अपनी जाति के अन्दर हरगिज न करे। शादी करे तो भिन्न जाति के साथ ही।

मैं जानता हूँ कि भारत-भर की जातिनिष्ठ रूढि हमारी बात सुनते ही घबरा उठेगी। लेकिन मैं यह भी देखता हूँ कि मेरी सूचना आज के जमाने को बिलकुल इष्ट और व्यवहार्य लगती है। लोग मेरे सुझाव की तात्त्विक चर्चा नहीं करते। वे कहते हैं कि 'आप की बात है तो सही है लेकिन यह सब करें कैसे?'

अपनी ही जाति के अन्दर खान-पान का व्यवहार चलता है ऐसे परिवारो में आने-जाने के और परस्पर परिचय करने के मौक़े भी अनेक होते हैं। माँ-बाप और दूसरे रिश्तेदार युवक-युवतियो की शादी की बात सोचते वक़्त यह देखते हैं कि दोनों घर के रस्मरिवाज और संस्कार परस्पर अनुकूल हैं या नही? परस्पर के परिचय के कारण ही यह सम्भव हो सकता है। भिन्न जाति के अन्दर ऐसा नहीं हो सकता।

अगर कोई युवक अपने लिए सहधर्मचारिणी, जीवन-सगिनी ढूँढने के लिए किसी भिन्न जाति के घर में आना-जाना बढा देवे तो दोनो घर के लोग सशंक और अप्रसन्न होगे। कॉलेज का वायुमण्डल हरेक खानदान के लडके-लडकियो को थोडा ही मिलता है? और गाँवो में जाति-जाति के बीच दीवारें ही दीवारें खडी हैं।

जब से मैं ने आन्तरजाति विवाह का प्रचार शुरू किया है कई माँ-बाप और अभिभावक मुझे खत लिखकर सलाह पूछते हैं, सहायता चाहते हैं। नवयुवक भी उन के सामाजिक आदर्श कैसे हैं और परिस्थिति कैसी है इस का जिक्र कर के मुझ से पूछते हैं कि "मेरी सलाह क्या है और किस तरह से मैं मददगार हो सकता हूँ।"

व्यापक और धर्म्य सामाजिक आदर्श नजर के सामने रख कर जो लोग जात्यन्तर विवाह पसन्द करते हैं उन के लिए सिर्फ अखबारो में इश्तहार के जैसी सूचना छपवाने से यह काम हो नही सकता। इस के लिए आन्तरप्रान्तीय और आन्तरजातीय सम्बन्ध में जिन का व्यवहार और अनुभव विशाल है ऐसे प्रतिष्ठित सामाजिक नेता ही यह काम संस्था के रूप में कर सकते है। ऐसी अनेक सस्थाओ की आवश्यकता है। लडका और लडकी दोनो के परिवारो के साथ जिन का घनिष्ठ अथवा काफी परिचय है और जो दोनों उम्मीदवारों के बारे में भी कुछ जानते हैं ऐसों की मदद सदा के लिए अवश्य आवश्यक है।

शुरू-शुरू में यह काम अत्यन्त कठिन मालूम होगा लेकिन प्रयत्न करने से देखते-देखते यह सारी प्रवृत्ति आसान और स्वाभाविक बनेगी। और जिन के मन में आन्तरजातीय विवाह करने का निश्चय ही है उन को भी कई रास्ते सूझ आयेंगे जो स्वाभाविक और समाज-मान्य हो सकते हैं।

अगर ऐसी कोई विशाल प्रवृत्ति चलाने लायक मेरी उम्र और शक्ति होती अथवा ज़रूरी सहायता द्वारा मैं एक संस्था खडी कर सकता तो अवश्यमेव मैं ने प्रारम्भ किया होता। थोडे से आन्तरजातीय विवाह इधर-उधर करवा कर सन्तोष मानने की यह प्रवृत्ति नही है। ऐसे थोडे विवाह हर जगह होते ही हैं और समाज अब पहले की तरह घबडाता भी नही, विरोध नही करता। लेकिन जहाँ एक बाढ की जरूरत है वहाँ इधर-उधर थोडी-सी बूँदो के होने से सन्तोष कैसे हो सकता है? स्वजाति विवाह का ऐसा ज़बरदस्त विरोध हो कि आइन्दा एक भी स्वजाति विवाह समाज-मान्य न हो सके। ऐसा सामाजिक वायुमण्डल बनाने की आवश्यकता है।

हम चाहते हैं कि इस दिशा में प्रयत्न करने वाले अनेक समाज-नेता तैयार

हो जायें और उन का अखिल भारतीय संगठन भी तैयार हो जाय। जब राष्ट्र-व्यापी युगानुकूल कार्य करना है तो उस के लिए काफ़ी पुरुषार्थ भी करना होगा। जो काम शादीलाल श्री जमनालालजी ने अपनी शक्ति भर किया वही सारे राष्ट्र को, सारे समाज को शुरू करना चाहिए।

(१ फ़रवरी १९६६)

भिन्नधर्मी विवाहो का क्या हो ?

हिन्दुओ में प्राचीन काल में भिन्न जातियों के बीच और वर्णों के बीच विवाह होते ही थे। इसलिए तो अनुलोम विवाह और प्रतिलोम विवाह की व्यवस्था करनी पडी। उन का बडा विस्तार स्मृतियों में पाया जाता है। वर्ण और जाति के बीच उच्च-नीच भाव बढने पर आन्तरजातीय-विवाह मुश्किल हो गये। आज समाज-सुधारकों के प्रयत्न से और ज़माने के प्रभाव से जनमानस आन्तरजातीय विवाहों के लिए काफ़ी अनुकूल हो गया है। भिन्न जाति के वर कन्या के विवाह जब कभी होते हैं पहले की तरह हो-हल्ला नहीं होता और सामाजिक बहिष्कार के आन्दोलन भी नहीं चलते।

तो भी भिन्न जातियो के बीच विवाह-सम्बन्ध बहुत ही कम हो सके है। खान-पान के बारे में अब पहले की जैसी कठिनाइयां कम रही हैं। लेकिन आन्तर-जातीय विवाह से उत्पन्न बच्चों की शादियो का सवाल कठिन और टेढा बनेगा यह बिन जरूरी डर सब के मन में रहता है।

बनो और सुधरे हुए खानदानो में शायद कठिनाई कम होगी। वे लोग अब सामाजिक बहिष्कार से भी नही डरते। और उन का बहिष्कार भो अब नही होता। गरीब और रूढिग्रस्त लोगों को ही बहिष्कार से डरना पडता है। आई० सी० एस०, आई० ए० एस० अमलदारों की, और विलायत की यात्रा करने वालो की, एक जाति ही अलग बन रही है। वे तो ऊँचे लोग हैं। उन का बहिष्कार कौन करे ? देव और धर्म ग़रीबों को ही परेशान करते हैं (देवो दुर्बल-घातकः)।

भिन्न जाति के लोगों के बीच खान-पान का व्यवहार कुछ बढा है इस लिए आन्तरजातीय विवाह के लिए लोकमत अनुकूल हुआ है। लेकिन इतने से जाति-भेद की संकीर्णता नहीं टूटती। इस लिए हमने एक नया और क्रान्तिकारी सुझाव लोगो के सामने रखा है कि विवाह तो भिन्नजाति के बीच ही होने

चाहिए। सगोत्र विवाह जिस तरह से निषिद्ध है वैसे ही स्वजातीय विवाह निषिद्ध है ऐसा दृढ़ता से मानना चाहिए।

ऐसा करने से जातियाँ नष्ट नही होगी, टूटेगी भी नही किन्तु उन के बीच विवाह होने के कारण जातियो में समानता आयेगी, वे घुलमिल जायेगी। स्वजातीय विवाह टालने के लिए जाति तो पूछनी ही पडेगी, जैसे आज गोत्र पूछे जाते हैं।

एक नियम स्वीकार करना पडेगा कि शादी होते ही पति की जो जाति होगी वही पत्नी की जाति गिनी जायेगी और बच्चे भी पिता की जाति लेंगे।

यह सारा सुधार हिन्दू जातियो के बीच ही होगा और होना चाहिए, ऐसा हमारा आज का सुझाव है। इस सुझाव के हिसाब से सिक्ख, जैन, बौद्ध आदि जमातें हिन्दू ही गिनी जायेगी। इस में किसी को आपत्ति होने का कारण नही। ये धर्म हिन्दू धर्म की शाखाएँ हैं या स्वतन्त्र हैं इस चर्चा में हम नही उतरेंगे। हम इतना ही कहेंगे कि खान-पान, रहन-सहन और जीवनदृष्टि के ब्योरे में ये सब जातियाँ परस्परानुकूल ही हैं।

अब एक सज्जन लिखते हैं कि "हिन्दू समाज के लिए आप ने अच्छा सुझाव दिया है। इस में हमें कठिनाई नही दीख पडती। आन्तरजातीय विवाह काफी होने के बाद और ऐसे विवाह समाज-मान्य होने के बाद हम स्वजाति विवाह मना करने वाले कानून भी आसानी से बना सकेंगे। अब हम आप से पूछते हैं कि भिन्नधर्मी विवाहो के बारे में आप की क्या राय है? इस में जो कठिनाइयाँ आ सकती हैं उन का विचार आप ने किया है?"

मैं ने विचार तो किया ही है। मेरे पास सवालो के जवाब भी हैं। आज के लिए मैं इतना ही कहूँगा कि भिन्नधर्मी विवाहो का मैं जोरो से पुरस्कार नही करूँगा। मुझे इतने से सन्तोष होगा कि भिन्नधर्मी विवाह होने पर कोई हो-हल्ला न मचाये। दोनो धर्म के समाज की ओर से बहिष्कार आदि सजा करने के प्रयत्न न हों। आखिरकार धर्मान्तिर का आग्रह रखे बिना भिन्नधर्मी विवाह होने चाहिए। आज उन का विरोध न हो और खास पुरस्कार कर के हिन्दू जातियो के मानस को हम छेडे नही।

पत्र-लेखक अनेक सवाल पूछते हैं। पति-पत्नी के बीच धर्म-भेद के कारण मतभेद अथवा झगड़ा हुआ तो उस का इलाज क्या? भिन्नधर्मी विवाहो की सन्तति का धर्म कौन-सा होगा? इत्यादि।

जवाब में मै कहूँगा कि हिन्दू-पारसी, यहूदी, ख्रिस्ती, मुस्लिम, बौद्ध, जैन आदि सब धर्म एक विराट् सनातन विश्वधर्म की शाखाएँ हैं। आज शैव और वैष्णवो

के बीच विवाह होते ही हैं। वैष्णव और शाक्तो के बीच भी सर्वत्र विवाह होते हैं। इस में कोई किसी की उपासना में बाधा नही डालता। जैसे जिस की भक्ति, वैसी उपासना की इजाजत होगी। खानदान के रस्मरिवाज जैसे चलते आये हैं वैसे चलेंगे। अथवा उन में धीरे-धीरे परिवर्तन भी होगे। जहाँ प्रेम है, आत्मीयता है, परस्पर आदर है वहाँ उदारता रहती ही है। एक-दूसरे को सँभालने की वृत्ति होनी ही चाहिए। सवाल या तो उपासना का होगा या खान-पान का। हिन्दुओ के अन्दर इस का जो इलाज होगा वही आन्तर-धर्मीय विवाहो के बीच भी होगा। मैं देखता हूँ कि कई खानदानो में चन्द लोग शाकाहारी और कई लोग मासाहारी होते हैं। ऐसा भेद होते हुए भी खानदान में झगड़ा पैदा नही होता। एक-दूसरे की भावना को और कमज़ोरी को सँभालने की तैयारी होनी ही चाहिए। और ऐसी तैयारी पायी भी जाती है। चर्चा में जो बात कठिन-सी मालूम होती है, व्यवहार में उतनी कठिन नही मालूम होती। अत मेरे जैसे शाकाहारी लोग मासाहारियो का बहिष्कार न करे, उन की निन्दा न करें, उन को पापी न कहें, अपने को श्रेष्ठ न समझे और इतनी मर्यादा सँभाल कर शाकाहार की सुन्दरता का प्रचार करते जायें तो मुझे विश्वास है कि भारत में जो आज है उस से शाकाहार का प्रचार अधिक होगा। आज परस्पर बहिष्कार होते हुए भी मासाहार का प्रचलन बढ रहा है। शाकाहारियो को प्रचार का मौक़ा ही नही मिलता। वे अपने मन में अपनी श्रेष्ठता का अभिमान रख सकते हैं और कलियुग की बलिहारी कह कर अपनी लाचारी का समर्थन भी कर सकते हैं।

अब सवाल आता है, भिन्नधर्मी माँ-बाप के सन्तानो के धर्म का। यह सवाल इतना कठिन नही है। हम लोग अपनी आश्रम की प्रार्थना में सब धर्मों की प्रार्थनाएँ सूक्ष्मरूप में सही एक साथ चलाते हैं। हम आश्रमवासी अपने को एक तरह से सर्वधर्मी मानते हैं क्योकि हमारे मन में सब धर्मों के प्रति एक-सा आदर है। मैं लोगो से कहता हूँ कि जन्म से मैं हिन्दू हूँ। हिन्दू धर्म को न मैं ने छोडा है, न छोडने की जरूरत महसूस करता हूँ। तो भी मैं अपने ढंग का बौद्ध भी हूँ, ईसाई भी हूँ और मुसलमान भी हूँ। नास्तिको की जमातो में भी शरीक होते मुझे कठिनाई नही है। मेरे पास किसी भी किस्म की चोरी नही है। अपनी भूमिका साफ कर के सब के साथ घुलमिल जाते मुझे तनिक भी कठिनाई नही है।

घर के बच्चो को सब धर्मों की जानकारी देनी चाहिए। हरएक धर्म की खूबी बतानी चाहिए। खामी अथवा मर्यादा जैसा भी हम मानें सहानुभूति के साथ वह भी बतानी चाहिए। फिर तो बच्चे हृदय से उदार बनेंगे। सब धर्मों

के प्रति उन में एक-सा आदर रहेगा और धर्म-भेद के कारण सामाजिक जीवन कुण्ठित नही होगा।

हिन्दू धर्म के लिए यह कोई नवीन अथवा कठिन बात नही है। हमारे असख्य अवतार हुए हैं, आगे भी हो सकते हैं। सब धर्म-ग्रन्थ हमारे लिए आदरणीय हैं। किसी समय हमारे धर्म में—यज्ञ में गौ की, घोडे की और बकरे आदि की बलि चढायी जाती थी। शाकाहारी लोग उसे बरदाश्त करते थे। इसी हिन्दू वृत्ति को व्यापक बना कर भारत में बसे हुए सब धर्मों को विराट् धर्म की शाखाएँ मान कर हम सब के साथ मैत्री स्थापित कर सकते हैं। भारत का यह मिशन है और उस के फलीभूत होने का अनुकूल समय है। हम या तो सर्वधर्म समन्वय की तैयारी करते जायँ या वृथा धर्म कलह में फँस कर आत्महत्या की तैयारी करें। वृथा कलह के लिए हमारी सस्कृति का शब्द है, शुष्क-विग्रह। शुष्क-विग्रह का अर्थ होता है, बेमतलब का, नीरस और कोरा झगडा। उसे चलाने में न कोई लाभ है, न हित। उस में दिलचस्पी नही होनी चाहिए।

(१ मार्च १९६६)

विवाह-सस्था और धर्म-सस्कृति

विवाह की प्रथा और उस के नियम दुनिया के सब देशो में, धर्मों में और छोटे-बडे समाजो में पाये जाते हैं। ऐसे नियमो का इतिहास बडा मनोरजक और बोधप्रद होता ही है। कभी-कभी विवाह के नियम और रस्म-रिवाज विचित्र और आश्चर्यकारक होते हैं। लेकिन विवाह के नियम भले-बुरे कैसे भी हो उन का पालन करने में हरएक समाज बहुत ही रूढिग्रस्त और आग्रही होता है। अभी अभी इग्लैंड के एक राजा को रूढि विरुद्ध मनमाना विवाह करने के कारण अपनी राजगद्दी खोनी पडी।

विवाह में अनेक दृष्टियाँ रखी जाती हैं। उन में सामाजिक छोटे-बडे के भेद का खयाल बडा महत्त्व रखता है। हिन्दुओ की स्मृतियो में वर्णान्तर विवाह मान्य थे ही। लेकिन उन दिनो माना गया था कि सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण हैं। बाद में आते हैं क्षत्रिय। उन के बाद अनेकानेक वैश्य जातियाँ थी। और शूद्र तो सब से नीचे थे। उस के नीचे जो चाण्डाल और पतित थे वे तो समाज बाह्य थे। उच्च-नीच भेद की ऐसी समाज-व्यवस्था जब तक सारा समाज स्वीकार करता है

तव तक ही चल सकती है। अगर किसी व्यक्ति ने, खानदान या जाति ने ऐसी व्यवस्था मानने से इनकार किया तो समाज क्या कर सकता है? अन्य देशो में समाज-व्यवस्था को तोड़ने वाले का क़त्ल भी हो सकता है। भारत का समाज इतना असंस्कारी या जगली नही था। हम लोग समाजद्रोही व्यक्ति का अथवा पक्ष का वहिष्कार कर के ही सन्तोष मानते थे।

ब्राह्मण से ले कर शूद्र तक चार वर्गों के समाज में जब उच्च-नीच भेद समाज-मान्य था तव नियम था कि ब्राह्मण चार वर्णों में से किसी भी वर्ण की कन्या के साथ विवाह कर सकता था। क्षत्रिय के लिए ब्राह्मण को छोड़ कर वाक़ी के तीन वर्णों की कन्या से शादी करने का अधिकार था। वैश्य को ब्राह्मण और क्षत्रिय छोड कर वाक़ी के वर्णो की जातियो में विवाह करने की इजाज़त थी। शूद्र की शादी शूद्रो के अन्दर ही हो सकती थी। ऐसी व्यवस्था को अनुलोम विवाह पद्धति कहते थे। निचले वर्ण या जाति के पुरुप का ऊपर के वर्ण या जाति की लड़की के साथ विवाह हुआ तो उसे प्रतिलोम कहते थे। समाज को ऐसे विवाह मान्य नहीं थे। तो भी केवल अगर ऐसे विवाह हुए तो उन्हें तोड़ने की वात कोई करते नहीं थे। ऐसे प्रतिलोम विवाह की प्रजा की सामाजिक स्थिति वहुत हलकी गिनी जाती थी।

अमेरिका में गोरे और काले दोनो रंगो की प्रजा रहती है। इस में अगर गोरे पुरुप के साथ काली स्त्री का सम्वन्ध हुआ तो कालो को उस में ऐतराज़ नहीं था। लेकिन गोरे लोग ऐसे सम्वन्ध की प्रजा को काले समाज में ही ढकेल देते हैं; फिर उस प्रजा की चमडी चाहे जितनी सफेद क्यो न हो। यह हुई अनुलोम विवाह की वात। निग्रो मर्द और गोरी औरत के सम्वन्ध को अमेरिकी प्रजा सहन ही नही करती। ऐसे मर्द को सामाजिक ढंग से मार डालने का रिवाज था जिस का नाम है-लिंचिग। अमेरिका में प्रतिलोम प्रजा शायद ही कहीं देखने को मिलेगी।

भारत में अनुलोम विवाह वहुत हुए। स्मृतिकारो ने उन की तरह-तरह की जातियाँ मुक़र्रर कर दी। उस का विस्तार स्मृतियों में पाया जाता है। इन असख्य जातियो में उच्च-नीच व्यवस्था भी मुक़र्रर की गयी।

लेकिन निचली जातियो में स्वाभिमान जाग्रत हुआ तव अनुलोम-प्रतिलोम दोनो तरह की शादियाँ समाज में अमान्य हो गयी और सैकड़ों जाति वाले हिन्दू समाज में रोटी-व्यवहार और वेटी-व्यवहार वड़े कडे हो गये। उच्च-नीच-भाव का पाप जव समाज में घुसता है तव मानवता ही ग़ायव होती है। समाज अन्धा वनता है और सामाजिक आत्मीयता और विशाल दृढता खो वैठता है।

आहारशुद्धि और बीजशुद्धि का अभिमान ले कर ऊँची जातियो ने अपना अधिकार चलाया। और बाकी की जातियों को सस्कारलोप के नाम से हीन, तुच्छ और दलित बनाया। लेकिन ऐसी दयनीय और कष्ट की हालत में रहने को लोग क्योकर तैयार हो जायें? मुसलमान और ईसाई राज्यकर्ताओ के अन्याय और अत्याचार का समर्थन हम करना नही चाहते। लेकिन इस बात से इनकार हम नही कर सकते कि हिन्दू समाज में इज्जत से और आराम से रहना मुश्किल है ऐसा देख कर, कई जातियाँ, धर्मान्तर कर गयी। तो भी हिन्दू समाज ने उच्च-नीच का भेद आज तक नही छोडा है। मानवमात्र की समानता भारतीय अध्यात्मशास्त्र स्वीकार करता है लेकिन समानता का अमल करने का आग्रह उस ने दिखाया नही। सन्तो ने असमानता का सौम्य ढग से विरोध किया लेकिन समानता का सामाजिक आन्दोलन उन की ओर से नही हुआ।

स्वराज्य का नाम ले कर गान्धीजी ने समानता का प्रचार खूब ज़ोरो से किया। आज भारत का राजनीतिक मानस समानता का स्वीकार करता है। आध्यात्मिक मानस समानता का समर्थन करता है किन्तु सामाजिक मानस पुराने पाप को छोडने को तैयार नही है। अधिकाश जनता मानती है कि छोटे-बडे का भाव और भेद हिन्दू धर्म का प्राण है। रूढिवादी सनातनी विद्वान् इस भाव को और जाति-भेद को वैज्ञानिक मानते हैं। वैज्ञानिक परिभाषा का प्रयोग कर के इस भाव का समर्थन करते हैं। हिन्दू सगठनवादी लोग हिन्दू एकता की बात तो करते हैं किन्तु मानवमात्र की एकता का प्रचार बहुत कम करते हैं। खान-पान के नियम ढीले होने के कारण और सामाजिक-आर्थिक व्यवहार में क्रान्ति होने के कारण जाति-भेद का कोई अर्थ नही रहा है। तो भी शादी-ब्याह में और अपने-पराये के भेद में जाति-भेद मजबूत हो रहा है। और यह दोष जितना हिन्दुओ में है उतना ही मुसलमान और ईसाइयो में पाया जाता है। मुस्लिम, ईसाई, पारसी, यहूदी प्रत्येक स्वयपूर्ण अलग-अलग जातियाँ ही हैं। जाति-भेद के भले-बुरे सब लक्षण इन में पाये जाते हैं।

शुरू शुरू में सुधारकों के आन्दोलन के कारण आन्तरजातीय विवाह हुए। इन में ज्यादा अनुलोम थे, प्रतिलोम कम थे। अब प्रतिलोम विवाह भी होने लगे हैं।

धर्मान्तर-विवाह बहुत ही कम होते हैं। इन के भी अन्दर उच्च-नीच भेद कैसा काम करता है यह देखने लायक है।

मुसलमानो के राज्यकाल में कई क्षत्रियो ने मुसलमानो के राज-घराने में अपनी लडकियों की शादी की। उन की राजनीतिक तरक़्क़ी हुई होगी। लेकिन

ऐसे विवाहों से समाज को बचाने के लिए हिन्दू नेताओं ने धर्मान्तर विवाहों की निन्दा की। और धर्मान्तर विवाहों को प्रतिलोम घोषित किया।

अब जब भारत में स्वराज्य हुआ है और हिन्दू लोग धर्मान्तर विवाह की निन्दा नही करते। तब कई मुसलमान और ईसाई डरने लगे हैं। वे कहते हैं कि हरएक धर्मान्तर विवाह के साथ हिन्दू समाज एक हिन्दूपरिवार को पहले खोता था। क्योंकि धर्मान्तर-विवाह होते ही हिन्दू समाज ऐसे दम्पति को अपने समाज से बाहर फेंक देता था। अब ऐसा नहीं हो रहा है। हिन्दू-मुसलमान अथवा हिन्दू-ईसाई शादी हो कर भी दम्पति हिन्दू रह सकते हैं। इस लिए मिश्रविवाहों से अब हिन्दू कम डरते हैं। मुसलमान और ईसाई थोडे-थोडे डरने लगे हैं। स्पष्ट है कि बीजशुद्धि का सवाल अब नहीं रहा। अपनी श्रेष्ठता का (यानी अनु-लोम-प्रतिलोम भेद का) और समाज-संख्या घटने-बढने का ही सवाल मुख्य हो गया।

समन्वयवादी दृष्टि ऐसी हालत में निराग्रही रहती है। समन्वय कहता है, कि मिश्र विवाह से धर्मान्तर का आग्रह नही होना चाहिए। पति और पत्नी चाहे अपने-अपने धर्म में रहें, इस का विरोध नहीं होना चाहिए। और बच्चों के धर्म को तो उन के बडे बनने पर उन्हीं पर छोड़ देना चाहिए। (और आज कल के बच्चे तो कहेंगे हमें तो सब धर्म प्यारे लगते हैं और आग्रह किसी का नही। भलाई को छोडना नही। प्रगतिशील समाज को नाराज़ करना नहीं, ऐसे ढग से हम रहेंगे। हम अपने को सब धर्म के प्रेमी मानते हैं इससे ज़्यादा सोचने की ज़रूरत नही है।)

हमने देखा कि अफ्रिका में युरोपियन लोग अपने को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। भारतीय हिंदू अफ्रिकन लोगों से बेटी-व्यवहार तो क्या रोटी-व्यवहार भी पसन्द नहीं करते थे। बाद में युरोपियन लोगों की देखा देखी हमारे लोग अफ्रिकनो से घर पर रसोई बनवाने लगे और वे लोग भारतीय भोजन बनाने में अत्यन्त कुशल साबित हुए। बच्चो की सँभाल भी अच्छी तरह कर लेते हैं। चन्द भारतीय मर्दों ने अफ्रिकन स्त्रियों से सम्बन्ध रखा, लेकिन शादियाँ करने के लिए तैयार नही हुए।

जिस तरह अमेरिका में नीग्रो स्त्रियो के साथ गोरे लोग शादी के बिना केवल शारीरिक सम्बन्ध रखें तो भी निग्रो लोग नाराज़ नहीं होते थे। वैसा ही भारतीय लोगो के बारे में अफ्रिका में था। वहाँ की एक सभा में चन्द अफ्रिकन लोगो ने मुझ से पूछा भी कि आप लोग इस तरह सम्बन्ध रखते हैं, तब स्वदेश लौटते वक़्त अपनी इस मिश्र प्रजा को अपनाकर स्वदेश क्यों नहीं ले जाते?

मैंने जो जवाब दिया उस से उन्हें सन्तोष हुआ लेकिन उस का ज़िक्र यहाँ नही करूँगा।

अब अनेक देश धीरे-धीरे स्वतन्त्र होने लगे हैं। अब उन लोगो का स्वमान जागृत हुआ है और स्वार्थ भी। अब वे कहने लगे हैं कि एशियन लोग हमारे यहाँ शादी सम्बन्ध करें, हमें पसन्द नही है। ऐसी शादियाँ हम स्वीकार नही करेंगे। शादी करके अफ्रिकन नागरिकता ढूँढने वालो को कोई खास सहूलियत नही मिलेगी इत्यादि।

अमेरिका में जब अफ्रिकन गुलामो को मुक्ति युद्ध के बाद स्वतन्त्रता मिल गयी तब उन्होने पुरानी गुलामी याद करके गोरो के लिए खेती करना अस्वीकार किया। गोरे स्वय खेती कहाँ तक करें? उन लोगो ने भारत की अँगरेज़ सरकार से मदद लेकर भारत से मज़दूर लोग खेती के लिए मँगवाये। उन की हालत गुलामो की जैसी ही रखी। इन अर्द्ध गुलामो को हम गिरमिटिया कहते थे। इन में से अधिकांश लोग दबी हुई हिन्दूजाति के थे। हिन्दू नेता अपने देश के लोगो को इस तरह गिरमिटिया के तौर पर विदेश भेजने को तैयार हुए। इसलिए हिन्दू-धर्म और सस्कृति के बारे में अफ्रिका और अमेरिका के काले लोगो में (और गोरे लोगो में भी) बहुत तुच्छता का खयाल घर कर बैठा है।

हम ने देखा कि अमेरिका में भारतीय लोग अपने अनाथ बच्चो का पालन स्वयं न कर उन्हें ईसाइयों के सुपुर्द करते हैं। जिन लोगो के मन में ईसाई धर्म के प्रति आदर नही है वैसे हिन्दू लोग अपने समाज के अनाथ बच्चो को ईसाइयो के सुपुर्द करते हैं यह सुन कर मैंने उन के लिए जो लज्जा का अनुभव किया वह कभी भूल नही सकता।

(यहाँ एक बात, भले ही अपवाद रूप हो, लिखे बिना रहा नही जाता। बहुत वर्षों की पुरानी बात है। दक्षिण भारत के एक बहुत विद्वान्, धर्मज्ञ ब्राह्मण सज्जन वैज्ञानिकता की बातें करते थे। मैंने उन से जब जिक्र किया कि भारत के पिछडे हुए हिन्दू हम से ऊब कर ईसाई धर्म स्वीकार करते हैं, तब अपनी वैज्ञानिकता सिद्ध करते वे बोले, अच्छा ही होता है। हमारे समाज का इतना कचरा कम होता है। भले ही ईसाई लोग ऐसा कचरा जुटा लें। उन की वैज्ञानिक दृष्टि स्वराज्य का चिन्तन करने को तैयार नही थी।)

शादियो के बारे में हमारे लोगो के आदर्श समय-समय पर बदले हैं सही। लेकिन उस ज़माने को कट्टरता उन्होने नही छोडी। विवाह-शादी एक ऐसी ज़बर्दस्त सस्था है जिस के सामने सब धर्मों को झुकना पडा है। और सब धर्मों ने इस सस्था मे धार्मिक और अधार्मिक लाभ उठाया है। केवल हिन्दुओ ने लाभ

उठाने का सच्चा रास्ता क्या है इस का चिन्तन न करते हुए सच्चा लाभ खोने का ही रास्ता हमेशा पसन्द किया है। जो हो शादियो का सवाल तभी हल होगा जब हम सब धर्मो के प्रति और सब संस्कृतियों के प्रति (विकृतियों की बात हम नही करते) एक-सी समान इज्जत की नजर रखें और धर्म और शादी का सम्बन्ध बनाये रखने का आग्रह छोड दें।

जब हम लोग आहारशुद्धि और बीजशुद्धि के नाम रोटी-बेटी-व्यवहार में कट्टर थे और दूसरे लोगो को दूर रखते थे तब ऐसी कट्टरता न रखने वालो की उदारता की कदर होती थी। अब जब दुनिया के सब देश के चन्द लोग रोटी-बेटी-व्यवहार में निराग्रही बनने जा रहे हैं। हरेक देश के कट्टर लोग बेटी-व्यवहार के बारे में नाराज हो रहे हैं, लेकिन जमाना उन के साथ नही है।

हिन्दू लोगों का एक ही नियम है, जान-बूझ कर और सोच-विचार कर किसी भी सुधार को स्वीकार नही करना। परिस्थितिवश जो भी भले-बुरे परिवर्तन समाज में आ जाते हैं उन को प्रथम-प्रथम सहन करना, बाद में उन का समर्थन करना और अपनी इस जडता और अबुद्धि का समर्थन करने के लिए कलि-प्रभाव की दलील आगे करना। जडता (इनर्शिया) भी तो एक जीवन धर्म है। चैतन्य का लक्षण उस में न हो। उन्नति के लिए भले ही वह पोषक न हो, लेकिन प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित जीवन जीने की जिन की तैयारी है, वे तो जडता धर्म के वश हो कर ही चलेंगे। ऐसे समाज को धार्मिक या सामाजिक नेताओं की आवश्यकता भी बहुत कम होती है। हर एक आदमी अपना-अपना नेता है ही। पुराना समाजविज्ञान भले ही कहे—"सर्वे यत्र विनेतार राष्ट्र तत् नाशम् आप्नुयात्।"

अब जिद और दुरभिमान छोड कर धर्मरूढि की बात भी परे रख कर विवाह-संस्था के बारे में हम लोगों को मानव कल्याण की दृष्टि से अध्ययनपूर्वक सोचना ही चाहिए।

(१५ नवम्बर १९६६)

गोदान की तरह कन्यादान

प्रदानमपि कन्याया पशुवत् कोऽनुमन्यते ?[1]

हिन्दू संस्कृति में ऐसी चन्द मान्यताएँ हैं जिन के प्रति लोगो में श्रद्धा-आदर

१ भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं "जैसे पशु का दान किया जाता है वैसे कन्या का दान करने के रिवाज को अपनी अनुमति अथवा अनुमोदन कौन देगा?"

अत्यन्त होते हुए भी दोषपूर्ण होने के कारण उन का त्याग ही करना चाहिए। हिन्दू जाति के सामाजिक आदर्श में आवश्यक सुधार किये बिना सामाजिक मानस की कमज़ोरियाँ दूर नही हो सकेंगी। ऐसे दोषो का थोडा-बहुत वर्णन यहाँ करने का विचार है। इन में एक अत्यन्त लोकप्रिय और धर्ममान्य विधि है, कन्यादान की।

हिन्दू समाज कन्यादान का खास बडा पुण्य मानता है। रिवाज़ के अनुसार पिता कन्या को लेकर भावी दामाद से कहता है, कि मैं ने इस कन्या का आज तक पालन-पोषण किया। अब गृहस्थाश्रम चलाने के लिए आप को इस कन्या का दान करता हूँ। इस दान को स्वीकार कर के मुझ पर अनुग्रह कीजिए।

कल्पना ऐसी है कि लडकी का मालिक है पिता। अपनी चीज़ का दान वह चाहे जिस को कर सकता है। इसीलिए तो पुराने रिवाज़ के अनुसार पिता अपनी कन्या को किसी बूढे को भी दे सकता था। और जिस की एक शादी हुई है और घर में जिस की पत्नी और बाल-बच्चे है ऐसे आदमी को भी पिता अपनी कन्या दे सकता था। कन्या की सम्मति लेने का सवाल था ही नही। कन्या तो गरीब गाय, गले में डोरी बाँध कर जिसे सौंप दी उस के घर मे चली जाये।

एक तरफ वेदमन्त्र कन्या को आशीर्वाद देते हैं कि पति के घर पर सम्राज्ञी (रानी) बन कर सास और श्वसुर पर राज्य करो। 'सम्राज्ञी श्वसुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्रूवा भव।' मनु महाराज कहते हैं, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।' जहाँ स्त्रियो की इज्ज़त होती है उसी घर में लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवी-देवता प्रसन्नता से रहते हैं। वहाँ यह भी कहा गया है—

"पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥"

बचपन में लडकी की रक्षा पिता करते हैं। शादी होने पर पति रक्षक बनते हैं और बुढापे में उस को अपने बच्चे के अधीन रहना पडता है। स्त्री के लिए आजादी नही है। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।' यह सारी गडबडी दूर करनी चाहिए और स्त्री-पुरुष की समानता मज़ूर करनी चाहिए। जो भी धार्मिक विधि स्त्री के समान अधिकार में बाधक हो उसे हटाना चाहिए।

हमारे समाज में विवाह विधि का विधान गृह्य-सूत्रों में और स्मृतियो में पाया जाता है। इन के अलावा हरेक समाज में अपने खास भले-बुरे रस्म-रिवाज़ होते हैं। कन्या का विवाह माता-पिता के लिए चिन्ता का विषय होता है। खर्चा अनहद होता है। तरह-तरह के वालिश और आपत्तियोग्य रिवाज भी प्रचलित हैं। ऐसे सारे जगल को दूर कर के शुद्ध-धार्मिक विवाह विधि तैयार

करने का काम गान्धीजी ने मुझे सौंपा। मै ने महाराष्ट्र के वाई (गाव) के एक उत्तम चरित्रवान् विद्वान् संस्कृत पण्डित नारायण शास्त्री मराठे की मदद ली। देश में प्रचलित विवाह-विधि की पुस्तकें मँगवा ली और एक शास्त्रमान्य विधि तैयार की। आश्रम के अन्तेवासी श्री विनोबाभावे नारायण शास्त्री के पास ही संस्कृत सीखे थे। उन से भी मशवरा कर के विवाह विधि निश्चित कर के गान्धी जी को सौंप दी।

कन्यादान की बात मुझे पसन्द नही थी। इसीलिए मैं ने शास्त्रों में भी इस का कोई विकल्प है या नही, ढूंढना शुरू किया। ऐसा विकल्प मुझे मिला, जिसे 'समाश्रय विधि' कहते है। इस विधि में पिता कन्या का दान नहीं करता किन्तु विवाह के लिए पिता की अनुज्ञा लेना जरूरी माना है।

इस समाश्रय विधि में शादी करने का इच्छुक युवक कन्या के पिता के पास जाकर कहता है—धर्म, अर्थ, काम इस त्रिविध पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए मैं गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता हूं। धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति में आप की कन्या का सहारा (समाश्रय) लेने की मेरी इच्छा है।

पिता भावी दामाद की योग्यता की जांच-पड़ताल करके दामाद को अनुज्ञा देने के पहले कहता है कि धर्म, अर्थ और काम के सेवन में इसी के साथ निष्ठा रखने का वचन दे दो और कहो कि इस में कन्या को नही ठगूँगा, इस का द्रोह नहीं करूंगा, अतिचार नही करूंगा, बेवफ़ा नही बनूंगा।

दामाद अपनी ज़िम्मेवारी पहचान कर तीन दफ़े वचन देता है, नातिचरामि, नातिचरामि, नातिचरामि। तब पिता दामाद को कन्या का पाणि-ग्रहण करने की, जीवन साथी के तौर पर स्वीकार करने की अनुज्ञा (इजाज़त) देता है।

कन्यादान और समाश्रय दोनो प्रकार की विधि लिख कर मै ने महात्माजी को दे दी और कहा, कि "मुझे तो कन्यादान का यह तरीका मान्य नही है। समाश्रय विधि अच्छी है।"

गान्धीजी ने दोनो विधियों को देख कर (और दोनो को एक ओर रख कर) अपनी ही एक विधि हिन्दी में लिख कर तैयार की जो गान्धीजी की किताब में दी गयी है।

उस में गान्धीजी हम से भी एक कदम आगे बढ़े हुए पाये जायेंगे।

गान्धीजी की विधि में कन्या के माँ-बाप को कोई स्थान ही नही। एक अच्छा पुरोहित वर और कन्या को विवाह सम्बन्ध का महत्त्व और उस की पवित्रता समझाता है और दोनों से एक साथ प्रतिज्ञा करवाता है। इस में पति-पत्नी की समानता का स्वीकार दोनो ओर से किया जाता है।

वर और कन्या दोनो की प्रतिज्ञा सुनने के बाद पुरोहित उपस्थित समाज के सामने घोषित करता है कि इन दोनों को विवाह के बन्धन में बांध देता हूँ। तब समाज के प्रतिनिधि—उपस्थित सज्जन इस विवाह को अपनी मान्यता देते हैं।

अब हमारी सिफारिश है कि कन्यादान का रिवाज छोड कर लोग विवाह के समय या तो समाश्रय विधि से विवाह करावें, अथवा महात्मा-प्रणीत विवाह विधि को मान्य करें।

गान्धीजी की विधि में नीचे की बातें स्पष्ट रूप से आती हैं।

पति-पत्नी स्वस्थ चित्त होकर समाज धर्म का स्वीकार कर समझ लें कि गृहस्थाश्रम केवल विषय सुख के लिए और भोग के लिए नही है। पति-पत्नी धर्मभाव से, त्यागभाव से और सेवाभाव से उस में प्रवेश करें। दोनो एक-दूसरे के सेवाकार्य में विक्षेप न डाले। लेकिन एक-दूसरे की मदद करे। एक-दूसरे के प्रति मन, वचन, कर्म से निष्ठावान् रहे। अस्पृश्य माने जाने वाले लोगो के साथ रोटी-बेटी व्यवहार को विहित मानें। स्त्री-पुरुष के समान अधिकार का स्वीकार करें। दम्पती (पति-पत्नी) के बीच मित्र का सम्बन्ध रहे न कि दास-दासी का।

एकपतिव्रत और एकपत्नीव्रत इस में आ ही जाता है। ऊपर जो समाज धर्म का जिक्र आया है उस में सयम, सफाई, भूमि सेवा, जलाशय सेवा, वनस्पति सेवा, गो सेवा और धार्मिक विद्याध्ययन सप्त-पदी के स्थान आ जाते हैं।

यह भी ध्यान में रखने की बात है कि गान्धीजी की विवाह विधि में जातिभेद, वर्णभेद और धर्मभेद बीच में नही आते।

हिन्दू धर्म की यह भूमिका नही है कि हमारा धर्म ही सच्चा है और बाकी के गलत हैं। सब धर्मों के प्रति सद्भाव रख कर हिन्दू धर्म ने सब धर्मों का एक विश्व-कुटुम्ब माना है। इसलिए दर्शनभेद, धर्मभेद, पन्थभेद शादी को नही रोकते। शादी करने वाले स्त्री-पुरुष इतना जरूर देख लें कि एक-दूसरे का रहन-सहन, धन कमाने का, और जीवन का आदर्श परस्पर अनुकूल है या नही।

(१ फरवरी १९६६)



स्त्री-जीवन और क्रान्ति

भविष्य काल उन का है

परिस्थिति की कठोर परीक्षा में से निकला हुआ एक वर्ग हमारे बीच रहता है। आज लोग उसे 'अबला' के नाम से पहचानते हैं। लेकिन एक समय ऐसा जरूर आने वाला है, जब संसार को यह महसूस हुए बिना नहीं रहेगा कि आज की अबला भविष्यकाल की शक्तिस्वरूपिणी है। उस ने आज तक बहुत कुछ तकलीफ़ें सह कर सहानुभूति पायी है। जीवन-कलह से कुछ हद तक मुक्त रह कर उस ने कोमल भावनाओं का विकास कर लिया है। 'नम्र बन कर साम्राज्य भोगने की' कला उस को साध्य हुई है। भविष्य काल जरूर उसी का है।

किन्तु, स्त्रियों की तपश्चर्या अभी अपूर्ण है। उन की दृष्टि संकुचित है। प्रेम सम्बन्ध का क्षेत्र भी संकुचित है। कुछ हद तक जीवन पराधीन और अति सहने की वजह से उन की वृत्तियाँ कुछ विकृत भी हुई हैं। इस हक़ीक़त की ओर हमें आँखें नहीं मूँदना है। माता की हैसियत से उन का स्थान शिक्षिकाओं के समान है। लेकिन इस स्थान में वे अभी तक अधिक चमकती हुई नहीं दिखाई दे रही हैं। भगिनी की हैसियत से पुरुषों में कोमल तेजस्विता और पवित्र निष्ठा पैदा करने का काम उन्होंने अब तक हाथ में नहीं लिया है। स्त्री की हैसियत से सहधर्मिणी के स्थान पर वे अभी तक विराजमान नहीं हुई हैं। और कन्या की हैसियत से उन के द्वारा परम-मंगला, चितिस्वरूपिणी आदिशक्ति का भी दर्शन हमें नहीं हो रहा है।

यह सब करने के लिए उन्हें नयी दीक्षा लेनी चाहिए। वह खुद दीक्षा ले और संसार को शीतल त्याग का, उत्साहयुक्त आत्मबलिदान का पाठ दें। भविष्य काल उन का ही है।

(दिसम्बर १९५३)

स्त्री का स्थान

हिन्दू कानून में परिवर्तन हो रहा है। इस में ज्यादातर कोई नया परिवर्तन नही है। हिन्दू-कानून में समय-समय पर जो परिवर्तन हो चुका है उसी की एक सुलभ सहिता बनाने के लिए हिन्दू कोड बिल बनाया गया है। एकपत्नीव्रत और एक-पतिव्रत का सुधार महत्त्वपूर्ण है। जो समाज के नेताओ की तरफ से क़रीब सौ वर्ष हुए पुरस्कृत होता आया है। हिन्दू-कुटुम्ब में पुत्र और पुत्री दोनो के अधिकार समान हो, यह भी उल्लेखनीय सुधार है।

जब कभी ऐसे सुधार की बात आती है तब रूढिवादी होहल्ला मचाते हैं कि हिन्दू-धर्म और हिन्दू सस्कृति पर कुठाराघात हो रहा है। सुधारवादी लोग इस का जवाब तो देते हैं, लेकिन डर है कि दोनो पक्ष के लोग समाज-धारणा के मूलभूत सिद्धान्त क्या हैं और क्या होने चाहिए इस का आमूलाग्र विचार नही करते।

कुटुम्ब और समाज में स्त्री का स्थान क्या हो—यह सवाल केवल हिन्दुओ के लिए नही, केवल भारत वासियो के लिए नही, किन्तु समस्त मानवजाति के अन्तर्गत जितने भी भिन्न-भिन्न समाज हैं उन सब के लिए अत्यन्त महत्त्व का है।

स्त्री-पुरुष मिल कर के कुटुम्ब होता है। उन के सहयोग से ही प्रजोत्पत्ति होती है। बच्चों को माँ से केवल नौ महीने की गर्भगत परवरिश ही नही, केवल दूध का आहार ही नही, किन्तु जीवन के अत्यन्त महत्त्व के सस्कार भी मिलते हैं। सन्तान-उत्पत्ति से लेकर समाज-धारणा तक सब प्रवृत्तियो में स्त्री का हिस्सा पुरुपो से तनिक भी कम नही है, अधिक ही होगा। ऐसा होते हुए भी व्यवहार ने, कानून ने, धर्मशास्त्र ने और मोक्ष शास्त्र ने भी स्त्रीजाति का स्थान गौण बनाया था। फलत स्त्रीजाति को हर तरह के अन्याय और कठिनाइयाँ सहन करनी पडी हैं और स्त्रीजाति की ऐसी दुःस्थिति के कारण मानव-जाति के हर एक समाज को भी नुकसान पहुँचा है। इस लिए कुटुम्ब में और समाज में स्त्रियों का स्थान और अधिकार कैसा होना चाहिए, इस बारे में अब नये सिरे से सोचने का अवसर आया है।

वेदान्त कहता है कि स्त्री-पुरुष दोनो के हृदय में एक ही आत्मा का वास है। आत्मिक दृष्टि से देखा जाये तो दोनो में तनिक भी भेद नही है।

हृदय की दृष्टि से—भावनाओं की उत्कटता की दृष्टि से देखा जाये तो स्त्रियों का विकास पुरुषों की अपेक्षा अधिक हुआ है।

मानव-कल्याण के चिन्तन की दृष्टि से दोनों के बीच हम तुलना नहीं कर सकते। इस लिए कि व्यापक दृष्टि से सोचने का मौक़ा ही स्त्री-जाति को कम मिला है। लेकिन जब-जब कुछ मौक़ा मिला है तब स्त्री-जाति ने सर्वहित की दृष्टि ही प्रधान रखी है।

भारत का पिछले सौ वर्ष का इतिहास हम देखें तो जातिवाद और सम्प्रदाय-वाद का जहर स्त्रियों में कम पाया गया है। कुछ भी हो, हमारे राष्ट्र ने अब निश्चय किया है कि स्त्री और पुरुष का दरजा हर बात में समान होना चाहिए।

पैतृक सम्पत्ति का कुछ हिस्सा अगर लड़की ले जायेगी तो हर एक बहू अपने पिता का कुछ हिस्सा अपने पति के यहाँ भी ले आयेगी।

स्त्रियों के सिर पर दो विशेष भार हैं—गर्भधारण का और बच्चों की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक परवरिश के लिए घर चलाने का। गृहस्थाश्रम का आधार ही पुरुष की अपेक्षा स्त्री पर अधिक है।

अगर श्रम-विभाग का तत्त्व माना जाये तो कमाने का सर्वाधिकार भले ही पुरुष अपने हाथ में रखे, किन्तु घर की सम्पत्ति को सँभालने का और गृहस्था-श्रम के आदर्शों के अनुसार कौटुम्बिक सम्पत्ति को व्यय करने का अधिकार स्त्रियों का होना चाहिए।

अगर लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध अलग करने को सोचा जाये तो लड़कियों के अभ्यास-क्रम में हिसाब-किताब लिखने का और वार्षिक अन्दाज़-पत्रक (बजट) बनाने का विषय उस में जरूर होना चाहिए। कुटुम्ब-व्यवस्था सुन्दर ढंग से चलाने का शास्त्र केवल शोभा की दृष्टि से नहीं, लेकिन कुटुम्ब के और समाज के विकास की दृष्टि से सिखाना चाहिए।

समाज-रचना के मूलभूत सिद्धान्त और राज्यतन्त्र के बुनियादी सिद्धान्त भी लड़कियों को आवश्यक रूप से पढ़ाने चाहिए। व्यक्तिगत तथा सामाजिक मानस-शास्त्र भी स्त्री-शिक्षा का एक आवश्यक अंग हो।

बच्चों की परवरिश के साथ आरोग्य-शास्त्र भी लड़कियों के शिक्षा-क्रम में रहना चाहिए।

डर बताया जाता है कि अगर स्त्रियों को पुरुषों के समान पूरी-पूरी शिक्षा दी जाये, उन्हें पैतृक सम्पत्ति का समान-अधिकार मिल जाये और साथ-साथ विवाह-विच्छेद और पुनर्विवाह का रास्ता आसान किया जाये तो विवाह-संस्था

ढीली हो जायेगी, सामाजिक सद्गुणो का अच्छा विकास नही होगा और सस्कृति खतरे में पड जायेगी।

यह डर व्यर्थ है। मनुष्य-स्वभाव में जो अच्छे तत्त्व दृढमूल हैं उन के प्रति जिन के मन में नास्तिकता है वे ही ऐसा डर मन में ला सकते है।

पूर्ण स्वातन्त्र्य के साथ जो सद्गुण निभ सकने हैं वे ही सच्चे सद्गुण हैं। ज़बरदस्ती लादे हुए सद्गुण मनुष्य के विकास में मदद नही कर सकते।

मानव-जाति ने आज तक जो सास्कृतिक विकास किया है वह स्वतन्त्रता के वायुमण्डल में ही किया है।

इस लिए समाज में स्त्रियो का अधिकार पुरुषो से तनिक भी कम नही होना चाहिए। अगर भेद करना ही है तो स्त्रियो को हम कुछ ज्यादा अधिकार दे सकते हैं, क्योकि मानवता का द्रोह पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो ने कम किया है।

स्त्रियो की जो कमज़ोरियाँ बतायी जाती हैं, वे सही भी हो तब भी विकास के लिए पूरा अवकाश मिलते ही वे आसानी से दूर हो जायेंगी। स्त्रियो के जो दोष या कमजोरियाँ बतायी जाती हैं उन में से एक भी स्वभावगत नही है। परिस्थिति के कारण ही वे दोप आते है। और ऐसे दोष वैसी परिस्थितियो में पुरुषो में कम नही आते।

(दिसम्बर, १९५५)

स्त्री जाति का पिछड़ापन

भारत सरकार ने एक कमीशन नियुक्त कर के उसे आदेश दिया कि हरिजन (अछूत) और गिरिजन (पहाडी और दूसरे आदिवासी) के अलावा दूसरी कौन-कौन-सी जातियाँ या वर्ग शिक्षा की दृष्टि से और सामाजिक हैसियत से पिछडी हुई मानी जायें। उस का कुछ मानदण्ड बनाया जाये और ऐसी जातियो की और वर्गों की एक फेहरिस्त बनायी जाये। इस कमिशन की नियुक्ति के पहले भिन्न-भिन्न राज्यो की सरकारो की मदद से भारत सरकार ने अपनी एक कामचलाऊ फेहरिस्त प्रकाशित की ही थी और उस के मुताबिक उन जातियो को मदद देना शुरू भी किया था जो आज भी चालू है। यह फेहरिस्त जाति के आधार पर बनायी हुई है। स्वाभाविक था कि कमीशन ने अपनी फेहरिस्त भी जाति के आधार पर बनायी।

लेकिन भारत सरकार को और कांग्रेस को जातिभेद मिटाना है। इस लिए भारत सरकार ने चाहा था कि कमीशन अपनी फ़ेहरिस्त जाति के आधार पर न बनाये। आर्थिक आधार पर फ़ेहरिस्त न बनाने का भी शुरू से आदेश था। जैसा हो सका कमिशन ने अपनी रिपोर्ट दे दी। और फ़ेहरिस्त भी बनाकर दे दी। फ़ेहरिस्त में अनेक जातियों के नाम दिये हैं। लेकिन उन में स्त्रीजाति का शुमार नहीं किया है। सिर्फ़ अपनी रिपोर्ट में कमिशन ने कहा है कि स्त्री जाति को पिछड़ी हुई समझ कर उसे इस तरह मदद और प्रोत्साहन देना चाहिए।

कमिशन के अध्यक्ष की हैसियत से मैं ने कुछ सुझाव पेश किये हैं और पिछडे और न पिछडे की पहचान के लिए कुछ सिद्धान्त बताये हैं। उस में भी मैंने बताया है कि नारी जाति को पिछडा वर्ग समझना चाहिए और उन में से जिन की माली हालत खराब है उन्हें खास मदद देनी चाहिए।

भारत सरकार ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि हम ने स्त्रीजाति को पिछडे वर्ग में शुमार किया है। यह तो ठीक, लेकिन मेरे परिचय की दो महिलाओं ने, जो मेरे लिए लड़की के समान हैं मेरे पास शिकायत की है कि, 'काकासाहब, आपने हम लोगों को पिछड़े वर्ग में शुमार किया। लोगों में हमारी हँसी होती है।' एक ने कहा कि, 'अच्छा, पिछडे वर्ग में शुमार होकर हमें कोई अच्छी मदद मिले तो ग़नीमत।'

इस तरह जब स्त्री जाति की ओर से ही आश्चर्य प्रकट हो रहा है तब मुझे अपनी दृष्टि देश के सामने फिर से रखनी चाहिए।

जब मैं स्त्रीजाति का विचार करता हूँ तब औरों की तरह मेरे मन में केवल मध्यम वर्ग की महिलाएँ नहीं आतीं, जिन की माली हालत अच्छी है। जो कुछ पढ़ी-लिखी भी हैं। अपने बच्चों को अच्छे संस्कार देती हैं। बडी खूबी से अपने-अपने घर चलाती हैं और समाजों की शोभा बढाती हैं। ऐसों की संख्या है कितनी? और क्या इस छोटे से वर्ग में भी कुछ-न-कुछ पिछडापन नहीं है? पार्लियामेंट में ही देखिए। जहाँ प्रजा के सात-आठ सौ नुमाइंदे बैठते हैं, वहाँ स्त्रियों की संख्या कितनी है? लोक-संख्या के अनुपात से देखा जाय तो स्त्रियों की संख्या कम से-कम आधी होनी ही चाहिए। आज उन की संख्या फ़ीसदी दस की भी नहीं है। जिस तरह हरिजन, गिरिजन और कुछ अल्पसंख्यक वर्ग की खास चिन्ता रख कर उन्हें पार्लियमेंट में स्थान दिया जाता है उसी तरह अब की बार कांग्रेस ने निश्चय किया है कि अगले चुनाव में जहाँ तक हो सके, स्त्रियों को अधिक स्थान दिये जायें। श्री जवाहरलालजी ने जब इस बात की ताईद की तब हँसते हुए उन्होंने कहा कि शुरू शुरू में स्त्री-सदस्याएँ झगडा करेंगी,

बिगड बैठेंगी। वह सब हमें बरदाश्त करना होगा। आगे जाकर परिस्थिति सुधर जायेगी।

इस से यही साबित होता है कि उच्चवर्गीय पढी हुई स्त्रियाँ भी चन्द बातो में पिछडी हुई ही है।

हरिजनो को पिछडी हुई जाति कहते वक्त हम जानते हैं कि उन की जाति में भी बडे-बडे सन्त हुए है और आज डॉ० अम्बेडकर और जगजीवनराम जैसे राष्ट्रनेता उस जाति में है। मुट्ठी भर लोगो की प्रगति पर से हम किसी जाति को उन्नत जाति नही कह सकते।

भारत की जनगणना की पचास साल की रिपोर्टें देख लीजिए और शिक्षा का प्रमाण पुरुषो में कितना है और स्त्रियो में कितना है इसे देख लीजिए। घर चलाना, मजदूरी करना, बीमारो की सेवा करना और गाना-बजाना इतनी बातों में स्त्रियाँ पुरुषो की बराबरी कर सकती हैं। लेकिन इस में भी स्त्री जाति अगर पिछडी हुई नही होती तो समान काम के लिए उन्हें पुरुषो से कम स्वीकृति क्यो मिलती है? घर के कर्ता पुरुष के मर जाने पर उस की विधवा की और घर की दूसरी स्त्रियो की हालत कैसी होती है इस का खयाल अगर किया जाये तो स्त्रियो का पिछडापन सिद्ध करने के लिए दूसरा सबूत नही देना पडेगा।

जिन जातियों का पिछडापन सब लोगो ने मान्य किया है उन की स्त्रियाँ पिछडी हुई हैं ही। लेकिन जो जातियाँ पिछडी हुई नही हैं उन में भी स्त्रियो की हालत स्त्री होने के कारण ही बहुत बुरी होती है।

दर्द की बात यह है कि उच्च वर्ण की स्त्रियाँ जब स्त्रियो की बात सोचती हैं तब अपने वर्ग के बाहर की स्त्रियो का सोचती ही नही।

कुदरत ने ही जिन को अलग जाति बनाया उन का एक जाति होना स्वय सिद्ध है। अगर सारी स्त्रीजाति का एकजाति होना हम मजूर करें तो हम कैसे कह सकते हैं कि यह जाति पिछडी हुई नही है?

सस्कृत नाटको मे देखिए। राजा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, आदि सब सस्कारी लोग सस्कृत में बोलते हैं। शूद्र, धीवर, शिकारी आदि पिछडी हुई जातियाँ और स्त्रीजाति प्राकृत में बोलती हैं। फिर वह सीता या शकुन्तला ही क्यो न हो!

वेदो में और उपनिषद् काल में स्त्रियाँ पिछडी हुई नही थी। वे सस्कृत में ही बोलती थी।

वेदकाल में स्त्रियो का उपनयन होता था। बाद मे वह बन्द हो गया। उन का लिखना-पढना भी रुक गया। धर्म विधि करने का उन का अधिकार भी नहीं रहा। मनु ने तो जाहिर ही कर दिया—'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' स्त्री को

पुरुष की आश्रिता बनाया गया। सती की प्रथा और जौहर की प्रथा भी इसी बात का सबूत है।

जिस तरह जानवर पर हम चोरी का इल्जाम नही लगाते उसी तरह मध्यकाल में स्त्री को अपराधी नहीं मानते थे। स्त्रियो का पिछडापन स्वयंसिद्ध है। इस के लिए ऐतिहासिक सबूत देकर इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नही है। गान्धीजी ने सही कहा था कि स्त्रियों को पिछडी हालत में रख कर हिन्दू समाज ने लकवा मोल लिया है।

हमारी प्रार्थना इतनी ही है कि सारे देश में स्त्रियो की हालत जल्दी से जल्दी सुधारने की आवश्यकता है। राष्ट्र की शक्ति का विकास नही होने देना यह कोई बुद्धिमानी का लक्षण नही है। हरिजन, गिरिजन के साथ स्त्रीजन का सवाल भी राष्ट्रीय सवाल बना कर उस का हल राष्ट्रीय पैमाने पर करना चाहिए।

लिखी-पढी हुई और सस्कारी स्त्रियों को चाहिए कि वे अपने को विराट् स्त्री-समाज से अलग न मान कर, अलग न रह कर सब की उन्नति के लिए कोशिश करें और उन का कोई हितचिन्तक स्त्रीजाति को पिछडी जातियो में सम्मिलित करें तो उस का बुरा न मानें।

(दिसम्बर १९५६)

स्त्री-जीवन और क्रान्ति

संस्कृत में जो अनेकानेक भक्तिप्रधान स्तोत्र हैं उन में सब से सुन्दर और लोकप्रिय है मुकुन्दमाला। भाषा, भाव और मनोहर वृत्तों की विविधता—सब कुछ अच्छा है। उस में राजा कुलशेखर एक जगह कहता है—"भगवन्! जहाँ लोगो को खाने-पीने को ठीक से नही मिलता और लोगो का जीवन सुरक्षित भी नही, ऐसे कुदेश में मेरा जन्म न हो। मेरे मन में कुभाव न हो। मुझ में मूर्खत्व न हो।" ऐसी प्रार्थना के आगे कहता है, "मा मे स्त्रीत्वम्। स्त्री का जन्म मुझे न हो। हर एक जन्म में मैं विष्णु-भक्त ही बनूँ।" इस भक्त को, वह विष्णुभक्त भले बने किन्तु, इस स्त्री जन्म का इतना डर क्यो रहा?

कहते हैं इस्लाम में कहा है "स्त्री जाति के लिए उद्धार नही है।" पुराने ईसाई धर्म में भी ऐसी ही भावना है।

बुद्ध भगवान् को जन्म देते ही उन की माँ की मृत्यु हुई। उन की मौसी ने ही

बालक गौतम का पालन-पोषण किया। बाद में जब बुद्ध भगवान् धर्म का उपदेश देते देश में घूमने लगे और हज़ारो नवयुवक—राजपुत्र से लेकर नाई तक—उन से दीक्षा लेकर निर्वाण की साधना करने लगे, तब वही पवित्र हेतु मन में रख कर कई राजकन्याओ के साथ बुद्ध भगवान् की मौसी महा प्रजापति उन के पास दीक्षा मांगने आयी। तथागत बुद्ध भगवान् ने स्त्रियो को दीक्षा देने से इनकार किया। उन्होने बार-बार याचना की लेकिन परम-कारुणिक, धर्मराज बुद्ध का चित्त पसोजा नही। तब बुद्ध भगवान् के प्रिय शिष्य आनन्द ने वही प्रार्थना फिर से की। सफलता न मिली। तब आनन्द ने पूछा, "क्या, तथागत की राय में स्त्रियो के लिए मोक्ष नही है ? वे निर्वाण की अधिकारिणी नही है ?" बुद्ध भगवान् को कहना पडा, "ऐसा तो नही है। उन को भी पूरा अधिकार है। तुम्हारा इतना आग्रह है तो, चलो मै इन को दीक्षा देता हूँ। लेकिन याद रखो, कि मेरा धर्म अगर हज़ार बरस टिकता तो स्त्रियो को भिक्षुसघ में स्थान देने से वह पांच सौ बरस ही टिकेगा। मै उन्हे सघ में तो लेता हूँ लेकिन उन के लिए कडे नियम बनाऊँगा। और सघ मे ज्येष्ठ से ज्येष्ठ भिक्षुणी का स्थान नये से नये कच्चे पुरुष भिक्षु से भी नीचा रहेगा।" बुद्ध भगवान् ने इस तरह स्त्रियो को सघ में लिया। कई भिक्षुणियो की कीर्ति आज तक हम सुनते हैं। निर्वाणप्राप्ति के बाद उन के मुँह से जो धन्योद्गार निकले वे थेरीगाथा में ग्रथित हैं। लेकिन आज सिलोन आदि देशो में भिक्षुणीसघ नही है।

स्त्री जाति के प्रति इन धर्मात्माओ का इतना हीनभाव क्यो ? कोई कहता है कि स्त्री जाति के स्वभाव में मोक्ष का माद्दा नही है।

पुराने लोगो की बात छोड दीजिए। वन्दे मातरम् का गीत बनाने वाले बाबू वकिमचन्द्र तो आधुनिक बगाली, साहित्य के एक शिरोमणि! उन के किसी उपन्यास में आता है—"मामूली व्यवहारधर्म के पालन में स्त्री पुरुष की सहधर्मचारिणी है तो सही, किन्तु सर्वोच्च धर्म में, मोक्षधर्म में वह विघ्नरूप ही है।" तो क्या स्त्री सचमुच निम्नकोटि का प्राणी है, जो थोडे अपवादो को छोड दें तो, सर्वोच्च आदर्श तक उठ नही सकता ?

कई बुजुर्ग कहते है कि "स्त्री-दाक्षिण्य के इन दिनो में साफ-साफ़ कहना आसान नही है, लेकिन अनुभव तो कहता है कि दुनिया में कही भी देखे, स्त्री-स्वभाव में दुनियादारी ही विशेष है। स्त्री अपने कौटुम्बिक क्षेत्र के बाहर देख नही सकती। दुनिया के उन्नत, अवनत किसी भी समाज की ओर देखिए, बुद्धिमत्ता और नेतृत्व पुरुषो का ही है।"

मै ने इस जवाब पर खूब सोचा। उन की बात कुछ हद तक सही है, किन्तु

दिल मानने को तैयार नही होता कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की योग्यता निसर्गत कुछ कम है। हम ने देखा कि कुदरत ने स्त्री जाति को माता की पदवी दी है, बच्चों को जन्म देने का और उन की परवरिश करने का भार उस पर रखा है और इसीलिए कई सर्वोच्च सद्गुण स्त्रियो के लिए सहज हैं। मनुष्य को छोड कर बाकी के प्राणियो में बच्चो की रक्षा के लिए लड़ने का, जुनून (जोश) भी मादा में अधिक है।

लेकिन मनुष्य रहा बुद्धिमान् प्राणी। उस की सामाजिकता विशेष ढग की रही। माता ने देखा कि अपने बच्चो को, और प्राणियो की तरह केवल माता से सस्कार मिलें इतना पर्याप्त नही है। बच्चो को पिता का सहवास भी काफ़ी समय तक जरूरी है। माता ने बच्चो के हित पुरुषो की खुशामद कर के उन्हें अपने साथ रखा और परिवार बना कर उस में अपने लिए गौण स्थान मंजूर किया। स्त्री ने अपने इस मातृत्व क कारण ही पुरुष को प्रधान स्थान दिया।

प्राचीनकाल का इतिहास देखते मालूम होता है कि किसी समय दुनिया में कहीं-कही स्त्री-प्रधान समाज-व्यवस्था भी थी। बच्चे माता के नाम से पहचाने जाते थे। स्त्रियां राज्य भी करती थी। और युद्ध मे लडती भी थी। लेकिन स्त्रीप्रधान समाजव्यवस्था टिक न सकी। बच्चो की परवरिश का अपना मातृधर्म सँभालने के लिए स्त्री ने बहुत कुछ त्याग किया। उस के साथ समाज का नेतृत्व पुरुषो को दे कर वह अनुयायी बनने को भी तैयार हुई।

स्त्रियो ने समाज का नेतृत्व छोडा, उस के साथ युद्ध करने की बर्बरता भी छोड़ दी। नयी पीढी को जन्म देनेवाली और अपने सीने का दूध पिलाने वाली स्त्री मनुष्य की हत्या करने के लिए तैयार कैसे हो सके?

पुरुष ने स्त्री को आश्रित बनाया। घर के बाहर के क्षेत्र से उसे वचित रखा। सर्वाङ्गीण विकास का मौका ही उसे न रहने दिया। हजारो बरस तक यह व्यवस्था चली। और अब पुरुष स्त्री से कहता है कि तुम्हारी योग्यता ही कम है। कुदरत ने ही तुम को पुरुष की आश्रित बनाया है। मनु भगवान् कहते हैं, कुमारी अवस्था में स्त्री की रक्षा उस का पिता करता है, शादी के बाद पति और वृद्धावस्था में उस का लडका अपनी माँ को सँभालता है। इसलिए 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' स्त्री को स्वतन्त्रता का अधिकार है नहीं।

किसी भी आदमी को अगर दीर्घकाल तक पराश्रित, परावलम्बी और गुलाम बना कर रखा, तो ऐसी कृत्रिम स्थिति के कारण और प्रतिकूल परिस्थिति में यथाकथचन बचने के लिए उसे मक्कारी और असत्य जैसे साधनो का उपयोग करना ही पडता है। धनमत्त और अधिकारमत्त असामाजिक वृत्ति के मनुष्य के

हाथ के नीचे जिसे लाचारी से रहना ही पडता है, वह निष्ठा से नौकरी करते हुए भी कभी-कभी मालिक को ठगेगा ही। पकडे जाने पर झूठ भी बोलेगा। साहस और कठोरता उस में आये बिना नही रहेगी। गुलाम को अगर जीना है तो इन वृत्तियो का सहारा लेना ही पडता है। (मराठी भाषा में गुलाम शब्द का एक अर्थ होता है होशियार, चालाक, धूर्त और लुच्चा। ऐसे गुण वाले अपने लडके की कदर करने के लिए कभी-कभी पिता कहता है, "अजी ! मेरे लडके को बुद्धू न समझिए। ऐसा गुलाम है कि आप को भी बनायेगा।")

स्त्रियो को पराधीन रखने के बाद समाज ने स्त्रियो के दुर्गुणो की फेहरिस्त देने वाला एक श्लोक बनाया—

"अनृत साहस माया मूर्खत्वमतिलोभता।
अशौच निर्दयत्व च स्त्रीणा दोषा स्वभावजा ॥"

स्त्रीजाति के प्रति अन्याय कर के उन्हे जिस स्थिति में रखा, और ऐसी स्थिति के कारण, उन मे जो दोष आ गये उस का सच्चा कारण न ढूँढते हुए 'स्त्रियो के वे स्वभावगत दोष हैं,' ऐसा पुरुषस्वभाव ने निर्णय किया। बलिहारी है उन की तर्कशक्ति की !

लेकिन अन्याय की स्थिति सदा के लिए टिक नही सकती। एक स्वतन्त्र जाति दूसरी स्वतन्त्र जाति के प्रति अन्याय कर सकती है। किन्तु स्त्री और पुरुष परस्पर पूरक है। उन का एक दूसरे के बिना चल नही सकता। स्त्रियो की दु स्थिति का फल पुरुष को भी भुगतना पडता है और समाज को पक्षाघात (लकवा) मार जाता है। पुरुष ने अपने स्वार्थ के लिए ही स्त्री को शिक्षा देना शुरू किया। अपने काम मे उस की सहायता लेने मे लाभ देखा। प्रेम के कारण ही, या काम के कारण ही वह स्त्री का पूजक बना। और पुरुष कैसे भूल सकता है कि एक स्त्री के पेट में ही उस को जन्म लेना पडता है ? मातृभक्ति मनुष्य के लिए सहज है। स्त्री की आत्मसमर्पणयुक्त सेवा देख कर अन्धे पुरुष के मन में भी स्त्री के प्रति आदर पैदा होता है।

और अब तो स्त्री स्वातन्त्र्य का जमाना ही आ गया। स्त्रियो को अब बाकायदा शिक्षा मिलने लगी है। घर ससार चलाते उन के अधिकार समान होने लगे है। राज्यव्यवस्था में स्त्रियो को वोट देने का अधिकार भी मिला है। श्रमजीवी वर्गों मे स्त्री भी मेहनत-मजदूरी कर के कमाती है। इसलिए वह पुरुषो की आश्रित नही है। सामाजिक जीवन में बडा ही परिवर्तन हो रहा है। समाज-कल्याण के कार्यक्रम स्त्रियो के हाथ में आ रहे हैं। पहले पहले स्त्रियो ने

परिचारिका—नर्स का काम सीखा। अब वे डॉक्टर बनने लगी हैं। शिक्षिका, अध्यापिका और लेखिका बन कर समाजहित के चिन्तन में अपना हिस्सा ले रही हैं। राजकाज में स्त्रियों की योग्यता पुरुषों से कम साबित नहीं हुई है।

और ब्रह्मविद्या में तो जब तक मैत्रैयी और गार्गी, वाचक्नवी के नाम कायम रहेंगे। स्त्री जाति की योग्यता सिद्ध रही ही है। पश्चिम में महिलाएँ अब स्वतन्त्र रूप से अनेक क्षेत्रों में काम कर रही हैं। पिछड़े हुए मुसलमान समाज में भी स्त्रियाँ अब स्वतन्त्र रूप से सोच रही हैं।

अब स्त्रियों को पुरुषों के पीछे-पीछे चलने की अपनी आदत छोड़ कर स्वतन्त्र रीति से सोचने का और प्रवृत्तियाँ चलाने का प्रारम्भ करना चाहिए। जैन समाज में साध्वियाँ कुछ जाग्रत हुई हैं लेकिन अभी भी वह समाज रूढिग्रस्त है। स्त्री-जाति जब अपना मानसिक परावलम्बन छोड़ देगी और स्वतन्त्रता के उत्तरदायित्व के अनुसार जीवनपरिवर्तन करेगी, तब मनुष्य-जाति का नेतृत्व उसी के हाथ में आयेगा। क्योंकि इतिहासकाल में पुरुषों के कई दोषों से वे मुक्त रही हैं और कई गुणों का इन में विशेष उत्कर्ष पाया जाता है। समन्वयवृत्ति और मैत्री-भावना उन के लिए सुलभ है।

शुद्ध ब्रह्मचर्य के पालन के साथ सेवा के क्षेत्र में पुरुष और स्त्रियाँ समान-भाव से परस्पर आदर रखते हुए सेवाकार्य करने लगेंगे, तब ही ब्रह्मविद्या के पास सामाजिक मोक्ष का इलाज आयेगा और ब्रह्मविद्या की व्यक्तिगत एकांगिता दूर होगी।

इस प्रयोग में खतरे अवश्य हैं, लेकिन खतरे से डरना और प्रयोग ही न करना कापुरुष का लक्षण है।

और आज जैसी समाज की स्थिति है और कौटुम्बिक जीवन जैसा चल रहा है, उस में खतरे का डर कम है? आदत पडने के कारण मनुष्य उन से घबराता नही। शुद्ध प्रयोग हिम्मत से चलाने से ही समाज सुधर जाता है और संस्कृति आगे बढती है। आखिरकार मैत्रीभावना है कल्याणकारी। उस पर विश्वास रखना, यही है— सच्ची आस्तिकता।

(२५ जून १९६४)

चाहिए अनुभवमूलक समाज-विज्ञान

मेरी यात्रा स्वदेश में हो या विदेश में, मैं सेवा सस्थाओ को ढूँढ-ढूँढ कर खोजता हूँ, स्वयं जा कर देखता हूँ या वे मुझे बुलाती है। इसी तरह सन् '६६ के फरवरी के अन्त में मैं सौराष्ट्र के जामनगर में वहाँ का 'कस्तूरबा स्त्री विकास-गृह' देखने गया था। यह सस्था स्त्रीजाति की उत्तम सेवा करती है। पतिता, त्यक्ता और उपेक्षिता स्त्रियो के लिए गुजरात में कई अच्छी-अच्छी सस्थाएँ काम करती हैं। त्यक्ताओ के साथ त्यक्त-पतिकाओ को भी शुमार करना चाहिए। पति ने जिस का त्याग किया है सो तो दुर्देवी है ही किन्तु पति के दुराचार के कारण जिस तेजस्विनी पत्नी ने स्वेच्छा से अथवा लाचार हो कर स्वेच्छा से पति का त्याग किया उस की हालत भी हमारे समाज में बहुत दफे दयनीय बनती है। इस तरह जिन स्त्रियो को (यानी मानव जाति की माताओ को, भगिनियो को और पुत्रियो को) समाज ने निराशा के गर्त में ढकेल दिया, उन के लिए ईमान-दारी से जीने का और आशा का रास्ता दिखाने वाली ये संस्थाएँ भगवान् का ही काम करती हैं।

असहाय, निराश और हताश स्त्रियो को आश्रय दे कर उन्हें शिक्षा देना, ईमानदारी से आजीविका प्राप्त कर सके ऐसा कोई उद्योग सिखाना, और अगर समाज इन्हें वापस लेने को तैयार हो, तो इन को गृहस्थाश्रम में फिर से स्थापित करना, यही मुख्य प्रवृत्ति इन सस्थाओ की होती है।

जामनगर के स्त्री-विकास गृह को देखने के बाद सस्था के सस्थापक, सचा-लक और कार्यकर्ताओ से मै ने स्त्री समस्या पर काफी विचार-विनिमय किया। और उसी सिलसिले में विकासगृह की मुख्य सचालिका श्रीमती मजुलाबेन के पत्र के जवाब में अपने विचार लिख भेजे। उसी पत्र का हिन्दी अनुवाद यहाँ देता हूँ।

"इस में कोई शक नही कि मनुष्य जाति के समस्त इतिहास में सब से महत्त्व का विषय है, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का। इस सम्बन्ध पर ही तो समाज की रचना निर्भर है। अनेक देश के, अनेक वंश के और अनेक जमाने के लोगो ने इस विषय में अनेकानेक प्रयोग किये है। विवाह सस्था का इतिहास देने वाले कई ग्रन्थ मिलते हैं। हमारी स्मृतियो में, पुराणो में और लोकगीतो में स्त्री-

पुरुष सम्बन्ध की काफ़ी चर्चा पायी जाती है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध परस्पर उन्नति-कर और कल्याणकारी बने इस लिए मनुष्य ने धर्म और अध्यात्म की मदद ली है। इसी उद्देश्य से हरएक समाज ने क़ानून भी बनाये हैं।

मानव जाति ने इस तरह के जो प्रयोग किये उन में से कई प्रयोग भव्य और शुभ परिणामी साबित हुए हैं। उन के द्वारा समाज की उन्नति ही हुई है। कुटुम्ब-परिवार और सामाजिक-जीवन का आधार ही स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की स्वच्छता और सुन्दरता पर है। इस आदर्श को ध्यान में रखते हम कह नहीं सकते कि स्त्री-पुरुषो का प्रेम सम्बन्ध, गृहस्थाश्रम, बच्चो की परवरिश और समाज सेवा इन मुख्य बातो में और क्षेत्रो में मनुष्य को सन्तोषजनक हल हासिल हुआ है। सब धर्मों के शास्त्र-ग्रन्थ सब देश की लोककथाएँ और उपन्यास स्त्री-पुरुष विषयक सवालो की चर्चा करते आये हैं। ऐसी चर्चा को पढ कर हम अनुभव करते हैं कि इन सवालो की कितनी गहराई है। इस एक मुख्य सवाल के साथ व्यक्तिगत तथा सामाजिक समस्त जीवन प्रक्षुब्ध होता आया है। कुल मिला कर अनुभव कहता है "इन असंख्य प्रयोगों के परिणाम स्वरूप पुरुषो की अपेक्षा स्त्री-जाति को ही अधिक सहन करना पड़ा है।" लेकिन दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इस सवाल को लेकर पुरुष वर्ग ने जितना चिन्तन किया है उतना स्त्री-वर्ग ने किया हो ऐसा नहीं दीखता। स्त्री जाति ने सहन बहुत कुछ किया लेकिन हल ढूंढा नही के बराबर।

अब चिन्तन का उत्तरदायित्व पुरुषो पर न छोडते हुए स्त्रियो को अपनेतई स्वतन्त्र विचार करने के लिए तैयार होना चाहिए। इतना ही नहीं अपने अनुभव के बल पर अपनी स्वतन्त्र-दृष्टि से सामाजिक प्रयोग करने की भी तैयारी दिखानी चाहिए। मैं मानने को तैयार नही कि स्त्री जाति में इतनी हिम्मत नहीं है। सवाल केवल उस हिम्मत को जगाने का है।

सब देशो के और सब संस्कृतियों के समाजो ने (याने स्त्री-पुरुषों ने) विवाह के अनेक, तरह-तरह के आदर्श आजमा कर देखे। इन आदर्शों का पालन करते दोनों तरह से जो स्खलन हुए उन के बयान भी काफ़ी मिलते हैं। इन स्खलनो से मनुष्य स्वभाव का अनुमान कर के और परिस्थितियो को पहचान कर के आदर्शों में जरूरी परिवर्तन और सुधार करना चाहिए। आदर्श अगर कृत्रिम हैं, मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध हैं तो उन को बदलना चाहिए। और आदर्श अगर हद से ज्यादा कड़े हैं तो उन्हें सौम्य बनाना चाहिए।

वेद-पूर्वकालीन रस्म-रिवाजो से ले कर आज तक हम स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के आदर्शों में कमोबेश परिवर्तन करते ही आये हैं। इस का सारा इतिहास प्रयत्न-

पूर्वक ढूंढ कर भविष्यकाल के लिए पोषक हो सके ऐसे जीवन-निष्ठ आदर्शों का बिलकुल नये ढग से चिन्तन और प्रचार करना चाहिए।

धर्म और सस्कृति के आदर्श और उन का रहस्य समझने के लिए और ढूंढने के लिए भूतकाल की तरफ़ जाना, चाहे जितना स्वाभाविक क्यो न हो तो भी वह गलत रास्ता है। इतना तो समझना ही चाहिए। भूतकाल जीने लायक न रहा इसी लिए तो वह चला गया। उसे सजीवन करने की कोशिशे हम क्यो करें? भूतकाल के प्रति और अपने पुरखो के प्रति आदर रहना योग्य है लेकिन हम उन के दास क्यो बनें? भूतकाल के प्रति अति-आदर रखना और वर्तमान काल को तुच्छ समझना जीवन के प्रति और उस के भविष्यकाल के प्रति द्रोह है। भूतकाल अगर पवित्र है तो भविष्यकाल पवित्रतर है। क्योकि वह भी ईश्वर का आगामी अवतार ही है। भूतकाल का बन्धन अगर प्राणघातक साबित हुआ तो ऐसे बन्धनो से मुक्त होना ही हमारा कर्तव्य है।

मेरे कथन में पश्चिम का अनुकरण करने की तनिक भी सिफारिश नही है। पश्चिम के अनुभव से और उन की हिम्मत से हम ज़रूर लाभ उठायेंगे। पश्चिम के लोग भी ईश्वर के ही बालक हैं और हमारे सगे सम्बन्धी है इस को तो ज़रूर स्वीकार करेंगे। लेकिन हम अपनी परिस्थिति और अपने पुरुषार्थ को नज़र के सामने रख कर स्वतन्त्र चिन्तन करेंगे। और उसी में से नयी-नयी योजना बना कर उस के अनुसार प्रथम मर्यादित क्षेत्र में प्रयोग कर देखेंगे। इस तरह के मर्यादित अनुभव के बल पर हिम्मत बढने पर व्यापक पैमाने पर प्रयोग कर सकेंगे।

मेरा अभिप्राय है कि विकासगृहो की ओर से ऐसे नये सामाजिक प्रयोग आजमाने का प्रारम्भ करना चाहिए। समाज ने जिन्हें छोड दिया, बहिष्कार कर के फेंक दिया, ऐसे व्यक्तियो को लेकर जब हम प्रयोग करते हैं तब समाज अपनी पुरानी रूढियाँ लेकर विरोध क्यो करे? समाज जब किसी व्यक्ति को दोषी कह कर फेंक देता है तब उस व्यक्ति की प्रतिष्ठा तो टूटती ही है लेकिन समाज को इस बात को भी स्वीकार करना चाहिए कि समाज की सूझ का भी दिवाला निकल गया है।

समाज को चाहिए कि अपनी हार कबूल कर के वह नम्रता धारण करे और सुधारक लोगो को पुराने चोले में से, पुरानी लकीर में से बाहर निकलने की स्वतन्त्रता दे दें।

शरारती, तूफानी अथवा विकलाग बच्चो को लेकर आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियो ने शिक्षा के नये-नये प्रयोग आजमा कर देखे। फलत शिक्षा-शास्त्र में, पढाई

और सघाई की कला में अद्भुत प्रगति हुई है। उन्ही के रास्ते जा कर स्त्री-विकासगृहो को भी चाहिए कि वे हिम्मत-पूर्वक नये-नये प्रयोग कर देखें और बिलकुल नये ढग का समाज-शास्त्र तैयार करें।

पुश्त-दर-पुश्त, दीर्घ काल तक सतत सहन करने के वाद क्या स्त्री-जाति नयी हिम्मत आजमाने के लिए तैयार नही होगी ?

दुर्दैवी स्त्रियो को आश्रय देना, ईमानदारी से आजीविका प्राप्त कर सकें ऐसा उद्योग सिखाना अच्छी वात है, लेकिन यह तो केवल दु ख-निवारण का काम हुआ। मुख्य काम तो समाजो के जिन दोपो के कारण अथवा जीवन-विरोधी गलत आदर्शों के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है, उस का ही इलाज ढूँढना चाहिए।

पति की मृत्यु के वाद उस की पत्नी का पति के शव के साथ अपने को जलाने का एक रिवाज था। इस के कारण क्या-क्या सामाजिक अनर्थ खडे हुए उस के वर्णन वगाल के इतिहास में हमें मिलते हैं। वहाँ के सामाजिक नेताओ ने सती होने की इस प्रथा को वन्द करवाया। उस के लिए अँगरेज़ सरकार की मदद भी ली। उस के वाद ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे साधु पुरुपो ने विधवा-विवाह का रास्ता प्रशस्त किया। हमारे ज़माने में अव आन्तरजातीय विवाह भी होने लगे हैं। अव ऐसे विवाहो का विरोध कोई नही करता।

तो क्या स्त्री-जाति के सामाजिक दु.खो को और अन्यायो को दूर करने के लिए सिर्फ ये दो ही सुधार आवश्यक थे? जागनगर के 'कस्तूरवा विकासगृह' को सेवा करने का दस साल का अनुभव है। इन दस वर्षो के अन्दर असख्य अवलाओ की कठिनाई का परिचय उसे हुआ है। सस्था के सचालको ने परिस्थिति का गहरा अध्ययन भी किया होगा। तो क्या उन के पास सुधार के नये-नये सुझाव नही हैं? तात्त्विक-चिन्तन करने वाले और विदेश का अनुभव पढने वाले लोग कुछ-न-कुछ सुधार अवश्य सूचित कर सकेंगे। किन्तु दस-दस, वीस-वीस वर्प जिन लोगो ने इस क्षेत्र में स्त्री-जाति की सेवा करने का अनुभव लिया है उन को चाहिए कि वे पुराने आदर्श के वोझ के नीचे न दव कर नया रास्ता ढूँढ निकालें।

जातिवहुल हमारे देश में हर-एक जाति के आदर्श अलग हैं। ऐसी हालत में सुधारको को नयी जाति वना कर या मान कर भी हम प्रयोग कर सकते हैं। आगे जा कर इस का लाभ सारे समाज को मिलेगा।"

मेरे उस मूल खत में मै ने इधर-उधर परिवर्तन किया है। लेकिन उस खत को यहाँ इस लिए दे रहा हूँ कि सवाल सारे देश का है। केवल उच्चवर्णीय हिन्दुओ का नही। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि सव का सवाल है।

अभी-अभी स्व० डॉ० राममनोहर लोहिया के एक लेख का मराठी अनुवाद पढा था। उन्होने लोक-कल्याण की दृष्टि से हिम्मत-भरे कुछ सुझाव देश के सामने रखे हैं। उन के सुझाव कोई माने या न माने, उन की हिम्मत धारण कर के सामाजिक सवालो का हल तो जरूर ढूँढना चाहिए।

(१५ नवम्बर १९६७)

अस्पृश्यता का हडक

अस्पृश्यता-निवारण का धार्मिक पहलू

किसी एक सनातनी जवान मित्र ने मुझ से पूछा—"काकासाहब, जब देखें, आप अस्पृश्यता-निवारण की ही बात करते हैं। आप जानते हैं कि हम हरिजनों को छूते हैं। सभा में और ट्रेन में एक साथ बैठते हैं। कोई हरिजन हमारे घर पर मिलने आता है तो उसे साथ बिठा कर हम खाते भी हैं। पंक्ति-भेद को हम ने छोड दिया। अब ज्यादा क्या करने को रहता है? आप कब कहेंगे कि 'भारत से अस्पृश्यता अब दूर हो गयी है?"

मैंने कहा कि आप छुआछूत में विश्वास नहीं करते हैं यह अच्छी बात है। लेकिन गांव में जाकर जरा देखिए अस्पृश्यता-निवारक कानून के पास होने पर भी वहां हरिजनों की क्या हालत है। उन को कैसे दूर रखा जाता है। पीने के पानी के लिए भी उन्हें भिक्षा मांगनी पडती है। आप स्वयं छुआछूत छोड़ दें इतना काफी नहीं है। इस पुराने पाप को देश में से हटाने के लिए आप को जेहाद चलानी चाहिए। यह हुआ सीधा जवाब। लेकिन आप पूछते हैं कि हम कब मानें कि अस्पृश्यता हिन्दू समाज में से दूर हो गयी है? भविष्य की बात मैं भविष्य पर ही छोड़ना पसन्द करता हूं। लेकिन जब आप मुंह में उंगली डाल कर मुझ से जवाब निकलवाना ही चाहते हैं तब सुनिए मेरा जवाब—

"जब कोई संस्कृतज्ञ, चारित्र्यवान्, धर्मनिष्ठ हरिजन शंकराचार्य की गद्दी पर बैठ सकेगा और मैं और आप उसे साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करेंगे तब मैं कहूंगा कि अब छुआछूत सचमुच दूर हो गयी। सनातनी दृष्टि से सोचनेवाले लोगों के लिए ही मेरा यह जवाब है। इस का यह अर्थ हरगिज नहीं है कि मैं अब किसी हरिजन को शंकराचार्य की गद्दी पर बैठा हुआ देखना चाहता हूं। मनुष्य होने के नाते और प्रतिकूल परिस्थिति में भी हिन्दूधर्म के प्रति निष्ठा रखने के कारण, मेरी व्याख्या के हरिजन का वह अधिकार अवश्य है। लेकिन शंकराचार्य की गद्दी आज एक कालग्रस्त सनातनी संस्था है। श्री आद्य शंकराचार्य के प्रति मेरे मन में असीम पूज्य भाव है। श्री शंकराचार्य ने ही इस युग में हिन्दूधर्म को

सर्वोच्च सेवा की। उन के उत्तराधिकारियो में भी अनेक योग्य पुरुष हुए हैं। लेकिन आज उस सस्था में क्या रहा है ? सनातन धर्म की रक्षा का भार आज के शकराचार्य उठा नही सकते। सनातनी समाज का नेतृत्व भी उन के पास रहा नही दीख पडता। सनातन धर्म में सुधार कर के उस में चैतन्य लाने का काम तो और लोग कर रहे हैं। शकराचार्यों के चन्द मठो की जो हालत मैं ने सुनी है उसे सोचते ग्लानि ही होती है। ऐसी हालत में किसी भले हरिजन को शकराचार्य की गद्दी पर बैठने का आमन्त्रण मिल जाये तो उस को स्वीकार करने की सलाह शायद मैं उसे नही दे सकूँगा। उस सस्था में अब वह प्राण नही देखता हूँ जिस के जरिये धर्मपरायण जनता की कुछ ठोस सेवा हो सके।"

अन्य स्थान पर मैं ने कहा ही है कि अनुलोम-प्रतिलोम का कृत्रिम भेद भूल कर जब अनेक ब्राह्मण लडकियो के विवाह योग्य और अनुरूप हरिजन लडको के साथ होने और सनातनी समाज उन का अभिनन्दन करेगा तब मैं कहूँगा कि अब अस्पृश्यता दूर हो गयी है।

मनुष्य जब विवाह करता है तब धर्म-सुधार के हेतु से नही करता। लोग विवाह बद्ध होते हैं प्रेम के कारण और सफल सहजीवन के लिए। अगर कोई ब्राह्मण लडकी हरिजन लडके के साथ शादी करती है तब इतना तो वह जरूर देखेगी कि 'रहनी, करनी और विचारसरणी' की दृष्टि से वह लडका उस क अनुकूल है। हम इतना ही माँग सकते हैं कि जाति या वर्ण के कारण सवर्ण और हरिजनो के बीच शादी का प्रतिबन्ध न हो। ऐसे विवाह होते रहें और सनातनी समाज उस का अभिनन्दन करे।

मन्दिर-प्रवेश के बारे में भी यही बात है। मध्यकाल में, जिस श्रद्धा-भक्ति से लोग देवदर्शन के लिए मन्दिर में जाते थे वह श्रद्धा-भक्ति अब नही दीख पडती। तो भी हम हरिजनो के मन्दिर-प्रवेश का आन्दोलन चलाते रहे। अपेक्षा हरगिज यह नही थी कि मन्दिर-प्रवेश का अधिकार मिलते ही हरिजन बडी तादाद में मन्दिर दर्शन या पूजा के लिए जाने लगेंगे। (हाँ, मद्रास की ओर मदुरा शहर के पास एक मन्दिर का इतिहास जानता हूँ, जहाँ मन्दिर के व्यवस्थापको ने अपना मन्दिर हरिजनो के लिए खोल दिया इस से गुस्से मे आ कर ब्राह्मणो ने उस मन्दिर का बहिष्कार किया। मन्दिर की आमदनी घटी। व्यवस्थापक चिन्ता में पडे, लेकिन वे शरण नही गये। जब ब्राह्मणेतरो को इस हालत का पता चला तब उन्होने खसूसन उसी मन्दिर मे जाना और वहाँ दक्षिणा देना शुरू किया। नतीजा यह हुआ कि मन्दिर पर जो बरसो का कर्ज था वह अदा हो गया और मन्दिर का जीर्णोद्धार भी आसानी से हो सका।)

आज हम सवर्णों को इतना ही कह सकते हैं कि अगर किसी भी कारण मन्दिर जाने को दिल हुआ तो किसी हरिजन को अपने साथ लेते जाइए। जैसा पुराना नियम था कि मन्दिर में रिक्त-हस्त (खाली हाथ) नही जाना चाहिए, फल-फूल, मिठाई, कुछ न कुछ ले ही जाना चाहिए। इसी तरह हम नया नियम कर सकते हैं कि हरिजन का हाथ अपने हाथ में लिये विना मन्दिर में जाने से देवदर्शन का पुण्य नहीं मिलता और भगवान् की कृपा नही होती।

देवदर्शन और मूर्ति-पूजा का रिवाज़ पुराना है। उसे वढावा देना मन्दिर-प्रवेश का उद्देश्य नही हो सकता। मन्दिर भी एक पुरानी सनातनी संस्था है। उस में नया चैतन्य हम जरूर डाल सकते हैं। मन्दिरो के द्वारा हम सामाजिक संगठन, आचार-व्यवहार की शुद्धि, सदाचार-प्रचार, शिक्षा का विस्तार और बहु-विध आर्थिक सहयोग आदि अनेक प्रवृत्तियाँ चला सकते हैं। लेकिन वह एक स्वतन्त्र प्रवृत्ति होगी।

मन्दिरो में भगवान् की पूजा-अर्चना, पुराण-श्रवण, हरिकीर्तन, उत्सव-त्योहार, श्राद्ध-महालय, तीर्थ-यात्रा, उपनयन-शास्त्राभ्यास, शादी-व्याह, संन्यासग्रहण, दान-प्रतिग्रह ये सव हैं सनातनी जीवन के प्रधान धार्मिक पहलू। हमें जागरूक होकर देखना चाहिए कि इन में कही भी अस्पृश्यता या उच्च-नीच भेद आने या रहने न पावे।

(फरवरी १९५७)

हिन्दू समाज को चुनौती

डॉ० अम्वेडकर भारत की एक भव्य विभूति थे। जव भीमराव अम्वेडकर का स्मरण करता हूँ तव मुझे महाभारत के कुन्तीपुत्र कर्ण की याद आती है। "दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्"। यह था कर्ण का वचन। समाज जिसे हीन कहता है ऐसे कुल में जन्म होने से मनुष्य को क्या-क्या भुगतना पडता है, और उस से उस के स्वभाव में चिढ और कड़वाहट कितनी गहराई तक पहुँच जाती है, इस का पूरा खयाल जिस तरह कर्ण के जीवन से पाया जाता है वैसा ही डॉ० अम्वेडकर के जीवन से भी पाया जाता है। श्री सयाजीराव गायकवाड ने उन्हें शिष्यवृत्ति दी, विदेश भेजा, अपने राज्य में नौकरी दी। महात्मा गान्धी ने उन्हें भारत के सर्वोच्च मन्त्रिमण्डल में स्थान दिलवाया। भारतीय जनता ने उन्हें

भारत का विधान—मानो भारत का भाग्य-लेख बनाने का काम सौंपा। जिस हिन्दू कानून ने देश में अस्पृश्यता चलायी थी उस का सुधार करने का काम भारत-भाग्य-विधाता ने डॉ० अम्बेडकर के हाथ में सौंपा और समस्त हिन्दू समाज ने उन के इन सब सुधारो को सहर्ष स्वीकार किया। अस्पृश्यता निवारण के कानून के खिलाफ करोडो के हिन्दू समाज में से एक भी आवाज नही उठी।

इतना सब हुआ। लेकिन डॉ० अम्बेडकर के हृदय में घुसी हुई चिढ और कटुता का निर्मूलन नही हुआ।

हिन्दू समाज के बारे में जब उन के मन मे निराशा पैदा हुई, तब उन्होने धर्मान्तर करने की बात शुरू की। यह बात बरसो तक चली। उन्होने हिन्दू-समाज को काफी समय दिया। हिन्दू समाज ने आश्चर्यकारक प्रगति भी की। लेकिन डॉ० अम्बेडकर के लिए वह पर्याप्त न थी।

मैं ने सनातनी वृत्ति और सनातनी समाज का वर्णन करते एक व्याख्या बनायी है उस का यहाँ स्मरण होता है।

सनातन समाज वह समाज है जो दूसरे किसी भी समाज के मुकाबले में कम प्रगति नही करता। लेकिन काल भगवान् उसे जिस मज़िल तक पहुँचने को कहते हैं उस से एक मज़िल पीछे रहना—यह है उस का उसूल। फलत सब तरह की प्रगति करते हुए भी काल भगवान् के प्रसाद से वह हमेशा वचित रहता है। "करने को सब कुछ किया, लेकिन उस का फल कुछ भी पाया नही" ऐसा कहने का उस के भाग्य में बदा हुआ है।

डॉ० अम्बेडकर ने धर्मान्तर करने के लिए पहले सिख धर्म को पसन्द किया। इस का एक अच्छा फल यह हुआ कि सिख समाज ने अपनी रूढि को कुछ हद तक तोड कर अपने धर्मग्रन्थ नागरी में भी छापने का साहस किया।

दीर्घकाल तक सोचते-सोचते डॉ० अम्बेडकर ने धर्मान्तर के लिए आखिर बौद्ध धर्म पसन्द किया। यह भी मेरी दृष्टि से अच्छा ही हुआ।

हिन्दू धर्म की मेरी कल्पना के अनुसार सिख धर्म और बौद्ध धर्म दोनो हिन्दू धर्म के बाहर हैं ही नही। कोई द्वैतवादी अद्वैतवादी बन जाये, कोई शाक्त शिव का उपासक बन जाये, या वैष्णवधर्मी बन जाये तो उसे हम धर्मान्तर नही कहते। जब कोई सनातनी आर्यसमाजी बनता है, या कोई बगाली अपनी 'हिन्दुवानी' छोड कर 'ब्राह्मो' बनता है तब उसे मैं धर्मान्तर कहने के लिए तैयार नही हूँ। हमारे पुरखा कहते आये हैं कि 'घी थाली में गिरे या कटोरे में, पेट में ही जाने वाला है'।

हिन्दू-मानस ने बुद्ध भगवान् की नसीहत आत्मसात् की इतना ही नही—प्रत्यक्ष बुद्ध भगवान् को विष्णु का अवतार—और वह भी चालू अवतार—बना दिया।

(जिन दिनो नौ, दस या चौबीस अवतारो की कल्पना चली तब वैष्णव-धर्म का बोलबाला अधिक था। इस लिए बुद्ध भगवान् को विष्णु का अवतार बनाया गया। अगर तटस्थ दृष्टि से देखा होता तो गौतमबुद्ध की जीवनदृष्टि का खयाल करते उन्हें शिवजी का ही अवतार बनाया होता।)

मैं नही मानता कि बौद्ध-धर्म आत्मा का या परमात्मा का इनकार करता है। भगवान् बुद्ध का इतना ही कहना था कि हम आत्मा और ईश्वर की झंझट में क्यों पड़ें ? हमारा सरोकार तो जीवन से है। जीवन दुःख से भरा हुआ है। दु ख का स्वरूप पहचान कर उस का जडमूल से नाश करना—यही हमारा परम कर्तव्य है। जिस रास्ते से दु ख का आत्यन्तिक नाश होता है, वह है अष्टागिक मार्ग, वही है धम्म।

'इस धम्म के रास्ते जाने के लिए अय मानव, तुम अपने को ही अपनी मशाल बना दो'। 'आत्मदीपो भव'। धम्म के रास्ते जाते सब पाप-कर्मों को छोड दो। कुशल कर्मों का अनुशीलन करो। अपने चित्त को क़ाबू में ला कर अहकार का नाश करो। और निर्वाण—परमा शान्ति को प्राप्त करने की तैयारी करो।

यह धम्म सर्व-कल्याणकारी है। जो कोई इस धम्म का स्वीकार करेगा उस का भला ही होगा। इस धम्म के साथ किसी का झगडा नही हो सकता।

जिस चिढ और कटुता का डॉ० अम्बेडकर ने अपने हृदय में संग्रह किया था, उसे छोडे बिना निर्वाण—परमा शान्ति सिद्ध नही हो सकती। हो सकता है कि बौद्ध धर्म का स्वीकार करने पर डॉ० अम्बेडकर को वह शान्ति मिली होगी और उस शान्ति के साथ ही उन का जीवन समाप्त हुआ होगा।

डॉ० अम्बेडकर के साथ जिन लोगो ने बौद्ध धर्म का स्वीकार किया, और आयन्दा भी जो लोग उस सम्प्रदाय में शरीक होंगे, उन को चाहिए कि वे अपने साथ बौद्ध समाज में अस्पृश्यता ले न जायें।

लोकसख्या की दृष्टि से देखते दुनिया में बौद्ध धर्म का स्थान शायद सर्वप्रथम होगा। पूर्व में और पश्चिम में ऐसे कई लोग हैं जिन्होने बाक़ायदा बौद्ध धर्म की दीक्षा तो नही ली है, किन्तु बुद्ध भगवान् के उपदेश का और जीवनदृष्टि का हृदय से स्वीकार किया है। भारत के करोड़ो लोग यदि युगावतार बुद्ध भगवान् के उपदेश को ग्रहण करेंगे तो उन का कल्याण ही होगा।

अद्वैत वेदान्त भी कहता है कि जिसे जीवात्मा कहते हैं वह तो माया ही है। अगर कोई सत्य है तो विश्वव्यापी सनातन सत्य ही है। वही है नारायण और वही है परब्रह्म। सब से व्यापक, बृहत् और बृहत्तम जो है उसी को ब्रह्म कहते हैं, परब्रह्म कहते हैं। उस के साथ एकरूप होने के लिए संयम और उपशम की साधना करनी चाहिए ताकि हृदय में विश्वात्मैक्य भाव का उदय हो। डॉ० अम्बेडकर के पुरुषार्थी और तेजस्वी जीवन से हिन्दूसमाज को सबक सीखना चाहिए। डॉ० अम्बेडकर हिन्दू समाज के लिए चेतावनी और चुनौती रूप थे।

(दिसम्बर १९५६)

अस्पृश्यता और क़ानून की शक्ति

"जब तक कानून नही बना, तव तक कुछ होने वाला नही। आप अस्पृश्यता-निवारण की बातें चाहे जितनी करें, मतपरिवर्तन पर चाहे जितना ज़ोर दें—सब बातें हवा में ही रहने वाली हैं। लोगो को पता चलना चाहिए कि किसी को अछूत समझना, उस के साथ अछूत-सा व्यवहार करना कानून की दृष्टि से गुनाह है, जिस के लिए बाक़ायदा सज़ा हो सकती है। भारत के विधान में इतना लिख देना काफी नही है कि 'अस्पृश्यता रद्द की गयी है और किसी को अछूत समझना विधान के खिलाफ है।" अस्पृश्यता अगर विधान के खिलाफ है तो क़ानून के खिलाफ़ भी होनी चाहिए और उस के लिए उस की सज़ा का प्रबन्ध भी होना चाहिए। अस्पृश्यता किसे कहते हैं, उस का पालन कहाँ-कहाँ होता है और उस के लिए कैसी कैसी सज़ा होगी, यह सब क़ानून के अन्दर दर्ज होना चाहिए।"

हरिजनो के नेता और हरिजनों के सेवक दोनो इसी तरह से एक लम्बे अर्से तक कहते आये थे। भारत के अलग-अलग हिस्से के करीब सब राज्यो ने अपने-अपने ढंग के कानून बना दिये। जिन में मन्दिर-प्रवेश का ज़िक्र सब से महत्त्व का था। आखिरकार इन सब क़ानूनो को ध्यान में लेकर केन्द्रीय भारत सरकार ने सर्वानुमति से ऐसा एक कानून बनाया, जो सब को पसन्द आया। सारे देश में एक भी व्यक्ति ने इस कानून का विरोध नही किया। सब अखबारो ने और सब के सब सामाजिक नेताओ ने इस क़ानून का स्वागत किया और देश में सन्तोष का वायुमण्डल पैदा हुआ।

लेकिन यह सन्तोष एक दिन या एक सप्ताह तक ही टिक सका। उस के

वाद देखा गया कि हरिजन नेता और प्रधान-प्रधान हरिजन-सेवक कहने लगे— "क़ानून वनाने से क्या होगा ? लोगो में जव तक हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ है। क़ानून सिर्फ़ काग़ज़ पर ही रहेगा। क़ानून से कुछ होने वाला नहीं। गाँव में जा कर देखिए कहाँ है क़ानून का अमल ? न पुलिस कुछ सोचती है, न सरकारी कर्मचारी, मजिस्ट्रेट या न्यायाधीश। कोई ग़रीव शिकायत करने जाता है तो उसी की परेशानी होती है और आखिरकार ग़रीव लोग कहने लगते हैं कि जो चल रहा है उसी को वर्दाश्त करना वेहतर है क्योकि उस की आदत हमें है। आप सवर्णो को छेडते हैं और परेशानी हमें भुगतनी पडती है।"

अर्थशास्त्र को सर्वस्व माननेवाले आधुनिक सुधारक कहते हैं, "हरिजनों की आर्थिक स्थिति जव तक नही सुधरी है, अस्पृश्यता दूर होने वाली नहीं।" इस के खिलाफ धनी और प्रतिष्ठित हरिजन अगुआ कहते हैं—"लोग हमें छेडते डरते हैं सही, लेकिन सवर्ण हमें अपनाते नही। और मान लीजिए कि हमारी अस्पृश्यता शहरो से दूर हो गयी, हमारे जाति के ग़रीवो की और गाँव के हरिजनों की अस्पृश्यता जव तक नहीं गयी है, हम कैसे मानें कि हमारा उद्धार हो गया ?"

हरिजनो ने धर्मान्तर का नुस्क सदियों से आजमाकर देखा। नतीजा यह हुआ कि जिन धर्मों में अस्पृश्यता नही थी, उस में वह पहुँच गयी। अस्पृश्यता का नाश नहीं हुआ, उलटा विकास ही हुआ। जो हरिजन ईसाई वने वे कहते हैं कि हिन्दू सवर्ण हमें ईसाई होने पर भी अछूत समझते हैं। सो तो हम समझ सकते हैं। लेकिन जो सवर्ण ईसाई वने वे भी हमें अछूत ही रखना चाहते हैं। सवर्ण ईसाई कभी हरिजन ईसाइयों से शादी करना पसन्द नहीं करते। दक्षिण में कुछ अर्से के पहले हरिजन ईसाइयों को गिरजाघर के अन्दर ही आने नही देते थे। जव अन्दर आने देने लगे तव भी उन्हें अलग विठाने लगे। मरने पर भी हमारा अछूतपन हमें छोडता नही।" हरिजन ईसाइयों का स्मशान अलग और सवर्ण ईसाइयो का अलग ऐसा भेद भी दक्षिण में कही-कही पाया जाता है।

सिक्खो में जातिभेद और अस्पृश्यता दोनों पाये जाते हैं। सो तो हम समझ सकते हैं। लेकिन मुसलमानो में भी कही-कही एक क़िस्म का जातिभेद है और शादियो पर रोक मानी जाती है।

जव से सरकार ने अस्पृश्यो को और पिछडी हुई जातियो को सहूलियतें देना शुरू किया है, तव से मुसलमानो में और ईसाइयो में जातिभेद का होना, छोटी-छोटी जमातो का अलग गिना जाना, उन के समाज स्वीकार करने लगे हैं।

हरिजनो ने धर्मान्तर का फिर एक नया तरीका आजमाना शुरू किया है। वे वौद्ध होने लगे हैं। वुद्ध भगवान् की नसीहत अच्छी ही है। किसी भी नवी

की या पैगम्बर की नसीहत बुरी नही हो सकती। लेकिन सवाल धर्म-सिद्धान्तो का या उपदेश का नही है। सवाल सामाजिक है। कोई हरिजन जब मुसलमान बनता है तब सारे मुसलमान समाज का उसे सहारा मिलता है। जब कोई हरिजन ईसाई बनता है तब उसे उन सब ईसाइयो का सहारा मिलता है, जो अछूत नही हैं।

अब भारत में ऐसा कौन-सा बडा अन-अछूत बौद्ध-समाज है, जो बौद्ध-हरिजनो को अपना कर सहारा दे सकेगा ? हिन्दू-समाज बौद्ध-हरिजनो को हरिजन माने या न माने ? आज का हिन्दू-समाज कहने को तैयार है कि जो बौद्ध हो गये सो अब अछूत या हरिजन नही रहे। लेकिन अगर सरकारी सहूलियतो के लोभ से बौद्ध-हरिजन कहने लगे कि हमें हरिजन ही समझो और सब सहूलियतें मिलने दो तो सरकार को क्या करना चाहिए ? हिन्दू-समाज का क्या कर्तव्य है ?

सोचने वाले लोग कहते हैं कि जिस धर्म में अस्पृश्यता नही थी उस धर्म में ये लोग अस्पृश्यता दाखिल कर रहे हैं। अस्पृश्यता का नाश नही, विस्तार हो रहा है, जिस का कुछ इलाज सोचना चाहिए।

इस तरह हम ही जिस सवाल को दिन-पर-दिन टेढा करते जा रहे है, इस का इलाज कानून से कैसा होगा ?

जब अस्पृश्यता-निवारण का कानून सर्वानुमति से मान्य हुआ, तब यह माना गया कि समाज ने तो अस्पृश्यता छोड दी। अब अगर अस्पृश्यता का कोई पालन करते हैं तो इने-गिने व्यक्ति ही पालन करते हैं। क़ानून उन्हें सज़ा कर सकता है। लेकिन जब बडी-बडी तादाद वाली जातियाँ अछूतो को अछूत रखने की कोशिशें करने लगती हैं, तब क़ानून क्या कर सकता है, सरकार क्या कर सकती है ? और हमारे मिनिस्टर्स भी क्या कर सकते हैं ? 'जिन से वोट पा कर मै मन्त्री बना, उन सब के सब लोगो को मै कैसे दबा सकता हूँ ?'

अगर मारामारी से कोई सवाल हल करने गये तो तो देश में अराजकता ही पैदा होगी। और जो हालत आज अन्तरराष्ट्रीय जगत् में चिन्ता का विषय बनी है, वही देश के अन्दर घर-घर में पैदा हो जायेगी। ऐसी परिस्थिति में हमें सोचना चाहिए कि कानून क्या कर सकता है और क्या नही कर सकता। हरेक मानवीय इलाज की अपनी मर्यादा भी होती है।

जो लोग निर्धन होते है वे मानते हैं और कहते हैं कि हमारे पास धन होता तो हम सब-कुछ कर सकते। जो धनी और बुद्धिमान् है वे जानते है कि धन की शक्ति परिमित है, थोडी है। जब भारत पराधीन था और नि शस्त्र किया गया था तब कई देशभक्त कहते थे, कि शस्त्र की ही कमी है, शस्त्र मिलते ही हम

भारत को आज़ाद कर सकेंगे। जब किसी के हाथ में शस्त्र आया तब वह अँगरेजों का तो कुछ बुरा नहीं कर सका। वह शस्त्र किसी श्रद्धानन्द को और महात्मा गान्धी को ही मारने के काम आया। जब हम ने स्वतन्त्रता खोयी तब हम नि शस्त्र नही थे। पराधीन होने के बाद ही नि शस्त्र किये गये थे, यह हम भूल जाते हैं।

क़ानून की शक्ति मर्यादित होती है, यह तो एक बात है ही। लेकिन जब किसी सामाजिक अन्याय या दोष के खिलाफ़ क़ानून किया जाता है तब लोग मानते हैं कि हमारा काम अब पूरा हो गया। अब जिम्मेवारी हमारी नहीं, किन्तु बेलीफ की, पुलिस की, मजिस्ट्रेट की और जेलर की है।

समाज सुधार का काम जो सदाचार-परायण, लोकहित-चिन्तक सेवकों का और नेताओं का है, वह काम, कानून बनते ही, वे छोड देते हैं, शिथिल बनते हैं और एक तरह से बेपरवा भी बनते हैं। और सरकार तो सज़ा और रोकटोक में ही मानती है। वही एक शस्त्र उस के पास है। उस से काम नही चलता, तब कहने लगती है, जो क़ानून से नही होता वह शिक्षण के द्वारा कर देखेंगे। सरकार इस के लिए पैसा खर्च करने को तैयार रहती है। 'तनख्वाह दे कर लोगो को गाँव-गाँव व्याख्यान देने के लिए भेज दीजिए। पाठ्य-पुस्तकों में अस्पृश्यता-निवारण का महत्त्व समझाने वाले पाठ दाखिल कीजिए। बडे-बडे चित्र खिचवा कर बाजारो में, स्टेशन पर और ऐसे ही सार्वजनिक स्थानों पर लगवा दीजिए और सर्कुलर निकाल कर जो सवर्ण युवक हरिजन लडकियो के साथ शादियाँ करते हैं उन्हें अच्छी नौकरी देने की सूचना दीजिए।' सरकार का काम ऐसा ही होगा। जो लोग समाज-शास्त्र समझते हैं वे कहते हैं कि अन्तरजातीय शादियाँ होने से जातियो का उच्च-नीच भाव कम होगा, लेकिन जातियाँ कम नहीं होंगी। गोत्र का ही मिसाल लीजिए। शादियाँ एक गोत्र में हो ही नही सकती। शादियों का नियम ही है कि वह आन्तर-गोत्र होनी चाहिए। इस से गोत्रो में उच्च-नीच भाव नही रहा, लेकिन गोत्र टिके हुए हैं।

कानून किसी को सज्जन नही बना सकता और सारे के सारे समाज की ग़लत-फहमियो को, दोषों को और व्यापक दुराचार को मिटा नही सकता। जो काम समाज-हितैषी, सदाचारी, समाज-सेवापरायण त्यागियों का है, वह उन्ही को करना चाहिए। जो लोकमत-परिवर्तन उन के द्वारा हो सकता है वह केवल शाला-शिक्षको के द्वारा, पाठ्य-पुस्तको के द्वारा और धन्वादार प्रचारकों के द्वारा नहीं हो सकेगा। तेजस्वी समाज-सेवकों का कार्य जोरों से चलाने पर क़ानून उन्हें मदद कर सकता है, शिक्षा का महकमा भी बाद में बहुत-कुछ मदद कर सकता है।

छोटे-मोटे प्रचारक भी उपदेश दूर-दूर तक पहुँचाने का काम कर सकते हैं, लेकिन असली काम करना है चारित्र्यशील, तेजस्वी समाज सेवको को ही। सरकार ऐसो की इज़्ज़त कर सकती है, लेकिन उन को अपने हाथ में ले कर उन से काम नही ले सकती।

क़ानून के द्वारा बडी या कडी सज़ा करने का मोह छोड ही देना चाहिए। बडी सज़ा से समाज-हृदय कठोर होता जाता है और जिन्हें कडी सज़ा भुगतनी पडती है वे सज़ा के आदी बनते हैं। सज़ा की धार बुट्ठी होती है और वह काम नही देती। और जब क़ानून जटिल बनते हैं तब उन का अमल करना कठिन होता है। घूसखोरी बढती है, पक्षपात या दुरुपयोग करने के मौके बढते हैं और सीधा-सादा समाज परेशान होता है।

कानून को सर्वसमर्थ समझने से अथवा सर्वसमर्थ बनाने की कोशिश से समाज में नये-नये दोष पैदा होते हैं।

हमें भूलना नही चाहिए कि अस्पृश्यता का शाप किसी समय सामाजिक-धार्मिक कानून के हाथ का एक शस्त्र ही था जो आज स्वय बडा शाप-रूप हो बैठा है।

(२६ अक्तूबर १६५७)

अस्पृश्यता-निवारण मे नया ख़तरा

अमुक जाति में या वश में जन्म होने के कारण किसी को हीन समझना या अस्पृश्य समझना मानवता का द्रोह है। इसलिए धर्म की परिभाषा में हम उसे अधर्म और पाप कहते हैं। मानवता या सामाजिकता की परिभाषा में उसे हम गुनाह कहते हैं।

एक समय था जब चर्चा बहुत चली कि अस्पृश्यता दूर करने के लिए कानून किया जाय या हृदय-परिवर्तन और मतपरिवर्तन का सहारा लिया जाय?

जब तक इस बारे में समाज का मानस जागृत नही था, धर्मबुद्धि मलीन थी, तब तक कानून बनाना मुश्किल था। विदेशी राज के सहारे हम क़ानून करते तो शायद समाज पर यह जुल्म हुआ ऐसा ही जनता का अभिप्राय हो जाता। सन्तो ने, धर्मपुरुषो ने और सामाजिक सुधारको ने लोकमानस को जागृत किया। महात्माजी ने धर्म के साथ राजनीतिक ज़ोर लगाया और सारे राष्ट्र की धर्मबुद्धि जागृत की और अस्पृश्यता दफना दी।

मैं देश-विदेश के लोगों को अभिमान के साथ समझाता हूँ कि अस्पृश्यता-निवारण का क़ानून हमारी राष्ट्रीय विधान सभा ने सर्वानुमति से पास किया है। एक भी सदस्य ने विरुद्ध मत नहीं दिया। इतना ही नही एक भी सदस्य तटस्थ न रहा। आज देश के पछात भागो में, खास कर के गाँवों में अब भी अस्पृश्यता का पालन कहीं-कहीं होता है। क्योंकि लोग पुरानी रूढ़ि—धर्म के नाम चली हुई रूढ़ि आसानी से छोड नही सकते। और चन्द जातियाँ अपनी उच्चता के घमंड को आसानी से छोड नही सकती।

ऐसी हालत में क़ानून और मतपरिवर्तन दोनो उपायो से अस्पृश्यता के सब अवशेष दूर करने हैं। जो लोग हृदयपरिवर्तन के रास्ते जाते हैं उन को चाहिए कि वे क़ानून की मदद ले कर गुनाहगार को सज़ा करने की कोशिश न करें। लेकिन बाक़ी के समाजसेवक और लोकनेता ज़रूर क़ानून का सहारा ले कर अनाथों का और पीडितो का रक्षण करे। जिन लोगों को राज चलाना है देश के विधान को जीवित रखना है, उन को तो जागरूक रह कर निर्भयता से अछूत आदि दबी हुई जातियो का और व्यक्तियों का रक्षण करना ही चाहिए।

जो लोग सरकार के नौकर हैं, प्रजा का नमक खाते हैं और क़ानून का पालन करने के लिए बँधे हुए हैं वे तो क़ानूनभंग को तनिक भी बरदाश्त न करें। वे तो पुराण-मतवादियों को कह सकते हैं कि जो क़ानून आप को पसन्द नही उसे बदलने की कोशिश ज़रूर करें। लेकिन जब तक क़ानून क़ानून है तब तक उसे अमल में लाने के लिए हम बँधे हुए हैं। इस बात में अगर हम ने ढील की तो स्वराज स्वराज नही रहेगा।

असल में क़ानून तो राष्ट्र की न्यायबुद्धि, धर्मबुद्धि और मानवता को समझ कर उस पर अपनी मुहर लगाता है। उस मुहर का आदर हरएक को करना ही चाहिए। जिन के मन में कानून के प्रति सर्वमान्य आदर नहीं है, विचारपूर्वक और निष्ठापूर्वक लोग क़ानून का पालन जो नहीं करते, उन्हें क़ानून के ख़िलाफ़ सत्याग्रह करने का अधिकार ही नहीं रहता। ऐसे लोग जब क़ानून का भंग करते हैं तब वे सत्याग्रही नहीं किन्तु मामूली गुनाहगार ही होते हैं।

अस्पृश्यता-निवारण का काम कब का ख़तम हो जाना चाहिए था। स्वराज सरकार इस बात में अगर जोर न लगावे और अस्पृश्यता-निवारण नाम से एक कायमी महकमा चलावे और बजट में उस के लिए आर्थिक प्रबन्ध कर रखे और उतने से सन्तोष माने तो सरकार की नीयत पर किसी का विश्वास नहीं होगा। अस्पृश्यो की ओर से बोलनेवाले लोगो का सन्तोष और वोट पाने के लिए सरकार अगर प्रजाकीय धन का कुछ हिस्सा उन्हें देती रहे तो अस्पृश्यता

दूर तो नही होगी, लेकिन सम्भव है अस्पृश्यता मजबूत ही बनेगी। अस्पृश्यता के खिलाफ बोलनेवाले को एक व्यवसाय मिलेगा और रूढिवादी कहेंगे कि अगर अस्पृश्यता चलानी है तो अस्पृश्यता-निवारको की उग्रता कम करने के लिए उन्हें कुछ-न-कुछ अवश्य देना चाहिए। रूढि की रक्षा के लिए इतना धन का व्यय बहुत नही है अस्पृश्यता पाप है, कलक है, गुनाह है ऐसी बातें चन्द लोगो के मुँह से सुननी पड़ेंगी, अखबारो में पढनी पडेंगी। उस के आदी हम बन जायेंगे।

अस्पृश्यता कानून से दूर हो चुकी है। उस की 'धार्मिक' बुनियाद टूट गयी है। अब जो लोग आज तक अस्पृश्य गिने जाते थे उन में तेजस्विता आनी चाहिए। उन को कहना चाहिए कि हम अस्पृश्य नही है। कोई हमें अस्पृश्य कहेगा तो हम उस चीज़ को बरदाश्त नही करेंगे। शिक्षा पाने के लिए और अपनी माली हालत सुधारने के लिए जो कुछ सीधी मदद मिल सकेगी हम ज़रूर लेगे। लेकिन अस्पृश्यता स्वीकार करने के लिए अगर हमें कोई घूस देगा तो हम उसे नही लेंगे। लोगो की दया पर जीने के दिन अब चले गये हैं। सवर्णों का हृदयपरिवर्तन करने का काम सवर्ण करें। उस के लिए सरकारी पैसा खर्च नही होना चाहिए। अस्पृश्यता-निवारक प्रचार के लिए न हम सरकार से पैसा लेगे, न और किसी को लेने देंगे, न सरकार को देने देंगे। सामान्य समाज के साथ एक रूप हो जाना यही हमारा एकमात्र उद्देश है। हमारे अन्दर जो अस्पृश्यता पायी जाती है उसे दूर करने का काम हमारा है। उस के लिए हम किसी से पैसा नही मांगेंगे। पैसा ले कर किये हुए प्रचार में जान नही आती, तेजस्विता नही आती। भाडूती प्रचार से दो नुकसान होते हैं। धर्मबुद्धि से, न्यायवृत्ति से चलाया हुआ तेजस्वी प्रचार फीकी पड जाता है और कानून भी कमज़ोर होता है। भाडूती प्रचारको को कहना ही पडता है कि कानून निर्वीर्य है।

अस्पृश्यता-निवारण के प्रचार के नाम पर सरकार की ओर से जो पैसा खर्च होता है। वह पैसा बरबाद ही होता है और अस्पृश्यता-निवारण का काम कमज़ोर होता है।

महात्मा गान्धी जैसो के पुण्यप्रताप से जो सार्वभौम क़ानून बना है उसे जीवित रखना है, प्रभावशाली बनाना है। साथ-साथ गान्धीजी ने अपनी तेजस्विता से जो प्रचार-कार्य किया उसी को गान्धीजी के ही ढग से आगे चलाना है। पाँच बरस के अन्दर इस काम को पूरा कर के दूसरे महत्त्व के काम की ओर राष्ट्र का ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। ऐसा नही किया तो सामाजिक जीवन सड जायगा और स्वराज खतरे में आयेगा।

(२४ फरवरी १९५६)

पुराना रास्ता नहीं चलेगा

हरिजनों के प्रति आज तक कम अन्याय नहीं हुआ है। आज भी हो रहा है। यह अन्याय सामाजिक है। उसे धर्म का आधार दिया गया, यह सब से बडी भूल हुई। अधर्म हुआ। इस अधर्म को, इस अन्याय को दूर करने की कोशिश अनेक सन्त-महात्माओं ने की। अब तो सारे राष्ट्र ने प्रायश्चित्त की दीक्षा ली है। हरिजनों के नेता भी आत्मोन्नति का प्रयत्न कर रहे हैं।

अस्पृश्यता-निवारण का प्रयत्न महात्माजी जैसे चन्द लोगों ने किया। लेकिन उस का अमल तो सारे राष्ट्र ने किया है। अमेरिका जैसे सुशिक्षित देश में भी नीग्रो के प्रति पूर्ण न्याय का बरताव करने के लिए वहाँ के सेनेट के सब सदस्य तैयार नहीं हैं। चन्द पक्ष में हैं, चन्द रूढिवादी विरोध में हैं। जिस तरह भारत अनेक राज्यों का बना हुआ देश है, उसी तरह अमेरिका भी अनेक राज्यों का—(स्टेट्स का) देश है। चन्द स्टेट्स नीग्रों को पूर्णतया अपनाने को तैयार हैं। चन्द स्टेट्स नहीं हैं। ऐसे राज्य (स्टेट्स) केन्द्रीय सरकार की अवज्ञा करने को भी तैयार हुए। उन को दबाना पडा। केन्द्रीय सरकार उन्हें पूरा दबा भी नहीं सकती।

भारत की स्थिति ऐसी नहीं है। यहाँ के सब राज्य, सब प्रान्त और सब पक्ष के नेता अस्पृश्यता-निवारण के बारे में एकराय हैं। देश के धार्मिक नेता भी अब अस्पृश्यता-निवारण के बारे में अनुकूल हो गये हैं।

ऐसी हालत में जब देश के सब के सब प्रधान तत्त्व प्रायश्चित्त-पुनीत हो रहे हैं, देश के प्रति, समाज के प्रति समाज की न्याय-बुद्धि के प्रति, धर्मबुद्धि के प्रति अविश्वास दिखाना अन्धे स्वार्थ का लक्षण होगा, दीर्घदृष्टि का अभाव होगा और मनुष्य-हृदय के प्रति नास्तिकता का पाप होगा।

विदेशी राज्यकर्ताओं ने भारतीय समाज को कमजोर बनाने के लिए उस में फूट डाली। जहाँ हमारी सामाजिक या धार्मिक कमजोरी देखी, उसे बढाने की कोशिश की। हर समाज को अलग-अलग बनाया। हिन्दुओं के हाथ में मुसलमानों का हित सुरक्षित नहीं है, इन दोनों के हाथ में ईसाइयों का हित सुरक्षित नहीं है ऐसी बातें फैलायी। पारसियों को भी बहकाने की कोशिशें हुई। आसाम के और

पूर्व भारत के आदिवासियो को अलग करने में विदेशी मिशनरियो को बहुत-कुछ सफलता भी मिली। और हरिजन हिन्दू ही नही हैं ऐसी भूमिका खडी करने की आखिरी कोशिश ब्रिटिश सरकार ने कर के देखी। गान्धीजी ने प्राण की बाजी न लगायी होती तो अँगरेज इस में सफल हो जाते। अँगरेज मुसलमानो को देश के बँटवारे तक ले गये। लेकिन भारत में तो देश का नही किन्तु समाज का बँटवारा अब भी चलाने की नीति पायी जाती है। इसे अगर हम रोकेंगे नही तो सारा राष्ट्र कमजोर होगा और आखिरकार तितर-बितर हो जायेगा।

देश के सविधान में जब हर एक आदमी को मताधिकार—वोट—मिला है, तब देश में जिन की बहुमती है, ऐसी पिछडी जातियो को विशेष सियासी अधिकार क्यो दिये जाये? सच देखा जाये तो देश के सार्वभौम अधिकार अब सार्वजनिक वोट के द्वारा, बहुसख्यक पिछडी जाति को मिल ही चुके हैं। उन को इस सार्वभौम अधिकार के उपरान्त विशेष अधिकार देने से, उन की सार्वभौम शक्ति बढेगी नही किन्तु घटेगी। और हमेशा के लिए वे लँगडे रहेगे। जिस समाज ने और जिन देश के नेताओ ने उन को न्याय देने के लिए इतनी कोशिशें की हैं, उन पर अविश्वास करना हरिजनो के हित की बात नही है। और मुख्य बात तो दूसरे किसी पर विश्वास रखने की है नही। अपनी सख्या और अपनी जागृति पर ही वे विश्वास रखें तो काफी है।

और मैं तो इस के आगे जाकर हरिजन-नेताओ को यह समझाने की कोशिश कर रहा हूँ कि जब तक वे शेड्यूल कास्ट यानी हरिजन होकर रहेंगे तब तक वे एक छोटी-सी जमात ही रहेंगे। जिस दिन वे अछूतपन की बात भूल कर विराट पिछडी जाति में घुल-मिल जायेंगे, तब देखते-देखते वे एक प्रचण्ड बहुमत के नेता बनेंगे। और तब सारे देश का नेतृत्व भी उन के हाथ में आ जायगा।

हरिजनों के लिए कानून या विधान के द्वारा खास स्थान सुरक्षित रखने से उन की हालत आश्रितो की जैसी हो जाती है। इस से चन्द नेताओ को थोडा कुछ लाभ होगा जरूर, लेकिन वह व्यक्तिगत लाभ होगा। सारे हरिजन समाज की स्थिति उस से सुधरेगी नही। जब वे विराट पिछडी हुई जातियो के स्वाभाविक और लोकमान्य नेता बनेंगे, तब उन में नया तेज आयेगा और उन की अस्पृश्यता अपने ही आप नष्ट हो जायगी। सविधान की मेहरबानी से जो अधिकार उन्हे मिलेंगे वे अधिकार कमजोर लोगो के अधिकार हैं, दान में दिये हुए अधिकार हैं। जब वे अपनी आन्तरिक शक्ति के द्वारा अपने स्वाभाविक अधिकार चलायेंगे तब उन के जीवन में इतना तेज आयगा कि उन्हें दूर रखने की कोई हिम्मत ही नही करेगा।

अस्पृश्यता दूर करने का एक उत्तम तरीक़ा है आन्तरजातीय विवाह का। आज की समाज-रचना देखते देश में हजारों और लाखों आन्तरजातीय विवाह हो नही सकेंगे। उस की जरूरत भी नही है। लेकिन जब तक हरिजन अपने को अछूत जाति के मानेंगे, शेड्यूल में होने का दावा करेंगे तब तक मिश्र विवाह होने में वही एक बडी रुकावट रहेगी। अनुभवी लोगो ने कहा ही है कि मनुष्य की जैसी श्रद्धा होगी वैसा वह बनता है।

हरिजनो की सब से बडी आवश्यकता है हर तरह की शिक्षा की। अपने लड़को को और खास कर के लडकियों को हर तरह की शिक्षा अधिक से अधिक देने की कोशिश करें। हरिजनो की बुद्धिशक्ति और किसी भी जाति से कम नही है। अगर उन में महत्त्वाकाक्षा आ गयी तो चाहे जितने ऊँचे वे पहुँच सकते हैं। सरकार को अपनी नीति स्पष्ट करनी चाहिए कि नौकरी देते समय आवश्यक योग्यता होने पर ही हरिजनो को प्रमुखता दी जायगी। उच्च श्रेणी की नौकरियो में केवल योग्यता का ही ख्याल रखना चाहिए। राष्ट्र का हित उसी पर निर्भर है। तीसरी श्रेणी की नौकरियो में स्पर्धा का तत्त्व बहुत होता है। वहाँ पिछडी हुई जातियो के लिए खास स्थान मुक़र्रर रखा जाय। पचास प्रतिशत नौकरियाँ पिछडी हुई जातियो के लिए रखी जाँय तो बुरा नही है। चौथी श्रेणी की नौकरियो में पिछडी हुई जातियो के लोग ही अकसर भरती होते हैं। वहाँ तो कुछ करने की आवश्यकता नही रहती।

सब पिछड़ी जातियो को पर बनाने के लिए, औद्योगिक प्रगति के लिए, जीवन में सहकार का तत्त्व बढाने के लिए हर तरह की मदद देनी चाहिए।

अस्पृश्यता-निवारण के बारे में समाज को समझाने का काम तनख्वाह पाने वाले प्रचारको का नही है। वह काम तो देश के नेताओ का है। जिन लोगो ने हरिजनो की, आदिम जाति गिरिजनो की और इतर पिछडी जातियो को दस-दस, बीस-बीस बरस सेवा की है, वे ही स्वाभाविक नेता है। लेकिन ऐसे लोगो की प्रतिष्ठा अब कम हो गयी है। धन के लिए उन्हें सरकार के पास जाना पडता है। अब नेतृत्व है उन्ही मिनिस्टरो का और सरकारी अमलदारो का, जिन के हाथ में सरकारी सत्ता और सरकारी पैसा है। पिछडी हुई जातियो को उन की जातिगत संस्थाओ को अनुदान के रूप में प्रजा का पैसा देकर लोकप्रिय बनना आसान है। लेकिन इस में सेवा नही है। अगर राष्ट्र के सब नेता समय-समय पर गाँव-गाँव में जाकर लोगों को सहानुभूति दिखावें और अज्ञान लोगो को समाज के आदर्श समझा देवें तो बहुत कुछ हो सकेगा। स्वदेशी अमलदार समाज के ऊपर काफी प्रभाव डाल सकते है। अस्पृश्यता अगर गाँवो में अभी

तक रही हो तो उस का कारण यही है कि हमारे अमलदार और मन्त्री अपने सामाजिक कर्तव्य का पालन नही करते ।

(१२ मई १९५९)

इंजन के डिब्बे

एक-एक सवाल को हल कर के उस से छुट्टी पाना और फिर दूसरे सवाल हाथ में ले कर उन का भी निबटारा करना हम लोग जानते ही नही । समाज जडता से भरा हुआ है । किसी सन्त महात्मा ने पीछे से धकेल दिया तो थोडे आगे बढेंगे । जडता की भी एक गति होती है जिसे अँगरेज़ी में 'inertia' कहते हैं । यह जड गति जब तक टिकती है समाज कुछ आगे बढता है और फिर चैतन्य के अभाव में ठहर जाता है । इस के बाद जो प्रगति होती है वह विचारपूर्वक नही होती । पुराना आग्रह नही रहा, शिथिलता आ गयी, इस लिए पुरानी भली-बुरी बहुत सी चीज़ें छूट जाती हैं । धर्म सुधार की बात हो या सामाजिक सुधार की, जडता और शिथिलता के कारण जो कुछ भी परिवर्तन हो सकता है समाज को मज़ूर है । किसी चीज़ को पकड रखने के लिए भी चैतन्य शक्ति की आवश्यकता होती है ।

अभी आगरा में एक निष्ठावान भूदान, ग्रामदान कार्यकर्ता ने बडे दर्द के साथ पूछा कि भूदान-ग्रामदान की प्रवृत्ति अब पहले की तरह नही चल रही । उस में काफी शिथिलता आ गयी है । इस का कारण क्या और इलाज क्या ?

बात सुन कर दु ख हुआ, लेकिन आश्चर्य नही । मैं ने कहा कि हर प्रवृत्ति में ऐसा ही चलता है । बारिश के ही दिन लीजिए । जब बारिश शुरू होती है, कुछ दिन के लिए बारिश अच्छी होती है बाद मे कम होती है और अन्त में धूपकाल आता है । पानी कम हो जाता है । और फिर दूसरी वर्षा की राह देखनी पडती है । हमारा समाज इजन के डिब्बे जैसा है । इजन खीचता है तब तक डिब्बे चलते हैं । इजन के छूट जाने के बाद जडगति के कारण बिना इजन के डिब्बे भी कुछ हद तक दौडते रहते हैं और बाद में बन्द होते हैं । इसी तरह बाह्य प्रेरणा जब तक काम करे, कुछ होता है । नही तो जडगति और जडस्थिति— यही हमारे जीवन के सामान्य नियम है । हमारे युद्धो में भी जब तक सेनापति

सलामत है, फ़ौज लड़ेगी। सेनापति मारा गया या ग़ायब हुआ तो उस का स्थान कोई नही लेगा और लिया तो सफल नही हो सकेगा।

[सिर्फ एक ही दफे इस का एक अपवाद पाया गया। अँगरेज ने एक भारतीय फौज अफग़ानिस्तान की ओर भेजी थी। अँगरेज सेनापति मारा गया और सेना तितर-बितर होने की तैयारी में थी। लेकिन एक भारत का डॉक्टर, जो फौज के साथ था, लेकिन फौजी आदमी नही था, उस ने स्वेच्छा से सेना का नेतृत्व किया। लोगों में आत्मविश्वास आया। वे बहादुरी से लड़े और विजय पा कर लौटे। अँगरेजों ने इस डॉक्टर की, सर्जन कीर्तिकर की काफ़ी प्रशंसा की।]

मैं ने जवाब में कहा, भूदान-ग्रामदान की सफलता सारी दुनिया में एक चमत्कार है। श्री विनोबा लोगों की दानशक्ति, त्यागशक्ति पहचान सके और उसे जागृत कर सके, यह उन की बड़ी आस्तिकता है। योग्य आदमी की प्रेरणा मिलते ही हमारी जनता अपना मामूली स्वभाव छोड़ कर चाहे जितनी ऊँचा उठ सकती है।—यह है सच्चा चमत्कार।

इस तरह चैतन्यशक्ति और जड़शक्ति का संघर्ष हमेशा चलता रहता है। सम्भव है कि विनोबा के कार्य के बाद यानी विनोबा से प्रेरणा पा कर जिन हज़ारों लोगों ने और ग्रामों ने जो विचार-परिवर्तन कर दिखाया, जो जीवन-परिवर्तन किया उस के प्रभाव से सरकार में नयी हिम्मत आयेगी और क़ानून बनाये बिना भी सरकार ज़मीन वालों को और ग्रामों को समझा कर ज़रूरी परिवर्तन कर देगी, जैसे भारत सरकार हमारे राजाओं को समझा सकी कि सिर पर का मुकुट उतार देने में ही खैरियत है।

अमेरिका में नाग्रो गुलामों की गुलामी शुरू-शुरू में ऐसे ही दूर हो सकी। बाद में दक्षिणी राज्यों ने समय को नही पहचाना, इस लिए आब्राहम लिंकन को बाक़ायदा युद्ध करना पड़ा।

गान्धीजी ने अस्पृश्यता निवारण के कार्य को राजनीतिक क्षेत्र में स्थान दिया। स्वराज्य प्राप्ति का उसे एक अविभाज्य अंग बनाया। कुछ प्रगति हुई। अँगरेज़ों ने अपने स्वभाव के अनुसार हरिजनों को ख़रीदने की कोशिश की और उन्हें अपनी निष्ठा बेचने का धन्धा सिखाया। जो नैतिक प्रवृत्ति थी उसे बाज़ारू रूप आ गया। अस्पृश्यता-निवारण का काम नैतिक ढंग से होना चाहिए था। अँगरेज़ों ने उसे भ्रष्ट किया। स्वराज पाते ही अस्पृश्यता-निवारण का काम क़ानूनी ढंग से हम कर सके।

साथ-साथ गिरिजनो के उद्धार का काम भी राजनीतिक क्षेत्र में आया। उस के बाद बाकी की पिछडी हुई जातियो का सवाल भी राजनीति ने अपने हाथ में ले लिया। इस से सब जातियो की स्थिति तो कुछ सुधर गयी। आइन्दा जोरो से सुधरेगी भी, लेकिन सवाल हल नही हुआ। न किसी की मानस-शुद्धि हुई, न किसी के जीवन में परिवर्तन हुआ। वह काम अब करने के लिए शेष है।

यह काम अब भाषण देने से और हस्तपत्रक छपवाने से होने का नही। समाज को और सरकार को चाहिए कि वह समाज का एक छोटा सा सारा हिस्सा अपने हाथ में ले कर उसे एक-दो बरस में और बहुत तो एक पचवार्षिक योजना मे हल कर के ही छोडें।

यह काम है भगियो की अस्पृश्यता दूर कर उन का जीवन सुधारने का। इस के लिए सामाजिक तेजाब का प्रयोग करना पडेगा।

जो लोग जन्म से, यानी परम्परा से भगी हैं, भगी का पेशा कर रहे हैं ऐसो को दूसरी कोई नौकरी दे कर, उन से भगी-काम जबरदस्ती छुडवाना चाहिए। जब हम लाखो शरणार्थियो को अपने समाज में समा सके और उन की आजीविका का सवाल कुछ न-कुछ हल कर सके, तब भगियो का सवाल हल क्यो नही हो सकता ? इस में सवर्ण समाज का जितना विरोध होगा उतना भगियो की ओर से भी विरोध होगा। भगीजाति के नेताओ की इस में कसौटी होगी। जाति का नाम ले कर सब कुछ पाने को वे तैयार हैं, तो इस आजीविका-परिवर्तन के लिए, उन को अपने लोगो को सफलतापूर्वक तैयार करना ही चाहिए। नही तो अपना नेतृत्व छोड दें।

भगियो का सवाल गाँव का नहीं शहरो का है। अमेरिका में लोग यही सवाल पूछते थे कि नीग्रो को मुक्त करने पर जो काम वे करते आये हैं, आइन्दा कौन करेगा ? जवाब यही हो सकता है कि 'जिन को गरज है वे करेंगे'। अगर रसोई बनाने का काम स्त्री-जाति और रसोइयो ने छोड दिया तो रसोई बनाये बिना दुनिया थोडे ही रहने वाली है ? कुछ रास्ता निकल ही आयेगा। चमार के व्यवसाय में मुनाफा है यह देख कर सब जाति के लोग चमार-काम करने के लिए धीरे-धीरे तैयार हो रहे हैं। जूते के बिना शायद मनुष्य का काम चल सकेगा। गन्दगी (टट्टियाँ) साफ किये बिना वह दस दिन भी नही चलेगा। लोग रोग के शिकार बन कर मरने लगेंगे। हम नही मानते कि समाज के नेता और समाज के सेवक ऐसी नौबत आने देगे। भगी-काम जो आज इतना गन्दा है और जो करने के लिए भगी ही तैयार है देखते-देखते विज्ञान की मदद से सुधर जायेगा। विद्वान् लोग अपना दिमाग चलायेंगे। नगरपालिकाएँ बडे-बडे पुरस्कार दे कर

नये-नये आविष्कारों को प्रोत्साहन देंगी। चन्द लोग इस आन्दोलन से लाभ उठा कर विलायत की यात्रा कर के, वहाँ से सवक सीख आयेंगे। लेकिन कुछ इलाज अवश्य होगा इतना निश्चित है।

भगियो को गन्दगी की सफाई के काम से छुडवाना, यह एक काम—और 'उन के रहने के मकानो की समस्या' हल करना, यह दूसरा काम इतना अगर हमारा प्लॅनिंग कमिशन तीन या पाँच साल के अन्दर नही कर सका तो वह राष्ट्रीय सकट का निवारण क्या कर सकेगा ?

गान्धीजी होते तो ऐसी कुछ पंचवर्षीय योजना ले कर उसे हल कर के दिखाते। अगर आज जवाहरलालजी इसे सफल वनाने का निश्चय करें तो भी वह हो सकेगा। हमारे समाज और सरकार के इजन वे ही हैं। वाक़ी सरकारी सारा तत्र इजन के पीछे दौडने वाले अच्छे-अच्छे डिव्वे के समान है।

अस्पृश्यता का हड़क

वुद्ध भगवान् सनातन हिन्दूधर्मी क्षत्रिय थे। कहते है उन के मन में कुलाभिमान भी था। लेकिन किसी भी जाति के प्रति उन के मन में तिरस्कार नही था। हिन्दू समाज में धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक सुधार उन्हों ने किये। अस्पृश्यतानिवारण के प्रयोग तो उन्होंने किये ही होगे। उन्होने व्राह्मण और चाण्डाल शव्द की नयी व्याख्या की। उन के अनुयायियो को नाम मिला वौद्ध। लेकिन वे हिन्दू समाज से अलग नही हुए थे। हिन्दू समाज के वे सुधारक थे।

धीरे-धीरे वौद्ध धर्म हिन्दुस्तान के वाहर गया। उस में शाक्त धर्म का मिश्रण हुआ। शाक्त धर्म पूरा-पूरा हिन्दू ही था और है। जिस धर्म का प्रचार नेपाल, तिव्वत, चीन, मंगोलिया, कोरिया, जापान आदि देशो में फैल गया—उसे महायान कहते हैं। इन के प्रधान ग्रन्थ सस्कृत में ही हैं। इस लिए ऊपर के सव देशो के लोगो को हम हिन्दू कह सकते हैं। लेकिन वे अपने को अलग मानें तो उन्हें हम जवरदस्ती हिन्दू थोडे ही कह सकते है ?

सीलोन (लका), व्रह्मदेश, कम्वोडिया आदि प्रदेश के वौद्ध लोग हीनयान-पन्थी है। वे अपने को कभी भी हिन्दू नही कहेंगे। उन की भूमिका ही प्रॉटेस्टन्ट भूमिका है।

मैं ने मान लिया था कि वौद्ध धर्म में हिन्दुओ के कुछ-कुछ दोप तो जरूर पहुँच गये होंगे, लेकिन अस्पृश्यता से वौद्ध लोग मुक्त ही होंगे। लेकिन देखा कि जापान में 'ईता' कर के एक अस्पृश्य जाति है। उन का पेशा खटीक (कसाई) का था।

हमारे यहाँ के अस्पृश्यो ने सब तरह के अन्याय और अपमान सहन किये, लेकिन वे हिन्दू धर्म में ही रहे। उन की श्रद्धा और निष्ठा का फल हिन्दू धर्म के भगवान् ने उन्हें दे दिया। हिन्दुओ के सन्त-महन्तों ने, सुधारक और महात्माओ ने अस्पृश्यता के खिलाफ ज़बरदस्त जेहाद चलाया और अब तो सारे राष्ट्र ने सर्वानुमति से घोषित किया कि किसी को जाति के कारण अछूत समझना गुनाह है और उस के लिए सजा हो सकती है। अब अस्पृश्यता के अन्याय का सामना करने के लिए धर्मान्तर करने की आवश्यकता न रही।

इस के पहले चन्द अछूतों ने अपनी अस्पृश्यता दूर करने के लिए इस्लाम का स्वीकार किया। जब पश्चिम के गोरो का राज इस देश में हुआ तब कई अछूतो ने अपनी मुक्ति के लिए ईसाई धर्म को स्वीकार किया।

लेकिन धर्मान्तर करने पर भी कही-कही उन की अस्पृश्यता न गयी। जो सवर्ण हिन्दू ईसाई हुए वे हरिजन-ईसाइयो को पहले-पहल अपने मन्दिर-चर्च में भी नही आने देते थे। बाद में मन्दिर में तो आने दिया, लेकिन उन को अलग बिठाते थे। कही-कही सवर्ण ईसाइयो की क़ब्रस्तानें अलग और हरिजन ईसाइयों की क़ब्रस्तानें अलग। कहते हैं कि आज भी ऐसा भेद दक्षिण भारत में कही-कही पाया जाता है।

खैर! धर्मान्तर करने पर भी अस्पृश्यता ने उन को नही छोडा। तो भी इस्लाम में या विश्वासी धर्म में अस्पृश्यता को मान्यता ज़ाहिरा तौर पर नही है।

अब हरिजनो के चन्द नेताओ ने सोचा कि हम जब तक हिन्दू हैं, हमारी अस्पृश्यता टलने की नही। इस लिए हम धर्मान्तर करें। वे बौद्ध हुए, नवबौद्ध हुए। हिन्दू न रहे।

अब सरकार कहने लगी कि जिन लोगो ने धर्मान्तर किया वे हिन्दू न रहे। इस लिए अछूतों को जो विशेष अधिकार या सहूलियतें मिलती हैं, तुम को नही मिलनी चाहिए।

जो अछूत मुसलमान या ईसाई हुए वे अपने को शेड्यूलकास्ट में शुमार नही करते। उन को अछूतो की सहूलियतें नही मिलती, न वे माँगते है। अगर वे मागेंगे तो उस का अर्थ यही होगा कि या तो वे अपने को हिन्दू मानते हैं अथवा उन्होंने अस्पृश्यता की बुराई इस्लाम में या ईसाई धर्म में ले जाना पसन्द किया। स्वयं तो अस्पृश्यता से मुक्त नही हुए, किन्तु एक मुक्त धर्म को उन्होने अस्पृश्यता के पाप से भ्रष्ट कर दिया।

सुनता हूँ कि बम्बई की तरफ कई नव-बौद्ध सरकार से कहते हैं कि हम ने धर्मान्तर तो किया, लेकिन हमारी अस्पृश्यता गयी नही है, इस लिए हमें शेड्यूल-

कास्ट के जो विशेष अधिकार मिलते थे, सहूलियतें मिलती थी, आइन्दा भी मिलनी चाहिए।

सरकार इन्हें नाराज़ क्यों करें? जो लोग श्येड्यूल्कास्ट की फेहरिस्त में रहना चाहते हैं वे सचमुच हिन्दू मिटे ही नहीं। बुद्ध भगवान् जैसे हिन्दू थे, वैसे वे भी हिन्दू ही हैं।

अब वे अस्पृश्यता बौद्ध धर्म में ले गये। जो बौद्ध जमात अस्पृश्यता के पाप से मुक्त थी, वह वैसी न रही।

पता नही कि जब नव-बौद्धो को अछूतों के अधिकार मिल रहे हैं, तब जो अछूत ईसाई बन गये या मुसलमान बन गये वे भी अगर नव-बौद्धो के जैसे शेड्यूलकास्ट की फेहरिस्त में घुसना चाहें तो सरकार उन के इस दावे को मान्य रखेगी या नही। चुनाव के दिन जब आयेंगे तब यह सवाल अवश्य उठेगा।

हमारा तो स्पष्ट अभिप्राय है कि अस्पृश्यता के दैत्य को नष्ट करने का कर्त्तव्य हिन्दूधर्म का ही है, हिन्दू समाज का ही है। हिन्दुओ का पाप हिन्दू ही धो सकते हैं। हम अपने लोगों को अछूत बनाने का पाप कर ही चुके, साथ-साथ इस्लाम, विश्वासी धर्म और बौद्ध धर्म को भी इस बात से मुक्त नही रहने देंगे और यह विचित्र प्रयत्न सवर्णो सनातनियों के द्वारा नही, किन्तु जो आज तक अस्पृश्य गिने गये उन्ही के प्रयत्न से अस्पृश्यता का प्रचार अन्य धर्मियों में भी घुस जायगा! पाप का प्रचार कहाँ होगा, कहाँ नहीं होगा कहना मुश्किल है। सब धर्मो को बचाने के लिए भी हमें अपने धर्म में से अस्पृश्यता को समाप्त करना ही चाहिए।

(१५ मई १९६३)



पिछड़ी जातियाँ

हमारे आदिम-जाति भाई

देश की जाग्रति के साथ हमारे आदिम-जाति भाइयों की उन्नति होती देख कर खुशी होती है। हालांकि हरिजन आदि अन्य जातियो में जितनी जाग्रति हुई है इतनी अभी तक इन में नही पायी गयी है, तो भी जहाँ देखें आदिमजाति के कई लोग अपनी उन्नति के लिये कुछ-न-कुछ सोचते हुए और करते हुए दीख पडते हैं। श्री ठक्कर बाप्पा ने महात्माजी की सहायता से जो काम शुरू किया, उसे सारे देश में इस तरह जोर पकडते हुए देख कर किसे खुशी नही होगी ?

चन्द लोग कहते हैं कि इन भूमिजनों का जीवन जैसा है वैसा ही रहे। यह जीवन इतना आकर्षक है कि उस का काव्य बिगडने नही देना चाहिए। इन रसिकों को क्या पता है कि हमारे भूमिजन भाइयो की जीवन-यात्रा कितनी कठिन और कष्टमय है ! आदिमजाति के लोगो का एक जिन्दा संग्रहालय बनाना रसिको के लिए लाभदायी बनेगा। नृवंशशास्त्री लोगो के अध्ययन के लिए इस में बडा सुभीता होगा। लेकिन हम चाहते कि हमारे इन भाइयो को उन्नति और आनन्द के सब साधन मिलें। उन का ज्ञान और कौशल्य बढे। जो तरह-तरह के प्रगति के और सुख के साधन हमें हासिल हैं, वे सब इन्हें मिलें, और देश में इन्हें वही प्रतिष्ठित स्थान मिले जो दूसरो को आज मिल रहा है। श्री जवाहरलाल नेहरू और राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद जिन स्थानो पर आज विराजमान हैं वे सब स्थान आदिमजाति भाइयो के लिए भी खुले हैं। लेकिन उन की महत्त्वाकाक्षा आज वहाँ तक नही पहुँचती है। किसी-न-किसी वक्त उन को वहाँ तक पहुँचना ही है।

आदिमजाति के लिखे-पढे नवयुवक आज अपनी जाति की उन्नति की बातें सोच रहे हैं। यह अच्छा ही है। लेकिन केवल अपने ही लोगो की उन्नति का ख्याल करने वालो का पूरा उत्कर्ष नही होता। जो लोग औरों के हित की— सारे देश के लोगो के हित की बात सोचते है, उन्ही की पूरी उन्नति होती है। महात्माजी अगर सौराष्ट्र के मोढ वनियो की ही उन्नति की सोचते तो विश्ववन्द्य महात्मा नही बनते। भारत के सर्वोच्च सेवक जवाहरलालजी भारत की उन्नति

के लिए दिन-रात लगे रहते ही है, लेकिन साथ-साथ वे दुनिया के अन्य देशो की भी सोचते हैं। इसीलिए आज दुनिया में उन का इतना ऊँचा स्थान है। और उन के कारण भारत की ओर सारी दुनिया आशा की निगाह से देख रही है। हमारे आदिमजाति भाइयो की और वहनो की महत्त्वाकांक्षा की तनिक भी मर्यादा नही होनी चाहिए।

इन गिरिजन और भूमिजन वन्धुओ की उन्नति की वात जब हम सोचते है, तव हमारी यह कोशिश नही होनी चाहिए कि हम उन्हें अपनी कोई मनमानी सूरत दे दें, उन्हें हम अपने सांचे में ढाल दें। आदिम जातियाँ ईश्वर की कलाकृति हैं। उन-के सामने इस युग के सव आदर्श हम प्रेम से धर दें। इन्हें जो वात पसन्द आयेगी, ले लेंगे, जो पसन्द नही आयेगी, छोड देंगे। जैसी इन की खुशी हो, वैसा अपना विकास-क्रम वे पसन्द करेंगे।

आज इन के आसपास की दुनिया ज़ोरों से आगे वढ रही है। उन्हें इस की पूरी जानकारी नही है। कई स्वार्थी लोग इन भोले लोगो की अज्ञानता से लाभ उठाते हैं, इन का शोषण करते हैं। इन्हें वचाना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है।

इन्हें वचाने का और इन की उन्नति का सव से महत्त्व का तरीका है शिक्षा। हम अपने वच्चो को जैसी शिक्षा देकर विगाड़ रहे हैं, वैसी शिक्षा इन्हें देंगे तो इन का अहित होगा। इन्हें इन के जीवन के अनुरूप वही शिक्षा देनी चाहिए जो महात्मा गान्धीजो ने देश के सामने रखी है। लेकिन अगर हम इन्हें उच्च शिक्षा का रास्ता और सरकारी नौकरी का रास्ता वन्द कर दें तो इन का विकास रुक जायेगा। आज की शिक्षा के द्वारा वेकारी वढती जाती है। यह वेकारी की शिक्षा इन के काम की नहीं है—किसी के भी काम की नही है। इन लोगो के लिए महात्माजी की वतायी हुई वुनियादी शिक्षा ही सव तरह से मुफ़ीद है। लेकिन हम जानते हैं कि ये लोग यह शिक्षा लेने के लिए तभी तैयार होगे जव हमारी सरकारें घोषित करेंगी कि सरकारी नौकरी देते वक़्त उन्हीं को ज़्यादा पसन्द किया जायेगा, जिन्होंने वुनियादी शिक्षा में प्रवीणता हासिल की है।

और भी एक वात है। वुनियादी शिक्षा के लिये आज तक हम ने ऐसे शिक्षक पसन्द किये जो सफ़ेदपोश जाति के थे। ऐसे लोगो को परिश्रम के प्रति अरुचि होती है। हाथ-पांव चलाना वे अपनी शान के खिलाफ़ समझते हैं। स्वय काम करने की अपेक्षा वे दूसरो का शोषण कर अपना घर भरते हैं। गान्धीजी की वतायी हुई शिक्षा ऐसो के हाथ में सलामत नही है।

आइन्दा हम गाँव के और देहातो के कारीगरो को वुला कर कहेंगे कि गाँव के गृह-उद्योग और हाथ-कारीगरी में हम आप का इम्तहान लेगे। उस परीक्षा में

जो पास होंगे, उन्हे सब तरह की अच्छी शिक्षा देंगे, और शिक्षण-शास्त्र सिखा कर उन्हें बुनियादी शिक्षक बनायेंगे। 'और लोग सुधरे हुए हैं, हम पिछडे हुए हैं,' ऐसी मायूसी उन के मन में रहने नही पाये। उन के मन में हमेशा ऐसा विश्वास रहे कि सफेदपोश लोग जो नही कर सकते हैं वह हम कर के दिखायेंगे।

ऐसे शिक्षकों के द्वारा आप लोग अपने लडको को और लडकियो को महात्माजी की बतायी हुई नयी तालीम यानो जीवन-शिक्षा जब देंगे, तब आप देखेंगे कि आप की जाति में नयी ही जान आयेगी। नया चैतन्य प्रस्फुटित होगा और देश का नेतृत्व आप के हाथ में आप ही आयेगा।

फिर तो आप को सरकारी नौकरी माँगने के लिए नही जाना पडेगा। सरकार ही आप के पास आ कर पूछेगी कि 'सेवा करने के लिए आओगे? हमें विश्वास है कि आप के हाथो ही राज्य अच्छा चलेगा'।

शिक्षा के द्वारा सब तरह का कौशल्य बढाना है। आँखें तेज़ हो, कान तेज़ हो, दिमाग़ तेज हो और उँगलियो के द्वारा सब तरह का काम, विज्ञान युग चाहता है उतना सूक्ष्म और विना तनिक भी खामी का बने, यह है आज के कौशल्य की माँग।

इस के अलावा विज्ञान से दूसरा भी एक काम लेना है। गांव के लोगों में, और आदिमजाति के लोगों में भी, वहम बहुत होते हैं। जादू-मन्त्र भूत-प्रेत पर विश्वास होता है। जहाँ बीमारी आयी, छूत का रोग आ गया, वहाँ तबीबी इलाज करने की जगह जादू का सहारा लिया जाता है। कभी-कभी तो जब जानवर मरने लगते हैं तब लोग हरिजनो को पीटते हैं, ऐसा मान कर कि ये हरिजन ही सब रोग लाते है। ऐसे वहमो का इलाज एक ही है—वैज्ञानिक दृष्टि का प्रचार। जब विज्ञान बढ़ेगा तब वहम अपने-आप दूर होगे और साथ-साथ कुशलता भी बढेगी। नयी तालीम में विज्ञान और कौशल्य दोनो का ऊँचा स्थान रहेगा।

गिरिजन और भूमिजन खुली हवा में रहते हैं, धूप का सेवन करते हैं। वे परिश्रम करते हैं। उन में रोग का विस्तार कभी भी नहीं होना चाहिए। लेकिन अज्ञान के कारण और नि सत्व आहार के क़ारण वे रोग के शिकार बनते हैं। आदिमजाति के लोगो में और भी कई रोग फैले हुए हैं, जिन का इलाज तुरन्त होना चाहिए।

स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध और उस की समस्याओ का शुद्ध ज्ञान भी शिक्षा के द्वारा इन्हें देना चाहिए। और अगर आज की दुनिया में इन्हें रहना है तो अपनी चीज़ें किस तरह से वेचना, ज़रूरी चीज़ें किस तरह खरीदना, पैसा कैसे बचाना, पूँजी का रहस्य क्या है आदि सब बाते इन्हें सिखानी चाहिए। कानून, कोर्ट का रहस्य

भी इन्हें समझाना ज़रूरी है। वोट (मतदान) क्या चीज़ है, पार्लियामेण्ट कैसा काम करती है, अन्याय का इलाज कैसे हो सकता है, पचायत के अधिकार कैसे और कितने हैं, इन सब बातो से इन्हें वाक़िफ करना चाहिए।

विज्ञान के साथ शुद्ध धर्म का ज्ञान भी शिक्षा के द्वारा दिया जाये और धार्मिक जीवन के विकास के लिए गीत, नृत्य, नाटक और चित्रकला का उपयोग किया जाये। आदिवासियो के गीत और नृत्य का सम्मान तो हम करते आये हैं। लेकिन इतना काफ़ी नही है। जहाँ-जहाँ इन के गीत और नृत्य संस्कारी और आकर्षक हैं वहाँ उन को अपनाने का, फैलाने का प्रयास हम करें, यह भी इतना ही ज़रूरी है। जब वे देखेंगे कि उन के पास देने लायक़ भी कुछ है, जो हम उन के पास से सीखते हैं तो उन का आत्मविश्वास बढ़ेगा और हमारे साथ घुलते-मिलते हुए उन को संकोच नही रहेगा।

गिरिजनो को और भूमिजनो को लोग जगली कहते हैं। जंगलो के साथ का घनिष्ट सम्बन्ध रहता है इस अर्थ में इन्हें हम 'जंगली' कह सकते हैं। लेकिन अगर 'जंगली' का अर्थ असस्कारी है, तो यह शब्द इन आदिम-जातियो के लिए बिलकुल अनुचित है। इन का सामाजिक सगठन, इन की सत्यनिष्ठा, खुले दिल से बात करने का इन का तरीक़ा, जहाँ विश्वास बैठ गया वहाँ इन की असाधारण निष्ठा—ये सब ऊँची संस्कारिता के लक्षण हैं। परिमित साधनों के द्वारा ये लोग जिस तरह अपनी जीवन-समस्याएँ हल करते हैं, उस में भी इन की संस्कारिता और शक्ति प्रकट होती है। ग्रामोद्योग में इन की प्रवीणता और कला-कौशल्य बड़े ही आकर्षक होते हैं। इन के औज़ार, इन के वाजिन्त्र, इन के शिकार के साधन आदि हर बात में इन की संस्कारी सफलता पायी जाती है। इन की बनायी हुई कलायुक्त चीज़ें हम केवल संग्रहालय में न रखें। हज़ारो घरों में भी उन का इस्तेमाल बढाना चाहिए।

आदिवासियों के धार्मिक ख्यालो का हमें आदरपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। ईसाइयो ने उन के बीच धर्म-प्रचार बहुत किया है। दो करोड़ आदिवासियों में से चार लाख आदिवासी ईसाई बन चुके हैं। जो धर्म हमारे इन भाइयो ने अपनाया उसे हम अब पराया धर्म नही कह सकते। ईसाई मिशनरी भले ही आदिवासियों के धर्म-विचार के प्रति सहानुभूति या आदर न रखें, किन्तु हमें ईसाई धर्म के प्रति अनुदार दृष्टि नही रखनी चाहिए। दुनिया में जितने भी महान् धर्म हैं, हमारे आदर के अधिकारी हैं। जब दुनिया में अधर्म का फैलाव बढ रहा है, सब धर्मों को चाहिए कि वे अपनी-अपनी संकुचितता छोड़ कर, परस्पर भाई-चारा बढायें और सब मिल कर अधर्म के खिलाफ़ मोर्चा बाँध दें।

ईसाई धर्म-प्रचारकों को हम दुश्मन क्यों मानें ? अगर उन में संकुचितता है, तो वह हम अपनी उदारता के द्वारा दूर करें। भगवान् ईसा एक परम भागवत थे। उन की ईश्वरनिष्ठा अनन्य थी। वे बाल-ब्रह्मचारी थे। पतितोद्धारक थे। हिन्दू-धर्म ने ऐसे सब सन्तो को आराध्य माना है। हम लोग जिस तरह अनेक त्योहार मनाते हैं, नाताल (क्रिसमस) का भी त्योहार मनावें। ईसा के उपदेश में कोई ऐसी चीज़ नही है जो हमें आपत्तिजनक लगें। हम हिन्दू रह कर ईसा को और ईसा के सदुपदेश को स्वीकार कर सकते हैं।

ईसाई मिशनरियो ने हमारे देश में बहुत-कुछ प्रचार किया है। राज्य-सत्ता की उन्हें मदद थी। और उन्होने सेवा-कार्य भी बहुत किया है। इस लिए उन्हें कामयाबी मिली। चन्द मिशनरियो की करतूतें अच्छी नही हैं लेकिन इस से ईसाई धर्म को हम बुरा नही कह सकते। हिन्दू-धर्म और ईसाई-धर्म दोनो की दृष्टि में एक बडा फर्क है। ईसाई-धर्म के प्रचारक कुछ असहिष्णु होते हैं। वे कहते हैं कि सत्य तो हमारे पास ही है। बाकी के सब धर्म असत्य में डूबे हुए हैं। लेकिन खूबी यह है कि इन ईसाइयो में अनेक पन्थ है। एक को जो बात सही लगती है, वह दूसरे को गलत लगती है। आपस में वे विवाद करते रहते हैं।

हम कहते हैं कि भगवान् की दुनिया में तरह-तरह के मानस होते हैं। ईश्वर की ओर बढने के रास्ते बहुत हैं। आदिवासियो में भी सदाचार की चाह है। हिन्दूधर्म में आदिवासियों के धर्म-विचारो का और रूढियो का तिरस्कार नही किया है। आदिवासियो के धर्म-विचारो के लिए हिन्दू-धर्म में स्थान है। अगर ठीक सोचा जाये तो हिन्दू-धर्म एक विशाल धर्म-कुटुम्ब है। इस में अनेक मार्गों के लिए स्थान है। हम अपनी उपासना में रोज़ कहते हैं "सब सन्तन की जय।" सकीर्ण बुद्धि के लोग इस चीज़ को नही समझ सकेंगे। वे तो वाद-विवाद करने को ही तैयार हो जाते है। उन के प्रति हम दयाभाव रखें और उन से चर्चा करना छोड दें।

आज दुनिया में तीन धर्म अनेक देशों में फैले हुए हैं . बौद्ध, ईसाई और इस्लाम। तीनो के साथ हम प्रेम का सम्बन्ध रखें, भाईचारा बढ़ाये। सब धर्मों के साथ सहयोग स्थापित कर हम अपनी दृष्टि को जामन (leaven) की तरह उपयोग में लायें। जैसे हम दूध में दही का जामन डालते हैं और उस में से मक्खन निकालते हैं, उसी तरह हमारी दृष्टि का जामन इस्तेमाल कर के हम सब धर्मों में से उन का मक्खन निकाल सकते हैं और अपना सकते हैं।

आज दुनिया में राजनीतिक विचारो का झगडा चल रहा है। धार्मिक

झगड़ों से थकी हुई दुनिया अब राजनीतिक वादों में लगी हुई है। और अब इन वादों के झगड़े चल रहे हैं। पूँजीवाद, समाजसत्तावाद, साम्यवाद आदि के झगड़े ऐसे ही बढ़े हैं जैसे धर्म के चले थे। अब इन में से एक रास्ता निकल आया है जिसे कहते हैं 'को-एक्जिस्टेन्स' या सहचार या सह-अस्तित्व, जिस के माने हैं "भैया तुम भी रहो, हम भी रहेंगे। तुम्हारे उसूल तुम्हें मुबारक़ हों। हम अपनी जगह, अपने उसूल पर चलेंगे। झगडा करने से कोई धर्म या कोई 'इज़्म' का नाश नहीं होता, किसी एक की विजय भी नही होती। सिर्फ़ झगडा बढ़ता है। तो क्यों न मान लें कि झगड़े का मुँह काला। झगड़ा छोड़ कर हरेक अपने-अपने रास्ते चलें। जब भगवान् सब को बरदाश्त करता है तो हम क्यो आराम से साथ न रहें?"

अगर झगड़ा छोड कर सह-अस्तित्व को स्वीकार किया, तो धीरे-धीरे सह-अस्तित्व से सहयोग पैदा होगा। आदान-प्रदान शुरू होगा। और अन्त में हम सर्व-समन्वय तक पहुँच जायेंगे।

असली बात प्रेम, सेवा, भाईचारा और सहयोग की है। अगर हम अपने सब भाइयो की सच्चे दिल से सेवा करें, उन के जीवन के प्रति मन में आदर रखें और उन के उत्कर्ष से हम खुश हो जायें तो कोई झगड़े नही रहेंगे।

इन दो साल हम सारे देश में खूब घूमे। जो आदिम जाति लोग ईसाई नहीं बने हैं, उन की ईसाइयो के खिलाफ़ शिकायत है कि उन के मन में आदिमजाति जीवन के प्रति आदर नही है। वे अपने को श्रेष्ठ समझते हैं और चार लाख होते हुए, दो करोड के अगुआ बन बैठना चाहते हैं।

स्वराज्य सरकार का राज्य जब तक अँगरेज़ी में चलेगा, तब तक ईसाई आदिमजाति की विशेष प्रतिष्ठा कुछ-न-कुछ क़ायम रहेगी ही। हमारी सरकार भी उन की तरफ कुछ पक्षपात रखती है। अगर राजकाज हिन्दी में चला तो स्थिति सुधर जायेगी। "ग़ैर-ईसाई आदिमजाति की जमात अलग करो; उन के हिसाब से ईसाइयों को उन के अधिकार दे दो। और हमें अपने ढंग से जीने और बढने दो। नही तो हमारा विकास रुक जायेगा और हम हमेशा दबे रह जायेंगे।"

जिस तरह आदिम जातियाँ अनेक हैं, उसी तरह उन की भाषाएँ भी अनेक हैं। इन भाषाओं का अध्ययन हमारे सेवक तो करेंगे ही, लेकिन उस के साथ हमारे विश्वविद्यालय-यूनिवर्सिटियाँ भी आदिमजाति-भाषाओं का गहरा अध्ययन शुरू कर दें। पूना में डेक्कन कॉलेज रिसर्च इंस्टीट्यूट के द्वारा डॉ० कत्रे इस दिशा में जो प्रयत्न कर रहे हैं वह सराहनीय है। हमारे आदिमजाति-सेवक उन के साथ अपना सम्पर्क शुरू करें, उन की सहायता करे और उन से सहायता भी लें।

आदिमजाति-भाषाओ के लिए या तो प्रादेशिक लिपि काम में ली जाये या देवनागरी। इन की भाषा के कोश, व्याकरण और गीत-सग्रह तो नागरी में ही छपने चाहिए। ताकि उच्च और गहरा अध्ययन करने वालो को सहूलियत मिल जाये। और आदिमजाति के हुशार नवयुवको को भी हिन्दी, संस्कृत आदि अनेक भाषाएँ सीखना आसान हो जाये।

इतने विशाल देश में आदिमजातियो का जीवन सर्वत्र एक-सा नही है। जो लोग स्वराज की नीव मज़बूत करना चाहते हैं, राष्ट्र-सगठन का महत्व समझते हैं, उन को चाहिये कि वे आदिमजातियो के जीवन का अध्ययन गहराई से करें। उन की भाषाएँ कामचलाऊ नही—अच्छी तरह से सीखें। उन की भापा में, उन्ही के ढग के नये-नये शब्द बनाने की शक्ति भी सेवकों में होनी चाहिए। उन की भाषा के अच्छे-अच्छे शब्द हम हिन्दी में और अपनी प्रान्तीय भाषाओ में क्यो न लें? उन के गीत और नृत्य भी हम अपनायें। उन के साथ खानपान का परहेज़ भी न हो। जिस तरह दिल्ली के उत्सव में हम इन्हें बुलाते हैं, वैसे ही हर जगह के स्थानिक उत्सव में हम इन्हें बुलायें और आमोद-प्रमोद में बिलकुल एक हो जायें।

जैसे हम इन की सेवा करें वैसे ही उन की सेवा लेते भी हमें संकोच नही होना चाहिए। आदिमजाति लोग प्रकृति के बालक हैं। वनस्पति का ज्ञान इन के पास बहुत है। हमारे वैद्य और रसायनशास्त्री इन की इस जानकारी से बहुत लाभ उठा सकते हैं।

आदिमजातियो के शिक्षण-क्रम में भी हमें इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि इन का जीवन एक पशु, पक्षी, वनस्पति और खनिज द्रव्यो के साथ ज्यादा सम्बन्ध रखता है। इसलिए इन को वनस्पति विज्ञान, पशु-विज्ञान, खनिज-विज्ञान आदि शास्त्रों का अच्छा परिचय कराना चाहिए। कोयले के या लोहे के खदान में इन लोगो को मजदूरो के तौर पर हम रखते हैं इतना काफी नही है। अगर इन में-से अच्छे होनहार नवयुवकों को हम खदान-काम 'माइनिंग' और खनिजशास्त्र 'मेटालर्जी' में प्रवीण होने का मौक़ा दें तो इन के प्रति वह न्याय होगा, और इन से राष्ट्र की अच्छी सेवा भी हो सकेगी। चन्द युवको को हम जर्मनी, रशिया और अमेरिका भेज दें और वहाँ की विद्या स्वदेश में लाने का बहुमान इन्हें प्राप्त हो, यह सर्वथा उचित है।

कोऑपरेटिव सोसाइटीज़ के बारे में मैं यहाँ ज्यादा कुछ न कहूँ इस विषय के जो माहिर हैं उन्ही को यह अधिकार है। मैं जानता हूँ कि बम्बई राज्य में वन्य सहकारी समितियाँ बड़ी सफलता के साथ चल रही हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि

झगडो से थकी हुई दुनिया अब राजनीतिक वादों में लगी हुई है। और अब इन वादो के झगडे चल रहे हैं। पूँजीवाद, समाजसत्तावाद, साम्यवाद आदि के झगडे ऐसे ही बढे हैं जैसे धर्म के चले थे। अब इन में से एक रास्ता निकल आया है जिसे कहते हैं 'को-एक्जिस्टेन्स' या सहचार या सह-अस्तित्व, जिस के माने हैं "भैया तुम भी रहो, हम भी रहेंगे। तुम्हारे उसूल तुम्हें मुबारक़ हो। हम अपनी जगह, अपने उसूल पर चलेंगे। झगडा करने से कोई धर्म या कोई 'इज़म' का नाश नही होता, किसी एक की विजय भी नही होती। सिर्फ़ झगडा बढता है। तो क्यों न मान लें कि झगड़े का मुँह काला। झगडा छोड़ कर हरेक अपने-अपने रास्ते चलें। जब भगवान् सब को बरदाश्त करता है तो हम क्यो आराम से साथ न रहें ?"

अगर झगडा छोड कर सह-अस्तित्व को स्वीकार किया, तो धीरे-धीरे सह-अस्तित्व से सहयोग पैदा होगा। आदान-प्रदान शुरू होगा। और अन्त में हम सर्व-समन्वय तक पहुँच जायेंगे।

असली बात प्रेम, सेवा, भाईचारा और सहयोग की है। अगर हम अपने सब भाइयो की सच्चे दिल से सेवा करें, उन के जीवन के प्रति मन में आदर रखें और उन के उत्कर्ष से हम खुश हो जायें तो कोई झगडे नही रहेंगे।

इन दो साल हम सारे देश में खूब घूमे। जो आदिम जाति लोग ईसाई नहीं बने हैं, उन की ईसाइयो के खिलाफ शिकायत है कि उन के मन में आदिमजाति जीवन के प्रति आदर नही है। वे अपने को श्रेष्ठ समझते हैं और चार लाख होते हुए, दो करोड के अगुआ बन बैठना चाहते हैं।

स्वराज्य सरकार का राज्य जब तक अँगरेज़ी में चलेगा, तब तक ईसाई आदिमजाति की विशेष प्रतिष्ठा कुछ-न-कुछ क़ायम रहेगी ही। हमारी सरकार भी उन की तरफ कुछ पक्षपात रखती है। अगर राजकाज हिन्दी में चला तो स्थिति सुधर जायेगी। "गैर-ईसाई आदिमजाति की जमात अलग करो; उन के हिसाब से ईसाइयो को उन के अधिकार दे दो। और हमें अपने ढंग से जीने और बढने दो। नहीं तो हमारा विकास रुक जायेगा और हम हमेशा दबे रह जायेंगे।"

जिस तरह आदिम जातियाँ अनेक हैं, उसी तरह उन की भाषाएँ भी अनेक हैं। इन भाषाओ का अध्ययन हमारे सेवक तो करेंगे ही, लेकिन उस के साथ हमारे विश्वविद्यालय-युनिवर्सिटियाँ भी आदिमजाति-भाषाओ का गहरा अध्ययन शुरू कर दें। पूना में डेक्कन कॉलेज रिसर्च इंस्टीट्यूट के द्वारा डॉ० कत्रे इस दिशा में जो प्रयत्न कर रहे है वह सराहनीय है। हमारे आदिमजाति-सेवक उन के साथ अपना सम्पर्क शुरू करें, उन की सहायता करें और उन से सहायता भी लें।

आदिमजाति-भाषाओ के लिए या तो प्रादेशिक लिपि काम में ली जाये या देवनागरी। इन की भाषा के कोश, व्याकरण और गीत-सग्रह तो नागरी में ही छपने चाहिए। ताकि उच्च और गहरा अध्ययन करने वालो को सहूलियत मिल जाये। और आदिमजाति के हुशार नवयुवको को भी हिन्दी, संस्कृत आदि अनेक भाषाएँ सीखना आसान हो जाये।

इतने विशाल देश में आदिमजातियो का जीवन सर्वत्र एक-सा नही है। जो लोग स्वराज की नीव मज़बूत करना चाहते हैं, राष्ट्र-सगठन का महत्व समझते हैं, उन को चाहिये कि वे आदिमजातियो के जीवन का अध्ययन गहराई से करें। उन की भाषाएँ कामचलाऊ नही—अच्छी तरह से सीखें। उन की भाषा में, उन्ही के ढग के नये-नये शब्द बनाने की शक्ति भी सेवकों में होनी चाहिए। उन की भाषा के अच्छे-अच्छे शब्द हम हिन्दी में और अपनी प्रान्तीय भाषाओं में क्यों न लें? उन के गीत और नृत्य भी हम अपनायें। उन के साथ खानपान का परहेज़ भी न हो। जिस तरह दिल्ली के उत्सव में हम इन्हें बुलाते हैं, वैसे ही हर जगह के स्थानिक उत्सव में हम इन्हें बुलायें और आमोद-प्रमोद में बिलकुल एक हो जायें।

जैसे हम इन की सेवा करें वैसे ही उन की सेवा लेते भी हमें संकोच नही होना चाहिए। आदिमजाति लोग प्रकृति के बालक हैं। वनस्पति का ज्ञान इन के पास बहुत है। हमारे वैद्य और रसायनशास्त्री इन की इस जानकारी से बहुत लाभ उठा सकते हैं।

आदिमजातियो के शिक्षण-क्रम में भी हमें इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि इन का जीवन एक पशु, पक्षी, वनस्पति और खनिज द्रव्यो के साथ ज्यादा सम्बन्ध रखता है। इसलिए इन को वनस्पति विज्ञान, पशु-विज्ञान, खनिज-विज्ञान आदि शास्त्रों का अच्छा परिचय कराना चाहिए। कोयले के या लोहे के खदान में इन लोगों को मजदूरो के तौर पर हम रखते हैं इतना काफी नही है। अगर इन में-से अच्छे होनहार नवयुवको को हम खदान-काम 'माइनिंग' और खनिजशास्त्र 'मेटालर्जी' में प्रवीण होने का मौक़ा दें तो इन के प्रति वह न्याय होगा, और इन से राष्ट्र की अच्छी सेवा भी हो सकेगी। चन्द युवको को हम जर्मनी, रशिया और अमेरिका भेज दें और वहाँ की विद्या स्वदेश में लाने का बहुमान इन्हें प्राप्त हो, यह सर्वथा उचित है।

कोऑपरेटिव सोसाइटीज़ के बारे में मैं यहाँ ज्यादा कुछ न कहूँ इस विषय के जो माहिर हैं उन्ही को यह अधिकार है। मैं जानता हूँ कि बम्बई राज्य में वन्य सहकारी समितियाँ बडी सफलता के साथ चल रही हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि

आदिमजाति लोगो का स्वभाव इस प्रवृत्ति के लिए सब तरह से अनुकूल है। जरूरी जानकारी पाने के बाद ये ऐसी सोसाइटी का काम बड़ी सफलता के साथ कर सकते हैं। कहा जाता है कि अनुकूल समय आने पर, जो सब से पिछड़े हैं वे ही सब से आगे आ जाते हैं—'द लास्ट शॅल बी द फ़र्स्ट'।

हर-एक देश की सुधरी हुई सरकारें जंगल को हिफाजत की ओर खूब ध्यान देती हैं। हर साल जितने पेड़ काटने की इजाज़त दी जाती है, उस से दस गुने पेड़ बोने का प्रबन्ध भी किया जाता है। हमारे जंगल हमारी ही क़ीमती सम्पदा हैं। उन्हें घटने नही देना चाहिए।

साथ-साथ इस का भी ख्याल रहे कि जंगल में रहने वाले आदिवासियो को भी परेशानी न हो। आदिवासियो की संख्या और शक्ति भी देश की क़ीमती दौलत है।

अरण्य-विद्या का रहस्य इन्हें सिखाकर, इन्ही को अरण्य-रक्षक के तौर पर नियुक्त किया जाये। वन-रक्षक (फ़ॉरेस्ट गार्ड) के तौर पर बाहर से लोगों को लाना बिलकुल जरूरी नहीं है।

आदिमजाति के पढे हुए नवयुवको से मैं कहूँगा कि वे अपनी जाति की सेवा करें तो वह ठीक है ही। किन्तु इतने से वे अपना और अपनी जाति का पूरा उत्थान नहीं कर सकेंगे। उन्हें भारत के समूचे उत्थान में योग देना चाहिए। जिस तरह राष्ट्र के अन्य नेता केवल अपनी जाति की बात नही सोचते, विश्व-कल्याण का ख्याल रख कर ही सेवा में लग जाते हैं, वैसे ही उन्हें भी करना होगा। वही सर्वांगीण उन्नति का एक मात्र उपाय है।

आदिवासियो के बीच रह कर उन की सेवा करने का व्रत जिन्होने लिया है ऐसे कई सज्जन यहाँ उपस्थित हैं। उन का कार्य ईश्वरीय कार्य है। इस कार्य में लगे हुए लोगों की वन्दना करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। इन से दो बातें करने का जो मौक़ा मिला वह तो परमात्मा की कृपा ही है।

हमारा तो आदर्श है कि जिन की सेवा करते हैं उन्हें भगवान् का ही रूप मान लें। भगवान् ने आदिमजातियों का भोला रूप धारण कर के हम से सेवा लेने का तय किया है तो हम पूरी निष्ठा से उन की सेवा करें। हम उन के विश्वास के योग्य बनें यह हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। जब तक हम उन की भाषा पूरी तरह से नही सीखते हैं और उसे नही अपनाते हैं तब तक उन का हृदय-कमल पूरा खिलेगा नही। उन की सेवा के साथ अगर उन की भाषा की भी सेवा हम ने की तो नये साहित्य के द्वारा हम उन के कण्ठ में और हृदय में स्थान

पा सकेंगे और आने वाली अनेक पीढ़ियो के साथ हमारा सम्पर्क बना रहेगा। कण्ठस्थ साहित्य हरेक समाज की क़ीमती पूँजी होती है।

हमारे देश में जाति-भेद के कारण हम खान-पान का परहेज़ बहुत रखते हैं। ऐसे सब परहेज़ छोडने से ही हम भाईचारा बढा सकेंगे। अभक्ष भक्षण और अपेय पान की सिफारिश मैं नही कर रहा हूँ। लेकिन किसी के साथ बैठ कर खाना, किसी के हाथ की बनी हुई चीज़ खाना—इस में तो कोई कठिनाई नही होनी चाहिए।

आदिवासियों को हिसाब-किताब का ज्ञान जितना अधिक दें उतनी ही उन की उन्नति तेज़ी से होगी। बहुधन्धी सहकारी समितियाँ चलाने के लिए भी हिसाब-किताब का अच्छा ज्ञान बहुत ज़रूरी है।

आरोग्य के बारे में भी हमारे पास इन्हें देने लायक काफ़ी ज्ञान होना चाहिए।

असली बात तो यह है कि हम उन के बीच ऐसे आश्रम चलायें कि जिन के द्वारा आदिमजाति के अनेक खानदान एकत्र रह सकें और सब धर्मों के प्रति आदर रखने वाला वायुमण्डल पैदा कर सकें।

जीवन-शुद्धि और जीवन-समृद्धि यही हमारा आदर्श हो। इन लोगो के साथ ओत-प्रोत हो कर रहने का जो आनन्द है, वही हमारे जीवन की सच्ची कृतार्थता है।[1]



१. अ० भा० आदिमजाति कल्याण सम्मेलन, जगदलपुर (मध्य प्रदेश) में ता० १३ मार्च १९५५ को दिया गया भाषण।

हम असहिष्णु क्यों बनें ?

साम्प्रदायिक मनमुटाव

हमारे बचपन में हिन्दू और मुसलमान ये दो जमातें क़रीब अलग-अलग रहती थी। हिन्दू मुहल्ला अलग, मुसलमान मुहल्ला अलग। ऐसा होते हुए भी दोनों के बीच वैमनस्य नहीं था। हिन्दू अपने रस्म-रिवाज के अनुसार चलते थे, मुस्लिम अपने।

हिन्दुओं के घर में, दुकानों में और कारखानो में मुस्लिमो को नौकरी मिलती थी। मुसलमानों की दुकानो में हिन्दू ग्राहक खुशी से जाते थे। त्योहारो के दिनों में लोग अपनी-अपनी जमात के लोगों को ही बुलाते थे। लेकिन हिन्दू-मुसलमान दोनो, अपने भिन्न-धर्मी दोस्तो के यहाँ मिठाइयाँ और दूसरी चीज़ें भेजते थे।

जहाँ मुस्लिम राज रहा, वहाँ मुसलमान हिन्दुओ को कम समझते थे। हिन्दू राज में मुसलमानो की वैसी ही हालत थी। इस में किसी को बुरा नही लगता था। दोनो समाज विभक्त होते हुए भी समानभाव से रहते थे और सहयोग भी करते थे। जहाँ हिन्दुओं का ज़ोर रहा, मुसलमान गोवध नही करते थे। जहाँ मुसलमानों का अधिकार था, वहाँ हिन्दू लोग गोवध सहन करते थे।

मुख्य बात यह थी कि दोनो समाज एक-दूसरे के रस्म-रिवाज समझ कर और बलाबल पहचान कर शान्ति से रहते थे। आज भी मैं समझता हूँ, हालत ऐसी ही है, लेकिन अब दोनों पक्षों के लोगों के मन में अशान्ति रहती है। कभी-कभी मनमुटाव भी पैदा होता है। हमारे बचपन में हिन्दू-मुस्लिमों के बीच जब झगडे होते थे, तो गोवध के ही कारण। मस्जिद के सामने बाजे बजने के कारण कभी झगड़े नही हुए थे। उन दिनो हिन्दुओ में सचमुच गौमाता के प्रति भक्ति रहती थी। गाय को बचाना हमारा विशेष धर्म है, ऐसी भावना क़रीब हर-एक हिन्दू की थी। आजकल हिन्दुओ की वैसी गोभक्ति बहुत-सी शिथिल हुई है। चन्द लोग गोरक्षा की बातें करते हैं, गोरक्षा का प्रचार ज़ोरों से होता है, लेकिन ऐसे प्रयत्न को गान्धीजो ने रचनात्मक रूप दिया है। गाय

को मारने वाले के साथ झगडा कर के उसे मारने की कोशिश आजकल कोई नहीं करता, न करनी भी चाहिए ।

प्राणियो की हत्या करने का अधिकार किसी का भी नही है। तो भी मनुष्य छोटे-बडे प्राणियो को मारता ही आया है। हम इतना ही कह सकते हैं कि जानवरो को और पशु-पक्षियो को मारना है तो बुरा, लेकिन इस तरह प्राणियो की हत्या करने वाले लोगो को जबरदस्ती रोकने का अधिकार हम अपने हाथ में ले नही सकते। मनुष्य-जाति का इतना विकास नही हुआ है।

लेकिन हम जीवदया की दृष्टि से और उच्च धार्मिक दृष्टि से लोगो के बीच प्रचार तो ज़रूर कर सकते हैं कि प्राणियो को न मारना अच्छा।

इस में भी हमें अपना प्रचार क्रमशः करना चाहिए। सिंह, बाघ आदि हिंस्र पशु और सांप आदि जहरीले प्राणियो की हत्या रोकने का प्रयत्न हम इन दिनो न करें। केवल अभयारण्य में ही इन प्राणियो को न मारने का नियम है वही पर्याप्त है।

मनुष्य के शरीर में रोग के जो सूक्ष्म जन्तु होते हैं और बढते हैं, उन का विनाश दवाइयां ले कर हम करते हैं। ऐसी जन्तु-हत्या को रोकने की बात कोई मानेगा नही। हम प्राकृतिक चिकित्सा का प्रचार कर के ही सन्तोष मानेंगे।

घर के इर्दगिर्द खेती में और बगीचे में मच्छर आदि जन्तुओ का उपद्रव टालने के लिए आजकल डी० डी० टी० जैसी जहरीली दवाओ का छिडकाव किया जाता है। इसे रोकने का हमारे देश में कही भी प्रयत्न नही हो रहा है। जहरीली दवा के छिडकाव से मनुष्य की जानें बचती हैं, रोग दूर रखे जाते हैं, यह लाभ स्पष्ट है। इसलिए जन्तुनाशक दवाओ का प्रयोग हम रोक नही सकते।

हालांकि अमेरिका में खेती बचाने के नाम जन्तुनाशक जहरीली द्रव्य इतने नये-नये बनाये जा रहे हैं और उन का प्रयोग इतने बडे पैमाने पर हो रहा है कि पशु-पक्षी और मनुष्य का जीवन भी खतरे में आ रहा है, और वहाँ जन्तुनाशक द्रव्यो के प्रयोग के खिलाफ एक जबरदस्त आन्दोलन शुरू हुआ है।

ऐसी बातो में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सब का हित एक-सा है। और जीव-दया का प्रचार सब के बीच एक-सा होना चाहिए।

आजकल जो साम्प्रदायिक मनमुटाव है, वह सचमुच धर्म के कारण नही है। अपनी-अपनी जमात का स्वार्थ सिद्ध करने के लिए और हद से ज्यादा अधिकार पाने के लिए जो खीचातानी चलती है, वही कारण है। जबरदस्त लोग कमजोर लोगो को दबाने की कोशिश जब तक करते रहेंगे, मनमुटाव ही रहेगा। जब समानता और न्याय का आदर होगा, और सब को अपने-अपने उत्कर्ष के लिए

एक-सा अवकाश मिलने लगेगा, तव साम्प्रदायिक आन्दोलन अपने-आप वन्द हो जायेंगे, और अगर चलेंगे भी तो उन की ओर कोई ध्यान नही देगा।

अलगाव सचमुच राष्ट्रीय रोग है

हमारे देश में अनेक धर्म हैं, अनेक भाषाएँ चलती हैं और जानकार लोग वताते हैं कि हमारा राष्ट्र अनेक वंशो (races) का वना हुआ है। इतनी विविधता हमारे देश में रहते हुए भी उन के वीच परस्पर आत्मीयता का सम्वन्ध रहना चाहिए। विना आत्मीयता के एकता टिक नही सकती। नाम मात्र की एकता से वह दृढता, वह सन्तोष और सामर्थ्य पैदा नही हो सकता जो सच्ची, दिल की एकता—आत्मीयता की एकता से सहज पैदा होता है।

यदि विविधता के वीच एकता—सच्ची, आत्मीयता वाली एकता—स्थापित न हो जाये तो वह एक रुग्ण दशा है। इस रुग्ण स्थिति के हम ऐसे आदी वन गये हैं, कि यह स्थिति रुग्ण है यह भी हम भूल गये हैं, और मानने लगे हैं कि यह तो स्वाभाविक स्थिति है।

अकसर लोग अपने परिवार का, अपने ख़ानदान और अपनी छोटी-सी जाति के ही विषय में सोचते हैं। कहते हैं, "हम अपने हितों की रक्षा करते हैं, एक दूसरों की मदद करते हैं, औरों का कुछ विगाडते नही। हम को वाहर के लोगो की क्या पडी है? इस में हमारा क्या दोष है? हर-एक आदमी अगर अपना और 'अपनों' के हितो की रक्षा कर ले तो किसी को कुछ कहने के लिए न रह जाये। सारी दुनिया का भार उठा कर हम कहाँ फिरें? हमारे लिए हमारी जाति काफी है।" पिछडे हुए स्वजनो के प्रति खास कर्तव्य है इस वात को वे भूल ही जाते हैं।

ऐसी संकुचित दृष्टि देश को कमज़ोर वनाती है। व्यापक आत्मीयता के वग़ैर राष्ट्र की एकता टिक नही सकती। आज की सकुचितता हम अगर क़ायम रखेंगे और झगडालू क़ौमो के साथ केवल राजनीतिक समझौते करते रहेंगे तो छोटे-छोटे समाज ज्यादा व ज्यादा मजबूत होते जायेंगे और 'झगडा और समझौता', 'फिर झगड़ा और फिर से नया समझौता'—ऐसी अखण्ड परम्परा चलती रहेगी और राष्ट्र की रुग्णता जड पकडेगी।

इस का इलाज राजनीतिक तरीक़े से नही हो सकता। यह तो सामाजिक

और सास्कृतिक क्षेत्र में ही सम्भव हो सकता है। जातिभेद, धर्मभेद, प्रान्तभेद, वंशभेद और संस्कृतिभेद होते हुए भी परस्पर ओतप्रोत होने की कला हमें सीखनी ही होगी। हर एक को लगना चाहिए कि 'हम सब एक ही हैं, हम सब के हैं; सब हमारे है। हमारा क्षेत्र सब के हाथ में है और सब के लिए हम ज़िम्मेवार हैं।" 'मै स्वय का ख्याल रखूँगा अपनी जाति के बारे में ही सोचूँगा'—यह सोचना राष्ट्रद्रोह है, इतना अगर हम न समझ सकें तो देश की एकता और देश की आज़ादी टिक नही सकेगी।

भारत के हम सब लोग अगर आत्मीयता से एक होंगे तो, जगत् भर में भारत सब से समर्थ राष्ट्र बनेगा और दुनिया की सेवा कर के सर्वत्र शान्ति और आत्मीयता स्थापित कर सकेगा।

भारत से भगवान् ने ऐसी युग-सेवा की अपेक्षा की है।

इस के लिए रोटी-बेटी-व्यवहार के तंग दायरे तोडने ही पडेंगे। अपनी सम्पत्ति, समृद्धि और कार्य-शक्ति का फायदा अमुक लोगो को ही मिले, औरो को न मिले, ऐसी संकुचित वृत्ति छोडे बिना मुक्ति न होगी।

गुजरात की ही सोचें। हमारे पारसी भाई तेरह सौ साल से हमारे बीच रहते हैं। ईरान की अपनी भाषा छोड कर उन्होने स्वभाषा के तौर पर गुजराती भाषा अपनायी। पारसी लोग किसी के साथ झगडा नही करते। फिर भी हम और वे अलग-अलग ही रहते है। यह स्थिति तोड कर हमें परस्पर घुल-मिल जाना चाहिए। यही बात ईसाई और यहूदियो के बारे में भी है। इन सब के साथ अगर हम ओतप्रोत हो सकें तो मुसलमानो का सवाल भी आसान हो जायेगा।

यही सब से बडी क्रान्ति अब हमें करनी है।

(१५ जनवरी १९६८)

दूसरों की देखा-देखी हम संकुचित क्यों बनें ?

हिन्दू धर्म में और समाज में असंख्य पन्थ और जातियाँ हैं तो भी हम उन्हें हिन्दू ही कहते हैं। इन के बीच अकसर शादियाँ नही होती। खानपान की कठिनाइयाँ बहुत थी जो आज कम हो गयी हैं। भिन्न जाति के बीच विवाह नही होते सो नही, लेकिन उन की संख्या कम है। समाज पहले ऐसे मिश्रविवाहो को बहिष्कार

की सजा देता था, अब नही देता। शैव, वैष्णव और देवी उपासकों के बीच शादियाँ आसानी से हो सकती हैं, इस में कोई शिकायत नहीं है। गुजरात में हिन्दू बनियो और जैन बनियो के बीच आसानी से शादी होती है। धर्मचर्चा जब चलती है तब जैन कहते हैं, हम हिन्दू नही हैं। ऐसा कहने का उन्हें अधिकार है, क्योंकि हिन्दू लोग वेद को मानते हैं और जैन नही मानते। (सच पूछा जाये तो वेद को मानने-न मानने से किसी का कुछ विगडता नही।) पंजाब में अंगरेजी शासनकाल से सिख अपने को हिन्दुओं से अलग मानते हैं, लेकिन हिन्दू-सिखो के बीच शादियाँ हो सकती हैं, आज भी होती हैं।

कहते हैं कि पूर्व भारत में बंगालियों और असामियों के मध्य सौहार्द नहीं। उन के बीच प्रान्त-भेद और भाषा-भेद के कारण काफ़ी मनमुटाव हैं, तो भी हम देखते हैं कि वहाँ पर बगाली और असमिया लोगों में काफ़ी शादियाँ होती हैं और इस के खिलाफ़ कोई शिकायत नही करते। जाति एक रही तो भाषा-भेद बाधक नही होता। महाराष्ट्र और कर्णाटक के बीच ऐसा ही है। महाराष्ट्री और कर्णाटकी ब्राह्मणो के बीच हमेशा विवाह होते आये हैं। भाषा की कठिनाई क़ायम थोडे ही रह सकती है? लड़कियाँ सुसराल की भाषा सीख जाती हैं।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि सिखों को और जैनियों को संस्कृति की दृष्टि से और सामाजिक दृष्टि से हिन्दू ही कहना चाहिए।

अब यह सामाजिक भेद कहाँ से आता है और सामाजिक एकता कैसे तय की जाती है? बड़ा सवाल तो आहार का है। मासाहारी और शाकाहारी जातियाँ अलग रहें तो इस में आश्चर्य नहीं माना जाता। उन का अलग रहना यथायोग्य और न्याय्य माना जाता है, तो भी एक ही जाति में अगर दोनो रिवाज हैं तो इन के बीच शादी-विवाह में कठिनाई नही आती। उत्तर भारत में और बंगाल में भी एक ही जाति में मत्स्याहारी और ग़ैर-मत्स्याहारी, मासाहारी और शाकाहारी ऐसे भेद पाये जाते है, फिर भी उन में शादियाँ होती आयी हैं। शादी के बाद लड़कियो को ज़रा सँभालना पडता है। उन के लिए वह कठिन नही है। हम तो इस तरह ज़बरदस्ती किये हुए विवाहों को मान्यता देने के पक्ष में नही हैं। लेकिन आहार-भेद होते हुए भी राज़ी-ख़ुशी से ऐसे विवाह होते हैं तो उन का हम अभिनन्दन करते हैं और चाहते हैं, ऐसे विवाह बढ़ें। आहार के बारे में किसी पर ज़बरदस्ती नही होनी चाहिए। दोनो रिवाजो के बीच समझौता चलाना कठिन नही है। तब जहाँ हिन्दू और ईसाई दो परिवारो में परस्पर परिचय है, एक-दूसरे के घर में आना-जाना चालू है वहाँ खानपान का व्यवहार चला तो उस में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। शाकाहारी मनुष्य शाकाहार को

नही छोडेगा। ईसाइयों के घर पर भी अपना आग्रह कायम रखेगा। लेकिन एक-दूसरे के घर में भोजन करने में कोई कठिनाई नही होनी चाहिए। आज वैसा चलता भी है। लेकिन वह पूरा समाजमान्य नही हुआ।

इसी तरह हिन्दू-ईसाई शादियाँ हुईं तो तनिक भी हानि नही होनी चाहिए। मेरे एक मित्र थे। वे कहते थे कि हमारा विरोध किसी जाति से नही है। कोई जर्मन महिला बौद्ध धर्म को स्वीकार करे तो मैं उसे अपने मन्दिरो में ले जाऊँगा। और अगर कोई जर्मन बौद्ध लडकी मेरे लड़के के साथ शादी करे तो मुझे एतराज़ नही है। मुझे एतराज़ है ईसाई धर्म से क्योकि वह हिन्दू नही है।

अब सवाल उठता है कि वेद में, परमात्मा में और आत्मा में भी न मानने वाला बौद्धधर्म हिन्दू है और ईश्वर को परमपिता मानने वाले, बालब्रह्मचारी पतितोद्धारक ईसा का धर्म पराया क्यो? मास तो बौद्ध लोग भी खाते हैं और हिन्दू लोगों में ब्राह्मणो से ले कर हरिजनो तक कई जातियाँ मास खाती हैं। शराब के बारे में भी वैसा ही है। ईसाई धर्म में याने ईसाई समाज में अच्छे-अच्छे भक्त और सन्त पैदा हुए है, जिन की ईश्वर-भक्ति, परोपकार और सदाचार देख कर हम भक्ति-नम्र बनते हैं। और उन की जीवनकथा पढ कर चकित होते हैं। तो ईसाइयो को अपनाने में और ईसा को ईश्वर का अवतार मानने में हर्ज क्या है? भगवान् ने कभी यह नही कहा कि मै हिन्दूधर्म में और हिन्दुस्तान में ही अवतार लूँगा। सब धर्म भगवान् के ही हैं। सभी को भगवान् की ओर से ही प्रेरणा मिली है।

हम गाय को पवित्र मानते हैं। मासाहारी हिन्दू भी गौमास नही खायेंगे। ईसाई लोग गौमास खाते हैं इस वास्ते वे हिन्दू नही हैं, हम उन्हें अपना नही सकते ऐसी दलीलें सुनी जाती हैं। वे लोग नही जानते कि हिन्दुओ के पूर्वज किसी समय गौमास भी खाते थे। और श्राद्ध में भी गौमास का व्यवहार होता था। हम लोगो ने कभी भी उन को पापी या भ्रष्ट नही कहा है। किसी समय हिन्दुओ में गौ-भक्ति बढ़ी और उन्होने गौमास छोड दिया यह अच्छा किया। हिन्दूधर्म की अनेक सिद्धियो में यह भी एक महत्त्व की सिद्धि है। तो क्या हम योग्य ढग से प्रचार करें तो ईसाइयो को भी हम गौ-भक्त नही बना सकते? हम अपनी शक्ति के बारे में नास्तिक क्यो बनें? भारत में अगर 'गौ-भक्षक' गौ-भक्त बन गये तो बाहर भी, कानून के द्वारा नही, राजसत्ता से नही, लोगो के सख्याबल के जोरो धमकाने से नही, किन्तु उन की कृतज्ञता और धर्मबुद्धि जाग्रत् कर गौ-रक्षा का काम हम क्यो न करें? सवाल यह है कि क्या ईसाइयों को दूर रखने से यह काम होगा? या नजदीक लाने से या अपनाने से होगा? हरिजनो को दूर

रखने से जो काम नहीं हो सका वह उन्हें अपनाने से हो रहा है यह बात हम भूल नहीं सकते।

अब एक महत्त्वपूर्ण सवाल पूछा जाता है—"हम लोग ईसाइयों को अपनाने को तैयार हुए तो क्या वे नजदीक आनेवाले हैं ? वे अपने को बड़े मानते हैं, हमारी ओर तुच्छता की नजर से देखते हैं। ऐसी स्थिति में अपनाने का इकतरफ़ा प्रयत्न किस काम का ?"

सवाल महत्त्व का है। जवाब में हम कहेंगे कि जब तक ईसाई, अँगरेज़ अथवा पोर्चुगीज़ राज्यकर्ता थे तब तक भारत के ईसाई अपने को श्रेष्ठ मानते थे। वह बात अब नहीं रही। अब तो स्वदेशी प्रजाराज्य हुआ है। हिन्दूधर्म पराजित लोगों का, दासों का धर्म नहीं रहा। हिन्दूधर्म में जो खराब रूढ़ियाँ थीं वह सब हम दूर कर रहे हैं। ईसाइयों ने किसी समय पर जो धार्मिक अत्याचार किया उस का शल्य अब दूर हुआ है। हर-एक धर्म में कुछ न कुछ विशेष अच्छाई होती ही है। वैसी अनेक अच्छाइयाँ ईसाई धर्म में भी हैं, तो उन की क़दर हम क्यों न करें ? ईसामसीह तो परमभागवत थे, बालब्रह्मचारी थे, पतितोद्धारक थे। उन्हें हम परमवैष्णव क्यों न कहें ? और उन का स्वीकार भागवतोत्तम के रूप में क्यों न करें ? इतना करने के बाद हमें विश्वास रखना चाहिए कि ईसाइयों को अपनाने का हमारा प्रयत्न निष्फल नहीं होगा। उन में से कई लोग संस्कृत का अध्ययन करते हैं। चन्द ईसाइयों ने अपना कट्टरपन छोड़ दिया है। और ऐसे भी ईसाई हैं जो अपना कट्टरपन छोड़े बिना हिन्दूधर्म की कई चीजें समझ रहे हैं और आदर के साथ उन की इज्जत भी करते हैं। वे कहते हैं कि "जिस तरह पश्चिम के ईसाई यहूदी धर्म-ग्रन्थों को पवित्र मानते हैं उसी तरह हम भारत के ईसाई हिन्दु धर्म-ग्रन्थों को पवित्र मान कर उन की भूमि में ईसामसीह के उपदेश का बीज क्यों न बोयें ?" ईसाई लोग हमारे नजदीक आयेंगे तब वे अपने ही ढंग से आयेंगे, यही योग्य है। हम दोनों एक-दूसरे के धर्म की अच्छाइयों की क़दर करें और उन का कीर्तन करें तो किसी को भी नुक़सान नहीं है, दोनों को ही लाभ है।

भारत के ईसाई और उन के पूर्वज भारतीय थे और हैं। धार्मिकता में अगर विविधता आयी तो हिन्दुओं को बुरा लगने का कोई कारण नहीं। हम लोगों ने शुरू से ही विविधता का अभिनन्दन किया है। राजनीति की कलुषित दृष्टि से हम संख्या पर ध्यान केन्द्रित न करें। हम इस का हिसाब नहीं करते कि हिन्दुओं में वैष्णव कितने हैं, शाक्त कितने हैं और शैव कितने हैं। द्वैतवादी अगर अद्वैत-

वादी बनें तो हम सख्या की लाभ-हानि की ओर नही देखते। जिस दिन हम परायापन छोड देगे उसी दिन सख्या का महत्त्व अपने ही आप टूट जायेगा। राष्ट्रीयता कमज़ोर रहती है एक-दूसरे के परायापन से। धर्मभेद भले रहे लेकिन परायापन दूर हो, यही है राष्ट्रीयता मज़बूत करने का तरीका। धर्मभेद को हम जितनी शिकायत करते हैं और धर्मान्तिर का आग्रह या विरोध करते है उतने धर्म-भेद मज़बूत होते है। परायापन दूर कर के जब हम आत्मीयता बढायेंगे तभी जा कर राष्ट्रीयता मज़बूत होगी। परायापन बढा कर एक-दूसरे के प्रति अविश्वास रख कर कौन-सा लाभ है और कौन-सी सुरक्षितता है इस का अनुभव लोगो ने किया ही है। उसी रास्ते अगर हम चलते रहे तो राष्ट्रीय आरोग्य बिगडता जायेगा। 'जैसे को तैसा' की नीति चलाने में हम दूसरे के अनुयायी बनते हैं और राष्ट्र की कमज़ोरी बढ़ाते हैं और अन्त में बँटवारे की नौबत आ जाती है। इस लिए उस नीति को छोडना ही अच्छा है। न हम किसी को राजनीतिक घूस देंगे न घूस लेंगे। आत्मीयता बढाते जायेंगे और विश्वास रखेंगे कि आत्मीयता का प्रयत्न बहुत कम किया जाता है लेकिन सच्चा प्रयत्न कभी विफल नही होता।

मैं ने ईसाइयो का उदाहरण केवल मिसाल के तौर पर लिया है। लेकिन सब धर्मों के प्रति सच्चा हिन्दूधर्म तो आदरभाव ही रखता है। हिन्दूधर्म ने किसी भी धर्म की निन्दा नही की, विरोध भी नही किया। 'स्वधर्मपालन के द्वारा सब लोग सर्व-धर्मी बनें यही है हिन्दूधर्म की व्यापक उदार नीति। औरो की देखा-देखी हम सकुचित क्यो बनें' और अपनी उदार नीति क्यो छोडें ? हम विश्वास रखें कि सकुचित लोगो को किसी न किसी दिन उदार बनना ही है। हम सभी को स्वीकार करते है और आत्मविश्वास से आगे बढते हैं।

(१ फरवरी १९६८)

क्रमशः आगे बढ़ें

हिन्दू-सभा के नही किन्तु हिन्दू-समाज के कई हितैषी लोग देश की स्थिति सुधार के इलाज पर विचार करने के लिए इकट्ठा हुए थे। विषय था कि धर्मभेद के कारण सामाजिक अलगाव देश में है ही, जातिभेद के कारण विशाल हिन्दू-समाज सब से अधिक कमज़ोर हुआ ही है उस पर अब अनेक राजनैतिक पक्षो के कारण राष्ट्र

का समाज तितर-वितर हो रहा है। मानो यह सब कम है, भाषा-भेद को ले कर भी परस्पर मन-मुटाव पैदा होने लगा है। 'देश की दुर्बलता बढाने का कार्यक्रम कैसे मज़बूत हो सकेगा', यही देखने पर मानो सब तुले हुए हैं !!।

चर्चा सुनते ही हम ने कहा कि नये झगड़े खड़े होने से पुराने झगडो की तरफ़ ध्यान कम जाता है यह सही है, लेकिन पुराने झगडे मिट तो नही रहे हैं। ये सब खडे के खड़े हैं। इन का भी निपटारा किये विना भारत की एकता टिक नही सकती।

लाला लाजपतराय ने एक वार वम्बई में कहा था कि "हिन्दू सभा के आप नेतागण मुसलमानों की नीति पर नाराज़ और दु:खी हैं यह तो मैं समझ सकता हूं। यह कठिनाई हम पंजावी लोग जितनी जानते हैं और महसूस करते हैं इतनी शायद आप नहीं कर सकते। लेकिन मुसलमानो को छोड कर भारत में जो दूसरे अन्य लोग हैं—हिन्दू हैं, ईसाई हैं, यहूदी हैं, आप के पारसी हैं इन के साथ आप मेल-जोल क्यो नही वढ़ाते ? इन को अलग क्यो रहने देते हैं ? एक ओर हिन्दू और दूसरी ओर वाक़ी की सारी दुनिया—ऐसी रचना करने से आप अपने को कमजोर नही करते ?"

हिन्दुओ में जाति-भेद के कारण अलगाव वढ़ता है। छोटे-छोटे समाज, अन्दर के छोटे-छोटे स्वार्थ और मतभेद ले कर भीतर ही भीतर झगड़ा करते ही हैं। वाहर की दुनिया को समझे विना आन्तरिक एकता की जरूरत ही महसूस नही होती।

राष्ट्रहित की वातें करने के लिए मुसलमानो के पास केवल हिन्दू ही क्यो जायें ? हम हिन्दू, (जिन में सिख, जैन, वौद्ध आदि सव को लेना ही चाहिए,) ईसाई, यहूदी, पारसी सव मिल कर के राष्ट्रीयता के नाम मुसलमानो के पास जायें तो सारी भूमिका ही वदल जायेगी।

हिन्दूलोग जव अपने ही विचारो में और घर के सवालो में डूवे रहते हैं तव उन को खयाल तक नही आता कि उन की संकुचितता कितनी खतरनाक है। भगवान् ने शायद यही सोचा कि ये हिन्दू अपने छोटे-छोटे दायरे के वाहर निकलते ही नहीं। इन को वताना चाहिए कि उदारता के विना, व्यापकता के विना और आदमीयत के विकास के विना दुनिया में जीना उन के लिए असम्भव है। छोटे-छोटे विदेशी समाज के सामने भी जव ये हिन्दू हार जायेंगे तभी वे शुद्ध और व्यापक सामाजिक नीति अपना सकेंगे। ऐसा सोच कर भगवान् ने दुनिया के सव धर्मों के थोडे-थोडे लोगो को भारत में ला छोडा और कहा, कि अव इस विविधता से वच नही सकोगे। अव 'या तो जानवरो की तरह आपस में आमरणान्त झगड़ा

चालू रखो' अथवा 'आदमी बन कर परस्पर सहयोग करना सीखो'। यहाँ केवल संख्या बल का सवाल नही है। धर्म मनुष्य के लिए है, मानवता के विकास के लिए है। प्रधानता होनी चाहिए मानवता की, सभी को ले कर चलने के लिए शुद्ध बुनियाद के सहयोग की।

भगवान् ने ईरान के ज़रथुश्त्री पारसियो को पश्चिम भारत में ला छोडा। ये लोग बडे मिलनसार हैं। मुसलमान, ईसाई और हिन्दू सब के साथ इन की बनती है। इन्ही से हम प्रारम्भ क्यों न करें ? इन की धर्म-भाषा है गाथिक। वह हमारी वैदिक भाषा के बहुत नज़दीक है। इन को अपनाते हमें पता चलेगा कि हमें अपने जीवन में क्या-क्या इष्ट परिवर्तन करना ज़रूरी है।

इतिहास का क्रम देखा जाय तो वैदिक साहित्य के समकालीन गाथिक साहित्य में प्रकट होने वाला पारसियो का धर्म बहुत पुराना है। उस का प्रभाव यहूदियो पर पडा। यहूदी धर्म भी एकेश्वरवादी बना।

इस यहूदी धर्म-समाज में एक लोकोत्तर धर्म-सुधारक यहूदी निकला जीसस अथवा ईसु। उस के नाम से जो धर्म चला उसे हम ईसाई धर्म कहते हैं।

इन धर्मों के बाद इस्लाम आया जो उम्र में सब से छोटा गिना जाता है। इस इस्लाम पर अरबस्तान, ईरान, तुर्किस्तान और इजिप्त-मिस्र के समाज का असर हुआ और इस्लाम का असर इन पर।

इब्राहीम के (यहूदी ?) धर्म का ही शुद्ध और विकसित रूप है कुरान शरीफ का इस्लाम।

यह सारा इतिहास बताता है कि सब धर्म मिल कर एक विशाल धर्म-परिवार बनता है।

भारतीय धर्म ने और भारतीय सस्कृति ने कभी नही कहा कि केवल हमारा ही एक धर्म सच्चा है और बाक़ी के झूठे हैं। हम तो मानते है कि सब धर्म सच्चे हैं, मनुष्य के कल्याण के लिए प्रकट हुए हैं, सब मिल कर इन का एक विशाल परिवार बनता है इस पारिवारिकता को और आत्मीयता को जो चीज़ें खण्डित करती हैं उन को छोड देने के लिए सब को तैयार रहना ही चाहिए। हर एक धर्म-समाज अन्तर्मुख हो कर अपने दिल को टटोल कर देखे कि जागतिक मानवीय एकता का द्रोह हम से कहाँ तक हो रहा है।

जब हम पारसियो को अपनाने की पूरी कोशिश करेंगे तब हम आत्मशुद्धि प्रारम्भ करेंगे। इस तरह जब हम अपने को एकता के योग्य बनायेंगे तब हमारा प्रभाव ईसाइयो पर पडेगा। ईसाइयो को अपनाना एक तरह से आसान है और एक तरह से टेढी-खीर भी है। सगठित हैं, चतुर हैं, उन के नेता लोग। अपने स्वार्थ

को अच्छी तरह जानते हैं। ऐसे लोगों को अपनाने के लिए हमारी धार्मिकता जीवित, व्यापक और सर्वकल्याणकारी होनी चाहिए। ईसाई समाज को अपनाते हमारी पूरी कसौटी होगी। वे भी अनुभव करेंगे कि भगवान् उन की भी कसौटी कर रहा है।

योरप-अमरिका के कई सुशिक्षित विद्वान् लोग विज्ञान के असर के नीचे आ कर ईसाई-धर्म को छोड़ बैठे हैं। यह देख कर ईसाई धर्म-समाज के नेता चिन्तित हो रहे हैं। और ईसाई धर्म की परम्परा विशुद्ध करने की कोशिश में है।

समस्त दुनिया की सेवा करना हम भारतीयो का और हमारी संस्कृति का सब से पहला कर्तव्य है।

गान्धीजी की बात हमें मान्य है कि हिन्दू-मुस्लिम एकता के बिना भारत का उद्धार हो नही सकता। कई गान्धीवादी लोग इस दिशा में जोरों से प्रयत्न करते थक कर पूछते हैं कि "यह इकतरफा प्रयत्न कहाँ तक चलेगा? मुसलमानों की तरफ से एकता की कोई इच्छा या आतुरता दीख नही पडती। जो मुसलमान हमारे पास आते हैं, अपने समाज से बहिष्कृत-से हो जाते हैं।"

हमें समझना चाहिए कि हिन्दू और मुसलमान दोनो समाजो को अलग-अलग रखने की नीति जो अँगरेज़ो ने चलायी थी वह दोनो समाजो की हड्डियो तक पहुँच आयी है। उस का असर धोते समय लगेगा। लेकिन दोनो समाज किसी-न-किसी दिन अपना सच्चा स्वार्थ अवश्य समझेंगे। मुसलमानो के और ईसाइयों के नेता आज तक मानते थे कि अलग रहने से, बिगड़ बैठने से ही लाभ है। उन को अपना स्वार्थ नयी परिस्थिति में नये ढंग से समझते देर लगेगी। तब तक हमें राह देखनी पडेगी। और अपनी कमियाँ दूर करनी पडेगी।

स्वराज्य पाने के बाद राजनीतिक लोगो की नैतिक बुनियाद ही नीचे उतर गयी है। सत्ता और सम्पत्ति का खयाल कर के अधिकार पाने की होड़ ही उन के लिए प्रधान हो गयी है। सारा वायुमण्डल बाजारू बन गया है। 'अपने-अपने लोगों को संगठित कर के दूसरो से अधिकाधिक माँगना और वह सब पाने के लिए खींचातानी करते रहना' यही है इन दिनो की राजनीति।

ऐसी हालत में राजनीति को एक ओर रख कर हमें सास्कृतिक प्रगति पर भार देना चाहिए।

हिन्दू आज के जैसे हिन्दू रहे, मुसलमान जैसे आज हैं वैसे ही मुसलमान रहे तो दिली एकता कभी हो नही सकती। 'केवल समझौता' तीन दिन भी टिक नही सकता। हमें आज की सकुचितता-क्षुद्रता से कट्टी करने का रास्ता मिलना ही चाहिए। सास्कृतिक मेलजोल बढाने का यही एक तरीका है।

इस में हम आसान काम प्रथम हाथ में ले कर उस में सफलता पा कर अपनी शक्ति बढायेंगे। शक्ति बढने पर हमारे हृदय में व्यापकता, उदारता और आत्मीयता का असर हम देखते जायेंगे। फिर बडे काम लेने की हिम्मत और शक्ति मिलेगी। दूसरा रास्ता है नही।

(१५ मई १९६७)



क्रमशः आगे बढ़ें

भारत का सर्वोच्च मिशन–धर्मसमन्वय

समन्वय की माँग

दुनिया में भेद तो रहेंगे ही। भिन्नता के बिना दुनिया चलेगी भी नही। ऋतुओ में भेद होते हैं। प्रदेशों में भेद होते हैं। स्वभाव-भेद तो सर्वत्र पाया जाता है। जिन के आधार पर गृहस्थाश्रम चलता है उन स्त्री-पुरुषों में शरीरभेद, कार्यभेद, स्वभावभेद रहते ही हैं। इस लिए तो सहयोग की आवश्यकता रहती है और जीवन कृतार्थ होता है। भेद से कुछ बिगडता नही, बशर्ते कि भेदों से भी लाभ उठा कर सहयोग चलाने की शक्ति और वृत्ति सर्वत्र हो।

लेकिन जहाँ खुदग़रज़ी, ईर्ष्या, असूया, अभिमान, शोषण और तज्जनित संघर्ष आया वहाँ सब कुछ बिगडने लगता है। दुनिया में ये असामाजिक दोष ज़ोरों से बढ रहे हैं। इस लिए किसी-न-किसी कारण को आगे कर के लोग लडने लगते हैं, एक-दूसरे से नाजायज़ लाभ उठाना चाहते हैं और जीवन विषमय बना देते हैं। ऐसे लोग बातचीत में जीवन को भी 'जीवनकलह' कहते हैं। और कहते हैं, कलह तो जीवन का अनिवार्य कानून ही है। इस सिद्धान्त का प्रचलन इतना बढा कि सज्जन मनीषियों को उस का प्रतिरोध करने के लिए ग्रन्थ लिखने पडे समझाने के लिए कि जीवन में अगर कलह है तो उस से भी ऊँचा उठ कर परस्पर सहयोग भी है, जिस के बिना जीवन का विकास हो नही सकता।

दुनिया में सृष्टि के व्यापार में संघर्ष और सहयोग दोनों तत्त्व पाये जाते हैं। लेकिन जहाँ मानवता आयी वहाँ सच्चा मनुष्य संघर्ष के तत्त्व को, जैसे हो सके, कम करने की कोशिश करता है और सहयोग और परस्पर उपकारिता को बढाता जाता है। इसी में मानव की मानवता चरितार्थ होती है; और दुनिदा प्रगति करती है। तत्त्वज्ञ कहते हैं कि दुनिया में हिंसा और अहिंसा दोनों हैं। इन में हिंसा का तत्त्व, जैसे हो सके, उत्तरोत्तर कम करते जाना और अहिंसा को बढाते जाना—यही है उन्नत जीवन की साधना।

ऐसे उन्नत जीवन को ही आध्यात्म-जीवन कहते हैं। क्योंकि उस में आत्म-शक्ति का परिचय और आनन्द बढता जाता है। प्रेम, करुणा, सेवा, स्वार्थत्याग,

आत्मबलिदान आदि सद्गुणो का विकास 'आत्म' परिचय के बिना नही हो सकता। जो लोग आत्मा को पहचानते है वे ही दूसरे से नि स्वार्थ प्रेम कर सकते हैं। दूसरे के दुःख से दुःखित होना, दूसरे के सुख से प्रसन्न होना, आनन्दित होना, यह है आत्मपरिचय का प्रारम्भिक लक्षण। दूसरे के हित के लिए अपने स्वार्थ को छोड देना, अपने परिश्रम से दूसरे को आराम पहुँचाना, यह है आध्यात्मिक स्वभाव का सहज लक्षण।

जब दोनो पक्षो की तरफ से ऐसे सद्गुणो का विकास एक-सा किया जाता है तब जीवन सौरभमय होता है और सहयोग में भी दोनो को आनन्द प्राप्त होता है।

'जब दोनो पक्ष अपने-अपने स्वार्थ का ही ख्याल करते हैं किन्तु एक-दूसरे के स्वार्थ को भी मंजूर करते हैं' तब दोनो के बीच न्याय का सम्बन्ध रहता है, जिस में न रहता है संघर्ष, न रहती है सहयोग की कोई सुगन्ध।

न्याय में भी दो प्रकार होते है—तराजू का न्याय और भलाई का न्याय। इस लिए तो न्याय के साथ Equity (मानवीय न्याय) का व्यवहार होता है। ऐसे न्याय से दुनिया आज चल रही है और सघर्ष बहुत कुछ कम चल सकता है, लेकिन इतने से सन्तोष नही होता। परस्पर आत्मीयता होने पर अन्याय के लिए अवकाश ही नही रहता और न्याय माँगने की इच्छा भी नही होती। जहाँ आत्मीयता है वहाँ 'कम लेना और अधिक से अधिक देना' इसी में आनन्द आता है। आत्मीयता में समझौता तो होता ही है लेकिन उस से भी अधिक परस्पर उपकारिता भी होती है जिसे शास्त्रकार 'उपग्रह' कहते हैं।

Compromise, Adjustment, Reconciliation, Harmony, Synthesis इन सब तत्त्वो को मिला कर जो वृत्ति बनती है उसे कहते है समन्वय। समन्वय कोई दार्शनिक वस्तु नही है। समन्वय है सर्वकल्याणकारी सर्वोदयी मनोवृत्ति और शुभकरी प्रवृत्ति।

जहाँ सर्वत्र संघर्ष चल रहा है और सहार की तैयारियाँ बढती जा रही है वहाँ केवल न्याय की बात दुनिया को बचा नही सकती। न्याय करे भी कौन ? न्याय के लिए उभय कल्याणकारी तटस्थवृत्ति चाहिए। जब राग-द्वेषमूलक संघर्ष बढ़ते हैं तब सब के सब लोग पक्षकार बनते हैं। कोई इस तरफ झुकता है, कोई उस तरफ। न्याय की बात सब करते है लेकिन सर्वकल्याणकारी न्याय समझने की शक्ति गायब हो जाती है। लोग कहते हैं "एक-दूसरे से मिलो। दिल की बातें साफ-साफ कह दो। एक-दूसरे की दृष्टि समझ लो और कुछ समझौता करो।"

यह तरीका है तो अच्छा लेकिन दो में से एक भी दिल से समझौते के लिए तैयार न हो तो समझौते की बातें आगे कैसे बढेगी ? फिर आती है पंचायत की बातें। इस में भी कठिनाई वही होती है। पंचायत का न्याय मजूर न होने पर तटस्थ न्यायाधीशो का फैसला मजूर करना यही एक मार्ग रहता है, जिस में न्यायाधीश के चुनाव का सवाल आता है। अब सारा मामला नसीब के हवाले किया जाता है। जब कोई निर्णय नही हो सकता तब रुपया अथवा पैसा उछाल कर निर्णय किया जाता है। इसे अँगरेजी मे 'टॉस' कहते हैं।

जहाँ सर्वस्व की होड चलती है। वहाँ बड़े-बडे राष्ट्र और बडे-बडे धनी लोग टॉस का न्याय अथवा निर्णय कैसे मान सकते हैं ? झगडा किसी न किसी रूप में चलता ही है और बढता भी है।

इस लिए जहाँ कही मतभेद आया, वहाँ समन्वय को काम में लाने की वृत्ति जगानी चाहिए। यह काम एक दिन का नही, न्यायालय का नही, किन्तु नित्य के जीवन की मनोवृत्ति और प्रवृत्ति का है।

किसी समय मनुष्य स्वभाव को उन्नत करने का काम धर्म का था। धर्म के द्वारा मनुष्य की स्वार्थ, अहिंसा, असूया, अभिमान आदि मनोवृत्ति का संयम होता था और आत्मीयता, सेवा, त्याग आदि सात्त्विक शुभ-सद्गुणो का विकास होता था। लेकिन धर्म में बौद्धिक जडता, अन्धविश्वास, साम्प्रदायिकता, सकुचितता और अभिमान घुस गये। धार्मिकता ही भ्रष्ट होने लगी। धर्म भी आपस में प्रथम चर्चा और झगडा करने लगे और अन्त में कुत्ते की तरह लडने भी लगे। आखिरकार लोग धर्माभिमान से ऊब आये और धर्म की प्रतिष्ठा भी डूबने लगी। कई धर्माभिमानी लोग व्यक्तिश सदाचारी थे किन्तु, जहाँ धर्माभिमान का सवाल आया तो अभिमानी, स्वार्थी और अन्धे बनने लगे। आगे जा कर व्यक्तिगत जीवन में भी शुद्धता की जगह दंभ ने ले ली। बाहर सफेद और अन्दर गलित ऐसा वर्णन धर्मों का और धर्मगुरुओ का सुनना पड़ने लगा। और अन्त में धर्म ही मानव जीवन मे अप्रतिष्ठित होने लगा। किसी समय धर्म का प्रभाव राजनीति पर पडता था। अब धर्म हो गये राजनीति के आश्रित।

ऐसी हालत में शुद्ध समन्वयवृत्ति को जागृत करना यही एकमात्र उपाय रहा। अगर हम सारे समाज में घुल-मिल गये और जगत् की खतरनाक परिस्थिति समझा कर लोगो में परस्पर सहयोग की वृत्ति जगा सके, आत्मीयता का दिन प्रति दिन अनुभव करने लगे, तो समन्वय का वायुमण्डल स्थापित होगा। लोगों को वही प्रिय लगेगा। समन्वय के लाभ लोगो के ध्यान में आयेंगे। जीवन की सुन्दरता का अनुभव होने पर उसी को लोग पसन्द करने लगेंगे।

यह परिवर्तन आसान नही है। लेकिन दुनिया ने संघर्ष का खतरा कितना बड़ा है इस का अनुभव किया है। इस लिए समन्वय का प्रयोग कर देखने के लिए दुनिया तैयार हो रही है।

सघर्ष भी आज पहले की तरह आसान कहाँ रहा है? युद्ध छिडते ही लोग सहायको को मदद के लिए बुलाते हैं। सहायको को मदद में दौडना ही पडता है और फिर तो हर-एक बडा युद्ध विश्वयुद्ध बन जाता है, जिस का अन्त सर्वनाश ही हो सकता है।

आज सारे संसार को यह अजीब विश्वरूपदर्शन हो रहा है। इस लिए हम आशा करते है कि मानव-समाज समन्वय के लिए तैयार हो जायगा। विनाश-शक्ति की अपेक्षा जीवन-शक्ति अधिक प्रभावशाली साबित होगी।

(१ सितम्बर १९६५)

सर्व-धर्म-परिवार

दुनिया के अलग-अलग देशो की यात्रा करते मैं ने देखा कि युरोप के सब लोगो की चमड़ी का रग करीब-करीब एक-सा है—सफेद। उत्तर के लोग कुछ ज्यादा गोरे हैं। दक्षिण युरोप के लोग ज्यादा धूप मिलने से इतने गोरे नही हैं। अफ्रिका खण्ड के सब बाशिन्दो का रग भी करीब एक-सा है—काला। जापान के और चीन के भी लोगो को आप पीला कह सकते हैं। जो हो, प्रत्येक वंश के लोगों का रग एक-सा होता है। हमारा भारत ही एक ऐसा देश है जिस में एक जाति में भी सब रगो के लोग पाये जाते हैं। दक्षिण में काले भी हैं और गोरे भी हैं। एक ही जाति में शालिग्राम के जैसे काले और केतकी के फूल के जैसे गोरे लोग भी मिलते हैं।

अगर लाखो बरसो का मानव-जाति का इतिहास ढूंढा जाये तो पता चलेगा कि भारत में सब वंशो के और सब खण्डो के लोग आ बसे हैं। मानो भारत को भगवान् ने अपना एक सग्रहालय बनाया है।

धर्मों के बारे में भी यही स्थिति पायी जाती है। हमारे सनातन धर्म में—जिसे आजकल हिन्दू धर्म कहते हैं—अनेक पन्थ, अनेक सम्प्रदाय और अनेक साधनाएँ है ही। इस के अलावा, इतिहास-विधाता की योजना के अनुसार दूसरे तीन-चार धर्म भी भारत में आये हैं। मुट्ठी-भर यहूदी लोग कब और कैसे आये

इस का इतिहास हम नही जानते। इस्लाम धर्म आया, विजेता राज्यकर्ता के रूप में ईरान और अफ़ग़ानिस्तान की ओर से। (केवल तिजारत करने अरब से चन्द लोग पहले भी आये थे।) पश्चिम युरोप से ईसाई आये प्रथम पृथ्वी-पर्यटक के रूप में तिजारत करने। लेकिन उन्होने देख लिया कि यहाँ राज्य करना आसान है।

हमारे यहाँ एक धर्म आया शरणार्थी हो कर, जिसे हम पारसियो का धर्म कहते हैं और जिसे अब जरथुश्त्री धर्म—जरथुश्त्र प्रभु का धर्म कहते हैं। उन की धर्म-पुस्तक अवेस्ता गाथाओ की बनी है इस लिए मैं उसे गाथिक धर्म कहना पसन्द करता हूँ। भारत के सनातन धर्म का मूल है वैदिक धर्म और पारसियो का है गाथिक धर्म। ये दोनों धर्म सब से पुराने हैं। भाई-भाई के समान एक-दूसरे के नजदीक भी हैं। वैदिक और गाथिक धर्मों की भाषा एक-दूसरे के इतनी क़रीब है कि असल में दोनों एक ही होनी चाहिए।

इस तरह भारत में तीन-चार धर्म बाहर से आये—पारसी, यहूदी, ईसाई और इस्लामी। एक धर्म भारत में जन्म ले कर, उत्तर में और पूर्व में दूर-दूर तक फैल गया है। वह है—बौद्ध धर्म। इस की दो प्रधान शाखाएँ हैं, उत्तर की महायान और दक्षिण-पूर्व की हीनयान।

दुनिया के सब प्रधान धर्म अलग-अलग होते हुए भी एक परिवार के ही लगते हैं। धर्म के इस वंशवृक्ष में प्रधान दो शाखाएँ हैं—वैदिक और गाथिक। जरथुश्त्र की गाथिक, मोज़िस और अब्राहम की यहूदी, ईसामसीह की ईसाई और पैग़म्बर मोहम्मद साहब की इस्लामी—ये सब शाखाएँ पश्चिम की ओर पनपी। इधर वैदिक शाखा का विस्तार श्रुति, स्मृति, पुराण और आगमो के द्वारा फैला, जिसे हम सनातनधर्म कहते हैं। इसी में से बौद्ध, जैन आदि शाखाएँ निकली। आगे जा कर लिंगायत, सिख, ब्राह्मो, आर्यसमाजी आदि कई पन्थ उस में से फूट निकले।

इन सब धर्मो में समय-समय पर चाहे जितना तनाजा हुआ हो, हम तो इन में पारिवारिक सम्बन्ध ही देखते हैं। हर धर्म संस्थापक, ऋषि, मुनि, पैग़म्बर, नबी या प्रोफेट के नाम से एक-एक शाखा पहचानी जाती है। इन के धर्मग्रन्थ अलग-अलग होते हैं। हर एक का अपना एक खास साधनाक्रम भी होता है।

हमारा विश्वास है कि ये सब मिल कर ही जागतिक सनातनधर्म बनता है। सनातन-धर्म सब ऋषि-मुनियो का, धर्म-प्रचारको का, नबियों का और पैग़म्बरो का एक-सा आदर करता है। सब धर्मग्रन्थो को इज्ज़त की निगाह से देखता है। सनातन-धर्म देखता है कि सब साधनाएँ किसी-न-किसी रूप में आध्यात्मिक उन्नति के लिए मददगार ही हैं और अन्त में एक ही मुक़ाम की तरफ़ ले जाती हैं।

दृष्टि-भेद अथवा दर्शन-भेद चाहे जितने हो, इन सब को एक ही सृष्टि में रहना है, एक ही मानवता की सेवा करनी है, फिर चाहे भीतर-ही-भीतर झगडा करें अथवा पारिवारिक सम्बन्ध पहचान कर समन्वय के द्वारा आपस में सहयोग कर के मानव की धार्मिकता को मजबूत करें।

इतिहास बताता है कि यह समन्वय दुनिया के लिए भारत की ही सुन्दर देन होगी। सब धर्मों के बीच, सब दर्शनो के बीच और सब सस्कृतियो के बीच समन्वय सिद्ध करने के लिए ही मानो इतिहास-विधाता ने इन सब को पवित्र भारतभूमि में एकत्र ला दिया है।

(१ दिसम्बर १९६५)

समन्वय की श्रद्धा

भगवान् की पूजा-अर्चना करना, व्रत रखना, पुरोहित को दक्षिणा देना, त्योहार मनाना, तीर्थयात्रा करना आदि स्वरूप के धर्मजीवन में जिन का विश्वास रहा है ऐसे लोग दिन पर दिन कम होते जा रहे हैं। धन कमाने का और सामाजिक व्यवहार का महत्त्व इतना बढ गया है कि पुराने धर्मजीवन की ओर ध्यान अथवा समय देना अशक्य हो गया है। और पुराने धर्मजीवन से भाविक लोगो को भावनात्मक संतोष चाहे जितना मिलता हो रोज़मर्रा के व्यवहार में उस का तनिक भी उपयोग अनुभव में नही आता। सारी प्रवृत्ति अर्थहीन हो गयी है।

और एक महत्त्व की बात है। हमारे धर्मजीवन को बनाये रखने का ठेका हमारे पुरोहित, पुराणिक और कीर्तनकारो का रहा है। इन लोगो में थोडे लोग संस्कृत भाषा सीखते थे, पुराण आदि पढते थे और धर्मजीवन पर विश्वास भी करते थे। लेकिन अधिकाश पुरोहित इतने अशिक्षित और असस्कारी थे कि उन का सारा ध्यान दक्षिणा पर केन्द्रित रहता था। दक्षिणा पाना है तो लोगो के अन्धविश्वासो को बढावा देना ही चाहिए, यह समझ कर लोगो को बहकाने का धन्धा ही वे सीखे। तीर्थक्षेत्र के बडे-बडे पण्डे तो ज़मीदार के समान बने। यात्रियो की प्रत्यक्ष सेवा उन की ओर से नियुक्त उन के एजेंट ही करते थे। इन लोगो का जीवन ही अगर हिन्दूधर्म का प्रतिनिधिक जीवन माना जाय तो हिन्दूधर्म के समान तुच्छ धर्म दूसरा कौन-सा हो सकता है? मन्दिरो में सारा दिन काम करने वाले पुजारी, पण्डे और उन के एजेंट कैसे पेश आते हैं, इस का

अध्ययन किसी ने किया है ? ये लोग अपने परम्परागत रूढि प्राप्त अधिकारों के लिए आपस में जब लडते हैं तब सरकारी अमलो को और न्यायाधीशो को उस का फैसला करना पडता है। उन को तो इन के जीवन की हीनता का काफ़ी पता रहता है। लेकिन उन में से किसी ने भी इन के जीवन को सुधारने का कभी प्रयत्न किया है ? अथवा समाज के सामने सारा सवाल खड़ा कर दिया है ? हिन्दू-समाज मृतबुद्धि की जडता से ग्रस्त और नेतृत्वहीन समाज बन गया है। इस समाज के आन्तरिक जीवन में सुधार तथा शुद्धि लाये बिना उस का संगठन करना एक राजनैतिक खेल और चालबाजी ही है।

असंस्कारी पुजारी-पण्डे दक्षिणा के स्वार्थ के लिए लोगो को अन्धी धर्मभावना को बनाये रखते हैं। और "हिन्दू राजनैतिक नेता" पक्ष-संगठन और वोट—मत प्राप्ति के लिए लोगो में धार्मिकता की जागृति करने की जगह अन्ध धर्माभिमान जहरी पक्षाभिमान को जाग्रत करते हैं। उस का आसान रास्ता यह है कि विधर्मी लोगो की चालबाजी का ज़िक्र करते रहना और सरकार की उदासीनता के प्रति चिढ पैदा करना।

जब मैं ईसाइयो के धर्म-संगठन पर विचार करता हूँ और हिन्दू-समाज की ग़फलत, अजागृति और अबुद्धि का खयाल करता हूँ तब निराश होना पडता है।

हमारे सन्त-सत्पुरुष अच्छा काम करते हैं। लोगों में धार्मिकता, ईश्वरनिष्ठा और सदाचार का प्रचार करते हैं। लेकिन वे समाज के दोषों को दूर करने का कोई सगठित प्रयत्न नहीं करते। फलत समाज का पुरुषार्थ नही बढता। समाज की प्रगति नही होती।

तीसरा वर्ग है सन्यासी और वैरागियों का। इन में कई लोग बहुत ऊँचे दर्जे के सत्पुरुष होते हैं। इन में सच्ची धार्मिकता का अच्छा खयाल होता है। लेकिन ये अपनी जमात की रूढियों से ऐसे बँधे रहते है कि अपनी उस जमात का सुधार करने का काम उन्होंने अपने हाथ में बहुत कम लिया है। स्वामी विवेकानन्द और उन के रामकृष्ण मिशन ने एक अच्छा नमूना अवश्य पेश किया है।

चद सन्यासी और वैरागी अच्छे चारित्र्यवान और धर्मभक्त होते हैं, लेकिन बिलकुल विरक्त और व्यक्तिवादी, अपनी उन्नति और अपने मोक्ष में मस्त रहते हैं। उन के आचरण का समाज पर अच्छा असर होता है सही। लेकिन स्वार्थ-निवृत्ति एक चीज़ है (जो अत्यन्त ज़रूरी है) और जीवन-विमुखता अलग चीज़ है। दोनों को वैराग्य कहना योग्य नही होगा। लेकिन निवृत्तिवादी लोग दोनो को एक साथ रखते हैं। इस लिए जीवन-सुधार का काम उनसे नही होता।

जब मैं ने हिमालय की और अन्य तीर्थों की यात्रा की तब ऐसे सन्यासी,

वैरागी और साधुओ के साथ काफी रहा था। उन के प्रति मेरे मन में आदर और सहानुभूति हैं। इनमें से चन्द लोग ऊपर-ऊपर से केवल भिखमंगे के जैसे दिखते हैं, लेकिन नजदीक से देखने से उन का चारित्र्य, उन की धर्मबुद्धि और सामाजिक परिस्थिति का उन का परिचय अद्भुत होता है। वे व्यवहार-चतुर भी होते हैं, लेकिन इन सद्गुणो का सगठन करने का काम वे नही करते। प्रवृत्ति का केवल सगठन करने से सिर्फ एक गद्दी तैयार होती है और असंस्कारिता ही संगठित होती है। इस के उदाहरण जगह-जगह मिलते हैं। श्रद्धा के कारण ऐसे संगठनो को समाज चलाता भी है। मूल संस्थापक के पुण्य के वल पर ये संगठन काफी दिन तक चलते हैं लेकिन इन के द्वारा समाज की सेवा नही किन्तु असेवा ही होती है।

सन्यासी, वैरागी और भटकते साधुओ के अन्दर थोडे लोग तो विलकुल धर्मविहीन रूढिग्रस्त भिखमंगे ही होते हैं। ऐसो की संख्या समाज मानता है— उस से बहुत कम होती है। अन्धविश्वासी, ज्ञानविहीन किन्तु धर्म में मानने वाले और अपने पन्थ के भले-बुरे नियमो को माननेवाले साधुओ की सख्या ही अधिक होती है। इन के अन्दर काम करना आसान नही है। उन्ही में से कोई सुधारक पैदा हो जाय तो ज़रूर सुधार हो सकेगा।

हिन्दू-समाज में इतने अनेकानेक असंख्य पन्थ और फिरके हैं कि सारे समाज का एक साथ विचार करना और उस में सुधार करना प्राय. अशक्य है।

सारा समाज रूढिग्रस्त होते हुए भी असगठित है। इस में अन्धरूढिप्रिय लोग नेता वन सकते हैं। सुधारको को अनुयायी मिलना मुश्किल होता है और भिन्न-भिन्न विचार वाले सुधारक समाज को सुधारने की कोशिश शुरू करें उस के पहले ही अन्दर-अन्दर परस्पर विरोध करके एक दूसरे को क्षीण करते हैं। और समाज में अन्धश्रद्धा और अन्धविश्वास दोनो का विचित्र मिश्रण अपना काम कर के समाज को श्रद्धाविहीन और निष्प्राण वनाता है।

पिछले सौ-डेढ सौ वर्ष इस देश में समाज-सुधार के अनेक प्रयत्न हुए। हरएक प्रयत्न में शुरू में वडा जोश दीखता था। वाद में जोश के अभाव में सारी प्रवृत्ति निष्प्राण हो कर एक नयी रूढि-सी हो गयी।

इतनी सारी दुर्दशा के अन्दर भी समाज में एक प्रकार की सज्जनता, सदाचारिता और धार्मिकता रही है। ऐसे लोग पुरानी रूढियो का खास विरोध नही करते किन्तु उन पर विश्वास भी नही करते। धर्मो के प्रति उन के मन में आदर है लेकिन धर्माभिमान से अन्धे हो कर अन्य धर्मियो के साथ झगडा करने को भी वे तैयार नही हैं। धर्मग्रन्थो के प्रति सामान्य आदर-भक्ति होते हुए भी किसी

ग्रन्थ के हरेक वचन को मानने के लिए बंधे हुए नही होते। जो भी चीज़ बुद्धि की कसौटी पर निकम्मी मालूम होती है उस का तो वे तुरन्त त्याग करते हैं। जो बातें बुद्धियुक्त और समाजहित की मालूम होती हैं उन को वे ग्रहण करते हैं। और वे यह भी जानते हैं कि धर्म के जैसे गूढ विषय में बुद्धि के परे ऐसे सूक्ष्म तत्त्व हैं कि जिन में बुद्धि काम नही कर सकती। बुद्धि अपने को ही कमज़ोर और अपर्याप्त पाती है। ऐसी बातो में वे श्रद्धा से काम लेते है। ऐसी बातो का विरोध न करते हुए उन का अनुकूलता से विचार करते हैं। वे कहते हैं, श्रद्धा से सामान्य स्वीकार करना एक चीज़ है और अनुभव से निश्चय होने के बाद किसी चीज़ का मन-वचन-कर्म से स्वीकार करना दूसरी बात है। प्रथम केवल श्रद्धा से स्वीकार करो लेकिन उसी में रह न जाओ। श्रद्धा के बल पर किसी तत्त्व को सही मानने को 'अभ्युपगम' कहते हैं। अभ्युपगम के तौर पर किसी चीज को मानने के बाद जीवन के द्वारा, प्रयोग के द्वारा उस की कसौटी तो करनी ही चाहिए। कसौटी में जो बात खरी सिद्ध हुई उसी का पूरा स्वीकार किया जा सकता है।

इस वृत्ति के लोग 'सब धर्मों में पायी जाने वाली धार्मिकता' के उपासक होते हैं। अपने-अपने धर्म और समाज के अन्दर प्रसन्नता से रहते हैं। धर्म की और समाज की सेवा करते हैं, दोनो की शुद्धि का प्रयत्न भी करते हैं।

जो कट्टर धर्मतत्पर लोग शास्त्र के हरेक वचन को मानते हैं, अपने-अपने धर्म और पन्थ का अन्धअभिमान रखते हैं, ऐसे लोगो को ऊपर बताये हुए उदार लोग पसन्द नही आते। इस लिए ये रूढिवादी लोग रूढिमुक्त धार्मिकता के उपासकों को नास्तिक कहने के लिये भी तैयार रहते हैं। लेकिन ऐसे रूढिमुक्त धार्मिकता-परायण सुधारक लोगों में से ही स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अरविन्द घोष और महात्मा गान्धी जैसे महापुरुष तैयार हुए। भविष्यकाल का सच्चा नेतृत्व इन्ही लोगों के हाथ में है।

विवेकानन्द से ले कर गान्धी तक जिन लोगो ने धर्मों की अन्धरूढिप्रियता और दक़ियानूसी छोड़ दी किन्तु धार्मिकता कायम रखी ऐसे लोगो को रूढिवादी भी पसन्द नही करते और धर्मविमुख, नास्तिक, तर्कवादी लोग भी पसन्द नही। जो लोग धर्ममात्र का विरोध करते हैं, हरेक धर्म को ढकोसला ही कहते हैं, उच्च जीवन के प्रति अविश्वास दिखाते हैं, धन कमाना, इन्द्रियो को सुख देना, दुनिया की होड़ में कूद कर दूसरो के भले का विचार न करते हुए अपने स्वार्थ का विचार करना, धन, ऐशो-आराम, प्रतिष्ठा, अधिकार और सत्ता की उपासना करते रहना और इसी मनोवृत्ति को उत्तम बताना, यह मनोवृत्ति दुनिया में बढ रही है। ऐसे लोगो से तो बचना ज़रूरी है। लेकिन जो किसी भी धर्म की रूढ़ि में

फँसते नही, हरेक समाज के धर्मजीवन में सुधार करने की आवश्यकता का जो स्वीकार करते हैं ऐसे लोगो के द्वारा ही विश्व-समन्वय का काम अच्छी तरह से होगा। धर्माभिमान और धार्मिक सकुचितता समाज में हैं ही। इस लिए किसी भी तरह के धर्मनिष्ठो का वहिष्कार हम नही कर सकते।

विश्व समन्वय को उदारता से ही काम लेना है। वह किसी का भी वहिष्कार नही करेगा। सहानुभूति के साथ सभी से सम्पर्क रख कर सब में स्नेहभाव पैदा करने की कोशिश करेगा लेकिन विश्व-समन्वय का प्रयत्न करने वालों को समझना चाहिए कि अपने-अपने धर्म का अभिमान रखने वाले और दूसरे धर्मों के प्रति मन में अनादर और विरोध रखने वाले लोग विश्व समन्वय में ज्यादा नही कर सकेंगे। वे सभो को सहन कर सकेंगे तो बहुत हुआ। दुनिया में धर्मों का बोल-बाला अब कम है। राजनीति और व्यवहार प्रधान है। परस्पर सहयोग किये बिना जीना भी दभर है। इस लिए वे पहले की तरह धर्मयुद्ध नही चलाते। सह-अस्तित्व को क़बूल किये विना चारा नही, इतना तो सब समझ गये हैं। अपने-अपने धर्म का बीडा जिन लोगो ने उठाया है वे तो कहेंगे ही कि 'हरेक धर्म में कुछ न कुछ अच्छा तत्त्व पाया जाता है। इस का इनकार कौन करेगा? किन्तु पूर्ण सन्तोष देने वाला और मानवजाति का उद्धार करने वाला धर्म हमारा ही है'।

ऐसे लोगो के साथ अधिक चर्चा करने से लाभ नही है। परिचय वढाना, सहयोग करना और सेवा लेते-देते रहना, यही एक उपाय है। परिचय वढने से कट्टरपन कम होता है, दूसरो के प्रति आदर वढता है और चित्त सर्वसमन्वय के लिए धीरे-धीरे तैयार होता है।

हमें अधिक से अधिक सहायता मिलने वाली है ऐसे लोगो से 'जिन में कट्टरता और संकुचितता नही है, जो दूसरो के गुणो के प्रति आदर रख सकते हैं, जिन्होने अभिमान छोड दिया है और जो अपने ही गुट की सख्या वढाने का ठेका ले कर बैठे नही हैं'। हम तो किसी भी धर्म का विरोध नही करते। किसी का भी खास विशेष प्रचार नही करते। हमारा झगडा किसी से नही है। सहानुभूति से ही हमें काम लेना है। जीवन-समस्त में ओतप्रोत होने में हमें विशेष विश्वास है। हमारे पास धैर्य है और विश्वास है कि सहानुभूति और परिचय वढने से, प्रेमभाव आत्मीयता जाग्रत होने से समन्वय सिद्ध हो कर ही रहेगा।

(१५ जुलाई १९६६)

यही है भारत का मिशन

भगवान् की लीला का पूरा रहस्य कौन समझ सका है ? फिर भी जितना हम समझ सकते हैं, भगवान् की युग-प्रेरणा को उपयोग में लाना हमारा कर्तव्य है ।

भारत के आर्य लोग, चीन देश के चीनी लोग, इजराइल के यहूदी लोग, इजिप्त के प्राचीन लोग अपने-अपने देश में स्थिर रह कर खेती आदि संस्कृति का विकास कर सके और उन्होने अपनी संस्कृति को जीवन-व्यापी धर्म का स्वरूप दिया । न जाने ये सब लोग इन देशो में कहाँ से आये ? लेकिन आ कर स्थिर होने के बाद उन्होंने अन्यन्त्र जाना पसन्द नही किया । अच्छा उपजाऊ देश, सुसंगठित संस्कृति और खेती का साधन ऐसी सहूलियत से उन की समृद्धि बढ़ी और उन्होंने प्रगतिशील समाजों की स्थापना की और अपने-अपने देश में सन्तोष से रहने लगे । लेकिन मनुष्य पूरा स्थावर नही हो सकता । मनुष्य थोडे ही कोई वनस्पति है कि जमीन में जडें डाल कर वही पर अपना भाग्य बो दे ? मनुष्य स्थावर भी है और जंगम भी । उस के आँखें, हाथ और पाँव उसे प्रेरणा देते हैं, बैठे मत रहो, खडे हो जाओ और खडे-खडे क्या देखोगे ? चलते चलो । जो चलता है उसी का भाग्य चलता है । "चराति चरतो भग" (भग यानी भाग्य) ।

योरप के दक्षिण में ग्रीस और इटली में लोगों को पुरुषार्थ की सूझी । ग्रीक लोगों ने दर्शन का विकास किया, मूर्तिकला बढाई और नगर-राष्ट्र के द्वारा स्वराज्य-शासन के प्रयोग किये । रोमन लोगो ने दूसरे ढंग से राजशासन के प्रयोग किये और सफलता मिलने पर साम्राज्यवाद आजमाया—राजनीतिक और सांस्कृतिक भी । रोमन लोगों ने युद्धकला का भी विकास किया और अपना साम्राज्य फैलाया । चीन के लोगों ने भी ऐसा ही किया ।

इधर ईरान के लोगो ने भी अपना साम्राज्य स्थापित किया और आर्यों ने भारतवर्ष में । ये सब लोग एक-दूसरे को कमोबेश पहचानते थे । भारतीयो ने जैसे खेती का विकास किया वैसे ही जहाज बना कर नौका-नयन भी विकसित किया और समुद्र लाँघ कर दूर-दूर के देशो तक जा कर अपनी संस्कृति का विस्तार किया । ये सब पुरानी बातें हुई ।

इधर अरबस्तान में आबोहवा और जमीन की कठिनाई के कारण लोगो का जीवन-क्रम कठिन था । ऊँट का वाहन और खजूर की खुराक और जैतून का तेल

इन के सहारे वे दूर-दूर सफर करने लगे। उन्होंने अपना घर सँभाला और धीरे-धीरे अपना साम्राज्य भी बनाया।

इन सब जातियों ने अपनी-अपनी जीवन-व्यवस्था स्थिर बनाने के लिए अपने-अपने धर्म चलाये। हो सकता है कि भगवान् ने ही इन के नेताओं को धर्म की प्रेरणा दी और ईश्वर की आज्ञा पालते हुए इन के धर्मों का और इन के सामुदायिक जीवन का विकास हुआ।

जब से हम भारतीय लोग भारतवर्ष में आये, यहाँ की भूमि, यहाँ की नदियाँ और यहाँ के पहाड हमें भा गये। यहाँ हम ऐसे स्थिर हो गये कि फिर यहाँ से बाहर जाने का मन ही न हुआ। उत्तर, पूर्व और पश्चिम में जो पहाड थे उन्ही को हम ने अपने विस्तार की सीमा मानी।

पश्चिम, पूर्व और दक्षिण में तो समुद्र ने हमारी मर्यादा बाँध दी। जीवन-विकास के लिए यह भूमि हमारे लिए पर्याप्त थी। समुद्र और हिमालय हमारे प्रेरणा के स्रोत थे। समुद्र से हम सीखे गाम्भीर्य और हिमालय से हम सीखे धैर्य। 'समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवान् इव।' शुरू-शुरू में हम समुद्र भी लाँघ सकते थे और हिमालय के उस पार भी जाते थे। लेकिन भारत की समृद्धि के हम ऐसे लट्टू बन गये कि समुद्र-यात्रा का हम ने निषेध किया और अटक के उस पार जाना बिना जरूरी माना। आर्यों के नेता इन्द्र का वचन हम भूल गये—जो बैठता है उस का भाग्य बैठ जाता है, जो खडा होता है उसका भाग्य भी उठ कर खडा होता है, सोने वाले का भाग्य सोता है और चलने वाले का भाग्य चलता है और प्रगति करता है। प्रगति के मानी ही है आगे बढते जाना।[1]

जब भगवान् को अगर इन सब धर्मों का और सस्कृतियो का सम्मेलन बनाना हो और हम समन्वय के लिए तैयार न रहें, और कहने लगें कि दुनिया के सब लोग इस देश में आ जायें और 'इस देश में पैदा हुए ब्राह्मण इत्यादि बडे लोगो से अपने-अपने चारित्र्य का रास्ता सीख लें',[2] तो भगवान् क्या करे?

हो सकता है कि चीन के, ब्रह्मदेश के, काम्बोज (काम्बोडिया) के लोग यहाँ आ कर धर्म और सस्कृति की दीक्षा लेते होंगे। लेकिन हम लोगो ने बाहर जाना ही छोड दिया। फलत हमारा धर्म और हमारी संस्कृति ताजी न रही,

---

१ आस्ते भग आसीनस्य, ऊर्ध्वम् तिष्ठति तिष्ठत ।
शेते निपद्यमानस्य, चराति चरतो भग ॥

२ एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मन ।
स्वम्-स्वम् चरित्रम् शिक्षेरन् पृथिव्याम् सर्वमानवा ॥

वासी और कृत्रिम हो गयी और इतिहास-विधाता ने कठोर आघात से हमें जाग्रत करना चाहा।

अब बाहर से लोग आने लगे, सीखने के लिए नही किन्तु तिजारत के लिए, राज्य करने के लिए और सिखाने के लिए भी। जिस ईरान से शरणार्थी हो कर पारसी लोग आये उस ईरान से विजेता मुसलमान भारत पर चढाई कर के आये। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था हमारी रक्षा कर न सकी। हम हारे तो भी कुछ सीख न सके। न हम ने धर्म-विचार में और समाज-व्यवस्था में कोई परिवर्तन किया। 'परराज्य मजूर, चन्द लोग धर्मान्तिर करें तो भी मजूर, लेकिन हम अपनी रूढ धर्म-समाज-व्यवस्था बदलेंगे नही,' यह हो गया हमारा जवाब। बुढापा, जडता और अन्ध-अभिमान का ही यह जवाब था।

यहाँ के वैभव के कारण, अपनी विलासिता के कारण और शायद हमारे सहवास के कारण हमारे विजेता लोगो का भी पुरुषार्थ क्षीण हो गया। उन्होने भी बाहर की दुनिया की तरफ़ देखना छोड़ दिया और आराम से रहने लगे। जब पुरुषार्थ कम होता है तब भीतर के झगडे बढते है।

भारतीय संस्कृति उद्योग-हुनर-प्रधान संस्कृति थी। यहाँ की खेती भी अच्छी थी और हस्तोद्योग भी अच्छे थे। कपडे बुनने की कला में सारी दुनिया में हम अग्रसर थे। योरप के लोग हमारे महीन कपड़े देख कर आश्चर्यचकित हो कर पूछते थे कि ऐसे कपड़े बुनने वाले लोग आदमी हैं या देवताई फरिश्ता हैं?

योरप के लोगों ने सोचा कि भारत जा कर उस देश के साथ सीधा व्यापार करना चाहिए। लेकिन यह कैसे हो? योरप और भारत के बीच जो मुसलमान राष्ट्र थे उन्ही का क़ब्ज़ा था, भारत आने के रास्ते पर। योरप केपुरुपार्थी लोगो ने सोचा कि इस्लामी मुल्को को टाल कर दूर का और दरियाई रास्ता ढूँढना चाहिए। कुछ पश्चिम की ओर गये और उन्होने अमरीका की भूमि ढूँढ़ निकाली। कुछ उत्तर के रास्ते गये और उत्तर समुद्र के बर्फ में फँस गये। भाग्यशाली लोग अटलांटिक महासागर से दक्षिण की ओर गये और वहाँ उन्हें भारत के समुद्री रास्ते का पता चला। केप-ऑफ-गुड-होप में उन की आशा सुदृढ हुई।

अब उत्तर-पश्चिम से जैसे भूमि के रास्ते मुसलमान आते थे वैसे फिरंगी, फ्रांसीसी, वलन्दा और अँगरेज़ लोग सागर के रास्ते आने लगे। हम लोग न उन से भूगोलविद्या सीखे, न हम ने नौका-नयन-विद्या में, दरियाई सफ़र में, कोई प्रगति की। हम बैठे रहे, हमारा भाग्य भी बैठ गया। एक दिशा से इस्लाम हमारे घर में आया। दूसरी दिशा से विश्वासी, ईसाई धर्म।

हिन्दू धर्म को सुधार कर, जनता को जाग्रत करने वाला बौद्ध धर्म तो इसी देश में पैदा हुआ था। उसे हम ने कहा कि, 'यहाँ तुम्हारा काम नही है। चले जाओ यहाँ से।' बौद्ध धर्म भारत को छोड कर तिब्बत, चीन, मंगोलिया, कोरिया और जापान तक फैल गया। दूसरी ओर लंका, ब्रह्मदेश, काम्बोज और स्याम तक उस ने एशिया खण्ड अपना लिया।

मनुष्य जाति के इतिहास में सब से बडा पुरुषार्थ किया इन सारे धर्मों ने ही।

इन धर्मों के दो परिवार हैं। बाहर के परिवार में पारसियो का जरथुस्त्री धर्म, यहूदियो का जुडाइजम, योरप का ईसाई धर्म और मुसलमानो का इस्लाम। यह सारा एक परिवार है। दूसरा परिवार है भारतीयो का आर्य धर्म। इस का असली स्वरूप था यज्ञ-प्रधान। बाद में वह हो गया वेदान्त और भक्ति-प्रधान। इसी में से निकले बौद्ध और जैन मत तथा सिखो का गुरु-मत। हिन्दू धर्म और इस्लाम का असर पाया जाता है इस गुरुमत में और ईसाइयो का असर दीख पडता है ब्राह्म और प्रार्थना समाज में।

तो क्या दुनिया के ये सारे धर्म भारत में आये इस का कोई अर्थ ही नही है? है और नही। केवल हिन्दूधर्म ही नही, सब के सब धर्म, अनुभववृद्ध हुए हैं। साँप के शरीर पर जैसे बुढापे की केंचुली आती है वैसे ही इन सब धर्मों पर पुराने विचारो की, रस्म-रिवाजों की, और आग्रहो की केंचुलियाँ जम गयी हैं। जब तक वह दूर नही होती, अन्दर का साँप प्राणवान और तेजस्वी नही बनेगा। लेकिन जो लोग केंचुली के ही उपासक हैं, अभिमानी हैं, वे उसे छोडना नही चाहते। और जब तक केंचुली गयी नही है, प्राण फिर से प्रतिष्ठित होने वाला नही है।

तो यह काम कौन करेगा? इतिहास ने कुछ कर के देखा। लेकिन तब केंचुली ढीली नही हुई थी। सचमुच यह काम ज्ञानोपासक, सत्य-शोधक भौतिक विज्ञान का था। लेकिन वह विज्ञान उन दिनो शैशवावस्था में था। जितना ज्ञान कम उतना घमण्ड और आत्मविश्वास ज्यादा। उस ने तो धर्मों की हँसी करना शुरू किया। अध्यात्म को अस्वीकार किया। अब भौतिक विज्ञान कुछ उमर लायक हो रहा है और पुराने अध्यात्मवाद की केंचुली उस की पकड में कुछ आ रही है।

विज्ञान गहरा हो या छिछला, प्रयोग-परायण होने से उस की बुनियादी निष्ठा मज़बूत होती जा रही है। जब भौतिक विज्ञान और अध्यात्म का सहयोग होगा तब दोनो एक-दूसरे से दीक्षा लेंगे, एक-दूसरे को सजीवन करेंगे और अन्त में एक-दूसरे में ओतप्रोत हो कर एकरूप हो जाएँगे। सत्य दो नही हो सकते।

भौतिक विज्ञान का सत्य और अध्यात्म का सत्य अलग-अलग हो नही सकता। 'एकम् सत्' यह भी सही है और 'सत्यम् अनन्तम्' यह भी सत्य है।

यहाँ तक आने के बाद क्या भारतवर्ष भूतकाल की उपासना करते हुए विज्ञान को छोड देगा ? वह तो दकियानूसी वृत्ति होगी। तो क्या भारत विज्ञान को स्वीकार कर अध्यात्म को छोड देगा, तिलांजली देगा ? वह होगी आत्महत्या। विज्ञान का रहस्य है प्रकृति में और अध्यात्म का रहस्य है पुरुष में। दोनो अनादि हैं, अनन्त हैं। अलग-अलग रह नही सकते। दोनो की शादी ही अभीष्ट है।

इसलिए तो भारत में पूर्व और पश्चिम का सहयोग हुआ है। पश्चिम के अन्धे शिष्य और अनुयायी बन कर और केंचुली से ऊब कर हम अध्यात्म को छोड देंगे तो हमारे हाथ में कुछ नही रहेगा।

हम अन्धे हो कर अभिमान से यह न कहें कि अध्यात्म में हम शिखर तक पहुँच गये हैं, नया पाने को, सावधान करने को और खोजने को कुछ शेष नही रहा। वह तो अभिमान ही होगा, ग़लत अध्यात्म को सार्वभौम बनाया होगा। जब हम भौतिक विज्ञान और अध्यात्म को ओतप्रोत बनाएँगे तभी भारत राष्ट्र प्राणवान होगा। भारत के सामने अब दो ही बातें खडी हैं। या तो सब धर्मों में से धार्मिकता को बाहर निकालना और उस धार्मिकता की दीक्षा दे कर भौतिक विज्ञान को परिपूर्ण करना या अध्यात्म को अस्वीकार कर के भौतिक विज्ञान को पीछे-पीछे चलना और काफी समय तक पश्चिम की स्याहीसोख का अनुयायी बनना और सब के साथ विनाश की यात्रा में अग्रसर होना।

हमारी श्रद्धा है—भारत का जन्म इस तरह से मरने के लिए नही है।

भारत-भाग्य-विधाता का हेतु हमें तो स्पष्ट दीखता है कि भारत स्वय विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय कर बतावे और दुनिया को सर्वनाश से बचावे।

(१ अगस्त १९६५)

नवसमन्वय की नयी नीति

मुग़ल साम्राज्य के दिनो में भारत का सम्बन्ध ईरान के साथ खूब बढा। ईरान यानी इस्लाम की सस्कारिता। इस्लाम का जन्म हुआ अरबस्तान में। वह पनपा भी उसी देश में। लेकिन इस्लाम की सस्कारिता पूरी-पूरी प्रकट हुई ईरान की

मदद से। जब मुगलो का राज इस देश में हुआ और अरबी-फारसी भाषा का अध्ययन यहाँ बढा तब कई अच्छे-अच्छे ईरानी विद्वान् और गुणीजन भारत में आ कर बसे। और यहाँ के लोग भी उस देश में गये। संस्कृति का आदान-प्रदान सतत चला और कई बातो में घनिष्ठ हुआ।

दो देशो का आपस में सम्पर्क बढने से गुण तथा दोष दोनो का आदान-प्रदान होता है। दोषो की बात इस वक्त मैं नही सोच रहा हूँ। सद्गुण और सस्कारिता की ही बात यहाँ सोचनी है।

ईरान की इस्लामी संस्कृति का असर हमारे शिष्टाचार पर हुआ, पोशाक पर हुआ, खानपान के प्रकारो पर भी हुआ, साहित्य पर तो बहुत हुआ। धार्मिक रस्म-रिवाजो पर भिन्न धर्मी सस्कारो का असर जल्दी नही होता और जो होता भी है उसे धार्मिक मान्यता आसानी से नही मिलती।

वेदकाल से लेकर मुस्लिमो के आगमन तक भारतीय धार्मिक जीवन में जो परिवर्तन होते गये उन का प्रतिबिम्ब हमारे स्मृतिग्रन्थो में और पुराणो में स्पष्ट या अस्पष्ट पाया जाता है। लेकिन इस्लामी संस्कृति का असर उन में नही दीख पडता। शायद नये-नये स्मृतिग्रन्थ न बन सके, न पुराणो में भी नयी बाढ आयी। समाज में (खासकर विशिष्ट जातियो में और राज-परिवारो में) बहुत परिवर्तन तो हुआ, लेकिन उस का प्रतिबिम्ब स्मृतियों में और पुराणो में कम पाया जाता है। सन्तवाणी का क्षेत्र ही मर्यादित था। लेकिन उस में कुछ-न-कुछ असर अवश्य दीख पड़ता है।

(मैं ने भविष्यपुराण नही पढा और इस्लाम के आने के बाद जो अल्लोपनिषद् लिखा गया वह भी ध्यान से नही पढा है। इसलिए उस के बारे में कुछ नही कह सकता। भारतीय सस्कृति का ईरान की इस्लामी सस्कृति पर जरूर असर हुआ होगा। लेकिन उस का अध्ययन-सशोधन अगर कही हुआ हो तो हम नही जानते और यहाँ पर उस का चिन्तन भी अप्रस्तुत है।)

पठान और मुग़लों के राज्य के बाद यूरोपियन लोग आये। इन में पोर्चुगीज, फ्रेंच और अँगरेज—तीनो का ही असर हम पर हुआ। पोर्चुगीज़ लोगो का असर भारत-व्यापी नही हुआ, लेकिन गोवा और पश्चिम भारत में दीर्घ काल तक हुआ। गोवा के समाज पर पोर्चुगीज़ ईसाई सस्कृति का असर चार सौ पचास वर्ष तक लगातार हुआ है। इस देश में रोमन कैथोलिक ईसाइयो की सख्या दूसरे ईसाइयो से अधिक है। लेकिन जिन लोगो ने धर्मान्तर नही किया उन पर पश्चिमी ईसाई-साहित्य, सस्कृति और अभिरुचि का असर तो हुआ ही है।

फ्रेंच लोगों का प्रभाव ज्यादा नहीं हुआ होगा। सब से ज्यादा असर हुआ अंगरेजों का। यह असर उन के राज्य के कारण, उन की शिक्षा के कारण और उन के व्यापार तिजारत के कारण बहुत गहरा हुआ।

और एक विशेष असर हमें भूलना नही चाहिए। युरोप के (और कुछ हद तक अमेरिका के) लोगों ने संस्कृति भाषा, उस का व्याकरण, उस का साहित्य और उस में प्रगट होने वाले धर्म और तत्त्वज्ञान का अध्ययन किया। उस अध्ययन के साथ उन लोगों ने हमारी काफ़ी निन्दा-स्तुति भी की। हमारा इतिहास (राजनीतिक तथा सास्कृतिक) ढूंढ निकालने में गोरों की असाधारण मदद हुई है। पहले-पहल उन का यह सारा अध्ययन प्राथमिक स्वरूप का और छिछला था। इसलिए उन्होंने हमारी बहुत-कुछ निन्दा भी की। ईसाई धर्म के प्रचारकों ने तो हमारी भली-बुरी असंख्य चीजों की बुराई की, बाद में गहराई में उतर कर गोरे लोगों ने हमारी संस्कृति की अच्छाइयों की क़दर करना शुरु किया। अब वह जमाना खत्म हो गया है। अब ईसाई धर्म की दृष्टि से नही किन्तु पाश्चात्य विज्ञान-प्रधान संस्कृति की दृष्टि से और जीवन-समृद्धि की दृष्टि से वे हमारी संस्कृति के गुण-दोषों का तटस्थ भाव से अध्ययन और विवेचन कर रहे हैं। ऐसे साहित्य का आदर के साथ अध्ययन करना ही पडता है। पाश्चात्यो के इस नये प्रयत्न का हम पर अधिक से अधिक असर हो रहा है।

हमारी संस्कृति का इस नयी जागतिक दृष्टि से अध्ययन, विवेचन और संस्करण करने का प्रारम्भ थियॉसॉफी के दिनों से हुआ। स्वामी विवेकानन्द और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे प्रतिभावान व्यक्तियों ने सारे राष्ट्र को उत्तम प्रेरणा दी। और अब तो हमें हमारी संस्कृति को न तो भूतकाल के तरफ़ ले जाना है न वर्तमान काल में स्थिर करना है। हमारी संस्कृति इतनी प्राणवान और क्रान्तदर्शी है कि हमें अपनी संस्कृति का एक उज्ज्वल नवसंस्करण बनाकर उस के द्वारा जगत् की सेवा करनी है।

लेकिन यह सब तब बन सकता है जब हम अपने पर संसार के होनेवाले असर को पहचानें और उस का विशाल दृष्टि से यथार्थ परीक्षण करें।

हिन्दूसमाज के अन्तर्गत सस्कृति के भिन्न-भिन्न स्तर चलते आये हैं, जिन के अन्दर पूरा समन्वय और आत्मीयता सिद्ध होना बाक़ी है। यह बडा काम हमारी सामाजिक ग़फ़लत से रह गया है। लेकिन भारतीय संस्कृति अब केवल हिन्दू संस्कृति नही रही। भारत में मुसलमान हैं, ईसाई है और हैं, सब धर्मों से ऊब आये हुए धर्म-विमुख लेकिन समाज-हितैषी सस्कारी सज्जनों का एक बड़ा समाज है। ये सारे समाज अगर केवल क्षीण-सत्त्व सह-अस्तित्व से

सन्तुष्ट रहे तो हमारी संस्कृति की खैरियत नही है । इन सबो का अगर समन्वय हम नही कर सके तो जीने का और विजयी होने का सब तरह का माद्दा होते हुए भी हम हार जायेंगे और हमारी सस्कृति का दु खद अन्त हो जायेगा ।

इस वक्त हमारे जीवन पर अधिक से अधिक असर पश्चिम का हो रहा है यानी युरोप-अमेरिका के असर में हम नाक तक डूब गये हैं । (सास्कृतिक खुराक हमे खानी पडती है पश्चिम की ही । केवल साँस ही अपनी ले रहे है) पश्चिम का यह असर स्वराज्य मिलने के पहले कुछ कम था, मर्यादित था । स्वराज्य होते ही पश्चिम का डर कम हो गया । साथ-साथ उस का प्रभाव बढ गया । अब इस की शिकायत भी नही हो सकती । हम अपने मालिक हैं । कैसा आहार करें, कैसा नही करेंगे, हम ही तय कर सकते हैं ।

अँगरेजी शिक्षा का, अँगरेजी व्यापार का और अँगरेजो के सम्पर्क का हम पर कितना असर हुआ है यह तो स्वराज्य पाने के बाद ही हम कमोवेश समझ रहे है । लेकिन उस का आकलन अभी तक ठीक ढग से नही हो रहा है ।

स्थूल रूप में हम कह सकते हैं कि हमारे स्वराज्य के राज्यकर्ता देशप्रेमी हैं, देशाभिमानी हैं, भारतीय सस्कृति का परिचय भी उन्हें है, लेकिन इस वक्त पश्चिम से जो कुछ मिल सकता है उसी को आत्मसात् करते जाने की उन की नीयत है ।

'पश्चिम की सस्कृति से अपने देश की सस्कृति को बचा कर पुराने आदर्शो को फिर से चलाने का आग्रह रखने वाला' एक जबरदस्त पक्ष इस देश में था, आज भी है । लेकिन उस में न राजनीतिक सामर्थ्य है, न भविष्य की दिव्यदृष्टि है । अब न अँगरेजो का विरोध करने की गुजाइश है, न भूतकाल के सुन्दर चित्र खीचने के दिन बचे हैं । 'पाश्चात्य संस्कृति का विरोध कर भारतीय सस्कृति का केवल रक्षण करने का' कार्यक्रम जिन का था, स्वराज्य होने पर शिक्षा का तन्त्र उन के हाथ में न जा सका । शिक्षा का तन्त्र तो पश्चिम की सस्कृति की बाढ़ को आमन्त्रण देने वाले लोगो के हाथ में ही पहुँच गया । इस में न कोई आश्चर्य है, न रोने की बात है । ऐतिहासिक शक्ति का असर हो कर ही रहेगा । पश्चिम की इस बाढ़ से नुकसान बहुत होगा लेकिन हमारी एक बहुत बडी बीमारी उस में बह जाने की सम्भावना है । हमारी भूतकाल की भक्ति करने की वृत्ति अभिमान के लिए चाहे जितनी पोषक हो, और भूतकाल के उज्ज्वल आदर्श को समझने के लिए चाहे जितनी उपयोगी हो, नवनिर्मिति का प्राण उस में पनप नही सकता ।

और सब से बड़ी बात यह है कि भूतकाल की भक्ति के कारण हम अपने दोषो को दोषरूप नही देख सकते, और राष्ट्र का बुढापा भी नही जा सकता। भूतकाल के सब उपासक हमेशा बुढ़ापे को ही न्योता देते रहते हैं। इस बीमारी को छोड कर जब हम भविष्यकाल की तरफ देखते चलेंगे और ऊर्ध्वगामी जीवन की उपासना करने लगेंगे तभी हम नव-निर्माण के योग्य बनेंगे।

इस के लिये पश्चिम की संस्कृति की शक्ति हमें जीवन की कसौटी पर (न कि हमारी पुरानी कसौटी पर) कस कर देखनी चाहिए। हमारे पुराने आदर्श तात्त्विक, आध्यात्मिक दृष्टि से चाहे जितने शुद्ध और उत्तम हो, उन को 'जीवन के अध्यात्म' की कसौटी पर कसना चाहिए। और एक बार जब हमें 'जीवन का सच्चा अध्यात्म' प्राप्त होगा तब हमे पता चलेगा कि कहाँ से क्या लेना चाहिए, क्या टालना चाहिए और भविष्य के लिए कौन सी जागतिक सस्कृति काम में आयेगी। फिलहाल पश्चिम की बाढ में बहने से जो लाभ-हानि होगी उस के लिए हमें तैयार रहना ही है उस का विरोध करने की हम में ताक़त है ही नही। और किस चीज़ का विरोध करें और किस चीज़ को प्रसन्नता से स्वीकार करें इस का निर्णय करने की हमारे पास न है शुद्ध दृष्टि, न है हृदय-सिद्धि।

इस जीवन-दृष्टि और हृदय-सिद्धि के लिए कोशिश करने से ही नव-समन्वय सिद्ध होगा।

(१५ अगस्त १९६६)

धर्मो को हम विशुद्ध और प्राणवान् बनावें

अपना भूतकाल भूल जाने से मनुष्य अपनी बुनियाद खो बैठता है। लेकिन बुनियाद खोने के डर से मनुष्य जब भूतकाल का उपासक बनता है तब सिर्फ़ बुनियाद ही नही, अपना सारा जीवन ही खो बैठता है। किसी समय भूतकाल में हमारा प्राण अवश्य था लेकिन प्राण भूतकाल की उपासना कभी नही करता। प्राण जीता है वर्तमान काल में, जीता है भविष्यकाल के लिए, और जी सकता है भूतकाल को छोड़ देने से ही। यही है प्राण की प्राणशक्ति का रहस्य।

संसार में आज जितने भी धर्म हैं सब के सब भूतकाल के उपासक हैं। इसलिए ये सब धर्म अपने पुराने कलेवर को ले बैठते है और प्राण को खोते हैं।

और फिर भूत बन कर अपने-अपने धर्मनिष्ठो के सिर पर सवार होते हैं और आपस में लड़ते हैं।

अगर हमारी धर्मनिष्ठा जीवन-निष्ठा की तरह प्राणपूर्ण होती तो हम लोगो ने अपने-अपने धर्म को नयी-नयी दृष्टि दी होती, उस के कलेवर को बढने दिया होता और भविष्य के लिए नये-नये पुरुषार्थ करने की उम्मीदें रखी होती। अगर सब के सब धर्म इस तरह से बढते रहते और भविष्यकाल की ओर देखते रहते तो वे एक-दूसरे की दुश्मनी करने की भूल नही करते।

जब धर्मनिष्ठ लोग अपने-अपने धर्म का अभिमान ले कर आपस में लडते हैं और एक-दूसरे का खून करते हैं तब वे जानते नही कि वे अन्य धर्मों का नाश नहीं कर रहे हैं, अपने ही धर्म की कब्र बना रहे हैं।

आजकल इन धर्मों के प्रति ज़िंदा-जीवित-निष्ठा कही भी नही दीख पडती। जीवित निष्ठा होती तो धर्म को जीवित रखने के लिए उस का नव-संस्करण किया जाता। लोगो में पाया जाता है केवल धर्माभिमान। लोग नाम लेते हैं भगवान् का लेकिन अभिमान रखते हैं तीन चीज़ो का पुराने धर्म-सस्थापक का, भूतकाल के लिए लिखे गये धर्म-ग्रन्थो का और भूतकाल के लिए बनायी गयी धर्म-साधना का और उस के रस्म-रिवाज का। ईसाइयो में ईश्वर-भक्ति गौण है ईसा की भक्ति प्रधान है। मुसलमान कहेंगे, 'हमारे नबी साहब, हज़रत मोहम्मद पैगम्बर साहब दुनिया के लिए आखिरी पैगम्बर हैं, उन्ही की बात हमेशा के लिए माननी चाहिए। हमारे वैष्णव कहेंगे 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। चन्द वैष्णव यहाँ तक बढते हैं कि वे कृष्ण को भगवान् का अवतार मानने को तैयार नही हैं। अवतारी पुरुष तो बलराम था। कृष्ण स्वय भगवान् थे। दस अवतारो की जब वे गणना करते हैं तब बोलते हैं 'रामो रामश्च रामश्च' याने एक परशुराम, उन के बाद दाशरथी राम और आखिरकार बल-राम ऐसे तीन रामावतार हुए।

वेदान्त-विद्या के लिए हम पुराने ग्रन्थ को ही ले कर क्यो बैठें? वेदान्त का प्रारम्भ हुआ वेदो से इस में तो कोई शक नही है। उस विचार का विकास हुआ उपनिषदो में। उपनिषदो के मौलिक विचारो को अपने ढग से व्यवस्थित रूप दिया ब्रह्मसूत्रो ने।

उस के आगे प्रगति की भगवत्गीता ने, गीता में ब्रह्मविद्या भी है, योगशास्त्र भी है और जीवनकला भी।

अब यह वेदान्त-विद्या गीता तक आ कर ठहर नही गयी। आचार्यों ने वेदान्त-विद्या को बढावा दिया। वेदान्त-विद्या की बुनियाद भले ही उपनिषदो

के वचनो में पायी जाती हो लेकिन वेदान्त-विद्या उपनिषदो के वचनो का अर्थ करने पर निर्भर क्यो रहे ? वेदान्त-विद्या का सच्चा आधार पौरुषेय वचनो पर नही है किन्तु वेदान्त-विद्या की उपासना करने वाले पुरुषो की अनुभव-परम्परा पर है।

लेकिन हमारी भूतकाल की उपासना हमें अन्धा वना देती है। वह कहती है कि याज्ञवल्क्य तो त्रिकालज्ञ थे। शकराचार्य थोडे ही त्रिकालज्ञ थे ? शंकराचार्य का अधिकार याज्ञवल्क्य के वचनो का अर्थ करने तक सीमित है।

शंकराचार्य का कोई अन्धा भक्त इस पर चिढ कर कहेगा कि 'आप भी क्या कह रहे हैं ? हमारे शकराचार्य तो स्वय भगवान् शकर ही थे।' अगर ऐसे शकर-भक्त को मैं कहूं कि श्री अरविंद भी तो भगवान् ही थे तो वह मानने को तैयार होगा ?।

(९ सितम्बर १९६६)

चाहिए नव-समन्वय

भारत में धर्मों की बात अव पुरानी हो गयी है। लोग धर्मों को मानते तो हैं। धर्मों के नाम से सारे समाज के तीन-चार बडे टुकडे हुए हैं। धर्मों की बाधा बिलकुल दूर नही हुई है, तो भी धर्मों की प्रधानता अब पहले की जैसी नही रही। अब तो दुनिया के दो दल हो गये हैं, पूरे तो नही हुए हैं लेकिन किये जा रहे हैं, जोरो से किये जा रहे हैं। एक दल अमेरिका का शिष्य अथवा अनुयायी या आश्रित वन रहा है। और दूसरा रशिया का।

भारत सरकार दोनो के वीच तटस्थता के नाम छोटे-छोटे झोके ले रही है। स्वय सरकार को ही पता नही कि किस वक्त उस पर किस दल का प्रभाव पड रहा है या बढ रहा है।

यह हो गयी राजनीतिक निष्ठा की बात, ऑयडियॉलॉजी की बात। लेकिन हमारे जीवन की हालत क्या है ? उस में तो सारा परावलम्बन, परप्रत्यय, असगठन और असन्तोष ही है।

एक ही उदाहरण ले लें। हमारी अन्नोत्पत्ति जितनी चाहिए उतनी बढ़ नही रही है और दूसरी बात है कि काफी चाहने पर भी हमारी प्रजोत्पत्ति तनिक

भी रुक नही रही है। न भारत का रकबा बढ रहा है, न भारत की जनता को किसी उपनिवेश में जा कर बसने की सहूलियत है। इस का कोई विचार ही नही करता।

जब लोकसख्या जोरो से बढती है तब आजकल की भाषा कहती है, लोकसंख्या का विस्फोट हुआ है। (यो देखा जाय तो सारी दुनिया में लोक-संख्या का विस्फोट जोरो से हो रहा है और प्रजोत्पत्ति और अन्नोत्पत्ति का प्रमाण सँभालना सर्वत्र कठिन हो गया है। दुनिया की सरकारो के लिए और मनीषियो के लिए यह बडा चिन्ता का विषय हो रहा है।) भारत की बात सोचते हुए कहना पडता है कि जब से स्वराज्य हुआ है हमारे सवाल—चिन्ता-जनक सवाल बढते ही जाते हैं। कहना पडता है कि सवालो का भी विस्फोट हो रहा है। मैं हिसाब कर रहा था कि "इन दिनो हम लोगो ने कितने सवालो का हल ढूँढ निकाला है।" बहुत सोचने के बाद भी एक भी सवाल ध्यान में नही आता है जिस का हमने सन्तोषजनक हल निकाला हो। सन्तोष इतना ही है कि सारी दुनिया की हालत हम से अच्छी नही है।

खाने के अन्न के लिए विदेश पर आधार रखना पडे, यह तो परावलम्बन की अवधि हो गयी।

जहाँ देखें अँगरेजी का बोलबाला है। फलत हमारे नवयुवक और युवतियाँ अमेरिकी उपन्यास दिन-रात पढते हैं। और अब उसी ढंग के देशी उपन्यास भी लिखने लगे हैं जिस मे नीति, सदाचार, अभिरुचि सब कुछ विदेशी ढग के हो रहे हैं। छोटे-छोटे बच्चे देशी भाषा की किताबें हाथ में कम लेते हैं। अँगरेजी किताबो की ही भरमार है।

राज्य चलाने के लिए धन चाहिए, सो भी अगर हम विदेश से मँगवा ले तो हम मितव्ययिता—किफायतशारी कब सीखेंगे? जब पैसा, चाहे जितना, आसानी से मिलता है तब मनुष्य अन्धा होकर खर्च करता जाता है। विदेशी लोग पहले पहल, बिना किसी शर्त के कर्ज़ा देते जायेंगे। कर्ज़ लेने की हमारी आदत बढने पर जब वह देखते हैं कि हम पूरे लाचार हो गये हैं तब ऐन मौक़े पर कर्ज़ा देना बन्द कर देते हैं और तब शरण गये बिना चारा ही नही रहता। जब चाहे जितना पैसा मिलता है, तब पैसा बनता है सस्ता और सब चीज़ें बनती हैं महँगी। ऐसी हालत में अगर किसी की सलाह लेनी पडे तो विदेश के विज्ञ सलाह देने के लिए बुलाये जाते हैं।

हमारे देश में हमारी शिक्षा कैसी होनी चाहिए, जिस का निर्णय करने के लिए एक आयोग नियुक्त हुआ, इस में भी विदेश के विज्ञ लोगो को बुलाया

गया। जिस देश के पास 'स्वय-प्रज्ञा' नही उस का दूसरा क्या होगा?

हम नही कहते कि विदेशी लोगो के पास अच्छा ज्ञान और उच्च सस्कृति नही है। लेकिन उन की बुनियाद में उन का अनुभव, उन का स्वभाव, उन का आदर्श और उन की कार्यपद्धति होती है जो, हमारे देश के लोगो के लिए अनुकूल है या नही यह देखे विना, अगर हम लादते गये तो भारत के लोग सहन तो करेंगे लेकिन उन का उत्कर्ष नही हो सकेगा। दुनिया से हम सव कुछ ले सकते हैं लेकिन अपनी क्षमता और उन की मर्यादा देखनी पडेगी। अच्छी से अच्छी खुराक भी अगर हमारे हाजमे के लायक नहीं है तो ऐसी खुराक से लाभ होने की जगह हानि ही अधिक होगी।

हमारी पुरानी सस्कृति उस काल के लिए शायद काफ़ी हदतक मुफ़ीद थी। लेकिन आज की वदली हुई और वढी हुई परिस्थिति के लिए वह विलकुल अनुकूल नही है।

पुरानी सस्कृति को व्यापक वनाने के लिए उस का पुराना कलेवर छोडना ही पडेगा, जरूरत पडने पर तोडना भी पडेगा और नयी और भविष्य काल के लिए लाभदायी समन्वित सस्कृति के अनुरूप नया कलेवर उसे देना पडेगा।

अगर हमारे पास ऐसे समाज-शास्त्री होते जो हमारी प्राचीन सस्कृति के प्राण को पहचानते हो, उस के प्रति आदर-भक्ति भी रखते हो, लेकिन भूतकाल के उपासक वन कर पुराने कलेवर में हमारी वर्धमान संस्कृति को मार डालना नही चाहते हो, तो ऐसे अध्यात्म-परायण समाज-शास्त्री हमारी संस्कृति को उस के नवसमन्वय के अनुकूल एक तारुण्ययुक्त कलेवर दे देते।

लेकिन जो लोग भूतकाल के उपासक हैं, व्यापक समन्वय को समझ नही सकते, वे इस नवनिर्मिति का, जिद के साथ, विरोध करेंगे और इसी में अपने जीवन की कृतार्थता समझेंगे।

ऐसे लोगो को विवाद में सफलता मिले या निष्फलता, समाज उन के रास्ते जाने वाला नही है। समाज तो अपने प्राण के प्रति निष्ठा रख कर जाने-अनजाने नव-समन्वय की ओर ही जायेगा। और यह नव-समन्वय भारतीय संस्कृति के लिए यौवनपूर्ण नया शरीर वना ही लेगा।

हजारो वर्षों की भारतीय सस्कृति का इतिहासक्रम भविष्य की ओर इगित कर रहा है। भविष्य की ओर देखने की दृष्टि को ही दिव्यदृष्टि कहते हैं। ऐसी दिव्यदृष्टि जिन के पास है वे ही इस नव-समन्वय को समझ सकते हैं और उस की तैयारी कर सकते हैं। पिछले डेढ सौ वर्ष के अन्दर भारत में ऐसी दिव्य दृष्टि-वाले लोग पैदा हुए है। भविष्यकाल उन्ही का है। (१५ अक्तूबर १६६६)

साम्यवादी देशो में क्यों नहीं ?

हम समन्वयवादी किसी से कायमी असहयोग कर ही नही सकते। सहयोग है जीवन-धर्म, असहयोग है आपद्-धर्म। सीधे संघर्ष से बचने के लिए ही, और विरोधी पक्ष में धर्मबुद्धि जाग्रत् करने की आशा है तब तक ही, असहयोग का आश्रय हम ले सकते हैं।

हम ने कहा कि चीन और रशिया में साम्यवाद प्रचलित है। वहाँ पर आत्मीयता लाने के लिए, समन्वय सफल बनाने के लिए हम कुछ नही कर सकते। यह कोई सिद्धान्त की बात नही है। हमें इतना ही कहना था कि जहाँ साम्यवाद प्रचलित है वहाँ की सरकारें अपने-अपने देश के प्रजा-जीवन पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रखती हैं। वहाँ सास्कृतिक समन्वय का प्रचार या प्रयोग करने के लिए हमें मौका मिलना भी मुश्किल है।

मै ने एक साम्यवादी देश में किसी आदमी से कहा कि मुझे अपने घर ले चलिए। हम आप का गृहस्थी जीवन देखना चाहते है। (हम सरकार के मेहमान थे। उन्होंने हमें एक आलीशान होटल में रखा था। मै ने विनोद में उन लोगो से कहा था कि आप लोगो ने अपने बादशाह को खतम किया अब मेहमानो को बादशाह की तरह रखने लगे हैं।) जब मै ने उस आदमी के घर जाने की बात की तो पहले चकित हुआ। बाद में उस के चेहरे पर असमजसता दीख पडी। तुरन्त वह सम्हला। उस ने कहा—ज़रूर आप को अपने घर ले जाऊँगा। अभी पाँच-दस मिनट में आप को लेने आ जाऊँगा। फिर वह आदमी कभी मिला ही नही।

जो हो, हम लोगो ने देखा कि साम्यवादी देश में खानगी तौर पर लोगो से मेल-जोल साधना आसान नही है। सरकार ही समस्त प्रजा की समस्त रूपेण प्रतिनिधि है। कभी-कभी कही-कही साम्यवादी सरकारें अतिथियो को अपने प्रजाजनो के घर पर जाने देती होगी अथवा स्वय ले जाती होंगी। लेकिन वह सब सरकारी ढग से, सरकारी मान्यता के अनुसार ही हो सकता होगा।

(अमेरिका के एक लेखक ने, जिसने Mice and Man लिखा है, रशिया जा कर वहाँ जनता का पारिवारिक जीवन देखने का प्रयत्न किया। उस ने साम्यवादी सरकार को निश्चिन्त करने के लिए कहा, 'न मुझे राजनीतिक दृष्टि से

देखना है, न कुछ लिखना है। मैं केवल कौटुम्बिक जीवन ही देखना चाहता हूँ और उसी का वर्णन करना चाहता हूँ। जो भी फोटो मैं लूँगा और जो भी लिखूँगा आप को सौंप दूँगा। आप जितना मजूर करेंगे उतना ही आप के देश के वाहर जायेगा। उस को सफलता मिली और उस की वह किताव सारी दुनियाने चाव से पढी। यह सब मैं जानता हूँ। मैं ने भी वह किताव पढी है। फिर भी मैं कहूँगा कि साम्यवादी देशो में जनता में समन्वयवृत्ति का प्रचार करने के लिए जाना आसान नही है। हम जो कुछ भी समझाना चाहें, वहाँ के राज्य-कर्ताओ को ही) और उन के आदमियो को ही समझा सकते हैं। अगर हम समन्वय के सच्चे मिशनरी हैं तो साम्यवादी देशो में भी पहुँचने का रास्ता हमें ढूँढना होगा। (मैं रशिया और चीन में सौमनस्य मण्डल का सदस्य वन कर सरकारी मेहमान के तौर पर थोडा घूमा हूँ। मैं जानता हूँ कि कही भी समन्वय वृत्ति का प्रचार पूर्णरूप से अशक्य नहीं है। लेकिन ऐसा काम आसान भी नही।)

तव तक ग़ैर-साम्यवादी देशों में गैर-राजनैतिक ढग से समन्वय का सास्कृतिक कार्यक्रम करते जाये। वहाँ हमें जितनी सफलता मिलेगी उस का असर साम्यवादी देशो पर भी होगा। हम निराश नही है। हमारे लिए निराशा नास्तिकता का ही रूप है।

समन्वयवादी और एक काम कर सकता है जो हमारे कुमारप्पा ने किया था, और जिस की मैं ने भूरि-भूरि सराहना की थी। कुमारप्पा ने रशिया में और चीन में जा कर वहाँ जो भी चीज़ अच्छी देखी, प्रजाहित के सामाजिक कल्याण के कार्य देखे उन की उन्होंने हार्दिक प्रशसा की और कहा कि ये सब वातें हमारे यहाँ और सर्वत्र होनी चाहिए। जव साम्यवादी नेता देख सकेंगे कि हम दबी हुई जनता के पक्षपाती हैं, सारी दुनिया में आदर से समता लाने की हमारी नीति है, तव वे भी हम पर विश्वास करेंगे और हमें समन्वयवृत्ति का प्रचार करने का मौक़ा किसी-न-किसी दिन अवश्य देंगे।

लेकिन सार्वभौम समन्वय-वृत्ति का प्रचार करने का सर्वश्रेष्ठ काम करने वाले लोग हमारे पास हैं ही कितने ?

(१५ अप्रैल १९६८)

धर्म समन्वय

फिलहाल मेरे मन में एक ही चिन्तन ज़ोरो से चल रहा है। हिन्दुओ को अपना पुराना और कालग्रस्त हिन्दुत्व छोड कर जात-पाँत का अलगाव छोड कर पारसी, यहूदी आदि स्वदेश के अन्य धर्मी लोगो के साथ ओतप्रोत हो जाने की तैयारी करनी चाहिए।

श्री विनोबा को आशा है कि ग्रामदान-क्रान्ति के जरिये ऐसी क्रान्ति अपने आप होगी। यह भी आशा रखी जाती है कि ग्रामदान के द्वारा सब धर्म के लोग मिल कर एक कुटुम्ब बनेगा। कभी न कभी यह परिवर्तन होगा जरूर, लेकिन वह समय पर होगा या नही यही सवाल है। राष्ट्र की भावात्मक एकता आज सब तरह से जोखिम में है। डर है कि चाहे जैसी परिस्थिति में जात-पाँत का भेद एक या दूसरी तरह से जिन्दा रखने की हिन्दुओ की मनोवृत्ति तथा कुशलता ग्रामदान को भी मात कर देगी। यह हम अभी तक ठीक समझ नही पाये हैं कि जात-पाँत का दुरावा एक सामाजिक और राष्ट्रीय रोग है। 'सामाजिक जीवन तो ऐसा ही हो सकता है' ऐसा सोच कर इस सामाजिक कमज़ोरी के प्रति कोई ध्यान नही देता। और इस बारे में नेतागण समाज को छेडते ही नही। इस परायेपन को यदि हम यथाशीघ्र दूर नही करेंगे तो अब हम टिक नही सकेंगे। समाज के और ख़ासकर के अपने कार्यकर्ताओ के गले इस बात को उतारे बिना कोई चारा नही है।

(१५ अप्रैल १९६८)

भावनात्मक एकता की जड़ पकड़ें

'मंगलप्रभात' हमारी संस्था का मुखपत्र है। राष्ट्रभाषा हिन्दी का उद्देश विविध-भाषी, विविध-धर्मी समूचे भारत को एकहृदय और एकप्राण बनाने का ही है। जब गान्धीजी ने देखा कि प्रचलित हिन्दी द्वारा, ऐतिहासिक कारणो से और चन्द लोगो के संकुचित आदर्शों के कारण, वह भावनात्मक एकता व्यक्त नही हो रही

है, तब उन्होने हिन्दी को और उर्दू को (और दोनो भाषाओ के अभिमानी लोगो को) एकत्र लाने के लिए हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग किया। लेकिन जहाँ हृदय की इतनी सर्वसमन्वयकारी विशालता नही है वहाँ केवल शब्द बदलने से मामले में कहाँ सुधार हो सकता है ? दो समाजो के बीच जो अलगाव है उसे दूर करने का सकल्प अगर दोनो ने किया तो फिर उस मे दोनो के लिए एक-सी आसान भाषा मदद कर सकती हैं और जीवन घुलमिल सकता है। इस के अभाव में एक नये नाम से दोनों बाजू शंकाशीलता बढी और किसी भी पक्ष को हम राजी न कर सके।

अलगाव राष्ट्रीय एकता के लिए बाधक है, परस्पर अविश्वास को पोषण देता है। अलगाव बढ़ने से और तीव्र होने से समय-समय पर परस्पर हत्या भी होती है लेकिन जब तक लोग अलगाव को एक राष्ट्रीय बीमारी नही मानते, और उसे स्वाभाविक समझ कर उस का समर्थन करते है, और जब तक ऐसे अलगाव से जो राष्ट्रीय कमज़ोरी बढती है, उसे बरदाश्त करने के लिए सब तैयार हैं, तब तक इस बीमारी की जड़ें ढूँढ लेना ही हमारा प्रथम कर्तव्य बनता है।

लोग लडते हैं, अपने-अपने स्वार्थ के लिए। स्वार्थ हमेशा अन्धा होता है, न्याय-अन्याय को देखता नही। ऐसे स्वार्थ को काबू में कैसे लाया जाय, यह एक बडा सवाल है। मामूली ढग से न्याय पाने के लिए लोग या तो पंचायत के पास जाते हैं अथवा अदालत के पास।

यह बात नही कि हिन्दू-हिन्दुओ के बीच कोई किसी के प्रति अन्याय नही करता अथवा मुसलमान-मुसलमान के बीच स्वार्थ का झगड़ा नही होता। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सब एक ही मिट्टी के बने हुए हैं। जब स्वार्थ बढ़ता है तब लोग पहले उस की चर्चा करते हैं, लोकमत का सहारा माँगते हैं, अदालत के या पंचायत के पास फैसला माँगते हैं। इतने से न्याय नही मिला अथवा सन्तोष हुआ तो लोग निराश होकर बैठ जाते हैं। कहते हैं कि 'हमारी तक़दीर ही ऐसी। जिस का इलाज नही हो सका उसे बरदाश्त किये बिना चारा ही क्या ?'

भले लोग कभी-कभी इस से भी उच्च भूमिका का सहारा लेते है। वे कहते है, "भले ही मेरे हक का मुझे न मिला। जिसने मेरे प्रति अन्याय किया, वह आखिरकार है तो मेरा भाई ही। मुझे जो न मिला, मेरे भाई को मिला। मुझे भूखा रख कर वह खायेगा, उस के बाल-बच्चे खायेगे। वे सलामत रहे तो किसी-न-किसी दिन मेरी मदद करेंगे। आखिरकार हम सब एक हैं। एक दूसरे के बिना हमारा काम नही चलेगा।" जहाँ आत्मीयता है, प्रेम है, वहाँ

छोटे-मोटे अन्याय बरदाश्त हो ही जाते हैं। मुसलमान मुसलमान के साथ आराम से रहते हैं क्योंकि उन में सब लोग ऊपर बताये हुए ढंग से ही सोचते हैं। यही बात ईसाइयों की। और ज्यादातर यही बात है हिन्दुओं की।

लेकिन अब अन्याय का मामला हिन्दू और मुसलमान के बीच खड़ा होता है अथवा मुसलमान और ईसाई के बीच खडा होता है तब वह व्यक्तिगत मामला नही रहता। मुसलमान कहने लगते हैं "ये कमबख्त हिन्दू (या ईसाई) होते ही ऐसे। उस की जगह पर मुसलमान होता तो ऐसा नही सहन करना पडता।" कोई देखता ही नहीं कि सचमुच हिन्दू ने अन्याय किया है या नही शायद मुसलमान का दावा ही ग़लत है। बस, 'सवाल हिन्दू-मुसलमान के बीच है। और हम मुसलमान हैं। इसलिए मुसलमान की बात ही हमें सही माननी चाहिए। और सारी मुसलमान क़ौम को एक होकर हिन्दुओ को सबक सिखाना चाहिये।'

हिन्दू लोग भी ऐसी ही बातें करते हैं। वे कहते हैं कि "जहाँ मुसलमानो का राज है अथवा उन के हाथ में अधिकार है, शुद्ध न्याय मिलने की आशा ही नही।"

यह स्वभाव केवल हमारे ही देश में है यह बात नही। अमेरिका में गोरे लोगो के और नीग्रो लोगों के बीच जब झगडा होता है तब न्याय-अन्याय देखे बिना सब गोरे एक हो जाते हैं और नीग्रो को मार डालते हैं। इसे कहते हैं लिंच लॉ (Linch Law)। इस लिंच लॉ के कानून में न्याय किस के पक्ष में है, यह देखने के लिए कोई बँधा हुआ नही होता। झगड़ा खड़ा हुआ है। शिकायत गोरे ने की है इस लिए काले को (नीग्रो को) सजा देनी ही चाहिए। एक बदमाश गोरी औरत ने हो-हल्ला मचाया कि एक नीग्रो ने मुझ पर अत्याचार करने की कोशिश की। नीग्रो ने लाख कहा कि मैं निर्दोष हूँ। एक भले गोरे ने भी गवाही दी कि 'नीग्रो का कोई कसूर नही है। गोरी औरत ने अपना मतलब सिद्ध नही हो रहा है यह देख कर बेचारे नीग्रो के खिलाफ़ यह हो-हल्ला मचाया है। नीग्रो की बात सही है। वह गुनहगार नही है।'

इकट्ठा हुए गोरे चिल्ला कर कहेंगे, क्या काले निगर की बात हम सही मानें और गोरी औरत पर अविश्वास करें ? यह कभी नही हो सकता। अगर काला गुनहगार हाथ नही आया तो उस के लोगो को सजा करेंगे। इस कमजात कौम को सिर ऊँचा करने दिया तो उस का दिमाग़ आसमान पर पहुँच जायेगा।

जहाँ आत्मीयता नही है वहाँ लिंच कानून (?) की मनोवृत्ति ही काम करेगी।

जब दो क़ौमो के लोग एक-दूसरे के पड़ोस में रहते हैं, धीरे-धीरे एक-दूसरे को पहचानने लगते हैं, एक दूसरे की मदद करने के मौक़े भी उन्हें मिलते हैं। मदद की लेनदेन चलने से आदमियत खड़ी होती है। अगर दोनों क़ौमो का एक-दूसरे के प्रति आदर है तो समानता अपना काम कर ही लेती है। (जहाँ समानता नही है, उच्च-नीच भाव दृढमूल है वहाँ आत्मीयता और मानवता ग़ायब हो जाती है जैसा सवर्ण और हरिजनो के बीच कई बार पाया जाता है।)

हम ने विवेचन करने के लिए कडे उदाहरण दिये हैं। सामाजिक व्यवहार में अकसर भलाई और बुराई का मिश्रण ही पाया जाता है। लोग मामूलीतौर पर आत्मीयता से चलते हैं अथवा एक-दूसरे की बुराई निभा लेते हैं और झगडा टालते हैं। कदम-क़दम पर न्याय के लिए हरएक आदमी लड़ता रहेगा तो दुनिया चलेगी ही नही। लेकिन जहाँ पर एक पक्ष शक्तिशाली होता है और दूसरा पक्ष अपनी लाचारी महसूस करता है तब जबरदस्त पक्ष न्याय की बात देखेगा ही नही। मानो, कहेगा कि सिरजोरी करने का हमारा अधिकार है। ज़ेरदस्त को याने कमजोर को सिरजोरी बरदास्त करनी ही चाहिए। यह तो क़ुदरत का क़ानून है।

हमारे देश के लोगों ने ऐसी सब हालतें देखी हैं। जब गाँव के सवर्ण लोग हरिजनों के बारे में बाते करते हैं तब उन का मानस जैसा है वैसा प्रगट होता है। अमेरिका के कई गोरो के मुँह से मैं ने ऐसी ही बाते सुनी हैं। गोरे अकसर कहते हैं कि काले लोगो को सिखाना चाहिए कि समाज में उन का स्थान कहाँ है! ऐसा नही किया तो देखते-देखते वे हमारे सिर पर चढ बैठेंगे।"

लोगो को दूर-दूर रखने से हम उन के गुण कम देख सकते हैं। और जो थोडे दोष देख सकते हैं उन्हें बडा कर दिखाते हैं। जिस क़ौम को हमेशा अन्याय सहन करना पडता है वह देखते-देखते आत्मविश्वास और आत्मसम्मान खो बैठती है। ऐसे की संस्कारिता ही नीचे उतर जाती है। और फिर लोग कहने लगते हैं, देखिए इन की सस्कारिता! इन्हें हम समानता से अपने पास कैसे आने दें?

भेद के कारण अलगाव। अलगाव के कारण परिचय का अभाव, और परस्पर अविश्वास। इस क्रम से सबन्ध बिगड़ते जाते हैं।

इस सारी परिस्थिति के लिए ऐतिहासिक कारण होते ही हैं। कोई ऐसा न माने कि दोष केवल हिन्दुओ में ही हैं। सब लोग एक ही मिट्टी के बने हुए हैं। जब मुसलमानो का राज था, हिन्दुओं को इतना सहन करना पडा है कि वह आज तक भूल नही सकते। ईसाईयो ने धर्मान्धता के कारण हिन्दुओ पर कितना ज़ुल्म किया उस के सबूत गोवा में हम ने देखे हैं। (भारत में सिर्फ एक जाति

के लोगो को राज्य करने का मौका नही मिला जो है ईरान से आये हुए पारसी। इन्हो ने राज्यकर्त्ता के रूप में कभी किसी पर अन्याय नही किया। क्योंकि इन्हें वैसा मौका ही नही मिला।)

अब सवाल यह है कि क्या हम पुरानी सब बाते याद कर के बदला लेते जायँ ? या कहें कि जो हो गया, सो हो गया। पुरानी बातें कहाँ तक ढूँढने जायँ ? जालिम का गुनाह तो है ही। किन्तु गुलाम ने गुलामी बरदाश्त की और इस तरह जालिमो को जुल्मगार होने दिया, यह भी एक दोष ही है। अब हम पुरानी बाते दफना कर नये सिरे से एक-समाज क्यो न बनें ? उच्च-नीच भाव सब से पहले दफनाना होगा। उस के बाद आप-पर-भाव अथवा भेद छोड देना पडेगा। धर्मभेद, वंशभेद, रस्म-रिवाजो की जुदाई इन सब बातो से ऊपर उठ कर हमें एकता की ओर बढना चाहिए।

यह काम, यह सुधार, यह क्रान्ति इकतरफा नही चल सकती। जालिम कहेगा, 'हमारा जुल्म बरदाश्त करो। फिर तो कोई झगडा ही नही रहेगा। बडी मिठास से हम साथ रहेंगे।' लेकिन ऐसी एकता, आत्मीयता हम बरदाश्त नही कर सकते। अलगाव भी बरदाश्त नही करना है। समानता की भूमिका पर, न्याय की भूमिका पर हम इकट्ठा होना चाहते हैं। दब्बू हो कर जीने की सलाह हम किसी को दे नही सकते। हम इतना ही कहेंगे—

भारत में अनेक धर्मों के, अनेक वशो के, अनेक भाषाओं वाले लोग एकत्र रहते हैं, रहते आये है। अलग-अलग रहें तो स्वभाव बिगड जाता है। उच्च-नीच भाव चलाया तो अन्याय मजबूत होता है। दृष्टि-भेद बरदाश्त करना चाहिए। सब-समाज अपने-अपने रस्मरिवाज सुधारने की कोशिश करें। और तब तक एक-दूसरे के रस्म-रिवाज सहन करने को सीखना ही चाहिए।

जो लोग धार्मिक हैं, धर्म या मजहब मानते है उन की पहली कसौटी यह है कि उन के मन में सब धर्मों के प्रति इज्जत-आदर हो। हर एक धर्म के लोग अपने धर्म की बात किस तरह से समझते हैं और किस कारण उन पर इतना विश्वास रखते है यह भी सहानुभूति के साथ समझना चाहिए। मेरा ही धर्म अच्छा, मेरा ही धर्म ईश्वरप्रणीत है ऐसी जिद केवल जिद ही है इतना तो उन को समझाना चाहिए। या तो सब धर्म और सब धर्मग्रन्थ ईश्वर प्रणीत हैं और इस लिए इज्जत के योग्य है अथवा सब के सब धर्मग्रन्थ बुद्धि और अनुभव की कसौटी पर कसने लायक है इतना तो धर्मनिष्ठों को कबूल करना ही चाहिए। वे उतनी शुद्ध दृष्टि नही रखते हैं इस लिए आज की लिखी-पढी दुनिया सब धर्मो के प्रति एक-सी उदासीन बन गयी है और किसी भी धर्म के

प्रति लोगों के मन में अब आदर नहीं रहा। अपने-अपने धर्म का अभिमान तो हर एक में हो सकता है। लेकिन अभिमान चीज ही अधार्मिक है। अभिमान, गुमान, गर्व और अहंकार को किसी भी धर्म ने अच्छा नहीं माना। जो विचार तर्कशुद्ध नहीं है, न्याय्य नहीं है, सार्वभौम आदर के पात्र नहीं हैं, उस का समर्थन केवल अभिमान से करना अपनी स्थिति कमज़ोर है, ऐसा क़बूल करने के बराबर है।

सब धर्मों के प्रति एक-सा आदर रहे, यह धार्मिकता का पहला लक्षण है। उस की बुनियाद पर अपने धर्म के प्रति विशेष भक्ति हो तो उस की कोई शिकायत नहीं करेगा।

इसी वृत्ति को गान्धीजी ने सर्व-धर्म-समभाव का नाम दिया। इस की साधना करते हम लोगों ने देखा कि जब हम सब धर्मों के प्रति एक समान आदर रखते हैं तब धीरे-धीरे सब धर्मों के प्रति आत्मीयता बँध ही जाती है। सब-धर्म-समभाव का फल है, सब धर्म-ममभाव।

समभाव का यह अर्थ हरगिज़ नहीं कि 'धर्म-धर्म में कोई भेद है नहीं, है तो केवल भाषाभेद ही है।' हर एक धर्म में अपनी खूबी और विशेषता होती ही है जिस का लाभ दूसरे धर्म ले सकते हैं। हर एक धर्म 'अपने देश, अपने काल और अपने समाज' से प्रभावित होता है। समय-समय पर उस का अर्थ और उस का भाव व्यापक करना पड़ता है। धर्मग्रंथ को उस के शब्दार्थ से बाँध देना उस के प्रति अन्याय करना है। धर्म को अगर ताज़ा, जिंदा और प्राणवान बनाना है तो पुराने ग्रन्थों के शब्दार्थ को पढ कर चलना ठीक नही होगा। मनुष्य का विकास होता जाता है उस के साथ धर्म समझने की शक्ति का भी विकास होता है। हर एक धर्म-समाज को अपने-अपने धर्म का संस्करण 'अध्यात्मक्षेत्र के प्रवीण लोगों की मदद से' करते रहना चाहिए। धर्म का साक्षात्कार हमेशा भूतकाल की ओर देख कर पूरी तरह से नही होगा। धर्म का प्रारम्भ भले ही भूतकाल में हुआ हो। उस का विकास हमेशा होता रहेगा। और धर्म की कृतार्थता तो भविष्यकाल में ही पायी जायेगी। धर्म का आकलन, धर्म का पालन और धर्म की सिद्धि काल-भगवान् की मदद से ही हो सकती है।

जो बातें धर्म के सम्बन्ध में कही गयीं वही संस्कृतियों के बारे में भी सही हैं। और अब तो सब संस्कृतियों को एक-दूसरे में घुलमिल जाने का समय आया है। दुनिया के अनेकानेक देशों में जा कर हमने देखा, सर्वत्र संस्कृतियाँ ओतप्रोत होने लगी हैं।

झगड़े चलते हैं, सत्ता, सम्पत्ति, अधिकार और प्रतिष्ठा के कारण। इस लिए

समन्वय का कार्य राजनीतिक ढंग से करना आसान नही है। इष्ट भी नही है। यह काम जनता को संस्कृति-सेवकों के द्वारा ही कराना होगा।

हमारी संस्था ने प्रारम्भ किया, भाषा और साहित्य से। अनुभव हुआ कि यह काम गहरा है। संस्कृति-समन्वय का है। इस लिए हमारी संस्था के सदस्यो ने सर्वानुमति से तय किया कि सारी शक्ति संस्कृति-समन्वय की स्थापना के लिए ही खर्च की जाय। इस लिए गान्धी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा का काम प्रधानतया संस्कृति-समन्वय का ही बन गया है। हमें विश्वास है कि इस समन्वय-कार्य में हम अग्रसर हुए तो समाज के बहुत से सवाल हल करने की शक्ति इसी में से प्रगट होगी।

मंगल प्रभात के पाठकों का वैचारिक सहयोग तो हमें मिलता आया ही है। हमें विश्वास है कि उन की और हमारी याने हम सब की यह सस्था विश्व समन्वय के काम को बढाती जायेगी। काम समष्टि का है। सभी के सहयोग से ही यह सिद्ध होगा। हमें विश्वास है कि समन्वय प्रेरक भगवान की सहायता इस में है ही।

(१५ सितम्बर १९६७)

युगावतार समन्वय-भगवान्

रहा न गया इसलिए विश्व-समन्वय-संघ की स्थापना की। स्वतन्त्र भारत के सामने असंख्य सवाल हैं। भारतीय संस्कृति अत्यन्त प्राचीन, विविध और समृद्ध है। हरएक युग ने नया-नया पुरुषार्थ करके इस संस्कृति को अनेक तरह से सजाया है और सब से बड़ी बात तो यह कि प्रतिकूल परिस्थिति मे भी इस संस्कृति ने अपनी आत्मा को सँभाल कर रखा है। दुनिया की दूसरी किसी भी संस्कृति ने ऐसा जीवट नही दिखलाया।

यह सब होते हुए भी हम भूल नही सकते कि हमारी संस्कृति में काफी कमजोरियाँ घर कर बैठी हैं। मनुष्य जाति के कई महत्त्व के सवालों का हल न ढूँढ सकने के कारण हमारी संस्कृति क़दम-कदम पर परास्त भी हुई है। इतने बडे विशाल देश के करोडो की जन संख्या के संस्कारी नागरिको का यह राष्ट्र होते हुए भी मुट्ठी भर पठान लोग यहाँ आकर राज्य कर सके, क्योंकि हमारे राजा और उन के सैनिक शूरवीर और बहादुर होते हुए भी सगठित होकर

लड़ने की आवश्यकता अनुभव कर सकने जितने दूरदर्शी नही थे। हम लोगों ने स्वामी-निष्ठा से पठानों का राज्य मजबूत किया और उसे कुशलता से चलाया भी।

उन के बाद मुग़ल लोग आये। उन्होंने पठानो को परास्त कर के भारत पर अपना राज्य स्थापित किया। उस समय भी मुट्ठी भर मुग़लों को हम परास्त न कर सके।

यह हो गयी जमीन के रास्ते आक्रमण करनेवाले विदेशी लोगों की कहानी। यूरोप के लोग भारत से तिजारत करने को लालायित थे। उद्योग-हुनरो में और ललित कलाओ में उन दिनो भारत अग्रगण्य देश था। यूरोप के लोगों ने जमीन के रास्ते भारत पहुँचने की कोशिशे की। किन्तु मुसलमान राष्ट्रों ने भूमध्य समुद्र के इस पार उन्हें नही आने दिया। यूरोप के गोरे लोग पुरुषार्थ में किसी से कम नही थे। उन्होने भारत पहुँचने का समुद्री रास्ता ढूंढ निकाला। इस में उन्हें भारतीय खलासियो की अच्छी मदद मिली। अब मामूली जहाजो में बैठ कर भारत आनेवाले पोर्चुगीज़ या फ्रेंच लोगो की संख्या कितनी हो सकती है? मुट्ठीभर पोर्चुगीज लोगों ने भारत के पश्चिम के किनारे एक राज्य स्थापित किया। ४५० साल तक वह अव्याहत चला।

यही हालत अँगरेजो की थी। वे यहाँ आये तिजारत करने के लिए। हमारी राष्ट्रीय, राजनैतिक और सास्कृतिक कमजोरियाँ पहचान कर उन्होंने धीरे-धीरे हम लोगो की मदद करना शुरू किया, (इस शर्त पर कि भारत के राजा अँगरेजो को छोड़ कर यूरोप की और किसी भी प्रजा की मदद न लें।) सात समुद्र के उस पार से आये हुए मुट्ठी भर अँगरेजो ने हमारी कमजोरियाँ समझ लीं और इस देश में अपना राज्य सुदृढ किया। फ्रेंच लोगो ने भी हमारे बारे में बड़ा आविष्कार किया कि ये लोग कायर नही हैं, बडे बहादुर हैं किन्तु देश निष्ठा नही जानते, असाधारण स्वामीनिष्ठ हैं। वे परलोक की बातें करते हैं किन्तु इहलोक की परिस्थिति समझते नहीं। ये लोग शान्तिप्रिय हैं, उद्योग-हुनरो का विकास करने योग्य संस्कारी हैं, किन्तु धर्म-जड होने से अपना व्यापक हित समझ नही सकते।

इस तरह हमारी राष्ट्रीय कमजोरियाँ समझ कर अँगरेजो ने हमारे देश पर, हमारी बुद्धि पर और हमारे मस्तिष्क पर भी अपना राज्य स्थापित किया।

जब तक हम जीवननिष्ठ थे तब तक हमारी सूझ अच्छी थी और हम कठिनाइयों पर विजय पाने का रास्ता निकाल सकते थे। लेकिन जब हम ग्रन्थनिष्ठ और परम्परा-निष्ठ बने तब सफलता का मार्ग देखने की और ढूंढने की शक्ति खो बैठे।

हमारे यहाँ इतिहासक्रम से अनेक वंशो के लोग आ बसे। हम लोगों ने सस्कृति के बल पर सब को एक-जीव, एक-प्राण बना दिया। हमारे यहाँ उपासना-भेद के कारण वैष्णव, शाक्त, शैव आदि अनेक पंथ भेद हुए लेकिन हमारी सामाजिक एकता कायम रही। क्योंकि हमने भेद में अभेद देखने की शक्ति कायम रखी थी। हम ने कभी नही कहा कि एक ही रास्ता सच्चा है और शेष सब झूठे। हमारे यहाँ वश-भेद के कारण और प्रदेश-भेद के कारण भाषाएँ अनेक चली। किन्तु संस्कृति संवर्धन के लिए वैदिक और अनेक प्राकृत भाषाओ को सहेज कर सब को एकरूप बनाने वाली संस्कृत भाषा हमने चलायी, जिस का प्रचार काश्मीर से ले कर कन्याकुमारी तक और सिन्धु नदी से ले कर लोहित—ब्रह्म-पुत्र तक एक समान फैल गया। पचायतन पूजा, अवतारों की कल्पना आदि समन्वयकारी सार्वभौम सिद्धान्तो के बल पर हम ने सास्कृतिक एकता मजबूत की थी। राजनैतिक एकता का इतना महत्त्व तब नही था, जितना आज है। छोटे-मोटे राजा अपना-अपना राज्य चलाते थे। ईर्षा के कारण, अगर महत्त्वाकाक्षा वढी तो साम्राज्यो की स्थापना करते थे। साम्राज्यों का लाभ समझते हुए भी हमारे यहाँ किसी का भी साम्राज्य दीर्घजीवी न हो सका।

विदेशी आक्रमण के खिलाफ हम टिक न सके। पर-राज्य का खतरा समझ ही नही सके। विदेशी राज्यो को मजबूत करने में हम ने सहयोग दिया। लेकिन विदेशवालो को स्वदेशी बनाने की हमारी अपेक्षा सिद्ध न हो सकी। सब को आत्मसात् करने की हमारी शक्ति हम खो बैठे।

तब से हम ने एक ही नारा चलाया कि विदेशी धर्म, विदेशी ही रहने वाला है। विदेशी धर्म को स्वीकार करने वाले अपने लोग भी विदेशी बनने वाले हैं। तब से हमारी धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक नीति 'जैसे के साथ तैसा' वाली बन गयी। याने सब को आत्मसात् करने का हमारा स्वधर्म हम ने छोड दिया।

विदेशी लोगो ने यहाँ पर अपने-अपने साम्राज्य बनाये और साम्राज्य के द्वारा राजनैतिक एकता की स्थापना की। उस का प्रभाव देख कर हम चकित हो गये और हमने अपनी संस्कृति को 'आत्मरक्षा' का सकुचित रूप दे दिया। पराधीन समाज को ऐसा ही करना पडता है।

लेकिन अब तो हम स्वाधीन बन गये है। सन् १८५७ के कडुवे अनुभव के बाद पच्चीस वर्ष के अन्दर ही हम लोगो को एकता का रास्ता सूझा। देश के मनीषियो ने सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना की। और धर्मभेद के बावजूद राजनीतिक और राष्ट्रीय एकता का प्रयोग शुरू किया। विदेशी राज्यकर्ताओ ने अपने लिए वह खतरा पहचान लिया। औरकांग्रेस का

बल न बढे इस के लिए जितनी भी हो सकी उतनी कोशिशें कीं। न अँगरेज़ लोग इस देश में साम्राज्य क़ायम बना सके, न हम अपनी एकता अक्षुण्ण रख सके। अँगरेज़ तो चले गये लेकिन अपनी भाषा, अपना साहित्य और अपनी जीवनव्यवस्था का साम्राज्य यहाँ मज़बूत हो रहा है इतना सन्तोष उन्हें हो गया है। एशिया और अफ्रिका में यूरोप के गोरों का राजनीतिक अधिकार टिक नही सका। लेकिन जीवन-व्यवस्था में और सांस्कृतिक पुरुषार्थ में भी पश्चिम का प्रभाव सब को मान्य करना ही पड़ रहा है।

ऐसी हालत में पश्चिम के सार्वभौम विज्ञान और यन्त्रोद्योगी संस्कृति के साथ भारतीय अथवा एशियाई आध्यात्मिकता का समन्वय करने से ही हम पुराने झगडे और तनाजे मिटा सकते हैं।

भारत के स्वभाव में धर्म-समन्वय का माद्दा है ही। इसी का प्रभाव बौद्ध धर्म ने एशिया के बहुत बडे हिस्से में आजमाया। इस के विपरीत समन्वय का स्वीकार न करते हुए साम्राज्यवाद का प्रयोग इसलाम ने और ईसाइयत ने सर्वत्र आजमाया। न इसलाम विश्व-साम्राज्य स्थापित कर सका, न ईसाइयत वैसा कर सकी। दोनों ने आपस में युद्ध चला कर देखा, किसी को भी विजय न मिली। अब अपना-अपना सामाज्यवाद न छोडते हुए दोनों ने सर्वत्र शीतयुद्ध की नीति चलायी है। ऐसे शीतयुद्ध को कमज़ोर कर के विश्वव्यापी एकता स्थापित करने का प्रयत्न आज दुनिया में बडी शान्ति से किन्तु ज़ोरों से चल रहा है। एक है पश्चिम के विज्ञानवाद का सार्वभौम प्रभाव और दूसरा है वेदान्त, बौद्ध धर्म और भक्ति मार्ग की त्रिवेणी का आध्यात्मिक प्रभाव। इस त्रिवेणी ने समन्वय का मार्ग अपनाया है और विज्ञान का प्रभाव तो सत्य और सेवा के बल पर पुराने दायरो को तोड़ ही रहा है।

(जो लोग विज्ञान और यन्त्रोद्योग का सहारा लेकर पुराने दायरों को मज़बूत करने की कोशिश करते हैं, उन को अनुभव हो रहा है कि विज्ञान और यन्त्रोद्योग विनाश की ओर ही ले जा सकते हैं। विज्ञान उपदेश के लिए ठहरता ही नही। विज्ञान कहता है कि मेरी उत्कट खोज सत्य के सूक्ष्म और सार्वभौम स्वरूप की है। उस का आदेश है "सब दायरे कालग्रस्त हैं, सब को छोड़ दो और एकता की ओर आ जाओ। अन्यथा मेरी शक्ति पक्षपातरहित सब की मदद करती हुई विनाश को ही सार्वभौम बना देगी।"

विज्ञान और यन्त्रोद्योग परस्पर सहयोग करते हैं, किन्तु दोनों एक नही हैं। विज्ञान स्वयं तटस्थभाव से सत्य की उपासना करता है। सत्य को छोड़ कर और किसी भी तत्त्व की तरफ़ ध्यान देना उसे स्वीकार नही है। उस की श्रद्धा

हैं, सत्य की शुद्ध उपासना करने वाला आदमी अगर तमाम असत्यो को छोड दे तो उस का अकल्याण कभी नही होगा। Absolute, undiluted truth need not and cannot hurt anybody यही सत्य जब समाज-विज्ञान की भाषा में बोलता है तब वह कहता है Right wrongs no man अगर हमारा आचरण पूर्णतया न्याययुक्त रहा तो हमारे द्वारा किसी का अन्याय और अहित हो ही नही सकेगा। आज कल के प्रयोग परायण विज्ञान ने सूक्ष्मता में प्रवेश किया है। गूढ शक्तियो से उस का परिचय बढ़ रहा है। उसे विश्वमागल्य का थोडा साक्षात्कार होने लगा है। विज्ञान की शक्ति देखते-देखते बढ रही हैं। साथ-साथ उस की श्रद्धा इसी प्रमाण में सर्वकल्याणकारी रूप पकडने की तैयारी में है।

विज्ञान कैसा भी हो, तटस्थ ही रहेगा। खतरा है यन्त्रोद्योग से। क्योकि जहाँ प्रयोग-परायण विज्ञान ज्ञानमार्गी है, शक्ति-उपासक सेवा-परायण यत्रोद्योग, कल्याण-अकल्याण का भेद न करते हुए अपना प्रभाव बढाता जा रहा है। जहाँ विज्ञान सत्योपासक ज्ञानमार्गी है वहाँ यन्त्रोद्योग सेवा-परायण कर्ममार्गी है। यन्त्रोद्योग स्वभाव से शाक्त है। वह कल्याण भी कर सकता है, विनाश भी। हम न विज्ञान का बहिष्कार कर सकते हैं, न यन्त्रोद्योग का त्याग। हमें दोनो की शक्ति विश्वात्मैक्य के उपासक अध्यात्म की सेवा में लगानी है।

इस सार्वभौम विचार के प्रचार के लिए ही विश्व-समन्वय-सघ प्रवृत्त हुआ है। जहाँ सघर्ष है, वहाँ एकागिता है। सघर्ष जिद्दी बन कर परस्पर विनाश के द्वारा एक पक्ष को विजय दिलाने की कोशिश करता आया है। विज्ञान कहता है कि वे दिन अब चले गये। अब तो सघर्ष किसी को भी विजय देखने नही देगा। संघर्ष सीधा ले जायेगा सर्वनाश की ओर। अब ठीक समझ लो कि सघर्ष का जमाना खत्म हो गया है। अब जीना है तो समन्वय के रास्ते अग्रसर होना ही पडेगा। जहाँ अन्धे लोगो की ज़िद समन्वय को मान्य नही करेगी वहाँ सत्याग्रह के रास्ते समन्वय की तैयारी करनी पडेगी। सत्याग्रह अहिंसा की पराकाष्ठा है। समन्वय की वह अन्तिम शक्ति है। जब अहमदाबाद में किसी समय महात्माजी का सत्याग्रह पूर्णतया सफल हुआ तब गान्धीजी ने ज़ाहिर किया कि दोनो पक्षो की जीत हुई। जब यूरोप के गोरे लोगो के नेतृत्व के दो महायुद्ध का अन्त हुआ तब मानवता ने बडे विपाद से कहा, दोनो पक्षो की हार हो गयी है। अमेरिका और इगलैण्ड, फ्रान्स और जर्मनी, चीन और जापान किसी भी देश में विजय का उत्सव हो नही सका।

अब इतने भयानक अनुभव के अन्त मे समन्वय-युग का प्रारम्भ करना ही

होगा। जीवन-क्रान्ति का प्रारम्भ विचार क्रान्ति से होता है। विचारो में कमजोरी रही तो मानवजाति को भयानक ढंग से भुगतना पडता है। विश्व के जीवन का प्रवाह किस तरह से वह रहा है यह देख कर जव विश्वास हो गया कि अव एक ही मार्ग है, समन्वय का, तव निश्चय हुआ कि विश्व-समन्वय की घोषणा पूरी हृदय-शक्ति से करनी चाहिए। लोगो के कानो तक, मस्तिष्क तक और हृदय तक पहुँचने में देरी लगेगी ऐसी चिन्ता हम करे ही क्यो ? पुराने लोग जिसे कालवल कहते थे उसी को आज हम युगवल कहते हैं। युगवल अमोघ होता है, दुर्जेय होता है। उस के खिलाफ कोई शक्ति टिक नही सकती।

कौरव-पाडवो के भारतीय युद्ध के दिनो में कुरुक्षेत्र पर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा था—

कालोऽस्मि लोकक्षय-कृत् प्रवृद्ध·

आज वही श्रीकृष्ण समन्वय-भगवान् वन कर कह रहा है—

कालोऽस्मि लोकोन्नति-कृत् प्रवृद्ध

अगर हम आस्तिक हैं तो भगवान् की शान्ति-सेना के सैनिक वन जायें और विश्व-समन्वय के काम में पूरी शक्ति लगा दे।

(१५ अक्तूवर १९६०)



सार्वभौम गोरक्षा मिशन

मनु भगवान् की सीख के अनुसार गोरक्षा

मारपीट कर के, या लड़ाई-झगडा कर के गाय की रक्षा करनी चाहिए ऐसी धर्म की आज्ञा नही हैं।

ब्राह्मण अपने तप से गाय की रक्षा करे।

क्षत्रिय लोग दिलीप राजा के समान अपना बलिदान देकर गाय की रक्षा करे।

लेकिन गोरक्षा का उत्तरदायित्व धर्मशास्त्र ने वैश्यकर्म के रूप में ही बतलाया है—कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्य वैश्यकर्म स्वभावजम्।

आज की हालत में हम नही कह सकते कि वैश्य लोग ही गाय की रक्षा करें। लेकिन ऊपर के वचन का यह अर्थ होता है कि पशुओ की रक्षा वैश्य ढग से ही करनी चाहिए। सारा समाज कुल गाय-बैलो का एक राष्ट्रीय ट्रस्ट बनावे और गायो को अपने ताबे में लेकर उन का रक्षण करे। यही एक धर्म्य मार्ग है।

गोरक्षा किसी दूसरे का ही नही, वैश्यो का ही काम है। मनु भगवान् ने अपनी स्मृति में स्पष्ट कहा है कि जब तक वैश्य गोरक्षा करते हैं तब तक दूसरो को इस काम में नही पडना चाहिए। आज इस वचन का अर्थ यह है कि जब तक वैश्य ढग से गोरक्षा होती है तब तक दूसरे साधन काम में लाने ही नही चाहिए। वैश्य के कौशल्य से ही गोरक्षा हो सकती है।

यह रहा मनु भगवान् का वचन

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून्। [अ० ९, श्लो० ३२७]

विधाता ने पशुओ को पैदा कर के उन के रक्षण के लिए वैश्यो को सौंप दिया है। इस लिए वैश्य को चाहिए कि—

वार्तायां नित्ययुक्त स्यात् पशूना चैव रक्षणे। [९, ३२६]

वह कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य आदि अपने पेशे में हमेशा मशगूल रहे और खासकर के पशुओं की रक्षा में। अन्य प्रकार से आजीविका और धन-प्राप्ति

उत्तम होती हो तो भी वैश्यों के लिए गोरक्षा के प्रति बेदरकार बनना उचित नहीं है और जब तक वैश्य पशु-रक्षण करने के लिए तैयार हैं तब तक दूसरों को उस में नहीं पड़ना चाहिए ।

न च वैश्यस्य कामः स्यात् "न रक्षेयं पशून्" इति ।
वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथंचन ॥ [९, ३२८]

(खेती इत्यादि उत्तम कमाई होती हो तो भी) वैश्य को 'पशुओं का रक्षण मैं नहीं करूँगा', ऐसा ख्याल नहीं करना चाहिए । उसे अवश्य पशुओं का रक्षण करना ही चाहिए और जब तक वैश्य इस कर्तव्य को पूरा करने की इच्छा रखता हो तब तक दूसरों को उस काम में नहीं पड़ना चाहिए ।

इस के बाद मनु भगवान् ने वैश्य लोगों को कौन-कौन-सी विद्याएँ सीखनी चाहिए उस का महत्त्व का वर्णन दिया है । आज के युग में भी ये सब विद्याएँ महत्त्व की गिनी जायेंगी । उस में 'पशूनां परिवर्धनम्'—cattle breeding—पशुसंवर्धन को स्थान है । उस का अर्थ टीकाकार ने नीचे के अनुसार किया है—

अस्मिन् देशे, काले, अनेन च तृण-उदक-यवादिना ।
पशवो वर्धन्ते, अनेन क्षीयन्ते इति एतत् अपि जानीयात् ॥

पशुसंवर्धन के लिए अमुक स्थान पर, अमुक मौसम में, अमुक जाति की घास, पानी, अनाज आदि अनुकूल हैं । उस से पशु पुष्ट बनता है, सुधरता है और बढ़ता है । उसी प्रकार अमुक हालतों में पशु दुबले बनते हैं, नष्ट होते हैं, यह सब जान लेना चाहिए ।

[२६ मई १९६६]

गोरक्षा और क़ानून

जिन के हाथ में धन नहीं होता, वे धन के बड़े भक्त होते हैं । मानते हैं, भगवान् के जैसी ही कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथा कर्तुम् सब शक्ति धन के पास भी है । उसी तरह जिन लोगों ने क़ानून बनाने की शक्ति का अनुभव कभी नहीं किया है और क़ानून के नाम तरह-तरह के दुर्दैवी अन्यायों का अनुभव किया है, वे मानते हैं कि क़ानून सब कुछ कर सकता है । वे मानते ही नहीं कि क़ानून की भी अपनी निश्चित मर्यादायें होती हैं ।

जिन के हाथो में सत्ता है, और दिमाग में न्याय का शुद्ध ख्याल नही है वे आदेश निकाल कर उसे कानून कह सकते हैं और लोगो पर जबरदस्ती कर सकते है और उस का फल उन को और औरो को भुगतना पडता है।

कानून की अपेक्षा रहती है कि न्यायालय में आने वाले और बैठने वाले सब लोग सत्य ही बोलें। लेकिन कानून के द्वारा सारी जनता को हम सत्यवादी नही बना सकते।

स्वतन्त्र भारत ने कानून बनाया कि एक आदमी एक ही समय एक से अधिक स्त्रियो के साथ पत्नी का सम्बन्ध नही रख सकता। यह कानून ईसाइयो के लिए था ही। एक पत्नीव्रती रामचन्द्र को अवतार मानने वाले हिन्दू समाज में यह क़ानून नही था, हालांकि रिवाज़ तो करीब-करीब था ही। स्वतन्त्र भारत ने यह क़ानून बनाया। लेकिन यह कानून मुसलमानो पर लागू नही किया। इसी में हमारी न्यायवुद्धि सिद्ध होती है। मुसलमानो में कई सुधारक नेता लोग है जो एक पत्नी वाला क़ानून पसन्द करते है। लेकिन उन का बहुमत नही है। इस्लाम में चार पत्नियाँ तक रखने की शरीअत है। इस शरीअत के साथ कुछ शर्तें भी लगायी हैं, जिन का अमल कानून से कराना मुश्किल है।

हिन्दूओ की और दूसरे लोगो की भी प्रचण्ड बहुमती के ज़ोरो हम एकपत्नी-क़ानून मुसलमानो पर लागू कर तो सकते थे, लेकिन यह किसी एक धर्म की जमात पर औरो की ज़बरदस्ती हो जाती।

[कभी-कभी ऐसी ज़बरदस्ती करने के प्रसग खडे हो सकते हैं, लेकिन खूब सोच-विचार कर के ही वैसा करना पडता है। सती की प्रथा जब हम लोगो ने बन्द करवायी तब उस के पक्ष में बहुमत हैं या नही, सोचने-पूछने हम नही बैठे।]

कानून से गोकुशी—गायो की हत्या-बन्द करवाने की बात दूसरे एक व्यापक जीवहत्या या पशुहत्या बन्द करवाने के प्रश्न के अन्दर आ जाती है।

मेरे जैसे चन्द लोग मानते हैं कि पशु आदि प्राणियो को आहार के लिए या शिकार लिए मारने का मनुष्य को कोई अधिकार नही। वह तो निरा पाप है। हम लोग मानते है कि हिंस्र पशु-पक्षियों को और नुकसानदेह जन्तुओ को मारने में पाप नही हैं। मनुष्य ने ही यह तय किया है। पशु-पक्षी और जन्तुओ से किसी ने पूछा नही है, उन की राय भी नही ली है। मनुष्य अपनी ही अवि-

कसित या अल्पविकसित धर्मबुद्धि के अनुसार पाप-पुण्य के बारे में तय कर लेता है।

आजकल के मनुष्य ने तय किया है कि हिंस्र, जहरीले और नुकसानदेह पशु-पक्षियो को और जन्तुओं को मारने का मनुष्य को अधिकार ही है। किन्तु अपने आहार के लिए मनुष्य पशु-पक्षियो को और जलचरो को मारता है और उस में जो पाप रहा है वह देख नही सकता।

हिन्दुओ में भी पशु-पक्षियो को और मुरग़ी-मछलियो को मार कर खाने का रिवाज अधिकाश लोगो में है। गाय-बैल को छोड कर बाक़ी के प्राणियो को मारने में किसी को एतराज नही है यानी इस बारे में क़ानून करने की बात कोई सोचता नही, सुझाता नही।

ऐसी हालत में प्राणियो को मारने की इजाज़त रहे और सिर्फ़ गाय-बैल को, एक ही पशु को मारने की इजाज़त न रहे यह अन्य धर्मियो के ऊपर हम न्यायत. नही लाद सकते।

हिन्दू धर्म की आज्ञा है, हिन्दू लोगो का रिवाज है, हिन्दू मानस की तीव्र भावना है इस वास्ते ग़ैरहिन्दू भी गाय-बैल को न मारें, ऐसा क़ानून हम नही बना सकते। अपील तो जरूर कर सकते हैं। खिलाफ़त के दिनो में गान्धीजी ने बड़ी ही खूबी से मुसलमानो को ऐसी अपील की थी और उन दिनो उस का असर भी अच्छा हुआ था।

धर्म की दृष्टि से नही, हिन्दू भावना की दृष्टि से भी नही, किन्तु भारत की परिस्थिति देखते व्यवहार की दृष्टि से दूध देने वाली गायो की, और खेती में काम आने वाले बैलो की, हत्या बन्द करने का क़ानून हम अवश्य बना सकते। उस के बारे में व्यवहार की क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं—यह सोचना पडेगा। यह एक व्यवहार की बात हुई। जिन की हम दिन-रात क़ीमती सेवाएँ लेते हैं वे प्राणी हमारे लिए अवध्य हैं। वे तो हमारे व्यापक परिवार के सदस्य बन चुके। यह दृष्टि जब मुसलमान, ईसाई आदि सब लोग स्वीकार करेंगे तब गोरक्षा का क़ानून बनाना आसान होगा। तब तक हमें अपनी गोभक्ति, (जो आजकल कही दीख नही पडती है) और कम से कम गो-दया बढानी होगी। सेवा के द्वारा, तपस्या के द्वारा ही यह हो सकता है।

किसी समय हमारे हिन्दू और ब्राह्मण भी गो-भक्षक थे इस बात को बार-बार दोहराने में हमें आनन्द नही आता। गो-भक्तो की तपस्या से ही हिन्दू धर्म में गाय को अभयदान दिया गया। वही हमारी धर्मबुद्धि, हमारी तपस्या के द्वारा औरो तक पहुँच जायगी, तभी गोरक्षा की बात करने का हमारा अधिकार

होगा। गाय को बचाने के लिए मनुष्य के साथ मारकाट चलाना अधर्म ही है। इस तरह से हम गाय के प्रति भक्तिभाव या कृतज्ञता उत्पन्न नही कर सकेंगे।

जीव-दया की प्रवृत्ति भी आज कानून से इतना ही माँग सकती है कि पशुओ को आहार के लिए या शिकार के लिए मारते समय उन की मानसिक और शारीरिक वेदना कम से कम की जाय। मानवीय संस्कृति इस से आगे बढी नही है यह दुर्दैव की बात है। लेकिन झगडा करने से, लोगो को गालियाँ देने से और जोरशोर से व्याख्यान देने के लिए जीभ या कलम चलाने से कुछ होने वाला नही है। तपस्या के द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है। हमारे ऋषि-मुनियो ने इस चीज़ को अनुभव कर के ही स्पष्ट कहा है—

यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥

जो कुछ भी संकट तैर जाना मुश्किल हो, जो कुछ भी पाना मुश्किल हो, जहाँ पहुँचना, या जो करना मुश्किल हो, वह सब तपस्या के द्वारा ही साध्य होता है। तप के सामर्थ्य को टालना किसी के वश की बात नही, तप किसी भी सकट से हारा हुआ नही है।

(२६ मई १९५९)

गाय के सवाल का राष्ट्रीय हल

गोरक्षा भारतीय संस्कृति का सनातन प्रश्न है। देवकाल से ले कर हमारे पुरखो ने इस का चिन्तन किया है। गाय-बैल का मास, गाय का दूध और उस से बनने वाले पदार्थ और खेती आदि के लिए गाय के वश की सेवा, इन सब बातो का चिन्तन करते हमारे पूर्वज कभी थके नही हैं। पशु-पक्षियो के बीच रहने वाले मनुष्य ने गाय, घोडा, गधा, ऊँट, हाथी, भैंस, हिरन, बिल्ली, कुत्ता, भेड, बकरी, मोर, मैना, पोपट, कोयल आदि अनेक प्राणियो को उन की जगली हालत से मुक्त कर के मनुष्य के आश्रित बनाया। लेकिन सब से अधिक चिन्तन किया है गाय का ही। गाय की रक्षा के लिए हमारे ऋषियो ने अपने प्राण भी अर्पण किये है। ब्राह्मण, वैश्य आदि अन्य वर्णों ने गोपालन के लिए असाधारण उत्साह दिखाया है।

फिर तो हम कह नही सकते कि हमारे देश के इतिहास में कभी भी ऐसा

समय था जब कि हम ने गाय के सवाल का संतोषकारक हल कार्यान्वित किया हो। गाय के प्रति हम ने असाधारण भक्तिभाव बढाया। उसे माता कहा, देवता कहा, उस के नाम से स्वर्ग में गो-लोक की स्थापना की, तो भी गाय का सवाल अभी तक हल नही हुआ है। घर-घर में गाय रखना, गाय के दूध से भगवान का अभिषेक करना, गाय के घी के बिना अन्न शुद्ध नही होता, ऐसे-ऐसे रिवाज़ उत्साह के साथ हम ने प्रचलित किये।

इस के बाद किसी शुभ-क्षण गोरक्षा के हेतु गोशालाएँ या पिंजरापोल स्थापित करने का खयाल लोगो को हुआ। जब सब लोग अपने-अपने स्वार्थ में डूबे हुए थे, चन्द परोपकारी सज्जनो ने अपनी-अपनी गायों की रक्षा करने की सोची और गोरक्षण संस्थाएँ जगह्-जगह् स्थापित हुईं। इन संस्थाओ का विचार केवल गायो की रक्षा का ही था। इस के लिए दयालु लोगो से धन इकट्ठा किया जाता था और लँगडी, लूली, दुबली गायों का पोषण होता था।

सब से पहली बार गान्धीजी ने सुझाया कि अच्छी गायें रख कर लोगो को गाय का दूध देने का प्रबन्ध किया जाय, और उसी के मुनाफे में से बुड्ढी असहाय गायो का पालन भी किया जाय। गोरक्षणी संस्थाओं को एक नई दिशा मिल गयी और गोरक्षा की प्रवृत्ति में व्यवहार और अर्थशास्त्र ने प्रवेश किया। गाय को मार कर खाने वाले लोगों से लडते रहना और उन के हाथ में पहुँची हुई गायो को खरीद कर या किसी तरह से छुडवाना यह जो विचार ज़ोर पकड़ रहा था, उस की जगह अब गाय कसाई के हाथ में जा ही न सके, ऐसा आर्थिक ढंग का स्वावलम्बी प्रयोग आजमाया गया और गोरक्षणी संस्थाओ का रूपान्तर अच्छे दुग्धालयो में होने लगा।

गान्धीजी का दूसरा सुझाव था कि गाय जैसे जानवरो के मर जाने के बाद उन की हड्डी, चमडे, सीग, खुर आदि सब चीज़ो का व्यवहार के लिये उपयोग किया जाय। उन के लिए जो कारखाने खुलेंगे या उन की तिजारत चलेगी वह गोरक्षा में विश्वास मानने वाले के हाथ में आ जाय और सारा मुनाफा गोवंश के हित में खर्च किया जाय। अहिंसक चमडे या मृतचर्म की वस्तुएँ खास पसन्द करने की ओर भी लोगों का ध्यान गान्धीजी ने खीचा। और इस तरह से गाय के सवाल का हल बडे पैमाने पर और वैज्ञानिक ढग से किस तरह से किया जाय यह भी सुझाया।

अब इस सवाल को एक क़दम आगे ले जाना ज़रूरी है। गोरक्षा का सवाल जितना जीवदया का है उतना ही हमारे बच्चों के दुग्धाहार का भी। और खेती के उत्कर्ष की दृष्टि से भी गोरक्षा की बात सोची जा सकती है। इस लिए

भारत में अब गोवंश के संवर्धन का प्रश्न—बच्चो को अच्छा दूध मिले और अस्पतालो में मरीज़ो को भी अच्छा दूध मिले, इस लिए गोवंश संवर्धन और दुग्धालय का सारा काम राष्ट्रीय पैमाने पर नगर-पालिकाओ के द्वारा करना चाहिए। जिस तरह हर एक शहर में रास्ते बनाने की व्यवस्था, रात को रास्ते पर दिये जलाने का प्रबन्ध, रास्तो पर पानी छिडकने का काम नगर-पालिकाओ के द्वारा होता है, नगर-पालिकाएँ ही बच्चो के लिए पाठशालाएँ चलाती है, शफाखाना जैसी आरोग्य संस्थाएँ चलायी जाती है, उसी तरह गोवश-सवर्धन का काम, दुग्धालय और चर्मालय चलाने का काम नगरपालिकाओ के द्वारा ही चलना चाहिए। गाँवो में और किसानो के घर भले ही गाय रखी जाय। शहरो में (और छोटे-छोटे कस्बो में भी) गाय रखना दिन-पर-दिन अशक्य प्राय होता जाता है। इस लिए अब गाय का सवाल और दूध का सवाल हल करने के लिए विशेष मन्त्री की नियुक्ति हो जाय तो आदर्श आहार, आरोग्यरक्षा, सामाजिक कर्तव्य और खेती आदि सब दृष्टि से हम इस सवाल को वैज्ञानिक ढग से हल कर सकेंगे। और उस में अगर जीवदया का तत्त्व भी चरितार्थ हो गया तो मनुष्य जाति के लिए एक नया रास्ता दिखाने का श्रेय भारत को मिलेगा। यह काम भारत में ही शुरू हो सकता है।

(१६ फरवरी १९६०)

प्रश्न क्या है और उस का हल क्या ?

गाय की ओर से होने वाली मानव की सेवा और गाय की दयनीय स्थिति दोनो को देख कर गाधीजी ने गाय को 'करुणा का काव्य' कहा था—A Poem of Pity। गाय को बचाना और उसे सेवायोग्य बनाना यह काम केवल हिन्दुओ का नही, सारे देश का है। इस बात को जितने आग्रह से गान्धीजी ने देश के सामने रखा उतना शायद इस के पहले किसी ने नही रखा था।

गान्धीजी ने कहा कि भारतीय आदर्शों के अनुरूप अर्थशास्त्र बनाया जाय तो मनुष्य को स्पष्ट होगा कि गाय को बचाये बिना न हम अपने बाल-बच्चो को बचा सकते है, न हमारी सस्कृति टिक सकती है।

'गाय को बचाने में हमारी मानवता की रक्षा है। यह बात भारत छोड कर दूसरे किसी भी राष्ट्र ने या संस्कृति ने मान्य नही रखी।

गाय की परवरिश करो, उसे खिलाओ-पिलाओ, अधिकाधिक दूध निकालो और जब गाय इस काम के लिए योग्य साबित नही होगी तब उसे मार कर खा जाओ, यही है बाकी की सब दुनिया की व्यवहार-दृष्टि। पश्चिम के देशो में गायो की संख्या हिन्दुस्तान के समान नही है। लेकिन जो गायें रहती है, अच्छी परिपुष्ट होती हैं। हम कल्पना ही नही कर सकते, इतना दूध देती हैं। यह बात सही है कि वहाँ के लोग गायों की उतनी ही संख्या रखते हैं जितनी उन के काम की होती है। गाय का दूध और गाय का मास दोनो को वे पेट में पहुँचा देते हैं इसलिए उन के लिए गौ का कोई सवाल ही नही।

हमारे देश में हमारी संस्कृति ने सोचा कि जब गाय दूध देती है, बछड़े देती है, इन बछड़ों में से अच्छे बैल बना कर उन को हम खेती आदि के काम में लेते हैं। बैल की मदद से हमें अन्न धान्य मिलता है, कपडे के लिए रुई मिलती है। बैल की मदद से मोट चला कर कुएँ का पानी हम बाहर निकालते हैं और शाक-पान, फल-फूल सब कुछ उगा सकते हैं और हज़ारो बरस तक अनाज, नमक और हर तरह का माल देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक ले जाने का काम भी हम बैलो की ही मदद से करते थे। सारा माल या तो बैलो की पीठ पर लाद कर या बैल-गाडी में भर कर हम ले जाते थे। खेती का काम और माल ढोने का काम दोनो कामों के कारण बैल को सारे साल, बारह मास काम मिलता था। इस वास्ते बैल को कोई मारता नही था। अब वह हालत बदल गयी है। तो भी गाय और बैल की उपयोगिता बढाने की जिम्मेवारी हमारे सिर पर है। इस जिम्मेवारी का स्वीकार भारत के सब लोग करते हैं।

अब ऐसे उपयोगी जानवर को हम अपने परिवार का सदस्य समझे और उस के वृद्ध होने पर उसे मार डालने के बजाय उसे जीने दें। उस से कोई काम ले सकते है तो ले लें। यही है हमारी संस्कृति का सुझाव। जिस तरह की सेवा हम गाय-बैल से लेते हैं उसे सोचते मनुष्य का कर्तव्य होता है कि वह गाय को मारे नही।

जिन दिनो हमारे देश में गोमेध यज्ञ होते थे और ब्राह्मण भी बैलों को खा जाते थे, तब भी वेदो में लिखा था कि गाय को नही मारना चाहिये, वह अघ्न्या है। कृषि और वाणिज्य दोनो के लिए गाय बैल काम में आने से दोनो को बचाना कठिन काम न था। गोवंश की उपयोगिता इतनी अधिक थी कि वृद्ध अवस्था में अपने बडों के समान उन्हें पालना-पोसना कठिन काम नही था। 'गोमांस का स्वाद छोड दिया और गाय बच गयी' इतना सीधा था उपाय उन दिनो में।

लेकिन अब गाय की जगह दूध देने के लिए भैंस भी आ गयी और उस के

दूध में चरबी का याने घी का प्रमाण ज्यादा मिलने लगा इस वास्ते लोग गाय को छोड कर भैंस को पालने लगे। तब से गाय का जीवन खतरे में आ पडा। दूध देने के साथ अगर खेती के लिए और वाणिज्य के लिए भैंस और उस के बच्चे काम में आते तो गाय को छोड़ कर हम भैंस को और पाडे को ही अपने जीवन-साथी बना लेते और उन को न मारने का धर्म हम स्वय पालन करते और दुनिया को समझाते। लेकिन बैल का जितना उपयोग है उतना पाडे का नही है। गाय जितना उपयोगी जानवर है उतनी भैंस नही है। अब अगर हम दूध देने वाले जानवरो को कृतज्ञतापूर्वक बचाने का धर्म छोड दे तो कोई सवाल ही नही रहता। चाहे जितने जानवर रखे, उन से लाभ उठाया और लाभ कम होने पर उन को धोखा दिया। हम रक्षक भी बनें और भक्षक भी। तो फिर सवाल कौन-सा रहा? मनुष्य सर्वत्र यह काम करता ही आया है। लेकिन ऐसी कृतघ्नता से बचने का उपाय ढूंढना, यही है हमारी संस्कृति की माँग।

कहते हैं कि आज की प्रतिकूल हालत में भी गाय की अस्सी टका उपयोगिता सिद्ध है। तो केवल बीस टके के बोझ के लिए हम कृतघ्न और घातक क्यो बने? यही सवाल हमारे सामने है। अर्थशास्त्र व जीवन-शास्त्र की मदद से हम उपाय ढूंढें। सारी दुनिया के लोग गाय, भैंस आदि जानवरो को मार कर खा जाते ही हैं। गोरक्षा के लिए सारी मनुष्यजाति के साथ हम विश्वयुद्ध नही चला सकते। गोरक्षा का काम सास्कृतिक काम है . अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र दोनो की पूरी मदद से ही हम इस मे कामयाब हो सकते हैं।

हो सकता है कि भारत में ही गोरक्षा में विश्वास रखने वाले लोगो की सख्या ज्यादा है। लेकिन सारी दुनिया में तो हम अल्प-सरक्षक ही है। भारत में भी जब तक मासाहार प्रचलित है तब तक मासाहारी लोगो को हम आदेश नही दे सकते कि दूसरे जानवरो का मास तुम खा सकते हो, गाय का नही। हिन्दूधर्म का नाम आगे कर के अगर हम औरो को नसीहत देने जायँ तो हम कामयाब नही हो सकते। केवल मानवता की दृष्टि का प्रचार कर के और गाय-बैल की उपयोगिता हर तरह से बढा कर के ही हम गाय को बचा सकते हैं। गाय को मारने वाले लोगो को कानून से रोकने का प्रयत्न करने के बजाय हम गाय की उपयोगिता बढ़ाने के लिए सरकार की मदद लें तो वह अच्छा रास्ता होगा। भारत के बच्चो को दूध चाहिए, अनाज और कपास उगाने के लिए बैल की सेवा जरूरी है इस बात में कोई दो मत नही हो सकते। तो इसी को ले कर हमें आगे बढ़ना है। धार्मिक झगडे में पड़ कर हम यह काम नही कर सकते।

एक बात स्पष्ट है कि दुनिया में, और हमारे देश में भी, ऐसे छोटे-मोटे प्रदेश

हैं जहाँ बारिश बहुत होने के कारण और आबोहवा भी प्रतिकूल होने के कारण गाय वहाँ पनप नही सकती। ऐसे स्थानो का पता लगा कर और उस की क्षेत्र मर्यादा निश्चित कर हम जाहिर कर सकते हैं कि इतने क्षेत्र मे गायो की जगह भैंसो को ही रखा जाय।

जहाँ गाय ही अच्छी तरह रह सकती है और भैंस को आबोहवा भी अनुकूल नही है ऐसी जगह गाय को ही रखा जाय, भैंस को वहाँ से हटाया जाय। दोनो जगह जीवदया और स्वार्थ कहता है कि दोनो जानवर एकत्र रखने में हम नाहक की कठिनाई पैदा करते हैं।

अब बाकी के देश में जहाँ भैंस गाय को हटा रही है वहाँ गाय को ही रख-कर उसे जीवित-दान देने के लिए जितनी मदद की आवश्यकता हो उतनी देने की कोशिश की जाय। गाय की रक्षा के लिए और गाय का दूध सस्ता करने के लिए अगर भैंस का कुछ उपयोग हो सकता हो तो अवश्य करें। गाय को मारने के लिए नही, किन्तु उसे बचाने के लिए अगर भैंस की मदद हो सकती हो तो उतनी ले सकते हैं।

यह काम व्यक्ति की दीर्घदृष्टि पर न छोड़ कर अगर हम सरकार, नगर-पालिका, पिंजरापोल आदि समर्थ सस्थाओं द्वारा काम करें तो इस सवाल का हल हो जायगा और बाद में हम सारी दुनिया को भी इस धर्म का उपदेश कर सकते हैं। (सारी दुनिया याने दुनिया का वह हिस्सा जहाँ गाय पनप सकती है।)

और दुनिया में ऐसे भी लोग हैं जो मांसाहार का त्याग करना चाहते हैं। उन को भी हम समझा सकते हैं कि दूध, घी, पनीर आदि गोरस का व्यवहार बढाने से ही मासाहार का त्याग हो सकता है। जो लोग मासाहार छोडने को तैयार हुए हैं वे लोग गाय का महत्त्व आसानी से समझ सकेंगे। हमें गाय की रक्षा करनी है, लेकिन वह सफलता प्राप्त करने के ढग से ही। केवल हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज के बल पर नही, किन्तु मानवता के प्रचार के द्वारा यह काम हो सकता है। जो लोग मानवता मे विश्वास रखते हैं वे नास्तिक न बनें। गोरक्षा का धर्म हिन्दुस्तान के बाहर भी फैलाना है। उस के तरीकों को, हम धर्मान्ध बन कर खतरे में न डालें। गाय को बचाना ही है। बचाने के ढग से ही वह बचेगी। इस के लिए हम धर्माभिमान नही, किन्तु हमारी धार्मिकता बढावें। सच्ची धार्मिकता प्रसरणशील होती है। यह काम आस्तिकता से ही हो सकता है।

(१ अगस्त १९६०)

गोसेवा के लिए—चाहिए एक योजना आयोग

अहिंसा किसी धर्म-पन्थ की केवल आचार-सहिता का एक अंग नही है। अहिंसा-वृत्ति मानवव्यापी विराट् जीवन-संस्कृति की बुनियाद है। बुनियाद न कहते हुए धरातल कहूँगा। बुनियाद मकानो को मीनारो की और किले की होती है। संस्कृति कोई मकान नही होती। सस्कृति तो मानव-निर्मित और प्रयोजनपूर्ण उपवन के समान होती है, जिस का धरातल केवल आधारशिला का काम नही करता किन्तु असख्य वृक्ष वनस्पतियो की जडो के लिए पोषण देने का भी कार्य करता है। अहिंसा भविष्य की समस्त मानव-सस्कृति का चैतन्यपूर्ण धरातल ही है।

मानव-जाति को अहिंसा की प्रेरणा अन्यान्य धर्मों से मिली। मानव-जीवन के प्रयोजन का साक्षात्कार जिस धर्म को जितना हुआ, उसी के अनुपात में उस ने अहिंसा को सम्मानित किया है।

असख्य जमानो के अनुभव से हम कह सकते हैं कि सयम और अहिंसा ही धर्मजीवन का सारसर्वस्व है।

अहिंसा का प्रारम्भ कौटुम्बिक जीवन से, अपनी-अपनी जाति अथवा जमात से होता है। आगे जाकर वह गाँव या स्थानिक समाज तक फैलती है। जितने लोगो का जीवन परस्पर ओत-प्रोत होता है और जिन लोगो के परस्पर सहयोग के द्वारा सारे समुदाय का जीवन सुरक्षित, सहूलियतपूर्ण और समृद्ध होता है, उन का एक समाज बनता है। इसीलिए हम कहते हैं कि मानवीय सामाजिक जीवन की बुनियाद अहिंसा है। वैरभाव या शत्रुता टाल कर जहाँ मैत्री भावना का उदय होता है और एक दूसरे के उत्कर्ष में मददगार होने से प्रसन्नता का अनुभव होता है, वहाँ अहिंसा स्थापित हुई अथवा सिद्ध हुई।

मनुष्य जाति का जीवन समस्त जीव सृष्टि के साथ घुलामिला तो है, किन्तु वहाँ पर अधिकाश तो भक्ष्य-भक्षक का सम्बन्ध पाया जाता है। हम वनस्पति को—शाक, फल और अनाज को चाहते है, उन की पैदाइश बढाते है, लेकिन अधिकाश विराट् मानव जाति, पशु-पक्षियो को, और मछलियाँ आदि जलचरो को, खुराक की दृष्टि से ही देखती है। इसलिए तो कहा गया है, 'जीवो जीवस्य जीवनम्।' वनस्पति आदि उद्भिज जीवसृष्टि और जलचर, भूचर, खेचर आदि

प्राणी-सृष्टि में से अपना आहार ढूँढ लेना यही है जीव-सृष्टि का सामान्य नियम। जीवो जीवस्य जीवनम् के मानी है—हरएक जीव जीने के लिए दूसरे जीवों पर ही निर्भर रहता है। जीवो का जीवनसाधन (भक्ष्य) जीव ही है।

यह हो गया कुदरत का प्रकृतिधर्म। लेकिन मनुष्य के लिए ऐसे प्राकृतिक धर्म से श्रेष्ठ आत्मिक या आध्यात्मिक धर्म है। वह धर्म कहता है कि जीवो को भक्ष्य बना कर जीना भले स्वाभाविक हो, इस में मनुष्य-जीवन की कृतार्थता नही है। मनुष्य को 'जीवो पर' नही, 'जीवो के लिए' जीना है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन में से हिंसा की मात्रा जैसे हो सके क्रमश कम करता जाय।

इस मानवीय जीवन-धर्म के अनुसार मनुष्य ने प्रथम छोड़ दिया मनुष्य का मास खाना। मनुष्य का मास खाने वाले लोगो को अँगरेजी में कहते हैं Cannibals अथवा Anthropophagus सस्कृत में कहते हैं, नरभुक्, क्रव्याद अथवा मनुष्य-भोजी। मनुष्य को मार कर उस का मास खाने वाले लोग दुनिया में सब जगह पर थे। धीरे-धीरे यह रिवाज बन्द हो गया। अफ्रिका में आज भी मनुष्य-मांस खानेवाले लोग पाये जाते हैं। सकट के समय और युद्ध के दिनो में आज भी मनुष्य चोरी से मनुष्य का मास खाता है। रिवाज अभी पूरा नामशेष नहीं हुआ है तो भी हम कह सकते हैं कि यह रिवाज करीब नामशेप हुआ है। इस के बाद पशु-पक्षियो का मास छोडने की बात आयी। चन्द लोगों ने सोचा कि पशु और पक्षी हमारे ही जैसे हवा में साँस लेकर जीते है। इसीलिए उन को प्राणी कहते हैं। (प्राण शब्द में 'अन्' धातु है। उस का अर्थ होता है साँस लेना।) पानी में रहने वाली मछलियाँ हवा की साँस नही लेती। इसलिए उन को प्राणी-वर्ग में न रख कर, उन को खाने में हर्ज़ा नही, ऐसा चन्द लोगो ने सोचा। इन्होने पशु-पक्षी का मास छोडा, इतने दरजे आहार के क्षेत्र में अहिंसा की प्रगति हुई।

आज के शाकाहारी भारतवासी पशुपक्षी का मास नही खाते, मछलियाँ भी नहीं खाते और मुर्ग़ी आदि जानवरो के अण्डे भी नही खाते। अनाज, शाक, फलफूल और कन्दमूल तथा दूध और दूध से बनने वाले पदार्थ खाकर ही जीते है। इन में अब पश्चिम के शाकाहारी लोगो की दलीले सुन कर यहां के चन्द शाकाहारी अण्डे खाने लगे हैं। और उन का पन्थ बढ रहा है। पश्चिम के शाकाहारी जहाँ अण्डे खाते है, वहाँ दूध नही पीते। तमाम गोरस को मासाहार शुमार कर के वे उसे नही खाते। उन की देखादेखी हमारे लोग, दूध छोडेंगे ऐसी अपेक्षा थी, लेकिन शायद ही ऐसे कोई भारतीय शाकाहारी हो, जिस ने दूध छोडा होगा।

जीवदया में प्राणियों को न मारने की बात आती है। उन का पालन-पोषण करने की जिम्मेवारी मनुष्य ने न अपने न सिर पर ली है, न ले सकता है। चन्द लोग तोता, तीतर आदि थोडे पक्षियों का पालन करते हैं। हिरन, खरगोश आदि पशुओ का भी वैसा ही पालन करते हैं, लेकिन वह शौक के लिए है, धर्म के खयाल से नही।

स्वार्थ के लिए मनुष्य ने पालन-पोषण शुरू किया गाय-बैल का, भैंस और पाडा (भैंसा) का, घोडे का और गधे का। इसी फेहरिस्त में हम ऊँट और हाथी को भी डाल सकते हैं। उत्तर ध्रुव की ओर गाडी खीचने के लिए वहाँ के लोग हिरनो का और कुत्तो का भी उपयोग करते हैं।

इन प्राणियो में भारत में अधिक से अधिक उपयोग होता है गाय-बैल का। गाय के दूध के बिना, हमारा और हमारे बच्चो का काम नही चलेगा। और बैल के विना खेती हो नही सकती, इसलिए गाय-बैल, दोनो को भारतीयों ने अपने परिवार का सदस्य गिना।

इन में बैल को अभयदान देना, हत्या से मुक्त रखना आसान था। क्योंकि बैल की सेवा हम बारहो महीने अखण्ड ले सकते हैं। खेती के काम में, हल चलाने मे, पानी खीचने में, तेल और गन्ने का कोल्हू चलाने में और मनुष्य की और माल की यातायात के लिए गाडी चलाने में बैल का उपयोग होने से बैल को मारने को कोई सोचता ही नही। गाय का ऐसा नही है। गाय का उपयोग सिर्फ़ उस के दूध के लिए और उस के गोबर का उपयोग खाद के लिए होता है। जब गाय दूध नही देती है, तब उस को खिलाना-पिलाना मनुष्य के लिए आसान नही है। यह देख कर हमारे समाजशास्त्री, धर्मकारो ने आज्ञा की कि गाय को कभी भी मारना नही चाहिए। वैश्य (किसान और बनिया) अपने मुनाफे में से गाय को बचावे। इस कर्तव्य का इनकार उन्हें कभी भी नही करना चाहिए। गौ-रक्षा हिन्दूधर्म की विशेषता है और उस में मानवधर्म का विकास पाया जाता है।

मनुष्य की खेती बढी, लोक-सख्या बढ़ी, गाय का दूध बढाने की तरकीबें भारतीयो ने पूरी ढूँढी नही। लेकिन उन्होने गाय की मदद में भैंस को लिया। उस का दूध ज्यादा, उस में मक्खन की मात्रा अधिक, और उस जानवर की हिफ़ाजत करने की तकलीफ गाय से कम। यह सब देख कर भारत के किसानो ने और ग्वालो ने गौ-पालन में भैंस को भी अन्तर्गत किया। लेकिन हमारे अहिंसक अर्थशास्त्र में भैंस को बिठाना नामुमकिन था। खेती का काम जैसा बैल कर सकता है, वैसा भैसा नही कर सकता। उस से गर्मी बरदाश्त नही हो सकती। किसानों ने तय किया कि हम गाय को तो रखेंगे, भैंस को भी रखेंगे लेकिन उस

के नर बच्चो को बचपन में ही मार डालेंगे। हमारे जैनियो ने इस कठोर हत्या का विचार नही किया। (विचार करने का काम पुराने आचार्यों का। उन के सामने भैंस नही थी।) आखिरकार गान्धीजी के मन में भैंस का विचार आया। खूब सोचने के बाद गान्धीजी ने तय किया कि गाय और भैंस दोनो के वश का रक्षण हम से कभी नही हो सकेगा। इस लिए हम न तो भैंस की सेवा लें, न उस के रक्षण का भार उठावें। वह जगल का जानवर है। दूसरे जानवरो का जो होता है, वही उस का होगा। गान्धीजी के गौरक्षा के कार्यक्रम में भैंस के दूध का बहिष्कार आ गया।

गान्धीजी के सब कार्यक्रमो में आर्थिक दृष्टि भी होती थी। गाय-बैल की नस्ल सुधारना, गाय का दूध बढे, बछडे देने की गाय की आयु-मर्यादा बढ़े, गाय की मृत्यु के बाद उस की हड्डियाँ, उस के सिर, खुर और चमडे से हम अधिक से अधिक लाभ उठावें, मरी हुई गाय के मांस की हम खाद बनावें इत्यादि सब ढंगो से गोपालन का बोझा कम से कम हो जाय, यह है गान्धीजी की गोपालन प्रवृत्ति का रहस्य। बैल के बारे में उन को चिन्ता नही थी। क्योकि उस की सेवा सतत और लाभदायी होने से उस को हत्या का खतरा नही था।

लेकिन अब बैल के जीवन को भी बड़ा खतरा पैदा हुआ है। मनुष्य के धर्म-विमुख स्वार्थ ने, यन्त्रोद्योग और विज्ञान में असाधारण प्रगति की है। अब खेती के सब तरह के कामो के लिए बैल की उपयोगिता कम हो रही है। यन्त्रो के द्वारा ही ऐसा काम बहुत जल्दी, व्यवस्थित ढंग से और कम खर्चे में होने लगा है। मनुष्य के और माल के यातायात के लिए भी बसो या ट्रको का उपयोग राष्ट्रीय पैमाने पर हो रहा है। अब बैल की कीमत कम हुई। बैल का पालन महँगा हुआ। और अब तो बैल की हालत गाय से भी बदतर हो रही है।

पश्चिम के लोग और हमारे वैज्ञानिक पशुपालन-विद्या-प्रवीण कहते हैं कि गाय और बैल का उपयोग तो हमेशा है ही लेकिन अहिंसा की बात आप को छोडनी होगी। गाय-बैल को अपने परिवार का सदस्य मानने की भावना छोड दीजिए। केले के पेड जब फल नही देते, तब आप उन्हें तोड कर काम में लेते हैं। उसी तरह जानवरो का भी है। आर्थिक लाभ के लिए नही, किन्तु दयाधर्म से आप बूढे और रोगग्रस्त कुत्तो को आजकल मार डालते हैं। जिस कुत्ते को आप ने क़रीब-क़रीब अपना जीवन-साथी बनाया था, उस का दर्द दूर करने के लिए आप उसे मृत्यु-दान देते हैं। बूढे घोडों के लिए भी मृत्युदान का ही मार्ग अच्छा माना जाता है। तो गाय-बैल के लिए भी वही नियम आप क्यो नही सोचते है ?

गोरे लोग तो कहते ही हैं कि 'गाय के बारे में आप के मन मे जो अच्छी नाज़ुक भावना है, उस का ख्याल कर के हम कुछ बोलते नही। लेकिन थोडे ही दिनो में आप स्वय ही अनुभव करेंगे कि गाय को हत्या से बचाना और साथ-साथ खेती को भी वचाना आप के लिए नामुमकिन है। लोकसख्या बढती है, यन्त्रोद्योग बढते हैं, रासायनिक खाद आप को दसगुना लाभदायी है। ऐसी हालत में कम से कम मासाहारी लोग तो गाय-बैल का उपयोग दूध, मजदूरी, मास और चमडे और हड्डियो के लिए ही करे। फिर तो गाय का आर्थिक बोझ आप पर नही रहेगा। गाय और वैल दोनो को आप अच्छी तरह से खिला-पिला सकेंगे। मच्छरो के उपद्रव से उन्हें बचाने का और उन को सुखी बनाने का वैज्ञानिक प्रबन्ध आप कर सकेगे और उन के मास का अगर आप परहेज़ नही रखेंगे तो आप की आहार-समस्या भी कुछ हद तक आसान होगी।

जो बात अँगरेज ज़ाहिरा तौर पर नही करते थे, वही अब हमारे लोग भी करने लगे है और सब दलीलें ज़ोरो से हमारे सामने पेश कर के पूछते हैं कि इस का जवाब आप के पास क्या है?

बात स्पष्ट है। गाय को और बैल को हत्या से बचाना मुश्किल है। और यह भी स्पष्ट है कि गाय और वैल के विना हमारा, हमारे बच्चो का और हमारी खेती का काम नही चलेगा।

अगर हम अपनी परम्परागत सस्कृति को और उस के अहिंसातत्त्व को नयी परिस्थिति में नये ढंग से जिलाना चाहते है तो इरादापूर्वक और हिम्मतपूर्वक सारी परिस्थिति को ही बदलने की तैयारी करनी चाहिए। "परिस्थिति बदलना अशक्य है। काल ही बलवान है" ऐसा कह कर अगर पश्चिम के सस्कार और पश्चिम का नेतृत्व मजूर करना है, यन्त्रोद्योग और स्वार्थ-परायण विज्ञान के आदेश को शिरोधार्य बनाना है तो यूरप-अमेरिका की सूचना ही मजूर करनी होगी, उसे मुँह से ज़ाहिरा तौर पर कबूल करें या न करे। और अगर जिस अहिंसा-सस्कृति के रक्षण का और विकास का भार इतिहास-विधाता ने हमारे सिर पर विश्वासपूर्वक सौंपा है, उस को स्वीकार करना है तो इस बहुधर्मी, बहुवंशी देश में परिस्थिति पर विजय पाने के लिए हम क्या कर सकते है। इस की मनमानी सूचनाएँ प्रकाशित करने की अपेक्षा सस्कृति-सवर्धन के नेताओं की ओर से एक प्लानिंग कमिशन—योजना आयोग, नियुक्त करना होगा। और पाँच, दस और पचास वर्ष तक राष्ट्र को क्या करना चाहिए, इस की क्रमबद्ध योजना उस से माँगनी चाहिए। केवल सरकारी कानून के द्वारा गाय की हत्या रोकने से सवाल हल नही होगा। या तो गाय की वेदना बढेगी या घूसखोरी के—भ्रष्टाचार

के लिए एक नया क्षेत्र बढेगा। हिन्दुत्व के अथवा अहिंसा के अन्धे अनुयायी और केवल जोशीले लोगों के सुझाये हुए इलाज से भी हल नही होगा।

गाय की हत्या का कुछ भी हो, उस हत्या के पाप से हम बचें, इतना ही आदर्श सामने रखने वालो का रास्ता आसान है। (उन को भी अपने संकुचित जीवन की कुछ योजना तो बनानी ही होगी।) लेकिन अब गोवंश की सेवा करने का सच्चा तरीका क्या है इस का व्यावहारिक निर्णय पूरे अध्ययन के बाद हमें करना होगा।

(१५ अप्रैल १९६४)

सार्वभौम गौ-रक्षा मिशन

गान्धीजी ने गाय को A Poem of Pity कहा था। हम नही मानते कि गौ-रक्षा के लिए इस से अधिक समर्थ वाणी किसी के मुँह से निकली होगी। गाय की उपयोगिता, उस का मीठा स्वभाव और उस की असहायता सब कुछ उस एक वाक्य में व्यक्त होता है। गाय का मनुष्य के साथ सहयोग सचमुच एक जीवन का काव्य है। कई जानवर हिंस्र होते हैं। वे मर जायेंगे किन्तु मनुष्य के साथ सहयोग नही करेंगे। सिंह, बाघ, भेडिये इस किस्म के जानवर हैं। दूसरे अहिंसक जानवर भी होते हैं जो मनुष्य की कुछ भी सेवा नहीं कर सकते।

ऐसे भी जानवर हैं जो मनुष्य के साथ सहयोग तो नही करते किन्तु मनुष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। जिन में जहर नही है ऐसे सॉंप भी मनुष्य से डरते हैं, उस से दूर रहते हैं, लेकिन खेतो में रहने वाले चूहो को खा कर खेती की रक्षा करते हैं। हमारे कवियो ने ऐसे सॉंपों को 'क्षेत्रपाल' कहा है।

आकाश में उड़ने वाले पक्षी बड़े सुन्दर होते हैं। बहुतो की आवाज मोहक होती है। उन का गान और उन की उडान दोनो लुभावने होते हैं। उन के पखों की शोभा फूलो की शोभा से टक्कर लेती है। तो भी ये पक्षी मनुष्य के साथ सहयोग करने के लिए, उस से प्रेम का आदान-प्रदान करने के लिए उत्कंठित नही होते। अगर वे खेतो के दाने खाकर मनुष्य के पास से एक बडा टैक्स (कर) लेते हैं तो खेतो का नाश करनेवाले कीडो को खाकर मनुष्य की सेवा भी करते हैं।

मनुष्य के साथ सहयोग करके मनुष्य का और अपना जीवन समृद्ध करने

वाले जानवरो में कुत्ता, गाय, बैल, भैंस, भैंसा, घोडा, बिल्ली, हाथी और ऊँट मुख्य हैं। हिरन भी कभी-कभी मनुष्य के साथ दोस्ती करते हैं और उस की सेवा भी करते हैं। लेकिन मनुष्य के साथ पूरा सहयोग करते आये हैं सिर्फ दो ही प्राणी, कुत्ता और गाय। इन दोनो का मनुष्य के बिना काम नही चलेगा। और मनुष्य तो इन के बिना जी ही नही सकता। समाज-विज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान् पेट्रिकगेडिस से बातचीत करते मैं ने कहा Man has civilized the cow मनुष्य ने गाय-बैल को अपनाकर दोनो से सेवा लेते-लेते उन्हें सभ्य-संस्कारी बनाया है।

गेडिस साहब ने हँसते-हँसते कहा Perhaps the opposite is more true. It is the cow that has civilized man. (शायद बात उलटी है। गाय ने अपनी सेवा के द्वारा मनुष्य-जीवन को संस्कारी बनाया है।) बैल के बिना खेती नही होती। अनाज और कपास की उपज से ही मनुष्य के अन्न-वस्त्र का सवाल हल हुआ है। गाय के दूध से ही हमारे बाल-बच्चे पुष्टि पाते हैं। मनुष्य के आहार में दूध का महत्त्व धान्य से भी बढ़ कर है।

और असली बात मनुष्य को भूलना नही चाहिए कि गाय का दूध मिला तभी तो मनुष्य मासाहार छोड कर फिर से शाकाहारी बना। हमारे जीवन के लिए और हमारी सस्कृति के लिए गाय के उपकार इतने हैं कि पेट्रिक गेडिस की बात सही लगती है कि गाय-बैल ने ही मनुष्य प्राणी को सुधार कर सस्कारी बनाया है।

ऐसे गाय-बैलो को खिला-पिला कर परिपुष्ट और दीर्घजीवी बनाना यह तो स्वार्थ की बात हुई। धर्म कहता है कि गाय को और उस के बच्चों को हत्या से बचाना, अभयदान देना यही गाय-बैल से कुछ हद तक उऋण होने का एकमात्र उपाय है। हिन्दू समाज ने इस धर्म का—इस कर्तव्य को सब से पहले स्वीकार किया। इस से गौ-रक्षा का धर्म केवल हिन्दुओ का नही बनता, मानव-मात्र का वह कर्तव्य है—धर्म है।

प्रजाराज्य होने के बाद भारत में हम बहुमत के बल पर कानून के द्वारा गौ-हत्या को बन्द कर सकते हैं। लेकिन इतने से हमारा कर्तव्य पूरा नही होता। हमें तो भारत के अन्दर और बाहर भी गौ-रक्षा का सन्देश मानव जाति के हृदय तक पहुँचाना है। इस काम के लिए अगर भारत के लोगो ने एक बडे मिशन की स्थापना की और अपने मिशनरी जापान, यूरोप तथा अमेरिका तक भेज दिये तो वह एक धर्म-सेवा का बडा पुरुषार्थ होगा। जीवदया के धर्म को

सर्वश्रेष्ठ मानने वाले जैन समाज ने अपने साधुओ को एक तरह से पंगु बनाया है। वे भारत के बाहर जा नही सकते, उन की धर्महानि होगी। अहिंसा धर्म का प्राणवान् प्रचार करने वाले सन्तवालजी, आचार्य तुलसी और सुशीलमुनि जैसे जैन साधुओ से मेरी प्रार्थना है कि अगर वे स्वय विदेश नही जा सकते तो जैन धर्मसमाज की ओर से साधुओ की एक ऐसी नयी प्रथा निर्माण करें, जो न है गृहस्थी, और न है कट्टर रूढिवादी श्रमण। समस्त हिन्दू समाज, अब जैन, सिख आदि सब सम्प्रदायो की मदद ले कर, पश्चिम के जीवदयावादी लोगो की भी सहायता ले कर एक बडे जागतिक मिशन की स्थापना करे और गौ-रक्षा का और शुद्ध आहार का सन्देश मानवमात्र के हृदय तक पहुँचा दे तो भारत का स्वराज्य सचमुच धर्मराज्य बनेगा और भारत को स्वतन्त्र करने वाले भगवान् के आशीर्वाद हमें मिलेंगे।

गौ-हत्या-प्रतिबन्धक क़ानून बनाने से पहले और उस के बाद भी गौ-रक्षा का सन्देश भारत के सब नागरिको के दिल पर जमाने का काम हमें करना चाहिए। ऋषिमुनियो के जिस श्रद्धायुक्त धर्म-प्रचार से हिन्दू जाति ने गौ-रक्षा का सिद्धान्त मान्य रखा उसी धर्म-शक्ति को पहचानने वाली श्रद्धा से प्रचार का यह पवित्र काम हमें फिर से चालू करना चाहिए।

केवल क़ानून से धर्म की स्थापना नही होती। राजसत्ता जब धर्म की शक्ति से भी बड़ी बनती है तब धर्मशक्ति क्षीण होती है। धर्मशक्ति अपना काम पूरा करे उस के बाद उस धर्म-कार्य को मज़बूत करने के लिए राजसत्ता, कानून की सत्ता मदद में आ सकती है। इस का एक उदाहरण हम ले। एकपत्नी-व्रत हिन्दू धर्म को पसन्द है, लेकिन हिन्दू धर्मशास्त्र ने उसे अनिवार्य नही बनाया था। पश्चिम के लोगो ने यहाँ आ कर अपना राज्य स्थापित किया तब से वे हमें समझाते आये कि क़ानून से तो 'एक पति को एक ही पत्नी होनी चाहिए।' लेकिन पश्चिम के लोगो ने अपने राज्यकाल में यहाँ वैसा क़ानून नही बनाया। भारत में प्रजाराज्य होते ही भारत के स्त्री-पुरुषो ने बडे उत्साह से एकपत्नी-व्रत का क़ानून बनाया, जो हिन्दू-ईसाई, यहूदी और पारसी सब पर लागू है। उसी क़ानून के नीचे हम क़ानून के ज़ोरो मुसलमानो को भी ला सकते थे जिस से मुस्लिम महिलाएँ राजी भी हो जाती। लेकिन हम लोगो ने सोचा कि मुस्लिम समाज में पहले एकपत्नी-व्रत की धर्मबुद्धि जाग्रत् की जाय, बाद में उसी समाज के बहुमत से जब माँग पेश हो जायेगी, तभी एकपत्नी-व्रत का कानून उन को भी लागू होगा।

हिमालय के अंचल में कई जातियाँ ऐसी हैं जिन में पाण्डवो के जैसे रिवाज के अनुसार अनेक भाइयो के बीच एक ही पत्नी होती है। वहाँ पर हम ने एक पति-व्रत का कानून लागू नही किया है, हालाँकि करीब समस्त मानव जाति में वैसा कानून लागू है। न्याय, नीति, धर्म, सदाचार के सिद्धान्त समाजमान्य होने के बाद ही उन को कानून की मदद लेना इष्ट होता है और सफलता भी तभी मिल सकती है। अमेरिका ने प्रेसिडेंट हूवर के दिनो में मद्यपान-निषेध का एक सार्वभौम कानून पास किया, लेकिन वह अमल में नही आ सका। वहाँ की मद्य-प्रेमी जनता ने उस कानून की ऐसी हँसी उडायी कि कानून निर्वीर्य हो गया।

हमारे यहाँ अब अस्पृश्यता का पालन करना कानूनन् गुनाह है। तो भी भारत के गाँवो में अभी तक अस्पृश्यता पूरी तरह नेस्तनाबूद नही हुई है। हम ने अस्पृश्यता के खिलाफ कानून बना कर के अपनी धर्मबुद्धि को मदद पहुँचायी, यह अच्छा ही हुआ। लेकिन जहाँ अस्पृश्यता का पालन आज भी चलता है वहाँ हम रूढिवादी सवर्णों को न तो न्यायालयो में ले जा कर सजा करवाते हैं, न मारपीट कर के उन्हें ठीक करते हैं। हरिजन सेवक सघ पूरी श्रद्धा से और पूरी शान्ति से सवर्णों के बीच प्रचार का काम करता जाता है। सुधरी हुई सस्कारी मानवता का यही तरीका हो सकता है। और अगर इतने से काम नही हुआ तो सत्याग्रह का रामबाण इलाज हमारे पास है ही।

गौ-रक्षा के लिए इसी तरह से हमें सोचना चाहिए और एक विशाल, विराट् गौ-रक्षा मिशन की स्थापना कर के उस के द्वारा सारी दुनिया में प्रचार करने जितनी आस्तिकता बतानी चाहिए। ऐसा मिशन शुरू में भले ही छोटा हो तो भी उस का सगठन आन्तरराष्ट्रीय और सर्वधर्मी बनाने का प्रयत्न हमें करना चाहिए। यही उत्तम धर्म-मार्ग होगा।

(१५ अक्तूबर १९६६)

क़ानून का सहारा

[गौहत्या निवारण के लिए पवित्र, धर्मपरायण और राजनीति-विमुख स्वामीजी ने केवल धर्म समझ कर उपवास शुरू किये उन्हें उपवास न करने की प्रार्थना करने के लिए जो पत्र श्री काका साहेब ने लिखा वह नीचे दिया जा रहा है।—सम्पादक]

श्री स्वामीजी,

गौरक्षा का सवाल हमारे धर्म से सम्बद्ध है। इस सवाल का हल, हज़ारों वर्ष हो गये, हम नही ला सके इस में हमारे धर्मतेज की कमी है। बाहुबल से, क्षात्रतेज से या क़ानून के बल गौहत्या रोकने का विधान हमारे धर्म में नहीं है। मनु भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि विधाता ने गाय को उत्पन्न कर के वैश्यों को सौंप कर कहा, "वैश्यो की ऐसी मति न हो कि गाय की रक्षा के लिए मैं मेह-नत न करूँ।"

क़ानून के बल गौहत्या रोकने का काम जिन लोगो को करना हो वे प्रयोग कर देखेंगे। परन्तु आप जैसे साधु लोगो को चाहिए कि वे राजकीय सत्ता द्वारा प्रयत्न करने की अपेक्षा धर्मतेज प्रकट कर के लोक-जागृति का काम करें।

और उस धर्म-जागृति का काम न केवल हिन्दुओं में बल्कि तमाम धर्मों के लोगो के बीच करने की हिम्मत यानी तेजस्वी आस्तिकता अपने में लानी चाहिए।

लगभग सब हिन्दू एक ज़माने में मांसाहारी थे। इस में से कई लोगों को हमारे पूर्वजों ने निवृत्त किया, वह क़ानून के बल नहीं परन्तु धर्मभावना जागृत कर के।

प्राचीनकाल में हमारे यहाँ अश्वमेध और गोमेध चलता था। इसे हम बन्द कर सके वह क़ानून के बल पर नहीं, परन्तु धर्मतेज के बल पर। धर्मपरायण लोग दीन हो कर क़ानून की मदद माँगें यह बिलकुल अच्छा नही लगता।

गौहत्या-निवारण के लिए उपवास करने का यह समय नही है। इस लिए मेरी आग्रहपूर्वक विनति है कि आप उपवास छोड़ें और लोगो को गौरक्षा का महत्त्व समझाने का काम उत्कटता से करें। उपवास से लोग घबड़ा जायेंगे परन्तु धर्म समझने वाले नही। उपवास से लोगों में अगर ज्ञान की जागृति आती होती तो अध्यापको ने विद्यार्थियो को पढाने का काम छोड कर उपवास ही शुरू किये होते।

एक समय था (उदाहरणार्थ, रन्तिदेव राजा, जिस का वर्णन महाभारत में है।) जब हमारे पूर्वज गोमास भी खाते थे। ऐसे लोगों को हम (यानी हमारे पुरखे) गोभक्त कर सके यह कोई छोटी सिद्धि नहीं है। यदि आस्तिकता हो और धर्मतेज हो तो आज भी हम गौरक्षा का प्रचार देश के सब लोगो के बीच कर सकेंगे और विदेश में भी कर सकेंगे। केवल हिन्दुस्तान की गायों को बचाना नहीं है, दुनिया भर की गायो को बचाना है।

और गाय की पंक्ति में आने योग्य ऊँट, घोडे, कुत्ते आदि मनुष्यसेवक जानवरो को भी बचाने की हिम्मत करेंगे। इस को मैं सनातन धर्म की तेजस्वी आस्तिकता कहता हूँ.।

आशा करता हूँ कि मेरी यह प्रार्थना आप की धर्मबुद्धि तक पहुँचेगी और आप उपवास जैसा कदम न उठा कर उस से भी कडा धर्मजागृति का काम हाथ में लेंगे।

सेवक

४-१२-६६ काका कालेलकर का

अमरेली जय भगवान

गोरक्षा का समाज-सत्तावाद

योरप अमेरिका में पिछले सौ वर्ष दरम्यान राजनीतिक और अर्थनीति के नेताओ ने देखा कि मानव जाति के अथवा सामान्य प्रजा के दु खों का प्रधान कारण है—शोषण।

युग की माँग

राष्ट्रीय धन और राष्ट्रीय सत्ता अथवा सामर्थ्य की उत्पत्ति समस्त प्रजा की ओर से होती है। उस का पूरा उपभोग करने की सत्ता और सहूलियत सब को मिलनी चाहिए। राजनीतिक सत्ता समस्त प्रजा के हाथ में पहुँच जाय और पक्षपात रहित हो जाय, यही है शोषण का इलाज और प्रजा के विकास का उपाय। इसी को वैज्ञानिको ने नाम दिया है "समाज-सत्तावाद"। राष्ट्रीय धन पर स्वामित्व समस्त प्रजा का हो और राजनैतिक सत्ता पर अन्तिम प्रभावशाली और कारगर अधिकार जनता का हो, यही है इस युग की न्यायोचित माँग। इस माँग की तृप्ति के लिए यह तय किया गया कि—

तमाम राजसत्ता का उद्गम प्रजा से है इस वास्ते समस्त प्रजा को यह पूरा अधिकार हो कि वह अपने राज्यकर्त्ता को चुने। इस व्यवस्था की सिद्धि के लिए, लोकसभा, राजसभा आदि सार्वभौम सत्ता की अधिकारिणी सभाओं में लोक-नियुक्त सदस्य बैठें। वे ही अपनी इच्छा के अनुसार कानून बनावें और राज्य चलाने वाले राज्यकर्त्ता की नियुक्ति भी वे ही करें। यह इलाज सर्वमान्य

हो गया है। इस लिए आजकल की राज्य व्यवस्था को प्रजातन्त्र कहने का रिवाज हो गया है।

अर्थतन्त्र मे समाज-सत्तावाद

अर्थतन्त्र के वारे में भी ऐसा विचार ही धीरे-धीरे दृढमूल हो रहा है। राष्ट्र में जो भी सपत्ति पैदा होती है, वह ज़मीन, पानी, जंगल, खेती, खदान आदि प्राकृतिक समृद्धि से ही उत्पन्न की जाती है। उत्पन्न करने वालों में जिन-जिन का हिस्सा है उन का वर्गीकरण नीचे मुजव किया गया है।

ज़मीन का मालिक ज़मीनदार, पूँजी का मालिक पूँजीपति, परिश्रम करने वाला मज़दूर, कौशल्य से काम करने वाला कारीगर इन सव को एकत्र लाकर उन को संगठित करने वाला संगठक अथवा उद्योगपति, जो भी सपत्ति पैदा होती है उन का वँटवारा इन्ही वर्गों के वीच यथान्याय होना चाहिए और यह काम समस्त प्रजा का प्रतिनिधि मडल यानी राजसत्ता न्यायपूर्वक करे यही अपेक्षा की जाती है।

जव राजसत्ता का समस्त अधिकार प्रजा के हाथ में आ गया तव प्रजा कहने लगी कि राष्ट्र में जितनी भी ज़मीन है उस पर किसी व्यक्ति या वर्ग का अधिकार न होकर समस्त राष्ट्र का हो, यानी राष्ट्र के प्रतिनिधियो से वनी हुई सरकार के हाथ में जाय। ज़मीनदारो का अलग वर्ग न रह कर राष्ट्र ही एक मात्र ज़मीनदार वने।

इस विचार को व्यापक कर के साम्यवादियो ने व्यापक नारा चलाया है कि केवल ज़मीन ही नही किन्तु सम्पत्ति उत्पादन के सव के सव प्रधान साधन राज्य के ही अधीन रहें। यहाँ समाज-सत्तावाद और साम्यवाद के वीच जो भेद है उसे हम देखने नही वैठते, क्योकि जो वातें हम कहना चाहते हैं उस में इस भेद का महत्त्व वहुत कम है।

अव अगर समस्त खेती, सव कारखाने और खदान से उत्पन्न होने वाली खनिज-सम्पत्ति सरकारी मालिक की है तो खेती आदि सव प्रवृत्तियाँ चलाने का अधिकार भी सरकार का ही हो।

मज़दूरो के परिश्रम का मालिक समाज-सरकार

और इतना क़वूल करने के वाद कौन कहाँ कितनी मज़दूरी करे, मज़दूरो को क्या दिया जाय, कितना दिया जाय, उन से कितना काम लेना है यह भी सारा राष्ट्र ही तय करे। (राष्ट्र याने सारा समाज और उस की प्रतिनिधि

सरकार) और मज़दूरों के अन्दर बुद्धि से काम देने वाले लोग भी आ जाते हैं। मज़दूर, कारीगर, किसान, बागवान, बुनकर (जुलाहा), हिसाबनीस मोहर्रिर, (कारकून), व्यवस्थापक आदि सब के सब मज़दूर वर्ग में आ ही जाते हैं। इन मज़दूरो का परिश्रम समाज की ही दौलत है, समाज का ही उस पर अधिकार है और सरकार का आदेश मान्य किये बिना इन मज़दूरो को दूसरा चारा ही नही।

यह सारा साम्यवाद अथवा समाज-सत्तावाद खड़ा हुआ उस के पहले कल-कारखानो की चर्चा करने वाले अर्थशास्त्री अथवा संपत्तिशास्त्री एक सवाल उठाते थे—

वे कहते थे कि एक कारखाना चलाने से जो लाभ होता है, मुनाफा मिलता है उस पर अधिकार किस का, मज़दूर को जीने के लिए केवल मज़दूरी मिले, ज़मीनदार को ज़मीन का सिर्फ़ किराया मिले, पूँजीपति को उस की पूँजी पर केवल सूद मिले, बहुत हुआ तो पूँजी खतरे में डाली इस के लिए बीमे की क़िस्त भी मुनाफे मे से ले। संगठक व्यवस्थापक अपनी कौशल्ययुक्त सेवा के लिए अच्छी तनख्वाह ले। बाकी का जो मुनाफा रहता है वह न मिलना चाहिए ज़मीनदार को और न मिलना चाहिये पूँजीपति को। व्यवस्थापक को भी तन-ख्वाह से अधिक कुछ न मिले। कारखाना चलाने से जो भी स्पष्ट मुनाफा होता है वह सारा ऊपर का मेहनताना चुकाने के बाद समाज की मिल्कियत है। प्रजाहित के लिए वह मुनाफा सरकार के हाथ में जाना चाहिए।

जो अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र सब लोगो को परिचित है उसे यहाँ पर थोडे में दोहराने का खास उद्देश्य है गौ-रक्षा के हेतु हम यहाँ दो सवाल उठायेंगे।

गोपालन की ज़िम्मेवारी सरकार की

सारे राष्ट्र के हर एक आदमी के लिए दूध अत्यन्त आवश्यक, पौष्टिक और प्राणवान् आहार है। इस दूध को पैदा करने वाले जानवर व्यक्ति की नही किन्तु व्यष्टि की, सारे समाज की, राष्ट्र की याने राष्ट्रीय सरकार की मिल्कियत होनी चाहिए। गाय को पालना, गाय के लिए अच्छे से अच्छे सॉड तैयार रखना। दोनो के आहार का प्रबन्ध करना, गायो की नस्ल सुधारना, खेती के लिए ज़रूरी अच्छे मजबूत बैल तैयार कर के देना, यह सब काम सरकार की ओर से ही होना चाहिए। गाय बैल की नस्ल सुधारने की चिन्ता और प्रबन्ध भी सरकार के ही हाथ में हो। क्या यह विचार भारत की सब प्रजा को मान्य है?

अगर है तो गौरक्षा का सवाल राष्ट्रीय है, प्रजा-निर्मित सरकार बनी है।

सरकार के प्रतिनिधियो को इसे हल करना ही चाहिए। और गौहत्या मान्य की तो भी उस के लिए सरकार ज़िम्मेवार होगी और गोरक्षा का सिद्धान्त राष्ट्र-मान्य हुआ तो उस का पालन भी सरकार को ही करना होगा। गाय के वछडे को सँभालना, वृद्ध गाय-वैल, लँगडे-लूले, वीमार गाय-वैल सब का प्रवन्ध भी सरकारी खर्चे से ही हो। और जिस तरह डाकखाना और तार घर द्वारा होने वाली प्रजा-सेवा सीधी सरकार ही करती है वैसे ही सब लोगो को यथान्याय दूध पहुँचाने का काम भी सरकार के द्वारा ही हुआ करे।

गोरक्षा की वुनियाद में धर्म-निरपेक्षता

हम मानते हैं कि भारत का और सारी दुनिया का समाज-सत्ता-वाद धर्म-निरपेक्ष है। और साम्यवाद तो सव के सब धर्मों के प्रति तिरस्कार युक्त उपेक्षा ही रखता है। यह तटस्थता और उपेक्षामूलक चिन्तन ही गोरक्षा की वुनियाद आयन्दा में रहेगा। ऐसी हालत मे भी लोकहित के लिए, सस्कृति रक्षा के लिए और कसरत राय की कदर करने के लिए गौरक्षा का सिद्धान्त मान्य होना कठिन वात नही है।

ऊपर के सारे विवेचन में हम ने मान लिया है कि गाय मानवजाति की, मनुष्य समाज की केवल मिल्कियत ही है। समुद्र की मछलियाँ, जगल के जानवर और आकाश के परिन्दे मनुष्य के हाथ में आने पर मनुष्य की मिल्कि-यत यानी चीज़ वनते हैं। उन को रखना, मारना न मारना, अपनी सेवा के लिए काम में लाना और उन्हें वेचना मनुष्य के अधिकार की वात है। इन पशुओ को वेचने का अधिकार जैसे मनुष्य का है, वैसे ही इन्हें मार कर खा जाने का अधिकार भी मनुष्य का है।

सारा समाज ही चाहे तो प्रचण्ड वहुमत के वल पर इन पशुओ को हत्या से वचा सकता है। अथवा इन की हत्या पर अकुश भी रख सकता है यानी हत्या मर्यादित कर सकता है।

अव हम दूसरा सवाल उठायेंगे।

समाजसत्ता में और समाजवाद में मज़दूर के परिश्रम पर समाज का अधि-कार है, मनुष्य पर नही। क्योंकि मनुष्य, मनुष्य है। मनुष्य अपने को वेंच कर ग़ुलाम भी नही वन सकता।

अव गाय, वैल, घोडा, ऊँट, हाथी, कुत्ता आदि जानवरो से हम सेवा लेते है और चाहें तो उन्हें मार भी सकते हैं, खरीद सकते है, वेच सकते हैं, मार कर खा भी सकते हैं। लेकिन अगर मनुष्य की न्यायवुद्धि जाग्रत हुई, प्राणियो

के प्रति रहा हुआ उस का उच्च कर्तव्य वह पहचान सका तो वह कह सकेगा कि जिन प्राणियो की हम आजन्म सेवा लेते हैं, उन के परिश्रम से लाभ उठाते हैं उन को हम गुलाम तो करें, लेकिन उन्हें मारने का हक हमें नही है। सामान्य पशु और मनुष्य के बीच का स्थान इन उपयोगी सेवक जानवरो को देना चाहिए।

अगर समाज-सत्तावाद को हम मान्य करें तो इन जानवरो को राष्ट्र-सम्पत्ति (नये अर्थ में National Animal) मान कर इन का खरीदना-बेचना भी बन्द कर सकते है।

जब गुलामी की प्रथा नयी-नयी थी तब मालिक गुलाम को खरीदने के बाद उसे बाँध कर भी रख सकता था, उस के हाथ-पाँव तोड सकता था, उस की शादी करना, न करना यह भी मालिको की मर्जी की बात थी। गुलाम के बाल-बच्चे कुत्ते-बिल्ली के बाल-बच्चो के जैसे ही भेंट में दिये जाते थे अथवा बेचे जाते थे। इतना ही नही मालिक अपने गुलाम को चाहे तो मार कर खत्म भी कर सकता था, क्योकि वह उस की मिल्कियत थी।

धीरे-धीरे मनुष्य की मानवता और न्यायबुद्धि जागी। गुलाम को भी अधिकार मिलने लगे और गुलाम मालिक की सम्पत्ति होते हुए भी मालिक उस से मनमाना व्यवहार न कर सका।

अन्त में मानवो की (गोरो को भी) मानवता पूरी-पूरी जाग्रत् हुई। गुलाम मुक्त हो गये। अब किसी भी मनुष्य को गुलाम याने अपनी मिल्कियत बनाना अशक्य हो गया। इतना ही नही, सब मानवो को, वे जहाँ स्थायी रूप से रहते हैं, नागरिको के सम्पूर्ण अधिकार, पूर्व गुलामो को भी, मिलने लगे हैं।

गुलामो की मुक्ति का, उन का स्वतन्त्रता का और नागरिकता का यह इतिहास हिन्दू सस्कृति का नही किन्तु पश्चिमी सस्कृति का है, और पिछले सौ दो सौ बरस के अन्दर का ही है। लेकिन वह हमारे लिए इतना विश्वास रखने के लिए काफी है कि आस्तिक प्रयत्न करने पर और धार्मिकता का तेज प्रकट करने पर मानवो की, केवल हिन्दुओ की नही, किन्तु समस्त मानवो की न्यायबुद्धि, धर्म-बुद्धि जागृत् हो सकती है। सत्याग्रह का असर मनुष्य मात्र पर हो सकता है। इस को मैं मनुष्य हृदय में रही हुई आस्तिकता उत्तम प्रमाण मानता हूँ।

अब हम भारत में रहने वाली समस्त जनता से मानवता के नाम कहना चाहते हैं कि गाय-बैल, घोडा-ऊँट, कुत्ता-बिल्ली आदि जानवरो को हम यानी मनुष्य जाति के लोग अन्य जानवरो से कुछ अलग समझे। उन से कीमती सेवा मिलती है, उन से प्रेम-निष्ठा भी मिलती है इस की कदर कर के इन प्राणियो के प्रति हम अपना विशेष धर्म मजूर करे। हम जानते हैं कि यह काम आसान

नही है इस लिए इस उदात्त मानव धर्म का प्रारम्भ हम भारत में और गाय से करते है। लेकिन हम यही अटक जाने वाले नही हैं। (ऊपर की फेहरिश्त में हम ने बिल्ली को भी स्थान दिया है, इस बात को याद कर के कि प्राचीन काल के मिस्र देश में (इजिप्त मे) बिल्ली को पवित्र जानवर माना जाता था और समाज-धर्म बिल्ली को अघ्न्य—न मारने लायक़—करार कर के बचाता था।)

गाय को बचाने के विचार का समर्थन हम केवल हिन्दू-शास्त्र अथवा हिन्दू भावना के बल पर नही करते है किन्तु मानवता के, मानवधर्म के बल पर ही कर रहे हैं। और हम आशा करते हैं कि कम-से-कम गाय-बैल को बचाने के लिए भारत के सब धर्मों के भारतीय लोग सहमत होगे।

भारत मे गाय की, और अरबस्तान में ऊँट की रक्षा हो

हमें विश्वास है कि भारत मे अगर हम गाय को बचा सके तो हम से सबक़ सीख कर अरबस्तान के मुसलमान, वहाँ के राष्ट्रीय प्राणी ऊँट को इसी तरह बचाने के लिए किसी दिन तैयार हो जायेगे। क्योकि इसलाम के नबी हज़रत मोहम्मद पैग़म्बर ने एक दफे एक बूढे ऊँट की शिकायत को मान कर उसे जीवनदान दिलवाया था। यह कथा मोहम्मद साहब के जीवन चरित्र में हो है।

पशुत्रय को बचाने का मिशन

घोडे के बारे में किसी एक देश से प्रारम्भ करने की आवश्यकता नही है। घोडो की उपयोगिता विश्वमान्य है। अगर हिन्दुओ में सच्ची आस्तिकता है और धर्म तेज प्रकट करने की हिम्मत है तो हम लोग केवल गाय को ही नही, किन्तु ऊँट और घोडे को बचाने के वैज्ञानिक ढग का प्रचार अपने मिशनरियो के द्वारा सारी दुनिया मे कर सकेगे। जैनी साधु अगर हिन्दुस्तान के बाहर जाने योग्य अहिंसाधर्मी बन गये तो पशुत्रय का सवाल ले कर सारी दुनिया में वे पहुँच सकते है। और मेरी आस्तिकता मुझे कहती है कि उन्हें यथासमय सफलता अवश्य मिलेगी। धर्मशक्ति है ही अमोघ।

धर्मबुद्धि जागृत होने पर ही क़ानून का सहारा

अगर मनुष्य जाति ने गुलामो को मारना, बेचना, खरीदना बन्द कर दिया तो मनुष्य-सेवक प्राणियो की हत्या बन्द करने के लिए मानवो की धर्मबुद्धि जाग्रत् करना और सगठित करना अशक्य नही। इतना ध्यान में रखना चाहिए कि धर्मबुद्धि पूरी जाग्रत् होने के बाद ही क़ानून का सहारा लेना चाहिए। अहिंसा का ही यह उपदेश है। धर्मतेज जाग्रत् होने के पहले अगर क़ानून का सहारा लिया तो धर्मतेज कुण्ठित होता है और हिंसा के तत्त्वो को बल मिलता है।

जब अँगरेज़ो का राज्य था तब सती की प्रथा आदि चन्द अनिष्ट रिवाज बन्द करने के लिए देश के हिन्दू नेताओ ने बडा आन्दोलन चला कर अँगरेज़ सरकार की मदद ली यह सब जानते ही हैं। उस ज़माने में लोकमान्य के जैसे ऐसे नेता भी थे जो कहते थे कि बाल-विवाह आदि अनिष्ट रूढियाँ बन्द होनी ही चाहिए, लेकिन धर्मकार्य विदेशी राज्यसत्ता के हाथो करवाने मे खतरा है। सरकार के हाथ में जब हम अधिकार देते हैं तब दीर्घदृष्टि से सोचना चाहिए कि आइन्दा इस का असर क्या होगा! वह ज़माना विदेशी और परधर्मी राज्यसत्ता से सकारण डरता था। आज भारत में स्वराज्य है और समस्त प्रजा की धर्म-निरपेक्ष सरकार भी है। तो भी हम कई क्षेत्रो में सर्वमान्य सामाजिक सिद्धान्त लागू नही करते। एकपत्नी और एकपति का कानून प्रचण्ड बहुमत से स्वीकृत होने पर भी हम उस का अमल न मुसलमानो पर करते हैं, न हिमालयीन बहुपतिव्रती आदिवासी जमातो पर।

अब हमें समाजसत्तावादी सरकार के हाथ में सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र अधिकार देने के पहले सोचना चाहिए कि इस का नतीजा कहाँ तक पहुँचेगा। गाय के बारे में हिन्दूमत अनुकूल होगा। मुसलमान, ईसाई आदि शायद प्रकट विरोध नही करेंगे। (सुनता हूँ कि पाकिस्तान में और बर्मा में गोवध नही होता है। मैंने इस के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त नही की है।) लेकिन विवाह सस्था में आमूलाग्र सुधार (बिगाड नही) करने के दिन आयेंगे तब डर है कि सनातनी हिन्दू बहुमत के निर्णय से शायद सहमत नही होंगे। इस झझट में आज हमें नही उतरना है।

गोपालन कौन करे ?

अब एक बडा सवाल रहता है जिस का ज़िक्र हम ने गान्धीजी के अखबारो में सन् १९२६ में और १९३२ में किया था। गौहत्या केवल कानूनन् बन्द करने से गाय बच नही सकती। उस के जीने का और पालन-पोषण का प्रबन्ध भी होना चाहिए। मनु भगवान् ने कहा है कि भगवान् ने ब्राह्मण और क्षत्रिय पैदा कर के उन्हें सौंप दी 'समस्त प्रजा की हिफाजत'। गाय को पैदा कर के उस की हिफाजत सौंप दी वैश्य को खेती, तिजारत, कारीगरी आदि वैश्यो के कामो के साथ पशु-पालन और खासकर के गौरक्षा का काम भगवान् ने (यानी समाजव्यवस्था ने) वैश्यो को सौंप दिया।

इस के बाद मनु भगवान् कहते हैं कि (अन्य उपायो से धनवृद्धि होती देख कर) वैश्य को कभी ऐसी बुद्धि न हो कि गौ-रक्षा और पशु-पालन का काम हम

न करे। और मनु भगवान् इस से आगे जा कर कहते हैं कि वैश्यों ने अगर निष्ठापूर्वक पशुपालन का काम करना चाहा तो बाक़ी की प्रजा उस से सन्तोष माने और उस झंझट में न पडे।

गोरक्षा का आधार संन्यस्तवृत्ति के गोभक्तो पर

सन् १९३२ में हम ने कहा था, "दूसरी बात यह है कि गाय के बारे में हम ने आज तक जो अन्याय किया है। उसे याद कर के आदर्श गोपालन में से होने वाला सारा मुनाफा गाय और उस के वंश के रक्षणार्थ खर्च करना चाहिए। जिस प्रकार 'खादी-कार्य का अन्तिम आधार संन्यस्तवृत्ति से रहने वाले, परोपकारी, त्यागी और निर्लोभी समाज सेवको पर है' उस प्रकार 'गोरक्षा का आधार भी सन्यस्तवृत्ति के गोभक्त समाज-सेवक स्त्री-पुरुषो पर ही रहेगा।"

हमारे इसी विचार का वलिष्ठ समर्थन अभी श्री विनोबा के निवेदन में देख कर हमें परम सन्तोष हुआ। सरकारी काम जिस ढंग से आज होते हैं उस की तनिक भी टीका किये विना हम कहेंगे कि गौरक्षा का रचनात्मक काम अगर सफलता से करना है तो कार्यकुशल साधु-संन्यासियो और त्यागी सेवको के द्वारा ही होगा। अन्यथा 'यह सारा प्रयास अव्यवहार्य है' ऐसे युक्ति-युक्त लम्बे-चौडे रिपोर्ट ही सुनने की नौवत आयेगी। इस काम में हम पारसी, ईसाई और मुसलमानो को भी ले सकते हैं। जब मैं सिन्ध में राष्ट्रीय शिक्षा का काम करता था। मैं ने ऐसे मुसलमान किसान देखे थे जो पूरे-पूरे गोभक्त थे। धर्म कुछ भी हो, मानवता तो सव में एक-सी होती है। जाग्रत् होते ही वह काम करने लगती है।

अव मैं सव से कठिन आर्थिक पहलू पर आना चाहता हूँ जिस के कारण इस लेख के प्रारम्भ में मैं ने अर्थशास्त्रीय चिन्तन का थोड़ा विस्तार किया।

मनुष्य वोल कर लड़ सकता है, सेवक पशु नही

हमारे गुलाम, हमारे गिरमिटिया और हमारे मजदूर मनुष्य होने से सोच सकते हैं, वोल सकते हैं, सगठित हो कर लड़ सकते हैं और सत्याग्रह भी कर सकते हैं। मनुष्य-सेवक पशुओ की यह शक्ति नही। वे मनुष्य को अपनी सेवा, अपना प्रेम और अपनी निष्ठा दे सकते हैं। हम उन्हें जैसे रखें, सन्तोष या लाचारी से रह सकते हैं। उन की सहन-शक्ति मनुष्य से कम नही, कुछ अधिक ही है। उन की संगठन-शक्ति जगल में थोडी दीख पडती है। और सत्याग्रह तो वे जानते ही नही। ऐसी हालत में उन की ओर से उन के न्याय की, अधिकार की और जीने के हक की विचारणा उदार हृदय के मनुष्य को ही

करनी चाहिए। अगर गाय-बैल, ऊँट-घोडा आदि पशुओ का कोई प्रतिनिधि मनुष्य की तरह सोच सकता और मनुष्यवाणी में वोल सकता तो कहता—

सेवक-पशुओ की न्यायोचित माँग

"कई धर्मात्मा मनुष्यो ने जीवदया का प्रचार किया है, उन के प्रति हम कृतज्ञ हैं। लेकिन हम आप से दया या दान माँगने नही आये हैं। हमारा जीने का अधिकार अगर आप मान्य करें तो हम लोग केवल अपने परिश्रम से ही अपने सारे वंश को बचा सकेंगे और इन्हे आराम से रख सकेंगे। आज आप अपनी बुद्धि-शक्ति, संगठन-शक्ति और हमारी कैफियत करने की शक्ति भी हमारी मदद में दीजिए, तो हम आप के सर्वोत्तम सहयोगी सावित होगे।

"आज हम आप को जितनी सेवा देते हैं उस के बदले में आप हमें क्या देते हैं ? केवल घास, चारा आदि खाना और पानी। रहने के लिए, ठण्डी, गरमी, बारिश और तेज़ हवा से वचने के लिए आप हमें मकान देते हैं। यह सब कभी अच्छा होता है, कभी बुरा, इस से अधिक आप से हमे कुछ भी नही मिलता। अपने मजदूरो को आप केवल खाना, कपडा और घर नही देते। इस से भी अधिक आप को देना ही पडता है।

आप का मुनाफा सेवक-पशु-फण्ड मे जमा हो

"अब हमारी माँग यह है कि बैल, घोडा, ऊँट, गाय आदि हम लोगो से आप जितनी सेवा लेते हैं उस का हिसाब पूरे न्याय से लगाइए। आप को जितना मुनाफा होता है (मुनाफा न होता तो आप एक दिन भी हमें जिन्दा नही रखते।) उसी में से आप अपनी मेहनत का लीजिए और बाकी का सारा मुनाफा सेवक-पशु-फण्ड में जमा करते जाइए। घोडा और ऊँट आप की कम सेवा नही करते। खेती में, बैल से तनिक भी कम काम नही देते। लडाई मे तो इन सब पशुओ से आप कीमती सेवा लेते हैं। इन सब सेवक-पशुओ की सेवा का मुनाफा ईमानदारी से अलग रख दीजिए तो उस में से हम अपने वश के लिए 'ओल्ड एज पेन्शन' प्राप्त कर लेगे। स्वास्थ्य सम्बन्धी निश्चिन्तता तो तुरत होगी, मकानो की स्थितियो में भी काफी सुधार आयेगा। उस फण्ड में से हमारे लिए अच्छे गोचर चल सकेगे। सब के लिए अच्छी घास मिलेगी। मच्छरो के उपद्रव से हम वच जायेगे।

"हद से ज्यादा काम न लेने के आप के कानून तो हैं ही लेकिन उन का पालन कैसे होता है, यह कौन नही जानता ?

"मजदूरो के हित के लिए अगर आप के प्रधान मण्डल में एक प्रधान या मन्त्री और सचिव होते हैं तो सेवक-पशु की हित-रक्षा के लिए भी एक मन्त्री नियुक्त किया जाये। जिस का जीवप्रेम प्रत्यक्ष सेवा से प्रमाणित हो चुका हो ऐसे मन्त्री को यह काम सौंप दीजिए। फिर आप को जीवदया की बात हमारे लिए नही चलानी पड़ेगी। हम पुन. यही दोहराना चाहते हैं कि हम दया नहीं माँगते, बल्कि हम ही आप पर दया कर सकते हैं। हम आप से केवल ईमानदारी, न्याय और आत्मीयता की अपेक्षा करते हैं और वही चाहते हैं।"

पशुओ की इस माँग को मंजूर न करने जितने हम घातकी राक्षस न बने। मानव संस्कृति को जाग्रत् रखने के लिए जिस तरह शिक्षा-विभाग और धर्म-संस्थाओ के प्रचार कौशल्य का पूरा उपयोग हम करते हैं उसी तरह हमें अपने मनुष्येत्तर सहायक साथियो के कल्याण के लिए भी गतिशील प्रवृत्तियाँ चलानी चाहिए। पुराने धर्म-ग्रन्थों के विवेचन से यह काम नहीं होगा। हमारे साधु-संन्यासी अपने धर्मतेज को वैज्ञानिक रूप दे दे, और अपने सेवाधर्म को कृतार्थ करें—यही एक आवाज से माँग है सब धर्मों की।

(१ फरवरी १९६७)

शास्त्र-चर्चा का यह समय नहीं

इस में कोई शक नही कि वेद काल से ले कर आज तक भारत में गौरक्षा के पक्ष में सतत आन्दोलन चलता आया है। यह आन्दोलन कभी मन्द रहा, कभी उग्र। लेकिन यह विचार भारत के लोगों के सामने हमेशा जाग्रत् रहा है।

वेद काल में धार्मिक क्रियाओ में, यज्ञ में अथवा अतिथि के स्वागत में गौवध होता था या नही इस की चर्चा हम वर्षो से सुनते आये हैं। वेद काल में ब्राह्मण काल और उपनिषद् काल भी गिना जाता है। उस के बाद आता है महाभारत काल। उस काल में मांसाहारी लोग सब तरह का मास खाते थे। इस में शंका के लिए अवकाश नही है। लेकिन क्या आज यह सवाल प्रस्तुत है? हमारे पूर्वज बड़े धर्मात्मा थे, तत्त्वज्ञ थे इस का गौरव हम मन में रखें और उन की कीर्ति बढाने की कोशिश भी करें। लेकिन हमारे पूर्वजों में जैसे भले लोग थे वैसे बुरे भी थे। जो भले थे उन में भी चन्द बुराइयाँ थी। इस का इतिहास पढ कर हम भी बुरे रहें या बनें ऐसा तो कोई नही कह सकता। पूर्वजो की

बुराइयो पर परदा डालना कभी-कभी इष्ट भी होता है। सत्यान्वेषी इतिहास परदों को हटा कर सत्य परिस्थितियो का आविष्कार करेगा ही। उस से घबराने का कोई कारण नही है। द्रोणाचार्य ने अपने अस्वीकृत अथवा अदीक्षित आदिवासी शिष्य से गुरुदक्षिणा के रूप में उस का दाहिना अँगूठा ले लिया। यह महाभारत का तथ्य है। अब द्रोणाचार्य की कीर्त्ति बचाने के लिए अंगुष्ठ शब्द के अर्थ कोशो में हम ढूँढ सकते हैं और एकलव्य का अँगूठा काटा नही था ऐसा सिद्ध भी कर सकते हैं। ऐसे सशोधनो में जिन को रुचि नही है उन्हें उन के रास्ते जाने देना चाहिए। उन्हें भी जीने का और सोचने का अधिकार होना चाहिए।

भारत के असख्य हिन्दुओ के साथ मैं भी हृदय से केवल गाय की ही नही समस्त गोवश की रक्षा चाहता हूँ। गान्धी जी ने इस बारे में राष्ट्रमानस को अच्छी तरह से जाग्रत् किया और गोरक्षा के आग्रह के पीछे धार्मिक तथा सास्कृतिक भूमिका कैसी है यह भी स्पष्ट किया।

सारी दुनिया में गाय की और गाय-जैसे मनुष्य-सेवक प्राणियो की रक्षा के लिए धर्मबुद्धि जाग्रत् करना ज़रूरी है। यह काम अत्यन्त महत्त्व का है। भारत में भी इसे अच्छी तरह से नही कर सके हैं, यह दुख की बात है। भारत के जैन, वैष्णव आदि सब लोग इस काम को दुनिया में ज़ोरो से चलायें, यह मुख्य बात है। यह विश्वव्यापी काम केवल कानून से नही होगा। धर्मतेज के द्वारा, सास्कृतिक उन्नति के द्वारा और रचनात्मक प्रवृत्तियो के द्वारा ही प्रधानतया यह काम हो सकता है। यथासमय कानून बनाने से उस की मदद भी हो सकती है। लेकिन केवल कानून-द्वारा यह बडा काम सफल नही होगा। और हम लोग तो कानून बना कर सरकार के सिर पर बोझ डाल कर सो जाने के आदी हैं।

मैं नही कहता कि कानून न बने। उस के बारे में आज भी एक तरह से तटस्थ हूँ। मैं जानता हूँ कि क़ानून बनने से गोरक्षा का काम आसान होगा, लेकिन हल नही होगा। इस लिए मैं ने कहा है कि कानून बनाने के पूर्व और कानून बनने के बाद भी लोगो में—सब धर्मों के लोगो में—धार्मिकता जाग्रत् करना और वैश्य ढंग से रचनात्मक काम करना अत्यन्त जरूरी है।

जब कलकत्ते में रामकृष्ण मिशन की ओर से सन् १९३७ या ३८ में विश्व-धर्म-परिषद् हुई थी और सारी दुनिया के प्रतिनिधि आये थे तब एक अधिवेशन के अध्यक्ष की हैसियत से बोलने का मौका मिलते ही, मैं ने गोरक्षा के पक्ष में अपनी आवाज़ उठायी थी। दुनिया के सब देशो में मैं यात्रा कर आया

हूँ। जहाँ-जहाँ सज्जनो से वोलने का मौक़ा मिला, गोरक्षा के लिए मैं ने कुछ-न-कुछ कहा ही है।

मैं जानता हूँ कि हमारे पारसियो के धर्म में भी गोरक्षा की वात की गयी है। इस्लाम के नवी मोहम्मद साहव के जीवन-चरित्र में मैं ने पढा था कि अरवस्तान की गाय यानी ऊँट की रक्षा के लिए पैग़म्वर साहव ने ऊँट के मालिक को वूढे ऊँट की आजन्म सेवा याद कर के उसे न मारने की नसीहत दी थी, इस प्रसग का भी मैं मौक़ा पाते ही प्रचार करता हूँ। इजिप्त की राजधानी अल-काहिरो में मुसलमानो को गोरक्षा का अपना आग्रह समझाते हुए ऊपर का क़िस्सा सुनाया था, इस का असर अच्छा हुआ था। जापान में भी अपने ढग से गोरक्षा का प्रचार किया।

मेरा विश्वास है कि हम अगर सव धर्मों के प्रति आदरभाव रखे तो प्राणी-रक्षा का काम अच्छी तरह से शुरू कर सकेंगे। इस के लिए नये धर्मनिष्ठ मिशनरियो की आवश्यकता है।

वेदपूर्वकाल से ले कर हमारे सुदीर्घ इतिहास में गोरक्षा का प्रचार सतत करने की आवश्यकता रही, यही वताता है कि हम पूरे-पूरे सफल नही हुए थे। विदेशी लोगो ने आ कर भारत में राज्य स्थापित किया। उस के पहले धर्म और क़ानून काफी हद तक मिले-जुले थे। तो उस समय जो सिद्धियाँ हम प्राप्त न कर सके यह अव व्यापक धार्मिकता के जोरो करनी होगी। प्राचीन ग्रन्थो के वचनो का अनेक ढग से अर्थ करने से वादविवाद चल सकता है। 'गोघ्न' शव्द का अर्थ 'गोरक्षक' भी होता होगा! लेकिन क्या सव जगहो पर वही अर्थ ले कर हम चल सकते हैं? 'गोघ्न' को सजा देने की वात जहाँ आती है वहाँ यह पण्डिताऊ अर्थ काम नही देगा। पुराने इतिहास को ऐतिहासिक ढग से ही ढूँढना चाहिए और तय करना चाहिए कि विकासवाद का भी सार्वभौम सहारा हम ले सकते हैं। लेकिन जहाँ गोरक्षा के लिए सर्व-शक्ति एकत्र करनी है वहाँ ऐतिहासिक वातें खोल कर, शास्त्रार्थ चला कर दो पक्ष खडे करना मैं इष्ट नही मानता। सरकार की मदद ले कर क़ानून हम वना सकते हैं। आज शायद यह जरूरी भी होगा। लेकिन मैं स्वयं 'सामाजिक जीवन में क़ानून का हस्तक्षेप जितना कम हो अच्छा है' इसी पक्ष को मानने वाला हूँ। राज्य-शक्ति वढने से सामाजिक-शक्ति शिथिल होती है, क्षीण होती है इस खतरे की ओर भी ध्यान देना चाहिए। लेकिन यह समाज-विज्ञान का गहरा सवाल है। आज शान्त चित्त से इसे सोचने के लिए लोग तैयार नही हैं यह तो मैं जानता हूँ। अत. खतरे की

ओर इशारा करना ज़रूरी समझ कर ही उस की थोडी चर्चा कर के इस बात को यही छोड देता हूँ।

गाय-बैल आदि उपयोगी पशुओं से जो अखण्ड सेवा हम लेते हैं उस का मूल्य चुकाने को अगर हम तैयार हो गये तो गाय हमारी दया का भाजन नही बनेगी, बल्कि हम ही गाय-बैल के चिरऋणी और कृतज्ञ है यही सिद्ध होगा। गो-सेवा सघ की स्थापना कर के गान्धीजी ने जो कार्य शुरू किया उसे राष्ट्र-व्यापी और उत्कृष्ट बनाने के लिए क़ानून की उतनी नही जितनी धार्मिकता की आवश्यकता है। कानून को अगर निर्वीर्य नही बनाना है तो गो-सेवा की समस्त योजना राष्ट्रीय पैमाने पर अमल में लानी चाहिए, जिस में सब धर्मों के लोगो को हम आहिस्ता-आहिस्ता खीच सकेंगे।

(१६ फ़रवरी १९६७)

गोरक्षको की कसौटी

मानव जीवन के महत्त्वपूर्ण और व्यापक प्राय. सभी क्षेत्रों को अपने मातहत करने की आकाक्षा आजकल की सरकारे करती है। यूरोप-अमेरिका के गोरे राष्ट्रो में समाज सत्तावाद चलता है इसलिए हमारे यहाँ भी चलना चाहिए, यही सोच कर पश्चिमी समाजवाद हमारे यहाँ शुरू किया गया है। उन राष्ट्रो का इतिहास हमारा नही है, तो भी उन के पुरुषार्थ के उत्तराधिकारी हम बनना चाहते हैं। गान्धीजी ने स्वदेशी सर्वोदय के लिए काफी तैयारी की थी। मगर इन पश्चिम के शिष्यो ने वह सब कुछ हटा कर परे रख दी, और कहा कि वह उत्तम आदर्श है किन्तु ख्वाबी है। 'सोश्यलिज्म' पश्चिम में सिद्ध हो चुका है इस लिए हमारे यहाँ भी सफल होना चाहिए। .

हमारे नेताओं ने 'सोश्यलिज्म' शब्द का रटन तो बहुत किया किन्तु उस के लिए प्रजा-मानस तैयार नही किया। प्रजा-मानस तो दूर, राज्य चलाने वाले छोटे-बडे मन्त्री, राज्यकर्त्ता ऑफिसर और कर्मचारी—किसी को भी तैयार नही किया। क़ानून बनाते जाते हैं। प्रजा अब परेशान हो कर जो कुछ सीखेगी सो सीखेगी।

जनता दूसरा कुछ सीखे या न सीखे, एक बात सीख गयी है, चुनाव के द्वारा राज्यकर्त्ताओ को बदल देना। कई मरीज़ होते हैं जो अपने रोग के बारे

में जानने की कोशिश नही करेंगे, अपनी आदतें नही सुधारेंगे, पथ्य का पालन भी नही करेंगे। परहेज से उन्हें क्या मतलब ? समय-समय पर डॉक्टर या वैद्य को बदल दो, उन से नयी-नयी दवाइयाँ माँग लो, फिर जो होगा अपने-आप होगा। 'यद्वा तद्वा भविष्यति'।

ऐसी सरकार के द्वारा हमारे जीवदया वाले, धर्मनिष्ठ, गो-भक्त गाय को और धर्म को बचाना चाहते हैं। आन्दोलन करने का काम हमारा। काम सिद्ध कर के दिखाने का अथवा उस के बारे में रिपोर्ट लिखने का काम सरकार और उस के कर्मचारियो का।

गोहत्या-प्रतिबन्धक क़ानून तो हो जायेंगे। हत्यारे लोगो को सजा भी शायद होगी। सम्भव है कि सरकार की ओर से बूढे, बीमार, पंगु गाय-बैलो को रखने के लिए वृद्धाश्रम खोले जायेंगे। पिंजरापोलो को सरकारी ग्राण्ट मिलेगी। खरचा बढ़ने पर लोगो पर काऊ (गो)-टैक्स लगाया जायेगा। और जिस तरह शासन में खाद्यमन्त्री, कृषिमन्त्री, उद्योगमन्त्री नियुक्त होते हैं, गोमन्त्री भी स्वतन्त्र रूप से नियुक्त होगे।

हमें डर है कि इतने से गौ का सवाल और हमारा धार्मिक कर्त्तव्य हल नहीं हो सकेंगे। वास्तव में हमारी चिन्ता के कुछ विशेष सन्दर्भ हैं, जिन का यहाँ उल्लेख करना शायद उपयोगी होगा :

१. मनुष्य-सख्या के अनुपात में अन्नसंग्रह पूरा नही है। प्रजोत्पत्ति जोरो से बढ रही है। अन्नोत्पत्ति और कुटुम्ब-नियोजन दोनों दिशाओ में जोरो से प्रयत्न करते हुए भी पूरा अन्न खाने को नहीं मिल रहा है। भारत के अन्न माँगने वाले मुख की आर्त्त आवाज़ दुनिया के सब राष्ट्रो के कानो तक पहुँच गयी है।

ऐसे समय पर अपने मवेशियो के चारे आदि का सवाल भी हमें हल करना होगा। घास और इतर आहार बढ़ाने के लिए कैसे प्रयत्न हो रहे हैं इस के विषय में हम ने कुछ सुना नही है। उलटा गाय आदि मवेशियो के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आहार की चीज़ें बिना सोचे विदेश भेजी जा रही हैं। आज भी शिकायत हो रही है कि दूसरे देशो की अपेक्षा भारत के गाय-बैल दुर्बल हैं। दूध देने की और परिश्रम करने की उन को शक्ति बहुत ही कम है।

अब अगर मवेशियों की संख्या बढी और उन्हें काफ़ी मात्रा में पौष्टिक आहार न मिला तो गाय-बैल दिन-पर-दिन दुर्बल होते जायेंगे। उन से लाभ कम होगा। उन का आर्थिक बोझ देश पर बढ़ेगा।

जब मनुष्य के लिए हम कुटुम्ब नियोजन बना रहे हैं तब गाय-बैल के जनन का नियोजन सुव्यवस्थित रूप से कर ही सकेंगे। और उस की कला हरएक किसान को सिखायेंगे, ताकि उन की नस्ल सुधर जाये। फिर तो फक्त बूढे और पगु जानवरो का सवाल रहेगा। उन का आर्थिक बोझ सहन करने की शक्ति राष्ट्र को बतानी होगी।

हम ने तो बताया ही है कि गाय-बैल की मेहनत से होने वाला कुल मुनाफा आज मनुष्य खाते हैं। वह सारा मुनाफा गाय-फण्ड में जमा हो जाये तो गाय की चिन्ता नही करनी पडेगी, क्योंकि गाय स्वाश्रयी बनेगी। गाय-बैल के हक का मुनाफ़ा जब गो-वश को देंगे तब मनुष्य की, खासकर के किसानो की उतनी आमदनी कम होगी। इस से वे लोग नाराज़ होगे। लेकिन न्याय तो गाय के पक्ष में रहेगा।

२ मवेशी के लिए अत्यन्त ज़रूरी पौष्टिक आहार जो विदेश जाता है उसे तुरन्त रोकना होगा। तभी जा कर खेती का सवाल हल होगा और हमारे बाल-बच्चो को अच्छा और पूरा दूध मिलेगा।

३ यहाँ तक हम धर्म की बात नही ले आये। बैलो की सेवा और गायो का दूध हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सब के लिए ज़रूरी है। इसलिए भारत-वासियों को गाय-बैलो के प्रति अपने कर्त्तव्य का स्वीकार करना ही चाहिए, यही है आज की भूमिका।

लेकिन राज्यकर्त्ता कुछ भी सोचें गोरक्षा-आन्दोलन करने वाले गोभक्तो ने धर्म के नाम से ही लोकमानस को जाग्रत किया है। गाय-बैल के प्रति मनुष्य का जो मानवीय कर्त्तव्य है, उस का प्रचार गैरहिन्दुओ में आज तक हम ने नही किया। लेकिन अब करना होगा। बडी खूबी से करना होगा। नही तो झगडे ही झगडे खडे होगे।

हम तो कहते आये हैं कि गोवश के प्रति हमारा जो कर्त्तव्य—धर्म है उस धर्म का प्रचार हमें सारी दुनिया में करना चाहिए। अगर ईसाई लोग धर्मनिष्ठा से प्रेरित हो कर अपने धर्म का प्रचार बडी हिम्मत और निष्ठा के साथ सारी दुनिया में करते आये हैं तो गोरक्षा और गोसेवा धर्म को दुनिया मे फैलाने का काम हम क्यो न करें? किसी ने नही कहा कि ईसाइयो की धर्मनिष्ठा से हिन्दुओ की धर्मनिष्ठा कम है। अगर अपने धर्म पर विश्वास है और गोपाल श्रीकृष्ण को हम जगद्गुरु मानते हैं तो गोभक्तो को सारी दुनिया में भेजने का हमारा प्रथम धर्म है।

४. अगर हम सच्चे धार्मिक हैं और स्वार्थ के सामने धर्म का गला घोंटने का हमारा विचार नही है तो जिस गोवंश को हम पवित्र मानते हैं, देवतातुल्य कहते हैं, उस वंश के बच्चो को बधिया बनाने का हमें क्या अधिकार है ?

धार्मिकता को जो लोग स्वीकार नही करते वे तो मवेशी को स्वार्थ की दृष्टि से ही देखते हैं। उन को पालना, मार कर खा जाना, बधिया बनाना आदि सब बातें वे तो जायज ही मानेंगे। उन का रास्ता आसान है। लेकिन जो धर्म का ख्याल रखते हैं, धर्म के लिए मर मिटने को तैयार हैं, उन के लिए एक मुँह से गाय को देवी कहना और दूसरे मुँह से बैलो को बधिया करने का समर्थन करना तर्कसंगत नही है, धर्मसगत भी नही है।

जहाँ तक हमें ख्याल है, गान्धीजी ने भी कही लिखा है कि बैल, भैंसा, घोडा आदि जानवरो को हम बधिया करते हैं यह मानव-धर्म पर एक कलंक है। हम नही मानते कि बैलो को बधिया किये बिना उन से काम लेना बिलकुल असम्भव है। मनुष्य-बुद्धि का इतना दिवाला नही निकला है कि बैलों को बधिया किये बिना उन से काम ही नही ले सके। वह पाप का रास्ता सब से आसान समझ कर ही मनुष्य आज तक इसे चलाता आया, क्योकि उस की धर्म-बुद्धि स्वार्थ के आगे दब गयी या भ्रष्ट हुई। लेकिन मनुष्य प्रयत्न करेगा तो निष्पाप रास्ता निश्चय ही मिल जायेगा। लेकिन गोभक्तों को इस दिशा में पुरुषार्थ करना होगा।

अथवा घोर आन्दोलन चला कर यह उत्तरदायित्व भी सरकार के सिर पर ही डालना है ?

(१ अप्रैल १९६७)



भारतीय समाजशास्त्र

भारतीय समाजशास्त्र की बुनियाद

क्या हिन्दुओ की समाज-रचना भारतीय अध्यात्मशास्त्र पर आधारित है ? क्या हिन्दू-समाज में चार वर्ण, अनेक जातियाँ, उन का ऊँच-नीच भाव, समाज में स्त्रियो की स्थिति, भिन्न धर्मियो के प्रति हिन्दुओ का रुख, सब-कुछ भारतीय अध्यात्म के आदर्शों के अनुकूल है ?

क्या हिन्दुओ के शैव, शाक्त, वैष्णव आदि पन्थो ने वर्ण-व्यवस्था को, जातिगत ऊँच-नीच के सम्बन्ध को हृदय से अपनाया है ?

क्या चार्वाक मतावलम्वी एवं कापालिक, अघोरी आदि पन्थ के लोग हिन्दू-समाज के अन्तर्गत माने जाते थे या समाजबाह्य ? बौद्ध, जैन, लिंगायत आदि पथभेद हिन्दू-समाज को मान्य था या अमान्य ?

प्रायश्चित्त की व्यवस्था होते हुए भी पतित जातियों की वश-परम्परा हलकी क्यो मानी गयी ?

ऐसे-ऐसे समाज-व्यवस्थामूलक असंख्य प्रश्न मन में उठते हैं, जिनका सन्तोषजनक उत्तर हिन्दू-समाज के नेता न शास्त्रो में से देते हैं, न इतिहास में ही इस का युक्तियुक्त उत्तर मिलता है।

चार वर्ण मिल कर समाज बनता है। कोई एक वर्ण स्वतन्त्र रूप से जी नही सकता। जैसे हाथ, पाँव, सिर आदि शरीर के अवयव शरीर से अलग हो कर जी नही सकते। आज की जातियो का ऐसा नही है। चन्द जातियों के लोग मनमाना व्यवसाय कर सकते हैं। एक ही जाति में सब व्यवसाय के लोग पाये जाते हैं। इस लिए वैसी एक-एक जाति को एक स्वयम्भू सम्पूर्ण समाज हम कह सकते हैं। खान-पान के नियमों में तो सारे देश में एक-सा व्यवहार या आदर्श दीख नही पडता। और अब तो खान-पान के सब नियम ऐसे ढीले हो गये हैं कि किस के साथ खाना, किस के साथ नही खाना इस का कोई विधि-निषेध रहा नही।

पुराने जमाने में महाराष्ट्र के एक बुद्धिमान् व्यक्ति ने ईसाई धर्म को

स्वीकार किया और उसने हिन्दू-समाज को चुनौती दी कि मैं ईसाई हुआ हूँ ज़रूर, किन्तु मेरा खान-पान आदि व्यवहार केवल ब्राह्मणो के साथ ही रहा है। मैं ने हिन्दुओ के सामाजिक नियमों का प्रकट रूप से या खानगी तौर पर तनिक भी उल्लंघन नही किया है। मुझे आप किस आधार पर बहिष्कृत या पंक्तिबाह्य कर सकते हैं ? मैं ने ईसाई धर्म की दीक्षा ली, इस में शंका नही। लेकिन ईसाई बनने से मेरा हिन्दुत्व कैसे नष्ट हो सकता है ? रोटी बेटी व्यवहार में मैंने कुछ भी भ्रष्टाचार नही किया। इसलिए हिन्दू भी हूँ।

बडा पेचीदा सवाल था।

लोकमान्य तिलक ने अपनी बुद्धि चला कर हिन्दू का लक्षण बाँध लिया—

'प्रामाण्य बुद्धिर् वेदेषु, साधनाना अनेकता।
उपास्यानाम् अनियम. एतत् हिन्दुत्वलक्षणम् ॥'

इस में पहला लक्षण तो केवल आस्तिको का है। बाक़ी के दो लक्षण बन्धन का अभाव बताते हैं। हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिख, आर्यसमाजी, ब्राह्मसमाजी आदि सब मिल कर हिन्दू समाज बनता है। इन में अन्दर-अन्दर शादी-व्यवहार होने में जाति की कठिनाई आती होगी। मनुष्य समाजबाह्य नही होता और अब तो हिन्दू लोग मुसलमान, बौद्ध, ईसाई आदि समाज के साथ शादियाँ कर के भी समाजबाह्य नही होते। आज चीन, जापान, ब्रह्मदेश, युरॅप, अमेरिका किसी भी देश के लोगो से शादी करने से हिन्दू अपने समाज से बहिष्कृत नहीं होता। अगर कोई जान-बूझ कर हिन्दू-समाज से बाहर जाना चाहे, अपने को अ-हिन्दू कहने का आग्रह रखे तो बात अलग है, वरना हिन्दू किसी भी हालत में हिन्दू रह सकता है। यह बात सामाजिक नेता स्पष्ट रूप क़बूल करें या न करे, सिद्ध हो चुकी है।

हिन्दूओ का समाजविज्ञान क्या है, इसका भी अध्ययन करना आवश्यक है। अध्यात्मशास्त्र, धर्मशास्त्र और समाजशास्त्र परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी हमारे लिए अलग जगह हैं। और इन में परस्पर विरोध होने के बावजूद हम लोग इस मुद्दे पर विचार करने के प्रति उदासी हैं, जब कि यह ज़रूरी है।

संस्कृत भाषा और साहित्य ही हमारी सांस्कृतिक एकता, समृद्धि और भविष्य की बुनियाद है। संस्कृत साहित्य हमारे पुरखो की सारी दुनिया के लिए गौरवास्पद देन है। अध्यात्म, तर्कशास्त्र, साहित्य-मीमांसा, कला की अभिव्यक्ति, शब्दशास्त्र आदि विषयो में आज भी हम दुनिया के सामने बहुत-कुछ रख सकते हैं। गणित, ज्योतिष, वनस्पतिशास्त्र, वैद्यक, संगीत आदि विषयों में हमारी

प्राचीन प्रगति और उपलब्धि दुनिया के लिए आदरणीय है। लेकिन जिस विषय पर हमने अधिक-से-अधिक ब्योरेवार चिन्तन किया है, लेकिन जिस का विधिवत् विज्ञान हम लोगो ने लिखा नही है, वह है हमारा समाजशास्त्र।

चार वर्ण, चार आश्रम और त्रिगुण व्यवस्था की बुनियाद पर हम लोगो ने एक विशाल और वास्तविक समाजशास्त्र बनाया था। यहाँ के भिन्न-भिन्न सामाजिक भूमिका वाले आदिम जाति के लोगो का जीवनक्रम सहानुभूतिपूर्वक समझ कर हम लोगो ने उन्हें धीरे-धीरे—अत्यन्त धीरे-धीरे—आत्मसात् करने के अनेक प्रयोग भी किये।

चातुर्वर्ण्य की पकड हमारे आदि मानस पर सर्वोपरि रही। तो भी अनेक वंश के और कुनबे के लोगो के जीवन का आदर और सास्कृतिक पेशे के जीवन-विकास का ख्याल करते हम लोगो ने अपनी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को भी गौण बनाया और उस की जगह विशाल जटिल किन्तु सामंजस्यपूर्ण जाति-व्यवस्था का विस्तार किया और इन—सहजीवन, सहचार और सहयोग—का एक व्यावहारिक समन्वय भी बना दिया।

यह सही है कि भविष्य में हमारी वह भारतीय समाज-व्यवस्था चलेगी नही, किन्तु हज़ारो बरसो से लगातार निष्ठायुक्त जो प्रयोग हमने किये उन का गहरा अध्ययन दुनिया को करना ही पड़ेगा और उस में से बहुत ही कीमती बोधपाठ दुनिया को लेने ही पडेगे।

वश हो, पन्थ हो, कुनवा हो या गोत्र हो, हर-एक की आन्तरिक जीवन-व्यवस्था की, स्वायत्तता की रक्षा हमने की है। लोक-जीवन के प्रति हमने जितना आदर दिखाया है उतना और किसी दूसरी सस्कृति ने नही दिखाया। अनेक धर्म, अनेक वश और अनेक राष्ट्र और अनेक विचारधारा या जीवनधारा में विभक्त इस दुनिया को अगर सहअस्तित्व का व्याकरण बनवाना है तो उसे भारतवर्ष के प्राचीन और मध्ययुगीन सामाजिक प्रयोगो का आदर के साथ अध्ययन करना ही पडेगा।

प्रत्येक जाति की पचायतो ने जो भी 'उच्चावच' रिवाज चलाये होगे, उन का अध्ययन भी साथ-साथ करना होगा और अपने पुराणों तथा लोककथाओ में जो भी मसाला समाजशास्त्र के लिए और लोक-जीवन को समझने के लिए उपयोगी होगा उसे भी इकट्ठा करना हमारा काम है।

जब हम संस्कृत की बात करते हैं तब वैदिक और पाणिनीय संस्कृत का ही नही, किन्तु पाली, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि प्राकृत भाषाओ का और उस के साहित्य का भी उस में अन्तर्भाव करते हैं। सस्कृत-

साहित्य में से समाज-विज्ञान के लिए मसाला इकट्ठा करने की बात जब हम कहते हैं तब पाली, अर्धमागधी आदि भाषाओं में बौद्ध संघ का और जैन तपो-गच्छ का इतिहास ढूँढने की बात भी उस में शामिल होनी चाहिए। साथ ही भारत की जो अनेकानेक जाति-संस्थाएँ हैं उन के अलिखित रस्म-रिवाजों का अध्ययन भी हमें अभीष्ट है।

ऐसे विशाल संस्कृत-साहित्य का आलोडन और मन्थन कर के उस में से समाज-विज्ञान के नियम और उन्हें प्रेरणा देने वाले सिद्धान्त इकट्ठा करने के लिए एक अखिल भारतीय संस्था की स्थापना होनी चाहिए। यदि एक बार हमने इस दिशा में प्रयत्न शुरू किया और प्राथमिक विचारणा की नींव डाली तो दुनिया के समाजशास्त्री और मानव-कल्याण का चिन्तन करने वाले मनीषी उस में से हज़ारो अच्छी-अच्छी चीज़ें संगठित कर के हमारे सामने रखेंगे और समाजशास्त्र के लिए एक नये युग का प्रारम्भ होगा। बाबू भगवानदास-जैसो ने इस क्षेत्र में कुछ काम किये हैं, दिशा-निर्देश भी दिये हैं।

भविष्य के लिए कम-से-कम दस-पन्द्रह बरस का हमारा कार्यक्रम यही हो कि—संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि साहित्य में पाये जाने वाले समाजविज्ञान की (सोश्योलॉजी की) सामग्री को व्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप दिया जाये।

(२६ मई १९५१)

समाज-विकास के मूलभूत तत्त्व

गीता ने मनुष्य-समाज के मुख्य दो विभाग माने हैं—दैवी और आसुरी :

"द्वौ भूतसर्गौ लोकेस्मिन्
दैव आसुर येव च।"

और फिर कहा है कि—

"दैवी सम्पद् विमोक्षाय
निबन्धायासुरी मता।"

दैवी सम्पत्ति के कारण मनुष्य का विकास होता है और धीरे-धीरे समाज-विनाशक दुर्गुणो से वह मुक्ति पाता है। आसुरी सम्पत्ति समाज के स्वार्थ, अहं-कार, मत्सर इत्यादि समाजद्रोही गुणो को ज्यादा से ज्यादा पोषण देती है। भोग और ऐश्वर्य में अपने मन को पिरो कर लोग अन्धे बन जाते हैं, सच्चा ज्ञान खो

बैठते हैं और अन्त मे उन की अधोगति हो जाती है। अनियन्त्रित काम, क्रोध और लोभ इन तीनो को स्वीकार करने पर समाज की अवनति ही होगी। नरक के द्वार-रूप इन तीन दुर्गुणो का सतत विरोध करने से ही संस्कृति टिक सकती है।

केवल जीने से जिस तरह व्यक्ति का जीवन कृतार्थ नही होता, समाज का भी ऐसा ही है। जीना, भोगना, जीतना और टिकना इतने से ही समाज कृतार्थ नही बन सकता। समाज की महत्वाकाक्षा, समाज की प्रवृत्ति अथवा पुरुषार्थ, समाज की ज्ञानराशि, किसी महान् उद्देश्य की ओर दौड रहा हो, जीवन को कृतार्थ करने वाला हो, मनुष्य जाति का चित्त उसी के ध्यान में मग्न हो, तभी कहा जा सकता है कि जीवन में कुछ प्रवृत्ति है, सफलता है। जिन लोगो के सामने यह वस्तु नही वे आसुरी सम्पत्ति वाले हैं। वे—"मोघाशा मोघकर्माणो, मोघज्ञाना विचेतस"—हैं, ऐसा गीता ने कहा है।

ऊपर के विवेचन पर से हम देख सकते हैं कि गीता का समाजशास्त्र दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद् के विभाग में ही समाया हुआ है। दैवी सम्पत्ति में समाज के स्थैर्य और अभिवृद्धि के सब लक्षण आ गये हैं, जब कि आसुरी सम्पत्ति में विजय और ऐश्वर्य के आभास से मनुष्य किस तरह अन्धा बन जाता है, जीवन-रहस्य कैसे भूल जाता है और अन्त में उस का किस तरह नाश होता है, यह बताया गया है। यह मान कर कि अध्यात्मशास्त्र या वेदान्तविद्या परलोक के लिए ही है, इहलोक की वह विरोधी है, हम आजकल उस के बारे में बहुत उदासीन बन गये है। लेकिन उपनिषदो ने साफ-साफ कहा है कि इहलोक और परलोक के बीच इस तरह का विरोध हो ही नही सकता। इहलोक में जो नालायक साबित हुए, परलोक सिधार कर वे अनायास प्रतिष्ठित हो जायेंगे यह हो ही नही सकता। जैसा यहाँ वैसा ही वहाँ, जैसा वहाँ वैसा ही यहाँ। जो इन दो के बीच विरोध देखते हैं वे एक विनाश में से निकल कर दूसरे विनाश में उतर पडते हैं, यह स्वय यमराज ने भी कहा है। धर्म के बारे में श्री शकराचार्य ने भी यही कहा है कि धर्म की शक्ति द्विविध होती है। इहलोक का अभ्युदय और पारलौकिक कल्याण, जो इन दोनो को प्राप्त कर सके वही धर्म है धर्म के बारे में 'नाना' यानी परस्पर विरोध हो ही नही सकता, यह बात मनुष्य को अपने हृदय में विचारपूर्वक बैठानी ही चाहिए

"मनसैवेदमाप्तव्य नेह नानास्ति किं चन।"

हमारी मान्यता है कि मनुष्य पूर्वसस्कारो के कारण विशिष्ट जन्म लेता है और उस मर्यादा या बन्धन में रह कर ही उस को अपना विकास करना होता

है। जब देह, कुटुम्ब और समाज की मर्यादा में रह कर वह पुरुषार्थ करता है, तब या तो वह अपने पुराने बन्धन ज्यादा से ज्यादा दृढ बनता है और अपनी शक्ति क्षीण करता है, या कर्म-द्वारा सब संकुचितता ने छुटकारा पा कर अधिक व्यापक जीवन के लिए अनुकूल बनता है। व्यक्ति के समान समाज भी विकास-शील है और दोनो का ध्येय एक ही हो सकता है।

व्यक्ति का आदर्श अलग और समाज का आदर्श अलग ऐसा भेद नहीं होता है। अत 'व्यक्तिवाद या समाजवाद' के इस झगडे में कोई अर्थ नही है। व्यक्ति या समाज अपना विकास साध कर किस दिशा में प्रगति करना चाहता है यह अगर पहले से ही निश्चित हो तो युरॅप के समाजशास्त्रियो में दीर्घकाल से चलता आया यह झगडा कितना अर्थहीन है यह सहज ही समझ में आ जाता है।

पुरुषार्थ यानी विघ्नो पर विजय। मनुष्य के स्वभाव में ऐसी भी एक वृत्ति है जो जीवन को जीवन-साफल्य की ओर ले जाती है, और ऐसी आत्मघात की वृत्तियां भी हैं जिनके कारण जीवन का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। इन दूसरी वृत्तियों को विकृति या विकार कहा जाता है। स्वार्थ, संकुचितता, विरोध, वैर, द्रोह, हिंसा, अभिमान आदि विकारो से जीवन-प्रयोजन नष्ट-भ्रष्ट होता है और मनुष्य कही अधिक मुसीबतो में फँस जाता है।

गीता में वर्णित समाज-विकास के मूलभूत तत्त्वो का अब हम विचार करें—

अभय

समाज का विकास सब के साथ ज्ञानयुक्त ऐक्य साधन में है ऐसा गीता का कहना है। इस मे अधिक व्यापक, उदात्त और व्यवहारी आदर्श दुनिया के किसी भी दर्शन या धर्म ने मनुष्य-समाज के आगे नही रखा है। सब के साथ सम्पूर्ण ऐक्य का अनुभव करना—यही है सच्चा विश्वजित यज्ञ। जहाँ भेद रहा वहाँ विजय असम्भव है। जहाँ भेद है वहाँ भय है ही। भेद को निकाल देना हो तो पहले अभय को प्राप्त करना चाहिए। अत. गीता ने दैवी सम्पत्ति के गुणों की चर्चा करते समय 'अभय' को पहला स्थान दिया है।

उपनिषद् के अनुसार—'द्वितीयाद् वै भयं भवति।'—अभय के दो प्रकार हैं। मनुष्य अपने जीवन की रचना इस तरह कर के रखे कि वह खुद किसी से डरे नही और किसी को उस से डरने का कारण न रहे। ये दोनो जब सधते हैं तभी मान सकते हैं कि अभय प्रतिष्ठित हुआ। इन दोनो पहलुओ का विकास फकीरी-बेफ़िक्री के बग़ैर नही हो सकेगा। मैं किसी से भी तभी नही डरूँगा जब कि मुझे यक़ीन होगा कि मेरा असली सर्वस्व कोई भी लूट नही सकता, या जिन

को लोग लूट सकते हैं ऐसी चीजें मेरे जीवन-विकास में कुछ महत्त्व ही नही रखती। 'हू स्टील्स माई पर्स स्टीलस् ट्रॅश'—ऐसा कहने वाला आदमी इस बात को ज़रूर कुछ हद तक जानता था। लोग लूट-लूट कर क्या लूटेंगे ? सम्पत्ति, कीर्ति, प्रतिष्ठा, स्थान या सम्बन्ध ? और यह मर्त्य शरीर इतना ही लूट सकेगा। वीर इन चीजो की परवाह नही करते।

मुझ से कोई न डरे—यह वृत्ति अपनाने के बाद यानी किसी का भी नुकसान अपने हाथ से न हो, इस दृष्टि से जीवन की रचना करने से सम्पूर्ण समाधान का लाभ होता है। इतना होते हुए भी लोग हमसे नही डरेंगे, यह नही कहा जा सकता। क्योकि मनुष्य सशयी प्राणी है। जहाँ डरने-जैसा कुछ भी न हो वहाँ डरता है। लेकिन जो आदमी किसी को डरने का मौका ही नही देता वह धीरे-धीरे समाज का अत्यन्त हितकर्त्ता साबित होता है।

फलाँ आदमी हमारा कुछ भी बिगाडने वाला नही है इतना यकीन होने के बाद उस का लाभ लेने वाली विभूतियाँ दुनिया में मौजूद होती ही हैं। ऐसे लोगो के बारे में अभय का पहला भाग, यानी किसी से भी डरना नही, क्योकि कोई भी हमारा सही मानो में नुकसान नही कर सकता, यह वृत्ति ही रखनी पडेगी।

आत्मरक्षण की वृत्ति व्यक्ति या समाज में इस हद तक व्याप्त है कि आत्म-बलिदान के असख्य प्रसगो को मनुष्य टाल ही देता है। आत्म-बलिदान ही विकास की खुराक है। वह आवश्यक प्रमाण में समाज को नही मिलती इस लिए समाज का चारित्र्य इतना दुर्बल है। आत्म-बलिदान जब सहज और स्वाभाविक बन जायेगा तब देखते-देखते समाज उन्नत अवस्था को पहुँच जायेगा। डरपोक और डरावे वाला दोनो जानते हैं कि निर्भय मनुष्य ही समाज का हीर है—मीर है। केवल संख्या, सत्ता या सस्कारिता से ही कोई समाज आगे बढ़ा है यह नही कहा जा सकता। जहाँ अभय है वही विकास होता है, प्रगति होती है।

अभय के अर्थ पर बार-बार सोचना उचित होगा। मैं किसी से डरता नही, मुझे किसी की परवाह नही, इस प्रकार के उद्घोष करते रहना अभय का लक्षण नही है। मनुष्य का जीवन ही ऐसा होना चाहिए कि उस के समक्ष भय की स्थिति ही न आये। लोभ, भोग-लालसा आदि मनुष्य मे जब तक हैं तब तक वह निर्भय नही, और जो खुद निर्भय नही वह औरो को क्या निर्भय करेगा ? जो तृप्त, अलिप्त या विरक्ति है वही निर्भय हो सकता है और वही औरो को भी अभयदान दे सकता है, क्योकि तृप्ति या विरक्ति में से ही समाधान का वातावरण हम पा सकते हैं।

समाज की दृष्टि से—मनुष्य जाति की दृष्टि से—समाधान ही एक मुख्य वस्तु है जिस की आज दुनिया को बहुत जरूरत है। मेरी उन्नति पूरी-पूरी नही हुई है, ज्ञान के कितने ही क्षेत्रो में अभी संचार करना बाक़ी है, द्वेष मत्सरादि शत्रुओं पर अभी तक विजय नही पा सका हूं ऐसी-ऐसी बातों के लिए मनुष्य को असन्तोष जरूर रहना चाहिए। लेकिन भोगैश्वर्य के बारे में असन्तोष बढा कर दुनिया किसी भी दिन सुखी होने वाली नही है। आज दुनिया के विभिन्न समाजो के मानस को जांचें तो वे या तो भयभीत दशा में हैं या दूसरो को भय-भीत करने की तैयारी में हैं। यह क़तई प्रगति का लक्षण नही है। इसी लिए अभय द्विविध अभय—समाज के स्थैर्य और उत्कर्ष के लिए अत्यन्त आव-श्यक है।

सत्त्व-संशुद्धि

आज कल सब कोई मानते हैं कि शिक्षा बिना समाज-सुव्यवस्थित नहीं रह सकेगा। जिस तरह बर्तन रोज मांजने चाहिए, शरीर को रोज नहलाना, खिलाना चाहिए, उसी प्रकार समाज को अभय का भी शिक्षण मिलना ही चाहिए। उसी शिक्षण का आदर्श सत्त्व-सशुद्धि और ज्ञान-योग-व्यवस्थिति में आ जाता है। सत्त्व-सशुद्धि यानी हृदय, इच्छा, हेतु, वासना, आदर्श इन सब की शुद्धता। यह जिस हद तक साध्य हुई हो उस हद तक समाज सुधरा हुआ गिना जायेगा।

सत्त्व-संशुद्धि के लिए पुराने जमाने में धर्मोपदेशक बहुत प्रयत्न करते थे, आज विद्वान् और समाज-सेवक प्रयत्न करते हैं। और अब तो एक ऐसा भी वर्ग पैदा हो रहा है कि जो ऊपर के दोनो वर्गों की निष्फलता देख सत्त्व-सशुद्धि के प्रयत्न ही व्यर्थ है—ऐसा मानने और कहने लगा है। अपने-आप कुछ सत्त्व-सशुद्धि भले होती रहे। एक बात और, सत्त्व-संशुद्धि के लिए विशेष प्रयास व्यक्तिगत तौर पर भले होते रहें, लेकिन सामाजिक प्रयास से वह नहीं हो सकेगी, न ऐसे प्रयास होने चाहिए—यह कहने और मानने वाला भी एक पक्ष है।

लेकिन सत्त्व-सशुद्धि के लिए सामाजिक पुरुषार्थ हो सकता है और वह होना चाहिए, वरना प्राप्त किया हुआ ज्ञान और विकसित की हुई शक्ति समाज को नष्ट करने के काम में लायी जायेगी। इस तरफ किसी का ध्यान नही जाता है। इस लिए राष्ट्र युद्ध की तैयारियां बढाते ही जाते हैं, व्यापारी और उद्योग-पति घातक स्पर्धा चलाते हैं और शिक्षण के स्रोतो को मूल में ही कलुषित किया

जाता है। पुराने धर्मोपदेशको ने और आज के चंद अध्यापको ने सत्त्व-संशुद्धि का प्रयत्न किया इस में कुछ गलत नही हुआ। किन्तु अखण्ड प्रयत्न के बिना संस्कृति टिकने वाली नही है। और यह भी ध्यान में रखना होगा कि सत्त्व-सशुद्धि के प्रयत्न में शब्दो की शक्ति परिमित होती है। शब्द अर्थों का वहन करते हैं। निश्चय, चारित्र्य या सकल्प शब्दो में नही होते। उन को उपयोग में लाने वालो के जीवन में से आते हैं। अत जीवन प्रयत्न के अभाव में शब्द यदि प्रभावहीन हो जाये तो सत्त्व-सशुद्धि के प्रयोग भी न किये जायें—यह अनुचित भी होगा।

(सितम्बर, १९५९)

सुधारों का मूल

रेल की यात्रा में कई बार भीड न होने पर भी लोग झगडा करते हैं। हर एक आदमी यदि अपने लिए पर्याप्त जगह ले कर भी बैठ जाये तो सभी लोग आराम से बैठ कर यात्रा कर सकते हैं। लेकिन कुछ लोग अकारण स्वार्थी और मनुष्य-शत्रु होते है। लड कर जितनी जगह रोक सकता हूँ उतनी रोक लूँ, तभी चैन की साँस लूँ—यह उन की आदत होती है। भले ही ऐसा करने में बैठने की सुविधा धूल में मिल जाये और स्वय उन्हें ही अधिक दु ख भुगतना पडे। सीट पर अधिक जगह रोकने के लिए वे पलथी मार कर बैठते हैं और पलथी को इतनी चौडी करते हैं कि सांधो में दर्द शुरू हो जाये। जब तक अपने पैर का स्पर्श दूसरे को नही होता तब तक अपना स्वार्थ पूरी तरह से साध्य हुआ ऐसा विश्वास उन को नही होता। ऐसा करने के बजाय अगर प्रत्येक आदमी सज्जनता से एक-दूसरे की सुविधा के बारे में जागृत रह कर सन्तोषवृत्ति से काम ले तो किसी को तकलीफ नही होगी और सब आराम से मुसाफ़िरी कर सकेंगे।

शहरो और गांवो में भी लोग जब घर बनाते हैं तब, पडोसी-पडोसी के बीच झगडा खडा हो ही जाता है। वहाँ भी लोग सुख-दु ख का या सुविधा-असुविधा का विचार छोड कर स्वार्थ-धर्म के प्रति वफादार रहने के लिए ही बहुत दफा लड लेते हैं। एक बालिश्त ज़मीन पडोसी को देने से अगर मेरा कुछ खास नुकसान न होता हो और मेरे पडोसी को उस से काफी सुविधा हो सकती हो, तो भी मैं उतना स्वार्थ भी कैसे छोड सकता हूँ? मेरा जी ही नही मानेगा।

और अगर शायद मुझे इतनी सद्‌बुद्धि सूझी तो मेरे रिश्तेदार या अडोसी-पडोसी मुझे दुनियादारी का ज्ञान सिखाने के लिए अवश्य पधारेंगे : "क्या मूर्ख बन गये हो ? इस तरह दानेश्वरकर्ण बन कर परोपकार करने जाओगे तो लोग तुम्हें देखते-देखते फकीर भिखारी बना डालेंगे। बालबच्चों के लिए भी तो कुछ रखना है या नहीं ? अगर उस का काम रुका है तो माँग लो उन के पास से पाँच-सात सौ रुपये। अगर न देना हो तो भाड़ में जाये ! हमें क्या गरज पडी है ! अपनी ज़मीन अपना स्थान छोड कर थोडे ही भाग जाने वाली है ?" बस, स्वार्थ-धर्म का यह फ़रमान तोड़ भी कैसे सकते हैं ? स्वार्थ-धर्म के आगे पड़ोसी-धर्म फ़ीका पड़ जाता है या मर जाता है। इसीलिए इस युग का नाम पड़ा है कलियुग। कलि यानी कलह।

दो कुटुम्बों के बीच विवाह-सम्बन्ध होने के समय भी यही हालत होती है। जो पराये थे वह सम्बन्धी हुए इसलिए वहाँ तो प्रेमधर्म का व्यवहार शुरू हो जाना चाहिए लेकिन नही, वहाँ पर भी व्यवहार की रीति के झगडे खडे होंगे। मानपान के बारे में एक भी रस्म छूट नही जानी चाहिए। सेठ के यहाँ गालियाँ भी सुननी पडती हैं, वहाँ कुछ बिगड़ नही जाता, लेकिन समधी के पास से तो रीति के अनुसार सब-कुछ मिलना ही चाहिए। वरना दूल्हे को वापस ले जाने की धमकी दी जायेगी। विवाह का मंगलाचरण ईर्ष्या और द्वेष से शुरू होगा ! यही स्थिति होती है जाति-जाति के बीच। परस्पर अविश्वास और स्वार्थ छोडने की कायरता सब जगह फैली हुई है।

जब घर-घर में, जाति-जाति के बीच यही हालत है तो राष्ट्रों-राष्ट्रों के बीच न इस से भिन्न और क्या होगा ? पडोस का राष्ट्र कमज़ोर हो तो उस के ऊपर चढाई करनी चाहिए, बलवान् हो तो हमेशा उस से डरना चाहिए और उस के खिलाफ़ साजिशें करनी चाहिए। पडोसी अगर तुल्यबल रहे तो झगड़ा मिटा ऐसा थोडे ही है ? समानता को मनुष्य पसन्द कैसे करे ? कुछ विशेषता श्रेष्ठता पाने की कोशिश तो होती ही रहेगी, इसलिए वहाँ पर भी अविश्वास और विरोध खडा हुआ। हरएक पक्ष यही कहेगा कि आत्मरक्षा के लिए, बचने के लिए हमें इतना तो करना ही पडेगा। दो प्रबल राष्ट्रों के बीच अगर छोटा-सा राष्ट्र हो तो प्रबल राष्ट्र सोचता है कि यदि मैं ने इस को नही खाया तो सामने वाला तो खाये बग़ैर नही रहेगा। और फिर इस को खा कर बलवान् बन कर वह हम पर चढाई भी करेगा। इस से बेहतर है कि मैं ही इसे हड़प जाने का अन्याय करूँ। इसी तरह साम्राज्य बढते हैं। सौभाग्य से अब परिस्थिति कुछ बदली हुई है।

स्वार्थ और अन्याय की यह स्पर्धा आज यूरप में सार्वत्रिक हो गयी है और इसी सिद्धान्त पर उन की राजनीति चलती है। इसलिए ऐसा मानना कि यही मानव-स्वभाव है, ठीक नही होगा। आज भले ही सुव्यवस्थित पशु-शक्ति को यूरप सुधार माने, लेकिन सच्चा सुधार तो प्रेमधर्म में—पडोसी धर्म में ही है। इस पडोसी धर्म का हमें श्रद्धापूर्वक विकास करना चाहिए। जो सज्जनता बरतते है उन के साथ दोस्ती और जो दुर्जन बन गये हैं उन के खिलाफ़ असहकार—यही प्रेमधर्म का नियम है। प्रेमधर्म सहानुभूति दिखाता है, मदद देता है, लेकिन दीन बन कर मदद की अपेक्षा नही रखता। प्रेमधर्म निर्भय होता है और इसलिए वह अमर्याद होता है। हम जिस पर प्रेम करते हैं उस की शक्ति बढने से हमें डर नही लगता। बरखिलाफ इस के, जिस के साथ हमारी दोस्ती है वह जितना दुर्वल होता है उतनी हमारी शक्ति कम होती है।

जहाँ अविश्वास का वातावरण होता है वहाँ उसे दूर करने के लिए प्रेम असाधारण धीरज और सहिष्णुता से काम लेता है, नम्र हो कर उन्नत बनता है और बहुत-सी वस्तुओ को त्याग कर विजयी बनता है। प्रेमधर्म में सहन करना पडा तो भी थोडे दिनो के लिए, लेकिन उस की विजय अक्षय होती है। इस प्रेमधर्म का प्रचार कुटुम्ब से ले कर राष्ट्रो-राष्ट्रो के बीच के सम्बन्धो तक फैलाना चाहिए। यही सब सुधारो का मूल है और फल भी।

(२० अगस्त १९५७)

सामाजिक सद्भाव का स्वरूप

सौ-दो सौ वर्ष हुए, मानवजाति समाज-व्यवस्था या राज्य-व्यवस्था के अनेक प्रयोग करती आयी है। कुछ-न-कुछ आदर्श नज़र के सामने रख कर उसे प्राप्त करने के लिए समाज-व्यवस्था में क्या-क्या तब्दीली करनी चाहिए, या राज्याधिकार किन-किन के हाथ में कितने प्रमाण में होने चाहिए, इस का चिन्तन-विवरण मनीषियो ने बहुत किया है। और पुरुषार्थी प्रजाओ ने उस के प्रयोग भी बहुत किये हैं। ऐसे प्रयोग करने के लिए प्रजाओ ने महँगी क्रान्तियाँ भी कर देखी हैं। लेकिन अभी तक सन्तोष या पूरी सफलता प्राप्त नही हुई है।

पुराने लोग रचना या व्यवस्था-जैसी बाह्य और तान्त्रिक वस्तु का महत्व कम समझते थे। उन का कहना था कि समाज को अगर अच्छी तरह से चलाना

है, शान्ति, सुस्थिति और प्रगति के लिए अनुकूलता चाहिए, तो समाज में रहने वाले व्यक्तियों का स्वभाव भी सामाजिक ढंग का होना चाहिए। सामाजिक सद्गुण बढ़े तो समाज की सुस्थिति के बारे में चिन्ता करने की नौबत नहीं आयेगी। जो है सो सामाजिक सद्गुण में ही है।

ऐसे सामाजिक सद्गुणों का परिगणन दुनिया के नेताओं ने समय-समय पर किया है। 'दशकं धर्मलक्षणम्' कह कर मनु भगवान् ने मानो जीवन-संस्कृति की बुनियाद बनायी।

योगशास्त्र का विधान करते पतंजलि महामुनि ने प्राचीन यमनियमों का परिगणन किया। इन यमनियमों का स्थान बौद्ध धर्म-चर्चा में और जैन धर्मोपदेश में पाया जाता है। दुनिया से विरक्त हो कर अपना एक निजी जीवन विकसित करने वाले सन्तों ने भी यम-नियमों पर जोर दिया है। महात्मा गान्धी ने भारतीय राष्ट्र की कमजोरी दूर करने के लिए जो ग्यारह आश्रमव्रत सुझाये उन में भी योगशास्त्र में बताये हुए पाँच यम तो आये ही हैं। इधर भगवद्गीता में, समाज के अभ्युदय के लिए जिन छब्बीस सद्गुणों की आवश्यकता है उन का जिक्र और वर्णन दैवी सम्पत् के रूप में दिया है।

यह सारा विस्तार बताता है कि भारत का अध्यात्म और भारत का समाजशास्त्र जिन लोगों ने विकसित किया वे सब दुनिया के उद्धार के लिए इन सद्गुणों पर ही सारी मदार रखते थे। अब आदर्श जनसमाज की स्थापना करनी हो तो समाज के घटकरूप व्यक्तियों को अपने सारे जीवन-व्यवहार में एक-दूसरे से किन वृत्तियों के साथ पेश आना चाहिए इस का भी विस्तार योग-शास्त्र में और जीवन-विद्या में किया है।

इन चार बुनियादी वृत्तियों को बौद्धों ने ब्रह्मविहार का नाम दिया है। सामाजिक जीवन में आर्यवृत्ति के लोग जिन वृत्तियों से काम लेते हैं उन वृत्तियों को भी ब्रह्मविहार कहा गया है। क्या वेद विद्या के आद्य संरक्षक और संग्राहक ब्रह्मदेव के चार मुख सचमुच ये ब्रह्मविहार ही हैं?

मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा ये हैं मिल कर ब्रह्मविहार। सब मानवों के अथवा सब जन्तुओं के प्रति सद्भाव की वृत्ति रखना मैत्री है। इन में भी जो लोग या जो प्राणी दुःखी हैं, हम से बुरी हालत में हैं उन के प्रति दयाभाव रखना करुणा है। जो लोग सद्भाग्य से अच्छी हालत में हैं, कुछ अच्छी सहूलियतें प्राप्त करते हैं उन की स्थिति देख कर, ईर्ष्या, असूया, मत्सर नहीं करना, मन में नहीं जलना, लेकिन उन्हें अपना भाई समझ कर, उन्हें खुशहाल देख कर सन्तुष्ट प्रसन्न होना ही मुदिता है। और जो लोग बुरे हैं, समाजकण्टक हैं, या अपना

द्वेष करते है उन के प्रति मन में चिढ, तिरस्कार या द्वेष न रखते हुए, उन का अहित करने की नीयत न रखते हुए, केवल उपेक्षा से और कुछ तितिक्षा से उन की ओर पेश आना यह है उपेक्षावृत्ति। बुरे-से-बुरे आदमी के प्रति भी अधिक कठोर नही होना, उपेक्षा तक जा कर ठहर जाना इस आर्यवृत्ति को, सज्जनता की स्वाभाविक मर्यादा को, उपेक्षा कहा गया है। योगसूत्र के अनुसार सुख के प्रति मैत्रीभाव रखना, दुःख के प्रति करुणाभाव रखना, पुण्याचरण, सदाचार के प्रति मुदिता यानी प्रसन्नता रखना और अपुण्य, उन्नति-विरोधी, समाजविघातक तत्वो के प्रति केवल उपेक्षा से पेश आना ही चित्तशुद्धि, समाज-शुद्धि और उत्कर्ष का साधन है।

अपुण्यवृत्ति के प्रति, दुराचार के प्रति केवल उपेक्षाभाव रख कर, ब्रह्मवृत्ति धारण कर कैसे सुपरिणाम ला सकते है इस का नमूना गान्धीजी ने अपने असहयोग आन्दोलन के द्वारा, समय-समय के सत्याग्रह के द्वारा और नोआखाली में शीतल ब्रह्मास्त्र के प्रयोग के द्वारा बताया ही है।

आज के भारत के जनमानस में जो नैतिक शिथिलता आयी है उसे दूर करने के लिए चारित्र्य की दृढता आवश्यक है, लेकिन उस के साथ इन चार आर्यवृत्तियो का अनुशीलन करना भी उतना ही ज़रूरी है। क्यो कि सामाजिक सद्भाव के बिना हम आगे नही बढ सकते। और सामाजिक सद्भाव का विश्लेषण कर के ही ब्रह्मविहार की ये चार भावनाएँ निश्चित की गयी है। इन का क्रमश चिन्तन करना बहुत ही हितकर होगा।

(२७ मई १९५९)

व्यक्ति या समाज

व्यक्ति श्रेष्ठ या समाज श्रेष्ठ? यह सवाल सनातन काल से मनुष्य के सामने है। मानव-कल्याण का हित सोचने वाले और तत्त्वजिज्ञासु इस विषय में परस्पर विरोधी उत्तर देते आये हैं।

कुछ लोगो का कहना है कि व्यक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। व्यक्ति के लिए समाज है। व्यक्ति ने ही स्वेच्छा से समाज बनाया है। इसलिए व्यक्ति-स्वातंत्र्य प्रधान वस्तु है। उसी को सर्वोपरि मानना चाहिए।

अगर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर कोई मर्यादा हो सकती है तो वह दूसरे व्यक्ति के इतने ही पवित्र व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की है। इसलिए नियम यही हो सकता है कि हरएक व्यक्ति की स्वतन्त्रता (उस के विचारस्वातन्त्र्य और आचार-स्वातन्त्र्य) की इज्ज़त करो, उस का आदर करो। अपने स्वातन्त्र्य का उपयोग ऐसी खूबी से करो कि तुम्हारे-जैसे दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर आक्रमण न हो जाये। उस की स्वतन्त्रता का नाश न हो जाये।

दूसरे प्रकार के लोग कहते हैं कि प्रधानता और सार्वभौमिकता तो समाज की ही हो सकती है। व्यक्ति आज है और कल नही। समाज का अस्तित्व स्थायी है। समाज के लिए व्यक्ति है। समाज के अनुशासन में रह कर उस की सेवा करना ही व्यक्ति का कर्तव्य है। इसी से व्यक्ति का जीवन कृतार्थ होता है। गणित की भाषा में कहें तो समाज पूर्णांक है, व्यक्ति है उस का अंश—अपूर्णांक। समाजहित को छोड कर व्यक्ति के जीवन के कोई मानी नहीं होते। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह हमेशा समाज के हित का ही सोचे और समाज की इच्छा के अधीन रहे।

कितनी परस्परविरोधी हैं ये विचारधाराएँ। इन की एकवाक्यता कैसे हो? इन का समन्वय हम कैसे साध सकते हैं?

भारतीय संस्कृति का निर्णय है कि व्यक्ति और समाज दोनो एक-से पवित्र हैं, एक-से आदरणीय हैं। हमारी संस्कृति का कहना है कि व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास और समाज का श्रेष्ठतम कल्याण इन दोनो के बीच विरोध हो नहीं सकता। व्यक्ति और समाज दोनों को चाहिए कि वे दोनों प्रसन्नता से, राजी-खुशी से धर्म के अधीन रहें। धर्म की सर्वोपरिता मान्य रखने से ही व्यक्ति-जीवन और सामाजिक जीवन कृतार्थ होंगे।

यह धर्म क्या चीज है? धर्मो धारयते प्रजा। धर्म ही एक ऐसा बन्धन है जो सब को एक साथ बांधता है, एकत्र रखता है और परस्पर के कल्याण के लिए प्रेरणा दे कर सब का कल्याण करता है। धर्म ही जीवन का शास्त्र है। व्यक्ति की प्रकृति और समाज की प्रकृति दोनो के आरोग्य का रहस्य धर्म के अन्दर निहित है। धर्म ही सब व्यक्तियों के और व्यक्ति-समूहो के वर्तमान, भूत, भविष्य के जीवन का यथार्थ नियमन कर सकता है।

इस धर्म की खूबी यह है कि व्यक्ति और समाज का नियमन वह बाह्य कानूनो से नही करता। आन्तरिक संस्कारी प्रेरणा से ही करता है। इसलिए व्यक्ति का यही अधिकार है कि धर्म के द्वारा ही, धर्म के वश रह कर ही अपना सम्पूर्ण विकास साध्य करे। इसलिए जो भी इच्छा, वासना या आदर्श धर्म के

विरोधी हो, उन्हे अपने हृदय से और अपने जीवन से हटाने की कोशिश व्यक्ति को करनी चाहिए।

समाज को भी इसी तरह धर्म का अनुशासन मान्य रखना चाहिए। समाज को किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मर्यादित करने का उतना ही अधिकार है, जितना धर्म उसे देने को तैयार है।

व्यक्ति की अपेक्षा समाज की शक्ति अधिक है, मात्र इस कारण समाज व्यक्ति को दबाने को तैयार हो जाये यह बिलकुल ठीक नही है। समाज व्यक्ति को अकुश में उतना ही रख सकता है जितना धर्म उसे वैसा करने देता है। समाज की जितनी शक्ति धर्मानुकूल हो उतनी ही वह काम मे ला सकता है।

इस तरह धर्म या धम्म ही सार्वभौम है।

धर्म अपने कानून बाहरी कानून से नही चलाता। धर्म अपना काम अन्दर से चलाता है। मनुष्य-हृदय पर वह अपना असर करता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जिसे आज हम बौद्ध, जैन, ईसाई, मुस्लिम या हिन्दू नाम से पहचानते हैं वैसा यह धर्म नही है। धर्म और 'रिलिजन' एक नही है। ये अलग धर्म, पन्थ और सम्प्रदाय जिस हद तक धम्म या सार्वभौम धर्म का उपजीवन करते हैं उस हद तक ही इन सारे धर्मों की शक्ति और पवित्रता है। इन सारे अलग-अलग धर्मो ने विशिष्ट ग्रन्थ, विशिष्ट रूढि और विशिष्ट व्यक्तियो के साथ लोगो को बाँध कर अपने को बिगाड दिया है। धर्म को ग्रन्थ-परतन्त्र, व्यक्ति-परतन्त्र, या रूढि-परतन्त्र नही करना चाहिए था। धर्म को स्वयशासित और स्वयम्भू रखना चाहिए। हर-एक युग के श्रेष्ठ पुरुषो के हृदय में जो धर्मभाव जाग्रत् होता है उसी के अनुसार सब को चलना चाहिए। ऐसे सार्वभौम, सर्वकल्याणकारी, सर्वोदयी धर्म के द्वारा ही व्यक्ति का और समाज का जीवन कृतार्थ होता है। कल्याणो धम्मो।

(१ अगस्त १९६०)



आश्रम-व्यवस्था

आश्रम-व्यवस्था

गीता में चार वर्णों का उल्लेख किया गया है, पर किसी स्थान पर चार आश्रमों का स्पष्ट या अस्पष्ट उल्लेख नहीं है। ब्रह्मचर्य का वर्णन अनेक जगहों पर आता है। गीता में संन्यास तो सर्वत्र भरा है। परन्तु इन दोनो का आश्रम-व्यवस्था के साथ कुछ भी सम्बन्ध नही है। महाभारत में आश्रम-व्यवस्था का बहुत अधिक उल्लेख होते हुए भी गीता में वह नही है। अवश्य ही यह विचारणीय है। मूल में गीता महाभारत का एक स्वतन्त्र प्रकरण है, इस की भी पुष्टि इस बात से होती है। गीता में कहा हुआ संन्यास सब मनुष्यो द्वारा सर्व काल में पालने योग्य जीवन-क्रम अथवा जीवन-वृत्ति है और गीता का ब्रह्मचर्य मोक्षसाधना का एक पहलू या शारीरिक तप के रूप में आता है। उस मे गुरु के घर रह कर अभ्यास करने की बात नही है। श्री कृष्ण ने गुरु सान्दीपनि के घर पर रह कर सेवा की थी, पर गीता में गुरुकुल का उल्लेख नहीं है। हाँ, प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा इन सब का महत्त्व अच्छी तरह से बताया गया है।

गीता में आश्रम-व्यवस्था नही है, (गीता के ७०० श्लोकों में आश्रम शब्द तक नही आया है।) फिर भी हिन्दू धर्म की समाज-व्यवस्था में आश्रम धर्म का महत्त्व बहुत अधिक है। इस लिए उस पर विचार यदि यहाँ करें तो वह अप्रस्तुत नही माना जायेगा। आश्रम-व्यवस्था सब स्मृतियो में एक समान है, ऐसा कहा जा सकता है। साथ ही यह भी कि वह चारों वर्णों के लिए है। लेकिन ब्राह्मण और क्षत्रियो ने ही उसे टिका रखा है—ऐसा भी कहा जा सकता है।

अभी राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार बहुत चल रहा है और गुरुकुल-जैसी संस्थाएँ भी हैं। इस लिए यद्यपि ब्रह्मचर्य आश्रम का विचार बहुत हुआ है लेकिन फिर भी उस पर नयी दृष्टि से तत्त्वतः विचार करना अभी जरूरी है।

हमेशा माना जाता है कि गृहस्थाश्रम यानी प्रगतिमय अखिल जीवन मगर उस का ऐतिहासिक विकास किस प्रकार होता गया यह भी देखना होगा।

संन्यासाश्रम एक तरह से पूर्णता को पहुँची हुई व्यक्तिगत मानवता का

आश्रम है। परन्तु अनेक बार पूर्णत्त्व गलती से शून्यत्व की ओर ही जाता है। क्योकि इन दोनो में एक प्रकार की समानता है। गीता का सन्यास और स्मृतियो में कहा हुआ संन्यासाश्रम, ये दोनो एक-दूसरे से अत्यन्त दूर दो छोर है। इस लिए संन्यासाश्रम कृतार्थ कैसे हो सकता है? इस का भी यहाँ विचार करना चाहिए।

सब सेप हले, नाटक के विष्कम्भक की तरह, बीच में आने वाला वानप्रस्थाश्रम क्या है उसे यहाँ पहले देख लें। आजकल संस्कारी लोगो के मन में जहाँ-तहाँ जाति सस्था के विषय में अश्रद्धा दिखाई दे रही है। वर्ण-व्यवस्था में श्रद्धा होगी तो भी वह व्यवस्था फिर स्थापित हो सकेगी इस में विश्वास नही होता। आश्रम-व्यवस्था सब को सुन्दर लगती है। वर्ण-व्यवस्था में वर्ग-विग्रह का तत्त्व प्रविष्ट हो सकता है। आश्रम-व्यवस्था के बारे में ऐसा भय नही, क्योकि ये सब एक ही जीवन के विभाग हैं और इसलिए कोई भी व्यक्ति अपने-आप उन का उपयोग कर सकता है। यह होने पर भी आज तो ऐसा दिखाई देता है कि आश्रम-व्यवस्था भी समाज में से निकल गयी है।

आजकल कुछ लोग 'पेंशनर' लोगो को वानप्रस्थ कहने लगे हैं। 'रिटायर्ड हुजूर डिप्टी कलेक्टर' आदि किसी के नाम के आगे लिखने के बदले 'वानप्रस्थ हुजूर डिप्टी कलेक्टर' लिखने का नुसखा थोडे समय तक चला था। हिन्दू विश्वविद्यालय की कल्पना लोगो को समझाते समय पण्डित मदनमोहन मालवीय कहते थे कि "विद्वान् सरकारी नौकरो को नौकरी छोड कर वानप्रस्थ स्वीकार करने का आग्रह कर उन की सहायता से यह विश्वविद्यालय चलाने का हमारा विचार है। परिपक्व बुद्धि और अनुभव को थोडे खर्च मे सुविधा हो सकेगी ऐसी उन को आशा थी। सरकारी नौकर नौकरी में घुसने के बाद थोडे ही समय में शक्तिविहीन हो जाते हैं और पेंशन लेने के बाद तो उन का कम खर्च भी काम की दृष्टि से महँगा हो जाता है यह उस समय महामना मालवीयजी को शायद सूझा नही होगा।

मूल स्मृतियो में समाज-सेवा की दृष्टि से वानप्रस्थाश्रम कल्पित किया गया हो ऐसा नही मालूम होता। लगता है कुछ अशो मे यह पूर्व तैयारी का आश्रम है। जिस प्रकार बारह वर्ष तक तैयारी करने के बाद ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रमी बनता था अथवा सीधा सन्यास धारण करता था उसी प्रकार वानप्रस्थ आश्रम गृहस्थाश्रम की नाजुकता और आलस्य को देह-दमन से निकाल कर सन्यास की तैयारी कराता था अथवा मृत्यु को बिलकुल सरल बनाता था।

वानप्रस्थ के अन्त में सब को सन्यास लेना चाहिए इस प्रकार का आग्रह

कही दिखाई नही देता। घर छोड कर वन में जाते समय आवश्यकता हो तो पत्नी को पुत्र की अधीनता में सौप कर जाना अथवा उसे साथ में लेते जाने का विधान बताया गया है। पत्नी को घर पर छोड जाने की प्रथा ही अधिक रूढ़ थी ऐसा लगता है, क्योकि वानप्रस्थ पति संन्यास लेने के बाद पत्नी का क्या करे इस का किसी स्थान पर उल्लेख नही है। वानप्रस्थ पति-पत्नी के अन्त तक उसी आश्रम में रह कर वन में ही देहत्याग करने के अनेक उदाहरण हैं।

हिन्दू-समाज व्यवस्था में दूसरी एक बात सूक्ष्म रूप से सर्वत्र फैली हुई दिखाई देती है। सब प्रकार की प्रगति अथवा प्रवृत्ति बडे उत्साह से करते रहने पर भी मन के एक कोने में एक भाव क़ायम रहता है कि प्रवृत्ति मात्र एक प्रकार से अध पात है, असली शुद्ध स्थिति से दूर हटने-जैसा है।

और यह वृत्ति मनुष्य में सर्वत्र दिखाई देती है। जब बैलगाडियो का उपयोग होता था तब सब को पैदल यात्रा करने में अधिक काव्य और अधिक पुण्य मालूम होता था। आगगाडियो और मोटरो के होने के बाद बैलगाडियो का मंजिल दर मंज़िल होने वाला प्रवास, रास्ते के झरनो के किनारे खुद ही बना कर किये हुए वनभोजन, और प्रात काल के समय बैल के गले की घंटियो और घुँघुरुओ की आवाज़ आदि सब में अब काव्य का अनुभव होने लगा है। यही स्थिति यज्ञ के बारे में भी दिखाई देती है। यज्ञ के बरतन, सोमवल्ली भर कर लाने की गाडी, अग्नि तैयार करने की रीति, ये सब बिलकुल पुरानी पद्धति के होने चाहिए। दियासलाई से अग्नि जलाने के बदले अरणी-मन्थन से ही अग्नि जलाना चाहिए—ऐसा यज्ञविधि का आग्रह है। धातु के बरतन मिलते हो तो भी यज्ञ के लिए काष्ठपात्र ही पवित्र गिने जाते हैं। वनभोजन के लिए जाना हो तो सारी रसोई स्वय अपने हाथ से ही करनी चाहिए। यानी प्राथमिक कठिनाइयो के अनुभव में से ही आनन्द प्राप्त करने-जैसी यह बात हुई। प्रिमिटीव जीवन स्वावलम्बी होता है और उसी कारण वह विशेष निष्पाप होता है। परस्वावलम्बन प्रगति के लिए चाहे जितना पोषक हो, उस में असली स्वातन्त्र्य कम होता है,—ऐसी धारणा प्राय सब की होती है। इस लिए गृहस्थाश्रम की प्रवृत्ति में अरुचि मालूम होने लगती है, और वह प्रवृत्ति भाररूप लगने लगती है, वह केवल एक उपाधि है। इस लिए पीछे मुड कर मूल पद की ओर जाने की वृत्ति होती ही है। पीछे लौटना यानी आत्मा के अधिक निकट जाना—यह धारणा भी सर्वत्र रूढ़ हुई है। उपाधि के कम होने पर अपने-आप ही आत्मचिन्तन के लिए आवश्यक फुरसत प्राप्त हो जाती है। यह बात सही है कि बिलकुल अल्प प्राथमिक आवश्यकता असली पद्धति से पूरी करनी हो तब सारा

समय आत्मचिन्तन के पीछे ही व्यतीत होता है। तो भी उस की आदत हो जाने से उस के विषय में बहुत ध्यान देना नही पडता। जिस प्रकार हाथ में माला फिरती रहती है उसी प्रकार दिन का कार्यक्रम चक्रगति से होता रहता है और ईश्वर-चिन्तन के लिए मन अखण्ड रूप से आज़ाद रहता है।

गृहस्थाश्रम को दोषरहित करने का चाहे जितना प्रयत्न किया जाये, उस में कदम-कदम पर पाप दिखाई देता है। प्राचीन काल में अधिकतर लोग मासाहार करते थे। परन्तु मासाहार करते समय उन्हें ऐसा भी लगता था कि वे पाप कर रहे हैं। इस पाप से बचने के लिए उन की स्वाभाविक रूप से वानप्रस्थाश्रम की ओर रुचि होती थी। गृहस्थाश्रम में दास-दासियो की सेवा ले कर मनुष्य आराम में फँस जाता है। परन्तु बीच-बीच में उसे यह एहसास भी होता रहता था कि इस प्रक्रिया मे भी वह कुछ पाप कर रहा है। मन की इसी अकुलाहट को दूर करने के लिए वानप्रस्थाश्रम के लिए स्वावलम्बन का आग्रह रखा गया है।

सभी सुधारो का आधार खेती पर निर्भर है। खेती के कारण अनाज तथा अन्य वस्तुओ का सग्रह बहुत होने लगा। अनाज के दो-तीन वर्ष तक न बिगडने के कारण जीवन में कुछ सुरक्षा आयी। ज़मीन जोतने और खाद डालने की तदबीरो की खोज करने के बाद बस्ती को स्थायी बनाना सम्भव हो सका। इस के कारण गाँव और शहर वसे। ऐसे अनेक सुधार गिनाये जा सकते हैं। परन्तु खेती के लिए पशुओ को पकड कर उन्हें गुलाम बना कर उन से मार-मार कर काम लेने में पाप-भावना की प्रतीति भी होती रही है। बैल के परिश्रम का हम जो कुछ खाते हैं वह अस्वर्ग्य है यह भावना लाख प्रयत्न करने पर भी न तो दूर होती थी और न दूर हो सकती है। ऋषि-मुनियो ने अपने हाथ से चाहे जैसे ज़मीन को खोद कर अथवा निवार जैसा हलका अनाज हाथ से बो कर उस पर अपना निर्वाह करना शुरू किया। स्त्रियो ने इस आदर्श की स्मृति को क़ायम रखने के लिए एक दिन ऋषि पचमी के पालन के लिए रखा। वानप्रस्थानो ने भी अपने सामने यही आदर्श रखा। चक्की, मूसल आदि के बजाय अनाज को पत्थर से कूट कर खाना अथवा दाँत मजबूत हो तो जैसा का तैसा चबा कर खाना वानप्रस्थाश्रम के लिए निश्चित हुआ।

अनाज और साधन-सम्पत्ति का सग्रह किये बिना सामर्थ्य नही बढता, प्रगति नही होती यह देख कर गृहस्थाश्रम अर्थात् समाज ने खेती कर के धनधान्य का सग्रह हो सके उतना बढाया। परन्तु सग्रह पापमूलक है ऐसा पहले से ही लगता था। प्राचीन काल में पूँजी के बढने पर बडे व्यापारी छोटे

व्यापारियो को जड़ से निकाल कर के सारा व्यापार अपने हाथ में लेने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार होनेवाले व्यापार के विस्तृत प्रसार को देख कर उन की ही आँखें चकाचौंव हो जाती थी। व्यापारियों के सामने बडे-बड़े राजा भी हतप्रभ से लगने लगे।

डभोई के पास में एक व्यापारी बडा मन्दिर बनवा रहा था। उस की भक्ति और कीर्ति के बारे में सुन कर एक राजा ने, यह सोचकर कि उस का भी कुछ योगदान होना चाहिए, व्यापारी के पास जाकर कहा, मन्दिर बनाने में मुझ से भी कुछ सहायता लीजिए। अपने राजा की प्रतिष्ठा रखनी ही है, ऐसा सोचकर उसने कहा, ठीक है मन्दिर के लिए पत्थर, चूना वग़ैरह सामान जिन गाडियो में आता है उन गाडियो के पहियो के लिए पूरा तेल पहुँचाने की जिम्मेदारी आप अपने सिर पर लीजिए। पहले तो राजा को लगा कि यह व्यापारी मेरी खिल्ली उड़ा रहा है, मुझे लज्जित करने का प्रयास कर रहा है। परन्तु बाद में उसे अनुभव हुआ कि इतनी जिम्मेदारी को पूरी तरह निवाहने में भी उसे वडी कठिनाइयो का सामना करना पडेगा। इस तरह वड़े व्यापारियो को अन्दर से लगता था कि हम जिस वडे पैमाने पर व्यापार कर रहे हैं, उस में समाजद्रोह रहा हुआ है। और वाद में वे व्रत लेते थे कि एक हजार गाडियो से अधिक गाड़ियो का उपयोग नही करना है। व्यापार में अमुक पूँजी से अधिक पूँजी नही रोकनी है। इस प्रकार एक हाथ में द्रव्य वल वढ न जाये, अधिक संग्रह न होने पाये ऐसा धार्मिक वृत्ति का आग्रह रहता था। सन्यासियो को अपने पास कुछ भी नहीं रखना चाहिए, सच्चा ब्राह्मण अयाचित वृत्ति से रहे वग़ैरह नियमो में यही धार्मिक आदर्श दृष्टिगोचर होता है। अशोक-जैसे सम्राट् का अर्थशास्त्र भी इसी वृत्ति का अनुसरण कर के वना था। वह कहता था कि 'अल्प भाण्डता साधु अल्प व्यय. साधु' वानप्रस्थो के लिए सूचना है कि अश्विनी नक्षत्र के होने पर पास में हो उतना निवार जैसा अनाज भी निकाल डालें। नये वर्ष में पुन. पहले से सारी सुविधा करें। इस से भी कठोरता से रहना हो तो सात महीने का सग्रह रखें अथवा तीन महीने का ही। इस प्रकार कठोर होते-होते अन्त में प्रतिदिन सन्ध्या होने पर जो कुछ पास हो वह सब दे कर साफ कर डाले। ऐसे वानप्रस्थ को सद्य प्रक्षालक नाम दिया गया है। इस शब्द का अर्थ प्रतिदिन परिग्रहण को धोने वाला होता है।

गरमी के दिनों में पंचाग्नि साधन करना, शीतकाल में गीले कपडे से रहना आदि तप के प्रकार देख कर के ऐसा लगता है कि वानप्रस्थ दशा में अपने शरीर से वैर लेना ही होता है। ऐसे दो उग्र तपो के वावजूद यदि शरीर बच जाये तो

वह संन्यास लेने के योग्य बनता है। कुछ असाध्यरोग हो जाने पर, केवल पानी और हवा पर ही रह कर देह छूट जाने के समय तक ईशान्य दिशा की ओर चलते रहने को भी कहा गया है। ईशान्य दिशा ही क्यो पसन्द की गयी इस का कारण ढूँढना चाहिए।

वृद्धावस्था मे जब हम से समाज की ठोस सेवा नही हो सकती है तब समाज पर बोझ रूप हो कर रहने में कुछ अर्थ नही है, ऐसा हरएक व्यक्ति को अहसास होना चाहिए। समाज ऐसे वृद्धो का कृतज्ञतापूर्वक पालन करे यह समाज का धर्म है। वृद्ध नौकरो को आजकल पेंशन मिलती है। वृद्ध नागरिको को आजकल 'ओल्ड एज पेंशन' देने की प्रथा शुरू हुई है। हमारे यहाँ तो मर जाने के बाद भी श्राद्ध के द्वारा पिण्डप्रदान मिलता रहता है। धर्मकारो ने एक ओर से ऐसा कृतज्ञता धर्म चलाया है तो दूसरी ओर से समाज के ऊपर का अपना भार हो सके तो अपने जीते-जी ही निकाल डालने का धर्म वृद्धो को सूचित किया है। दान देना परम धर्म है। ऐसा एक ओर से सूचित करके दूसरी ओर से कहा है कि दान लेने से पुण्यक्षय होता है, सत्त्वहानि होती है, उस का वध होता है। इस दूसरे उपदेश से ही समाजधर्म सम्पूर्ण बनता है।

वानप्रस्थ में गृहस्थ के सब उपभोग छोड देने होते हैं। परन्तु केवल अग्निहोत्र जैसा कर्मकाण्ड प्रबलता से चालू रखना होता है। बाद में शरीर के बिलकुल थक जाने पर वेदान्त का स्मरण करके सब यज्ञो को अपने आप में ही समर्पण करना होता है।

स्त्री को साथ में रख कर वन में रहते समय दोनो को ब्रह्मचर्यपूर्वक ही रहना होता है। परन्तु भूल हो जाने पर और बालक पैदा हो जाने पर ऐसे बालक को चंडाल समझना चाहिए ऐसा स्मृतियो ने कह डाला है। महाभारत का पाण्डु और कुन्ती माद्री का वानप्रस्थाश्रम और दूसरी ओर से विदुर का वानप्रस्थाश्रम ये दोनो चिन्तन करने योग्य विषय हैं।

आज यदि पुन वानप्रस्थाश्रम चालू करना है तो ऊपर वर्णित आदर्श फिर से देख लेना चाहिए। मृत्यु तक घर, रोजगार और धन-सम्पत्ति से चिपके रहना लज्जाजनक है। पुत्र-पौत्रो को उन की उम्मीद के और पराक्रमो के दिनो में सब प्रकार की स्वतन्त्रता और छूट देनी चाहिए। वकील, डॉक्टर, सरकारी नौकर वगैरह यदि समय पर अपने-अपने धन्धे से निवृत्त नही होते हैं तो वे अपने पीछे आने वाले युवको को काँटे की तरह चुभने लगते है। जो कोई होते हैं वे सब उन का बुरा चाहने वाले हो जाते हैं। धर्म बुद्धि से रखा जाने वाला अधिकार का आग्रह वृद्धावस्था में भी नही रखना चाहिए। नही तो मुक्ति सेना

के सेनापति की जो दशा हुई वही दशा वृद्धो की भी होती है। वस्तुत. अधिकार का आग्रह कदापि नही होना चाहिए।

ज़रा ग़ौर से देखें तो वानप्रस्थाश्रम याने कुछ अंशो में निजी जीवन को समेट कर सार्वजनिक सेवा करने का समय होता है। मनुष्य के लिए वीस-पच्चीस वर्ष के आस-पास लग्न करना ठीक है, वीस वर्ष के पहले करना खराव है। पैंतीस के वाद करना भी ठीक नही है। अपनी शक्ति क्षीण हो उस के पहले ही वडा पुत्र घर मे कर्ता पुरुप हो जाय और घर का काम-धन्धा अपना करके कुटुम्व का वोझ उठाने के लिए समर्थ हो जाय, इस तरह से मनुष्य को व्याह करना चाहिए। व्याह करने के वाद मनुष्य गृहस्थाश्रम के सुख का उपभोग अधिक-से-अधिक पन्द्रह वर्ष तक करे। इस वीच में जो कुछ धन-सचय करना हो, इज्ज़त वढाना हो, सगे-सम्वन्वियो और मित्रो का कल्याण करना हो तो वह सव कर लेना चाहिए। और सारी शक्तियाँ जव पूरे जोश में हो तभी वानप्रस्थ स्वीकार कर लेना चाहिए। स्मृतियो में कहा है कि पौत्र हो जाने पर मनुष्य घर छोड़ दे। यह नियम एक दृष्टि से वहुत अच्छा है। यदि सोलहवें या सत्रहवें वर्ष में लडके का जन्म हुआ हो और लडका भी पिता की तरह व्याह कर लेने की शीघ्रता करे तो ऐसा समय आ सकता है कि पैंतीस वर्ष के अन्दर ही घर छोड़ने का अल्टिमेटम मिल जाय।

रसिकता की दृष्टि से भी विचार करने पर गृहस्थाश्रम के सुख का पन्द्रह वर्ष तक उपभोग किया जाय तो काफ़ी हुआ। शरीर विलकुल निर्वीर्य हो जाय, तव तक विषय के पीछे ही लगे रहना विषय को हास्यास्पद कर देने के समान है। आवुनिक शास्त्रज्ञो का ऐसा मत है कि वालक को माता के पास से जो शिक्षा प्रास करनी होती है वह शिक्षा वरावर प्रास हो इस के लिए यह आवश्यक है कि माता में यौवन का अश रहे। वृद्ध माताएँ अपने वालको को सर्वांगी सस्कार नहीं दे सकतीं।

यहाँ रूसो के एक विचार का स्मरण आता है। कोई एक आदमी विद्वान् हो इसी लिए उसे सिखाने का काम नही सौंपना चाहिए। विद्वान् तरुण को पहले समाज सेवा में लग कर राजकीय, सामाजिक, धार्मिक वग़ैरह क्षेत्रो में अपना पराक्रम प्रकट कर प्रजा का विश्वास प्रास करने के वाद ही उसे अध्यापन के कार्य में लगना चाहिए। जिसने समाज की सेवा उत्तम रीति से की हो उसे उस सेवा के इनाम के रूप में अध्यापन का काम सौंपा जाय।

इस से उलटी रीति से विचार करने पर यह भी समझ में आना चाहिए कि शिक्षा भी एक समाज-सेवा है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि वालकों और

युवकों को वृद्ध शिक्षक देना इष्ट नही है। सर्वांगी शिक्षा उत्साही शिक्षक के पास से ही प्राप्त हो सकती है। कुछ शिक्षक अवस्था मे वृद्ध होने पर भी उत्साह में युवक हों—यह बात अलग है।

इस लिए वानप्रस्थ की कल्पना बिलकुल बदल डालनी चाहिए। निजी जीवन को संकुचित कर के पुत्रोत्पत्ति और धनोत्पत्ति इन दो व्यवसायो को छोड कर, कुटुम्ब सेवा के संकुचित क्षेत्र में से बाहर निकल कर समाज-सेवा के लिए अपना जीवन अर्पण करना ऐसा नया अर्थ कर के अब नया आदर्श बनाना चाहिए, तथा बाद में जब प्रत्यक्ष कार्य करने का उत्साह न रहे, तटस्थ रूप से रह कर केवल सलाह देने जितनी ही योग्यता बाकी रह जाय तब सन्यास आश्रम की शुरूआत होती है ऐसा मानना चाहिए। सन्यास-आश्रम में पूर्ण निराग्रही वृत्ति, सब के कल्याण की दृष्टि से नि स्पृह रूप से सलाह देने की शक्ति और भविष्य काल को पहचान कर प्राचीन का आग्रह कहाँ छोड देना इसे समझने की दृष्टि ये तीन वस्तुएँ अत्यन्त आवश्यक हैं।

अहिंसा प्रधान हिन्दूधर्म मे सर्वभूतानुकम्पा, अद्रोह, मैत्री और समानभाव इनका महत्त्व सब से अधिक है। परन्तु हमारा जीवन सब ओर से हिंसामूलक है इस लिए यह हिंसा किस प्रकार कम करते जाना इसी का हिन्दू धर्म में अखण्ड प्रयत्न किया गया है। क्षत्रियों को हिंसा करनी ही पडती है, इस लिए कुछ नही तो केवल ब्राह्मणो को हिंसा से मुक्त रखा जाय ऐसा प्रयत्न हुआ और समाज-धर्म के बाह्य-बन्धनो से अधिक-से-अधिक मुक्त वानप्रस्थ और संन्यासी तो पूर्ण रूप से अहिंसक रहें, निर्वैर हो, निष्पक्ष रहें ऐसा आग्रह सर्वत्र रखा गया। विषय-लोलुपो को मार डालना, जीवन को कठोर बनाना और सब प्रकार का द्रोह छोड देना वानप्रस्थो का मुख्य धर्म है। इस आश्रम में परम्परावलम्बन को छोड कर स्वावलम्बन को स्वीकार करने की ओर स्वाभाविक रूप से विशेष महत्त्व है।

ब्रह्मचारी, गृहस्थाश्रमी, वानप्रस्थ, सन्यासी, यति, शिकार शौकीन राजा, विवाहेच्छु, तरुण, व्यापार के लिए जगलो में सफर करने वाला वैश्य वगैरह लोगो के सम्बन्ध में अपने धर्मशास्त्रो ने जो नियम बनाये हैं उन के एक वृत्ति देख कर मन को ग्लानि हुए बिना नही रहती। जीव की रक्षा करना, सकट से दूर रहना, आश्रय ढूँढना ऐसी सीखें अनेक जगहो पर हमारी नजरो में आती हैं।

ब्रह्मचारी को कहा है कि वह वृक्ष पर न चढे, जलाशय में न तैरे। धर्म-शास्त्र में पिता को ऐसा भी कहा है कि जो वीर हो उसे अपनी पुत्री न दे। बलवान आदमी मिल जाय तो झूठ बोलने में पाप नही है। कठिन काल में

धर्मान्तर करने पर भी हमारे धर्मशास्त्र आप पर क्रोधित नही होते हैं। वानप्रस्थो के लिए सब प्रकार की नाजुकता और कोमलता छोड़ कर के व्रतों का पालन करने के लिए आवश्यक कठोरता का विकास करना होता है। और इसी लिए उसे वन में जा कर रहना पडता है। परन्तु स्मृतियाँ कुछ धीमी आवाज़ से कहती हैं कि अब कलियुग आ गया है, जंगलो में म्लेच्छ लोगों से मुठभेड़ होती है, राजा लोग हमारी रक्षा नही कर सकते इस लिए गाँव के आसपास किसी बगीचे को जंगल मान कर वहाँ आराम से रहना चाहिए और अपने सगे-सम्बन्धियो से भिक्षा माँग लानी चाहिए।

संन्यासी तो निर्भयता की मूर्ति होता है। उसे तो धर्म प्रचार के लिए सर्वत्र अकुतोभय हो कर विचरना चाहिए। थोमस पेन ने कहा है कि 'जहाँ स्वाधीनता नही है वहीं मेरा स्वदेश है। 'माई होम इज ह्वेअॅर लिबर्टी इज नॉट।' सन्यासी की वृत्ति इस प्रकार की होनी चाहिए। सन्यासी अर्थात् पाप, अनाचार, आलस, प्रजापीडन, अनास्था वग़ैरह मानव शत्रुओं के सामने अपने देह की चिन्ता रखे बिना लडने वाला योद्धा। ऐसे व्यक्ति को स्मृति नसीहत देती है कि जहाँ के लोग नास्तिक हैं, नगे हैं, भिक्षा देते नही हैं ऐसे देश में नही रहना—अरे वहाँ जाना तक नही चाहिए। जहाँ युद्ध होता हो, मारपीट होती हो, अकाल पडा हुआ हो वहाँ से संन्यासी को पहले से चार कदम दूर रहना चाहिए। इस प्रकार की बुद्धिमानी सिखाने के लिए शास्त्र की क्या आवश्यकता थी ?

राजा को शिकार के लिए जाने का सच्चा अर्थ ग्राम्य पशुओ से प्रजा की और उस की खेती की रक्षा करना था। परन्तु स्मृतियो का शुद्ध सयानापन राजा को सिखाता है कि शिकार के लिए जाओ तो जहाँ रथ उछल न जाय ऐसी सपाट जमीन देख कर या न हो तो वैसी बनवा कर मधुर मृगया व्यायाम करना चाहिए। लड़के न हों तो युद्ध में नही जाना, इस तरह की कितनी ही बाते लिख रखी हैं, प्राण देने की चिन्ता कर के उसे छोड कर चलने का जो परम धर्म था उस का इस प्रकार की शिक्षाओ से लोप हो गया।

(मई १९५४)

ब्रह्मचर्याश्रम की बुनियाद—संयम और अनुभव समृद्धि

आज के रसिक लोग मानते है कि रसिकता और कल्पना-वैभव के विकास के लिए जीवन में भोग-विलास की आवश्यकता है। मनुष्य जितना अनुभव-समृद्ध होगा उतना ही उस का जीवन-साक्षात्कार गहरा और बुलन्द होगा।

लेकिन वे भूलते हैं कि हरएक अनुभव अपनी कीमत ले लेता है। अनुभव में भी निष्ठा के बिना गहराई नही आती।

इन्द्रियतृप्ति का अनुभव बढाया तो आत्मशक्ति के विशाल अनन्त क्षेत्र में उड्डयन करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। इन्द्रियतृप्ति में जीवनतृप्ति नही आती। जीवन सकुचित हो जाता है और इन्द्रियो की शक्ति भी सूक्ष्म और तेज होने के बजाय भोथरी और बधिर हो जाती है।

सयम भी एक पुरुषार्थ है। और गहरा अनुभव है। कोई चीज़ आँख पर लगाने से उसे हम नही देख सकते। कुछ दूरी पर रखने से ही चीज को हम अच्छी तरह देख सकते हैं। शुद्ध दर्शन के लिए और दर्शनानन्द के लिए दृश्य वस्तु को न अति दूर रख सकते हैं न अति निकट। वस्तु का स्वरूप पूर्णरूप से समझने के लिए चीज़ को नज़दीक लाना ज़रूरी नही है। आँखो की दर्शनशक्ति बढानी चाहिए।

संयम अनुभव का शत्रु नही है। योग्य मात्रा में, वैज्ञानिक ढंग से सयम का पालन करने से ही अनुभव, उन्नतिकर और कारगर अनुभव, उत्तम मात्रा में मिल सकता है।

उपनिषत्काल के सयमधन ऋषिमुनि जीवन-विमुख नही थे। उन्होने जीवन का गहरा चिन्तन भी किया था और आवश्यकतानुसार जीवन के विविध प्रयोग भी।

विलासिता मे डूब जाने वाले लोग प्रयोगवीर नही होते। विलासी मनुष्य में लम्पटता बढती है, और लम्पटता जडता का ही एक रूप है। कहते है कि पश्चिम में जो लोग तरह-तरह की पुरानी-नयी शराबो का सग्रह करते हैं और मद्यरसिको से मनमाना दाम ले कर उन्हें बेचते है, अपने पास बडे-बडे दाम दे कर शराब-रसिक विशेषज्ञो को रखते हैं, जो अँधेरे मे भी शराब की एक बूँद चख कर कह सकते हैं कि शराब कौन-सी है, कितनी पुरानी है, उस में मिश्रण

है या नहीं इत्यादि। शराब का रहस्य जानने वाले ये विज्ञ शराब के आदी नहीं होते। वे कहते हैं—नित्य शराब पीने से स्वाद पहचानने की हमारी रसनेन्द्रिय शक्ति नष्ट हो जाती है। संयम के द्वारा ही हम इतने अनुभवसमर्थ रह सकते हैं। इन की बात ठीक है। संयम के बिना जीवनानुभव नहीं हो सकता। और सामर्थ्य के बिना समृद्धि कैसे हासिल हो सकती है?

अपनी सारी हालापरायण कविता लिखने वाले कवि उमर-ख़य्याम के बारे में कहा जाता है कि सारी ज़िन्दगी में उस ने शराब की एक बूँद भी नहीं चखी थी।

अच्छे से अच्छे इत्र की पहचान वे नहीं कर सकते जो अपने कपड़े पर, अपनी कलाई पर और अपने कान में इत्र लगा कर चलते हैं। नाक सुगन्ध से भर जाने पर सुगन्ध की सूक्ष्म मात्रा पहचानने की और उस का आनन्द लूटने की मनुष्य की शक्ति भी भोथरी हो जाती है।

संयम का सच्चा अर्थ, उस का शुद्धस्वरूप, उस की शक्ति और उस के विनियोग के बारे में मनुष्यजाति ने पूरा सोचा नहीं दीख पड़ता। नहीं तो संयम के ऊपर बड़े-बड़े वैज्ञानिक ग्रन्थ लिखे जाते।

नैसर्गिक उपचार का शास्त्र जैसे-जैसे बढ़ रहा है, उपवास के क्षेत्र में अनेक प्रयोग हो रहे हैं और अलग-अलग रोगों में, भिन्न-भिन्न हालत में उपवास कितने, कैसे और किस ख़ूबी से करने चाहिए उस के भी प्रयोग और नियम बनने लगे हैं। संयम को भी एक विज्ञान बनाने के दिन आये हैं।

अगर एक क्षेत्र में मनुष्य अपनी पूरी शक्ति बढ़ाना चाहता है तो दूसरे क्षेत्र में उसे लेशमात्र अनुभव नहीं लेना चाहिए।

जिस-किसी को सत्यवादिता की पूर्ण सिद्धि हासिल करनी है वह नहीं कह सकता कि झूठ बोलने से क्या-क्या होता है इस का अनुभव करने के लिए थोड़ी मात्रा में मैं झूठ बोल कर देखूँ। महाभारतकार कहते हैं—लाचार हो कर, केवल कल्याण के हेतु एक क्षण के लिए भी आप सत्य से गिर गये, सत्य का रास्ता आप ने एक सूतभर भी छोड़ दिया तो आप का रथ नीचे उतर आयेगा आप की सत्यसिद्धि नष्ट होगी। (सत्यसिद्धि के बारे में योगशास्त्र कहता है—सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। जिस ने सत्य की सिद्धि प्राप्त की है, उस के काम और वचन निष्फल नहीं होते हैं। इसे वाचासिद्धि भी कहते हैं।)

गरज़ यह है कि मनुष्य झूठ बोलने का अनुभव भी करे और वाचासिद्धि की अपेक्षा भी करे यह हो नहीं सकता। कामोपभोग का जिस ने अनुभव पसन्द किया उसे ब्रह्मचर्य के लाभों से वंचित रहना ही पड़ता है। इस लिए उन्नति के

लिए, जीवन की सार्थकता के लिए क्या आवश्यक है इस का पूरा विचार कर के उसी सार वस्तु का अनुशीलन मनुष्य करे और नि.सार वस्तु के लोभ में न फँसे, यही है सयम का रहस्य।

और सयम के साथ सप्रमाणता का (प्रमाण सँभालने का) तत्त्व आ ही जाता है। चन्द बातो में अतिरेक हो ही नही सकता—जैसे सत्यपालन में। लेकिन दूसरी ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जिस में प्रमाण छोडने पर सद्गुण भी दुर्गुण बन जाता है। अतिदानात् बलिर्बद्ध.। बलि, कर्ण और हरिश्चन्द्र जैसे दानशूरो ने पारमिता प्राप्त की, वे पारंगत हुए, लेकिन प्रमाण सँभालने का मध्यममार्ग भूल गये। सयम में मध्यममार्ग की निष्ठा आ ही जाती है। उस की प्रधानता होती है।

हर चीज़ का विकास इष्टतम मात्रा में हो, हर चीज़ का निग्रह भी इष्टमात्रा में हो यही है सयम का प्रधान लक्षण।

सयम के द्वारा ही मनुष्य की अनुभवशक्ति बढ़ती है, हर तरह का सामर्थ्य बढता है। सार-असार का भेद समझने की सूक्ष्म-बुद्धि बढती है और मनुष्य जीवन-साफल्य तक पहुँचता है। सयम में ही जीवन-साफल्य की पराकाष्ठा है।

(१ दिसम्बर १९६०)

गृहस्थाश्रम का आदर्श

प्रकृति माता ने स्त्री-पुरुप का, नर-मादा का परस्पर सार्वभौम आकर्षण इस लिए रखा है कि सन्तति का सृष्टिक्रम अविच्छिन्न चले और परमात्मा की सृष्टि-उत्पत्ति का क्षण-क्षण नया चिन्तन करना न पडे। इसी आकर्षण के अनुसार स्त्री-पुरुष एकत्र आते हैं, प्रजा को जन्म देते हैं और अपने सम्बन्ध को कृतार्थ करते है।

यह हो गयी प्रकृति की रचना। इस में अध्यात्म को पहचानने वाले मनुष्य ने अपनी ओर से चन्द पवित्र तत्त्व डालकर प्रकृति को संस्कृति का रूप दिया, जिसे हम विवाहसस्था कहते हैं। प्रकृति के घर में जो केवल लैंगिक आकर्षण था उसे प्रेम, सयम, निष्ठा, स्वात्मार्पण और सेवा के द्वारा मनुष्य ने आध्यात्मिक रूप दे दिया और जो चीज़ केवल शारीरिक सुख की थी उसे आध्यात्मिक अद्वैतानन्द तक पहुँचा दिया और सुख-दु खात्मक जीवन को परम आह्लाद का स्रोत वनाया।

विवाह के मानी हैं परस्पर, अनन्य और चिरन्तन निष्ठा। पति-पत्नी ने एक

दूसरे को स्वीकार किया, इस में प्राप्ति का तत्त्व नही, किन्तु आत्मार्पण का तत्त्व है। जिस तरह पत्नी अपने को अर्पण करते समय स्वीकार करती है कि सुख लेने के लिए नही, किन्तु देने के लिए ही उस का जीवन है, उसी तरह पति को भी मानना चाहिए कि उस ने भी अपने को अर्पण किया है और सुख देने का, सेवा करने का और निष्ठा को मजबूत रखने का धर्म स्वीकार किया है।

इस तरह जब दो जीव एक पवित्र संकल्प के साथ विवाह-ग्रन्थि में बद्ध होते हैं तब दोनो में परस्पर प्रेम के अलावा परस्पर आदर भी उत्पन्न होता है। और उसे सँभालना दोनो का कर्तव्य होता है। जब इस तरह दो व्यक्ति एक हो गये तब उन के लिए एक नया सम्मिलित कर्तव्य उत्पन्न होता है। पति और पत्नी एक-दूसरे के माता-पिता के प्रति और अन्य कुटुम्बियो के प्रति आत्मीयता का विकास करें, ताकि दोनो कुटुम्बो के लोग भी स्वजन बन जायें। इस के बाद जब विवाह के आशीर्वाद के रूप उन की सन्तान इस दुनिया में प्रवेश करती है तब पति-पत्नी माता-पिता बन कर अपना सह-जीवन अपनी सन्तान के कल्याण के लिए अर्पण करते हैं।

विवाह के प्रारम्भिक रूप के लिए भर्तृहरि ने सुन्दर आदर्श दिया है—

एतत् काम-फल लोके यद् द्वयो एकचित्तता।

पति-पत्नी के प्रेम से दोनो के चित्त और हृदय बिलकुल एक हो जाये, यही दाम्पत्यसुख का उत्तम फल है।

जब यह दाम्पत्य-सम्बन्ध सन्तान के रूप में दृढ होता है, तब भवभूति कहते हैं—

"सन्तान ही स्नेह की पराकाष्ठा है और माता-पिता के लिए चित्त का अनुबन्धन है। पति और पत्नी के अन्त करण को जब प्रेम का आश्रय मिलता है, तब उन की एक सुन्दर आनन्दग्रन्थि बनती है, जिस को हम अपत्य कहते हैं।

अन्त.करणतत्त्वस्य दम्पत्यो स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽय 'अपत्यं' इति बध्यते ॥

लोग कहते हैं कि पुत्रोत्पत्ति के द्वारा ही गृहस्थाश्रम का उद्धार होता है; और पति-पत्नी को उत्तम लोक प्राप्त होते हैं।

यहाँ उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—

पुत्रं अनुशिष्टं लोक्य आहु। (बृ० १-५-१७)

पुत्र को जब शिक्षण के द्वारा अच्छे संस्कार दिये जाते हैं और उस का जीवन सुवासित किया जाता है, तभी ऐसी सन्तान माता-पिता को उत्तम लोकों की प्राप्ति करा देते हैं, अन्यथा नही।

हमारा आदर्श केवल समानता का नही, एकता का है। पति-पत्नी में असमानता हो यह तो असह्य बात है। असमानता तो होनी ही नही चाहिए। लेकिन केवल समानता से हमें सन्तोष नही होता। पति-पत्नी एक-दूसरे में ऐसे ओत-प्रोत हो जायें कि दोनों का जीवन अभेद रूप हो जाय। ऐसा होने से बच्चो को सर्वोत्तम संस्कार मिलते हैं और कुलपरम्परा उज्ज्वल बनती है।

ऐसे सत्त्वसम्पन्न कुलो के द्वारा ही समाज की, देश की और दुनिया की उत्तम सेवा हो सकती है। विवाह-सम्बन्ध और गृहस्थाश्रम पवित्र इसी लिए माना गया है कि उस में संयम, परस्परार्पण, त्याग, निष्ठा और सेवा के आदर्श को प्रधानता दी है।

(३१ मार्च १९५९)

विवाह और ब्रह्मचर्य

मनुष्य के मन में या शरीर में विकार पैदा हो तो कोई आश्चर्य नही है। जिस शरीर का जन्म ही माता-पिता के विकार के कारण होता है, उस शरीर में विकारो का पैदा होना बिलकुल स्वाभाविक है। उन विकारो का पोषण करने के लिए पशु, पक्षी और तमाम प्राणी एकत्र आते है। मनुष्य भी वैसा कर सकता था। लेकिन उस में और पशु-पक्षियो के बीच बडा भारी फर्क है। प्राकृतिक प्रेरणा के अधीन होकर पशु-पक्षी नर-मादा एकत्र अवश्य होते हैं। लेकिन उस से उन के विकार बढते या घटते है, यह अब तक दिखाई नही दिया। मनुष्य के पास कल्पना-शक्ति है, फुरसत है और अन्न का सग्रह करने की क्षमता है इस लिए वह जैसे-जैसे विकारो का पोषण करता रहता है वैसे-वैसे यह विकार अमर्यादित सीमा तक बढ़ते हैं। और मनुष्य का भोग भी ले सकते हैं। मनुष्य के लिए सम्भव है कि वह इन विकारो पर अंकुश लगाकर धीरे-धीरे उन्हें दबा सके या उन का सुन्दर परिवर्तन कर के उच्च रूपान्तर भी कर सके।

विवाह सस्था केवल विकार-पोषण के लिए नही है। विकारो का पोषण करने के लिए किसी आदर्श, सस्था या साधना की आवश्यकता ही नही है।

प्राकृतिक विकारों में से निरपेक्ष प्रेम, अनन्य निष्ठा और सेवा के लिए स्वात्मार्पण जैसे उच्च परिणामो के लिए ही समाजहित-चिन्तको ने विवाह जैसी

सस्था की खोज की है। इसी लिए कहा गया है कि विवाह सस्था शुभ है, पवित्र है और उन्नतिकर है।

विकार पोषण की स्वाभाविक प्रवृत्ति यदि न हो तो मनुष्य को शादी करने का कोई अधिकार नही है, कोई कारण भी नही है। लेकिन विवाह के द्वारा विकारो को अवकाश देकर उन विकारो में से ही विकारो से कई गुने श्रेष्ठ ऐसे प्रेमतत्त्व की उत्पत्ति और विकास मनुष्य कर सकता है।

मनुष्य विवाहवद्ध होकर प्रतिज्ञा करता है कि जो कुछ भोग भोगना है वह विवाह मर्यादा में रह कर ही भोगेंगे। विवाह-वाह्य भोग सर्वथा त्याज्य मानेंगे।

विवाह के अन्दर भी कुछ संयम का पालन करना पड़ता है। एक दूसरे की तन्दुरुस्ती, इच्छा और प्रतिकूल संयोग में विकार पोषण की इच्छा को दवाने का आदर्श प्रेम के कारण ही सम्भव होता है। उस में दूरदर्शीपन भी है।

सम्भोग के कारण जो वच्चे होगे उन के पालन-पोषण का भी विचार मन में रखना पड़ता है। बच्चो के हित में वाधा डालें ऐसे भोग गृहस्थाश्रम के लिए योग्य नही हैं।

विवाह-जीवन के द्वारा ही कुटुम्ब-जीवन की उत्पत्ति होती है और उसी में से सामाजिक जीवन वनता है। इस लिए कौटुम्विक जीवन का हित और समाज का कल्याण, इन दो महान् और सनातन आदर्शों का स्वीकार कर के उन की मर्यादा भी विवाह वन्धन में आ जाती है।

इन मर्यादाओ से जितना आगे का विचार करना पडता है उतना ही पीछे का भी सोचना पड़ता है। अपत्यसेवा के साथ वृद्धो की सेवा भी विवाह-धर्म में आ जाती है। वुजुर्गों के सम्पर्क से संयम सुलभ होता है। उन की सेवा में कुल-परम्परा के अनेक सद्गुणो की भी दीक्षा मिलती है। और परम्परा का पालन करने से संस्कृति मजवूत और समृद्ध वनती है।

पति-पत्नी को एक दूसरे में समा जाना चाहिए यह आदर्श, विवाह-संस्था रखती है। किन्तु एक दूसरे में ओत-प्रोत होना सर्वोच्च आदर्श नही है। क्योंकि एक दूसरे में ओत-प्रोत होने पर भी और एक दूसरे के लिए हर तरह का स्वार्थ त्याग करने पर भी दम्पति में 'हम दो' की स्वार्थवृत्ति वढ सकती है। इसलिए एक दूसरे में ओत-प्रोत हो कर भी वह जीवन वुजुर्गों की सेवा में, अपत्यो की सेवा में, समाज के हित में अर्पण करने का आदर्श विवाह-सस्था में रखा गया है।

इस आदर्श की वजह से सम्भोग मर्यादा में रहता है। और इस मर्यादा के कारण ही जीवन की उत्कटता और परस्पर निष्ठा पैदा होती है। आरोग्य अच्छा

रहता है, बालसंगोपन में मदद मिलती है और समाज-सेवा में कम बाधाएँ आती हैं।

इस तरह जो चीज़ प्राकृतिक है उस पर प्रेम, निष्ठा, समाजसेवा और धार्मिकता के पुट चढा कर उस को कमोवेश दिव्य बनाया गया है। उस की खुशबू भिन्न-भिन्न समय में समाज में फैलती ही है, इतना ही नही उस की स्मृति भी पुश्त दर पुश्त फैल कर आशीर्वाद रूप बनती है। अकेले रामचन्द्रजी का जीवन कई कवियो को प्रेरणा दे सका और हर ज़माने में असख्य लोगो को एक आदर्श की दीक्षा देता रहा।

विवाह जीवन सम्भोग से उत्पन्न होते हुए भी और सम्भोग को मान्यता देते हुए भी, सम्भोग को उत्तेजन नही देता। लेकिन उस को धर्ममर्यादा में ला कर कल्याणकर, नियमित और ऊर्ध्वगामी बनाता है और अन्त में सम्पूर्ण सयम की ओर ले जा कर मनुष्य को आत्मौपम्य और विश्वात्मैक्य सिखाता है।

ब्रह्मचर्य का आदर्श भी उसी जीवन शिखर की ओर मनुष्य को ले जाता है। यदि यह आदर्श नज़र के सामने न हो तो ब्रह्मचर्य स्वार्थ का ही एक प्रकार माना जा सकता है। एक विषय विकार को छोड देंगे तो सब झझटो से बच जायेंगे, समाज की या किसी की टीका के पात्र बने बिना व्यक्तिगत स्वार्थ का उपभोग कर सकेंगे, यह आदर्श मन में रख कर अगर कोई ब्रह्मचारी रहे तो—भले उस में कोई विकृति या दोष पैदा न हो—तो भी वह धर्ममान्य आदर्श नही है। ब्रह्मचर्य एक भव्य आदर्श है, उस में से दिव्य जीवन निष्पन्न होना ही चाहिए।

जो विराट् है, भूमा है—बृहत्, बृहत्तर और बृहत्तम है उस को प्राप्त करने के लिए जो उच्च आचरण रचा गया है वही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के मानी है, ब्रह्मप्राप्ति के लिए आचरण या साधनामय जीवन।

ब्रह्मचर्य की भूमिका में ऐसा विचार या अनुभव है कि भोगवासना या कामविकार जैसे मनुष्य के लिए स्वाभाविक है उसी तरह उस पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करना भी मनुष्य के स्वभाव में ही रही हुई चीज़ है। प्रथम जिस उम्र में विकार दिखाई दें तब से ही, या उस के बाद जब से सूझे तब से ही दृढ सकल्प कर के विकारो पर विजय पाने की सीधी साधना ही क्यो न करें? ओत-प्रोत बनने के लिए विकारो की प्रेरणा ज़रूरी है, ऐसा नही है। इस प्रेरणा को मर्यादित उत्तेजन भी क्यो दे?

आदर्शविहीन ब्रह्मचर्य मे सिर्फ स्वार्थ समाया हुआ रहने का डर है। उसी तरह परस्पर निष्ठा से स्वीकृत विवाह बन्धन में भी कोई विशाल आदर्श सामने

न हो तो पति-पत्नी एक दूसरे में ओत-प्रोत होने पर भी समाज के प्रति कोई भी जिम्मेवारी न पहचानने तक का अन्धापन भी उन में आ सकता है। सन्तति-नियमन के द्वारा यह संकुचितता आसानी से सिद्ध हो सकती है। मनुष्य अगर सन्ततिनियमन न करे और प्रजोत्पत्ति होने दे और अपने सामने कोई आदर्श भी न रखे तो पति-पत्नी की परस्पर निष्ठा तक या उस के साथ अपत्यनिष्ठा तक आ कर आदमी रुक सकता है। आजकल की मानवजाति में, कई कुटुम्बीजनों में केवल इतनी ही तरक्की दिखाई देती है। ऐसे कुटुम्ब-निष्ठ लोग जिस जाति, जमात, समाज या राज्य के होते हैं उन के प्रति उन्हें कुछ निष्ठा स्वीकारनी या दिखानी पडती है। लेकिन हृदय का उतना विकास न होने के कारण महज स्वार्थ, सुरक्षा या सजा के डर से ही उन्हें उस निष्ठा को स्वीकारना पडता है, मंजूर करना पडता है। जो चीज हृदय तक पहुँची ही नही है, उस का हृदय में पैदा होना कैसे सम्भव है? लेकिन आज मानवजाति ने इतना समझ लिया है कि ऐसी व्यापक निष्ठा को मान्यता दिये विना अव चारा नही है।

अव निष्ठा एक ऐसी चीज है जो क्रमश. फैलती है, फैलनी चाहिए। उस में मोटापन या पतलापन आ जाता है। लेकिन उस की मर्यादा वँध जाना निष्ठा के अनुकूल नही है। व्यक्तिगत स्वार्थ, दाम्पत्य स्वार्थ, कौटुम्बिक स्वार्थ, जातिगत स्वार्थ, जमात का स्वार्थ, वर्ग का स्वार्थ और राष्ट्रीय स्वार्थ जैसी मर्यादाओं का उल्लंघन कर के निष्ठा जव बढती है तव आदमी भूमा (सर्व) के साथ ओत-प्रोत वनता है। और इस में विघ्न डालने वाले किसी भी वन्धन को स्वीकार करने के लिए वह तैयार नही होता। इस प्रकार का आदमी स्वार्थी वासनाओं को अ-सामाजिक वनने नही देता। वह विकारो पर विजय पाता है, सकुचित सगठन के अभिमान को तिलाजलि देता है और भूमा के साथ अपना ऐक्य अनुभव करने के लिए ब्रह्मचर्य के आदर्श को स्वीकारता है।

ऐसे आदर्श युक्त लोग अपने-आप को विवाह वन्धन में न वाँधें यह स्वाभाविक है। और विश्व के साथ का सेवा सम्वन्ध वे प्रसन्नता से स्वीकारते हैं। अपनी ब्रह्मचर्य वृत्ति दृढ वनाने के लिए साधनाकाल तक वे समाज से अलग रह सकते हैं, पर उन का समस्त जीवन सारे समाज में ओत-प्रोत और सेवा-परायण रहता है।

इस प्रकार का जीवन विताने वाले आदमी को, चूँकि वह खतरे में न फँसे इसलिए कुछ मर्यादाओं को स्वीकार करना पडता है। किसी भी स्त्री के साथ एकान्त में न रहना, अपनी कोई 'इस्टेट' न रखना, सेवा करते समय व्यक्ति, समूह या सस्था से ममत्व न वांधना, समष्टि के साथ के ऐक्य में जो बाधक हो

सकती हैं ऐसी ज़िम्मेवारियो से अलिप्त रहना आदि मर्यादाओ का स्वीकार करना पडता है। 'यह मर्यादाएँ मेरे लिए नही हैं' कह कर जो आदमी मुक्त होने का दावा करता है वह समाज की शका का पात्र बनता है और खुद को खतरे में डालता है।

गान्धीजी ने ब्रह्मचर्य की जो व्याख्या की है और जो आदर्श हमारे सामने रखा है वह, प्रथम मर्यादाओ को स्वीकार कर के आहिस्ता-आहिस्ता उन में से निकलने का है। उन्होने कई वार कहा है कि बाडो में फँसने वाला ब्रह्मचर्य का आदर्श मेरा आदर्श नही है। सेवामय सयमी जीवन विताते समय स्त्री-पुरुषो का जो स्वाभाविक सम्बन्ध उत्पन्न होता है, जो सहजीवन का विकास होता है उस को शुद्धता से और सुरक्षितता से सँभालने में ब्रह्मचारी को दिक्कत महसूस नही होनी चाहिए। और समाज को ऐसे प्रयोगो के योग्य परिस्थिति और अनुकूलता पैदा कर देनी चाहिए।

जिस प्रकार दो मित्र एक दूसरे के निकट आ कर एकत्र रह या जी सकते है, दो बहनें जिस प्रकार सहजीवन बिता सकती हैं उसी प्रकार एक स्त्री और एक पुरुष भी किसी प्रकार के विकारी सम्बन्ध के बिना एकत्र रह सकते है। यह चीज़ समाज को मान्य करनी चाहिए और उस दिशा में प्रयत्न होने चाहिए। लेकिन यह प्रयत्न समाज का विश्वास और आशीर्वाद प्राप्त कर के ही होने चाहिए।

कुटुम्ब में माँ-बेटा, पिता-बेटी, भाई-बहन या देवर-भाभी जिस प्रकार निर्मलता से रह सकते हैं, उसी प्रकार कौटुम्बिक सम्बन्ध के विना भी स्वाभाविक तौर से एकत्र आये हुए स्त्री-पुरुष भी किसी भी प्रकार के विकारो के विना एकत्र रह सकते है। इस आदर्श को समाज को मान्य करना ही चाहिए इतना ही नही बल्कि पल्लवित-पुष्पित भी करना चाहिए। इस डर से कि इस से अनिष्ट पैदा होगा, उस आदर्श का प्रयोग न करने देना मानवजाति के विकास में बाधा-रूप है।

स्व० किशोरलाल भाई जैसे एक चेतावनी जरूर देंगे। और आज की परिस्थिति में वह स्वीकारने योग्य है। वे कहते है कि एक स्त्री और एक पुरुष अगर मित्रता का ही जीवन बिताना चाहते हो तो उन लोगो का परस्पर सम्बन्ध ऐसा होना चाहिए कि वे निर्विकारिता सँभाल न सकें तो सामाजिक नियमो के अनुसार वे शादी करे। ऐसे प्रयोग करने देने में कोई हर्ज नही है।

पति-पत्नी परिणीत स्थिति में चाहें तो शुद्ध और सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं। उस में उन्हें सफलता न मिले और एकान्त में विकारो के वशीभूत

बन तो समाज की दृष्टि से कोई हानि नहीं है। गृहस्थ-जीवन को भी उस में कुछ हानिकारक नहीं है। इसी तरह स्पर का आदर्श भी होना चाहिए। फ़र्क इतना ही है कि प्रथम विकारवश होकर बाद में विवाहबद्ध होने की स्थिति न स्वीकार कर, विकारवश होंगे ऐसा महसूस होते ही प्रथम विवाहबद्ध हो जायें यही सामाजिक निर्मलता की दृष्टि से और मानवीय प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी अच्छा और योग्य है।

हमारे देश में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा लोगों के मन पर बैठाने के लिए उस की इतनी तारीफ़ की गयी है कि वह आदर्श है, उस से भी ज्यादा कठिन लगता है। और उस आदर्श तक पहुँचे हुए और उस का सफलतापूर्वक पालन करने वाले लोगों की प्रतिष्ठा इतनी ज्यादा बढ़ गयी है कि उस आदर्श तक पहुँचने का ढोंग करने का लालच कई लोगों में पैदा होता है, और समाज में दम्भ का पोषण होता है। जहाँ ऐसी असाधारण सामाजिक प्रतिष्ठा पैदा होती है वहाँ समाज का कुछ हिस्सा पूजा करता चाहता है और दूसरा हिस्सा ईर्ष्या करता है। इस से भी ब्रह्मचर्य का आदर्श बिना किसी कारण के मुश्किल बन गया है।

जाड़े के दिनों में कुछ लोग गरम पानी से नहाते हैं और कुछ ठंडे पानी से। बेशक ठंडे पानी से नहानेवाले लोग मुक़ाबले में ज्यादा सहनशील हैं। लेकिन उन को इसी वजह से लोकोत्तर या अवतारी पुरुष कोई नहीं कहता। और चुपके गरम पानी से नहा कर बाहर, मैं ठंडे पानी से स्नान करता हूँ, बता कर अपने को कोई बहादुर नहीं साबित करना चाहता; न ठंडे पानी से स्नान करने वालों की कोई उच्च अलग श्रेणी मानी जाती है। यही हालत अगर ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम के सम्बन्ध में हो तो समाज में ब्रह्मचर्य के आदर्श की तालीम देने में काफ़ी मदद मिलेगी।

ब्रह्मचर्य का पालन करते समय भी किसी को यह भूमिका नहीं लेनी चाहिए कि 'वह अति कष्ट साध्य है, फिर भी हम उस का पालन कर रहे हैं।' अति कष्ट से जिस का पालन होता है वह ब्रह्मचर्य आरोग्य की और आध्यात्मिक दृष्टि से कहाँ तक पोषक है इस बात की भी खोज होनी चाहिए। समाज को देखना चाहिए कि ऐसे अनधिकारी प्रयत्न भी समाज में न होने पायें और इसी लिए ब्रह्मचारियों को चाहे तब गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने की इजाज़त मिलनी चाहिए। मनुष्य का स्वभाव, परिस्थिति और आदर्श यदि अनुकूल हों और प्रयत्न की दृढ़ता भी हो तो विकास के लिए ब्रह्मचर्य अत्यन्त पोषक चीज़ है। ब्रह्मचर्य से शरीर सुदृढ़ बनता है। मानसिक शक्तियों का सुन्दर विकास होता है, सेवा के

द्वारा विश्वात्मैक्य साधने का आदर्श सुलभता से ग्रहण होता हैं और ऐसे जीवन की सुगन्ध असख्य लोगो को प्रेरणा देती है ।

गृहस्थाश्रम में से ही कुटुम्ब संस्था उत्पन्न होती है । और वही एक ऐसी संस्था है जिस की परम्परा सतत, अखण्ड और अटूट टिक सकती है । मगर इस के मानी ये नही हैं कि कुटुम्ब-सस्था का विघटन हो ही नही सकता । उस का विसर्जन भी करने का अधिकार मनुष्य को है । कायरता से उस का कोई विसर्जन करे तो वह कोई उत्तम काम नही गिना जायेगा । लेकिन कुटुम्ब में जब हर तरह की हीनता और विकृति पैदा होती हैं तब कुटुम्ब-संस्था का विसर्जन करना ज़रूरी होता हैं ।

प्राचीन काल में हम ने अविभक्त कुटुम्ब का आदर्श अपने सामने रखा था । उस के लिए जो परस्पर सहकार, आत्मीयता और उदारता आवश्यक थी वह जब तक कायम थी तब तक अविभक्त कुटुम्बो ने बडे पराक्रम करके दिखाये । इन आवश्यक सद्गुणों के अभाव से जब पुरुषार्थ क्षीण हुआ तब अविभक्त कुटुम्ब के आदर्श ने कुटुम्ब-संस्था को किसी न किसी तरह स्थिर बनाने के लिए भारी सहायता दी थी । लेकिन आगे चल कर जब यह दिखाई दिया कि कुटुम्ब वृत्ति के ही नष्ट होने के बाद अविभक्त कुटुम्ब को कायम करने के प्रयत्नो से नरक के जैसी परिस्थिति पैदा हुई है तब लोग ऊब गये और अविभक्त कुटुम्ब-पद्धति की ही टीका करने लगे और उसे करीब-करीब छोड ही दिया । इस से सामुदायिक जीवन निर्मल तो ज़रूर हुआ, लेकिन कुछ श्रेष्ठ सद्गुण भी उस के साथ क्षीण हो गये ।

अविभक्त कुटुम्ब पद्धति में एक ही व्यक्ति का आधिपत्य हो और बाकी लोगो को कुछ भी अधिकार न हो, ऐसी पुरानी रचना थी । यह दोष दूर किये बिना अब बडे कुटुम्बो की स्थापना नही हो सकती । लेकिन अब बडे कुटुम्ब स्थापित करने के बदले समाजसत्तावादी राज्यपद्धति अमल में लाने की तरफ मानव जाति बढ रही है । यह अच्छा ही है ऐसा कहना मुश्किल है । लेकिन आज की हालत में वह अपरिहार्य मालूम होता है । हालांकि नये आदर्श को लेकर सर्वसत्तात्मक सयुक्त कुटुम्ब पद्धति का पुनर्जीवन करना अधिक इष्ट है । और भिन्न-भिन्न व्यवसाय वाले अनेक कुटुम्बो का राजसत्ताविहीन कौटुम्बिक समाज स्थापित करने का प्रयोग करने योग्य अवश्य है ।

(मई १९६३)

आपद्धर्म या प्रधान धर्म

इन दिनो कई अमेरिकन मनीषियो से व्यावहारिक हिन्दू धर्म के बारे मे चर्चा होती रहती है। बडे चाव से सुनते हैं और मार्के के सवाल भी पूछते हैं। अभी-अभी चन्द लोगो ने एक सवाल पूछा, 'सन्तति-नियमन के बारे में हिन्दू धर्म की दृष्टि क्या है?'

मैं ने कहा, 'हम लोग इस सवाल को नैतिक दृष्टि से सोचते हैं। आप के रोम कैथलिक धर्मगुरु जिस 'धार्मिक' दृष्टि से इस बारे में निर्णय देते हैं, वैसा हमारा रुख नही है।

उपनिषदो को अगर हम अपने धर्मग्रन्थ कहें तो एक उपनिषत् के खिलकाण्ड मे (परिशिष्ट मे) जो नसीहत है उसे पढते कहना पडेगा कि हमारे ऋषि तत्त्वत सन्तति-नियमन के विरुद्ध नही थे। वहाँ बताया है कि पति-पत्नी अगर सन्तति की इच्छा करते हैं तो मिलन के समय अमुक ढग से प्राणायाम करे और अगर पति-पत्नी चाहें कि मिलन के फलस्वरूप सन्तति पैदा न हो तो दूसरे अमुक ढंग से प्राणायाम करें। यह जो तरीक़ा बताया है वह कारगर है या नही यह देखने का काम हमारा नही है। हमारे लिए इतना बस है कि उपनिषत् के ऋषि को सन्तति-नियमन का तत्त्व मान्य था। और वे उस के लिए अपने खयाल के अनुसार कुछ रास्ता भी बताने के लिए तैयार हुए थे।

मुझे इतना ही कहना है कि हिन्दू धर्म हमेशा जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि रखता आया है। खूबी इतनी ही है कि हमारा विज्ञान केवल भौतिक नही, किन्तु भौतिक के साथ-साथ अथवा भौतिक से अधिक आध्यात्मिक विज्ञान की दृष्टि से हमारे ऋषि सोचते थे और सलाह देते थे।

उन्होने देखा कि केवल जीना यही जीवन का उद्देश्य नही हो सकता। जीवन जीते कुछ शारीरिक और मानसिक सुख मिलता अवश्य है, लेकिन ऐसा सुख भी जीवन का अन्तिम उद्देश्य नही हो सकता। भौतिक सुख से भी बढ कर हार्दिक और आध्यात्मिक सुख है। उस के लिए जतन करते भौतिक सुख का सयम करना पड़े तो उस के लिए मन की तैयारी होनी चाहिए।

इतना सोचने के बाद उन्होंने क्या-क्या टालना है, उत्तम जीवन के लिए किस बात का सयम करना चाहिए, किन-किन बातो को प्रोत्साहन देना चाहिए,

यह तय किया और ऐसे आदर्शों को पुरुषार्थ का नाम दिया। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये हैं चार पुरुषार्थ। धर्म में खास दृष्टि रखी जाती है सामाजिक जीवन की। सामाजिक जीवन अगर सफल रहा तो व्यक्ति और कुटुम्ब ही नही, सारा मानव-वंश सुखी होगा। और परम उत्कर्ष तक पहुँच सकेगा। इस लिए सफल सामाजिक जीवन के लिए जिन-जिन सद्‌गुणो का विकास करना चाहिए और जिन-जिन वृत्तियो का संयम करना चाहिए उस का विस्तार कर के उसे नाम दिया धर्म और कहा कि मनुष्य को स्वच्छन्द नही बनना चाहिए। धर्मतन्त्र के अधीन रहना चाहिए। मनुष्यो में जो कामवासना है और अर्थप्राप्ति की लालसा है दोनो को धर्म के मातहत जीना चाहिए। तभी मनुष्य का परम कल्याण होगा।

इस लिए आप देखेंगे कि कामवासना कुदरती है इस लिए जीवन में उसे पूर्ण अवकाश मिलना ही चाहिए ऐसी अवैज्ञानिक दृष्टि हिन्दू धर्म की नही है। काम की प्रेरणा कुदरत ने इतनी जबरदस्त रखी है, इस लिए कि प्रजातन्तु का व्यवच्छेद न हो, नाश न हो। लेकिन साथ यह भी वचन है—

एतत् कामफल लोके यद् द्वयो. एकचित्तता।

दो व्यक्तियो में अधिक से अधिक एकचित्तता उत्पन्न करने के लिए ही विवाह-सम्बन्ध की कल्पना की है। गृहस्थ धर्म, दाम्पत्यधर्म इस लिए पवित्र है। उस में दो जीवो का मिलन समाज के उत्कर्ष के लिए है। सम्भोग और सयम, भोग और त्याग दोनो का समन्वय उस में है।

इस लिए वृत्ति के सयम को ही प्रधानता दी गयी है। जो लोग संयम का महत्त्व नही समझते वे भी पति-पत्नी के बीच परस्पर निष्ठा की अपेक्षा तो रखते ही हैं। इस परस्पर निष्ठा की उत्कटता सयम के बिना सिद्ध नही होती। विवाह सम्बन्ध में सेक्सलाईफ और लवलाईफ—यौन-सम्बन्ध और प्रेम-सम्बन्ध—दोनों का एकत्र खयाल किया होता है। और प्रेम सम्बन्ध को उत्कट बनाने की ओर पूरा झुकाव रखा है। यौन-सम्बन्ध को गौण बनाना, प्रेम-सम्बन्ध को सर्वोपरि मानना और दोनो को धर्म की मर्यादा में रखना यही है मानवता का तकाज़ा और यही है मानवता का उत्कर्ष। इस आदर्श तक समाज को ले जाना और अन्त में हर तरह की दासता दूर कर के जीवन को कृतार्थ करना यही है—मोक्ष का आदर्श। धर्म की प्रधानता न रही तो मोक्ष असम्भव है। (यहाँ धर्म के मानी हिन्दू, यहूदी, मुस्लिम, ईसाई इत्यादि सम्प्रदाय नही, किन्तु इन सब धर्मों को धर्म बनाने वाला जो परम धर्म है, जो शुद्ध धार्मिकता है उसी से मतलब है।)

गीता में कहा है—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।' जो काम धर्म का द्रोह नही करता वही विभूति का स्थान प्राप्त कर सकता है ।

जहाँ मनुष्य प्रधान धर्म का, उत्तम धर्म का पालन करने में समर्थ नही है, वहाँ उस के लिए, उस के स्वभाव और परिस्थिति के अनुरूप आपद्धर्म बताया जाता है । हिन्दूधर्म में आपद्धर्म के लिए अवकाश है । लेकिन साथ-साथ यह भी कहा है कि जो व्यक्ति प्रधान धर्म के पालने के लिए समर्थ होते हुए भी आपद्धर्म का आश्रय लेता है उस का जीवन निष्फल होता है और उसे धर्मपालन का समाधान नही मिल सकता ।

आजकल की सन्तति-नियमन की प्रवृत्ति आपद्धम को प्रधान धर्म का स्थान देती है, यही है उस की सब से बडी कमजोरी । प्रेमधर्म और समाजधर्म की कसौटी पर जो खरा उतरे, वही है उत्तम धर्म । दुर्बलता के कारण जहाँ कुछ गौण रास्ता ढूँढा जाता है वह है आपद्धर्म । प्रेमधर्म और समाज-धर्म का जिस में द्रोह है वह है अधर्म ।

(२४ फरवरी १९५९)

त्याग और संयम

नये, पुराने सभी तत्त्वज्ञ कहते हैं कि त्याग और सयम ये दो तत्त्व मानव-सस्कृति की बुनियाद हैं । लेकिन जब किसी समाज को त्याग और सयम का स्वीकार करने की सूचना की जाती है तब लोग कहने लगते हैं कि हम कोई साधु-महात्मा नही हैं, हमें समाज में रहना है । ईमानदारी से रह कर ऐहिक सुखो का उप-भोग लेना है । हमें सन्यासी के समान अरसिक नही रहना है ।

अब चन्द लोग यह भी कहने लगे हैं कि स्वर्ग-नरक हम कुछ नही जानते । इस दुनिया में ही जो कुछ स्वर्ग या नरक अनुभव करेंगे वही हमारे लिए सही है । और मृत्यु के बाद अगर स्वर्ग-नरक होंगे ही तो वह नरक टालने जितनी तैयारी हम इस जन्म में करेंगे । लेकिन मरने के बाद के स्वर्ग-सुख के लिए इस जन्म में तकलीफ़-भरी जिन्दगी जीने के लिए हम तैयार नही हैं । हमारा ईश्वर, हमारा स्वर्ग और हमारा पुनर्जन्म इसी दुनिया में हैं । और उसे हम प्रामाणिक रूप से 'सनातन मनुष्य-समाज' के नाम से पहचानते हैं । ऐसे लोगों को त्याग और संयम शब्द प्रिय न होने पर भी उन को यह तत्त्व मान्य नही है ऐसा नही

लगता। उन के सामने जैसा आदर्श हो वैसे शब्दो में और उतने प्रमाण में अगर उन को त्याग और संयम सिखाया जाय—सुझाया जाय तो उन के मन में विरोध पैदा नही होता।

सामान्य लोग जब कहते हैं कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए सन्यास लेना ही चाहिए, तब उन की मोक्ष की कल्पना प्राय गलत होती है। और ग़लत न हो तो भी बिलकुल सकुचित होती है। और सन्यास शब्द का अर्थ भी बिलकुल रूढ़िग्रस्त हो गया है। मोक्ष यानी छुटकारा, सन्यासी यानी दुनिया की झझट से ऊब कर जीवनकलह टालने वाला पलायनवीर और उस का मोक्ष यानी फिर से यह झझट पीछा न करे ऐसी शून्य स्थिति ऐसा लोग समझते है। ये लोग कहते है कि जीवन में सुख-दु ख दोनो हैं। दोनो क्षणजीवी है। दोनो तुच्छ है। लेकिन ऐसा होते हुए भी इसी जीवन में उच्च हेतु से अनाथो के लिए लड़ना, अज्ञानी जनता का अज्ञान दूर करने के लिए अखण्ड मेहनत करना और ज्ञान क्षेत्र का विस्तार करने के लिए अखण्ड खोज करते रहना इन सब में जो जीवनानुभूति सुख और दु ख दोनो के द्वारा समृद्ध बनती है वह कोई त्याज्य पदार्थ नही है। कायरता और निठल्लापन ही अगर विरक्ति का लक्षण हो तो वैसी पलायनवीर कामचोर विरक्ति हमें नही चाहिए। ज्ञानोपासना, ज्ञानप्रचार और अन्याय का प्रतिकार इस त्रिविध जीवन सेवा में जो कुछ आनन्द प्राप्त होगा वही निर्दोष और पवित्र समझ कर उस को हम स्वीकार करेंगे और जो-जो वृत्तियाँ इस त्रिविध सेवा के मार्ग में आयेगी उन का त्याग करेंगे।

ऐसे लोगो से कहना चाहिए कि इस से अधिक हम कुछ चाहते भी नही हैं। समाज यानी अपनी छोटी-सी या बहुत बडी टोली है ऐसा अर्थ मत कीजिए। अपनी जाति, अपना राष्ट्र या अपनी सस्कृति तक ही अपना समाज सीमित है ऐसा न मानते हुए अशेष मनुष्य समाज को अपना कहने से और इस मनुष्य-समाज की सहकारिता मे जिन पशु-पक्षियो को हम ने शामिल कर लिया है उन सब को अपना कहने से समाज की कल्पना शुद्ध बनती है। और ऐसे समाज का हित केवल वर्त्तमान पीढी की दृष्टि से न देखते हुए सार्वकालिक हित की चिन्ता करने से जीवन अपने-आप शुद्ध बनता जाता है और समृद्ध भी बनता है।

ऐसे इस सम्पूर्ण समाज की पहचान के लिए या उस की सेवा करने के लिए अगर हम दुनिया भर इधर-उधर भटकने लग जायें तो जीवन कृतार्थ बनने के बजाय पागलपन ही पल्ले पडेगा।

इसलिए सम्पूर्ण समाज को पहचानने के लिए उस समाज की आत्मा पहचाननी चाहिए। सरकार को जो कर देने का होता है वह हम कही भी हो तो

भी नजदीक के खजाने में भर देने से जिस प्रकार सरकार के पास पहुँच जाता है उसी प्रकार विराट् सनातन समाज की आत्मा को पहचानने के वाद उस के अनुसार वरतते हुए कही भी जो कुछ भी प्रवाहपतित कार्य स्वधर्म के रूप में उपस्थित हो जाय उस का पालन करना, विराट् सनातन समाज की सम्पूर्ण सेवा करने के समान ही है। पारिभाषिक शब्दो में कहना हो तो व्यक्तिगत स्वधर्म एकागी धर्म नही है, वल्कि सम्पूर्ण सर्वधर्म की ही वह एक विभूति होती है।

ऐसे समाज की सेवा करने के लिए समाज की आत्मा का साक्षात्कार होना आवश्यक है। इस साक्षात्कार के लिए जो कुछ पूर्व तैयारी करनी पडती है उसी को त्याग और सयम कहते हैं। साक्षात्कार होने के पहले त्याग और संयम मनुष्य की साधना होती है। पूर्ण साक्षात्कार के वाद यही तत्त्व उस का सहज स्वभाव वन जाते हैं। दुनिया छोड कर भाग जाने वाले लोगो को तामसिक सुख मिलता होगा। शायद वह सात्त्विक सुख भी सावित होगा। लेकिन उसे कतई मोक्ष नही कहा जा सकता। समाज हित और अपना हित यह द्वन्द्व जिस के जीवन में समाप्त हुआ उस मनुष्य का सम्पूर्ण विकास हुआ। इस विकास के लिए अपना शरीर, अपना मन, अपनी आदतें और अपने सम्वन्ध शुद्ध कर के योग्य रूप में दृढ करने का जो कार्यक्रम, उसी को साधना कहते हैं। जीवन का आदर्श शुद्ध होने पर ही यह कार्यक्रम, जीवनक्रम या साधना साध्य होते हैं।

कोई वैरागी वासनाओ पर विजय पाने के लिए ससार त्याग कर वन में जाता है। वहाँ पर भी एक स्थान पर नही रहता। मन विकारी होगा इस लिए स्त्रियो का सम्पर्क भी होने नही देता। स्वाद पर विजय पाने के लिए नीरस अन्न खाने की आदत डालता है। अविकार मद पैदा न हो इस लिए अधिकार के स्थान छोड देता है। द्रव्य प्राप्त करना, उस का सग्रह करना और उस का उपभोग करना इन तीनो वातो से वह अलिप्त रहता है। और इस प्रकार विजयी हो कर सुख-शान्ति, अलिप्तता और जीवन-शुद्धि प्राप्त कर लेता है।

जीवनशुद्धि प्राप्त होने के वाद भी वह अपनी यह साधना छोडना नही चाहता।

ऐसे मनुष्य का जीवन शुद्ध होता है या शून्य उस का विचार उसे अपने-आप करना होगा। हमें उस का न्यायाधीश नही वनना चाहिए। उस का अनुभव उस को जो कुछ कहेगा वही सही। उस की जीवन-साधना हमें वोझ-सी मालूम होती होगी, अप्रिय होगी, अमान्य होगी। कुछ भी हो उस के जीवन की चर्चा छोड देना ही ठीक होगा।

हमारे यहाँ क्षत्रिय के आदर्श के रूप मे पहचानी जाने वाली एक साधना है। आदर्श क्षत्रिय कहता है कि सुखोपयोग अगर मेरे हिस्से में आये तो सदाचार के अनुसार जो कुछ भी सुखोपभोग आयेंगे उन का मैं नि शक बन कर स्वीकार करूँगा। मात्र इतनी सावधानी जरूर बरतूँगा कि वह मुझे घेर न बैठे, मुझ पर हावी न हो जायँ।

उसी प्रकार कितना ही दु ख मुझ पर क्यो न आ पडे और वह मुझे दीर्घकाल तक क्यो न सहना पडे, मैं उस से नही दबूँगा। दारुण दु ख के सामने भी मेरा चारित्र्य अभग रहे तो ही मै सच्चा क्षत्रिय हूँ। तपस्वी बन कर मैं दु खो को व्यर्थ न्यौता नही दूँगा। तपोवृद्धि के नाम से दु ख को ही सुख मानने की साधना मैं नही अपनाऊँगा। दु ख को दु ख मानूँगा और सुख को सुख। लेकिन दु ख के कारण मेरे कर्तव्य-पालन में थोडा भी फर्क नही आयेगा और सुख-सेवन के कारण मेरे चारित्र्य में ढिलाई पैदा नही होगी इस बात की सावधानी मैं अखण्ड रखूँगा।

यह आदर्श जो सम्पूर्ण रूप से सागोपाग समझा है और जिसे वह मान्य है उस से विशेप कुछ कहने का बाकी रहता ही नही। जितना त्याग और सयम वह इष्ट समझता है उतना ही उस के लिए इष्ट है। त्याग और संयम का आदर्श वैरागी के पास से नही, बल्कि सच्चे वीर के पास से—सच्चे क्षत्रिय के पास से सीखना चाहिए।

दूसरे चन्द लोग कहते हैं कि वैरागियो का सन्यास युग जिस तरह बीत चुका, उसी तरह कमर में तलवार लटका कर अनाथो का रक्षण करने के लिए देश भर में भटकते रहने वाले क्षत्रियो का युग भी अब बीत चुका है। हम अब आप का क्षात्र-युग मानते ही नही है। वह आदर्श ही गलत है। मुट्ठीभर लोग दुःख-निवारण का धन्धा करे और अधिकाश जनसमाज अनाथ बन कर ऐसे क्षत्रियो का मुँह ताकते रहें यह हमें मान्य नही है। हरएक को अपना रक्षण करना सीखना चाहिए। अगर यह मुमकिन न हो तो सब मिल कर सब का रक्षण करें। यही सच्चा धर्म है। एक के लिए जिस तरह दूसरा कोई भोजन नही कर सकता (पितरो के लिए ब्राह्मण भोजन करते हैं उन को क्षमा है), एक के लिए दूसरा सो नही सकता उसी तरह ज्ञानोपासना और आत्मरक्षण के बारे में दूसरो पर निर्भर रह कर स्वय इस महत्त्व के क्षेत्र में अकमर्ण्य रहना ठीक नही है।

इसलिए हम अपने सामने केवल प्रामाणिकता का आदर्श रखते हैं। न तो क्षत्रिय का, न सन्यासी का ही।

इस आदर्श के साथ हमारा कोई झगड़ा नही है। प्रामाणिकता का आदर्श बिलकुल सादा और फीका मालूम हुआ तो भी उस में सब कुछ आ जाता है।

प्रामाणिक मनुष्य को इतना ही पूछना होगा कि अगर आप के पुरखों ने पाँच-पचास लोगों को ठग कर धन-संग्रह किया हो और उस का विरसा आप को मिले तो वह पाप का पैसा आप हज़म कर बैठेंगे या उस का त्याग करेंगे? और आज भी आप के व्यवहार में अगर चार लोगो के सहकार से आप को धन-प्राप्ति हुई या प्रतिष्ठा मिली तो उस का योग्य हिस्सा—प्रामाणिक हिस्सा अपने साथीदारो को देंगे या नही? प्रामाणिक मनुष्य को जो अनासक्ति कमानी पडती है वह वैरागी से कम दर्जे की नही होती और उस की तेजस्विता क्षत्रियो से कम हो तो भी काम नहीं चल सकता। सभी सद्‌गुण एक ही हैं। शुद्ध रूप में उन के नाम और भूमिकाएँ भिन्न-भिन्न हों तो भी सब का मूल्य एक ही होता है। दुनिया में जो वैरागी होते हैं वैसे आप मत बनिए। व्रत, नियम मत कीजिए। क्षत्रिय बन कर अन्याय का पीछा करने का व्रत चाहें आप मत लीजिए। लेकिन जहाँ कही भी हो, प्रामाणिकता से जीना प्रारम्भ करते ही हर रोज़, क़दम-क़दम पर संयम और त्याग के प्रसंग उपस्थित होने ही वाले हैं।

शुद्ध जीवन आसान जीवन नही है। मन में उठने वाली भिन्न-भिन्न असामाजिक वासनाओ को दबाये बिना समाज में प्रामाणिकता से बरतना मुमकिन नहीं होता। और ऐसी वासनाएँ केवल दबाने से काम नही चलता। उन का पूरा नाश करने से ही हम निश्चिन्त होकर समाधान से जी सकते हैं। अर्थात् सयम स्वाभाविक और सुखकर होने पर ही प्रामाणिकता की साधना सिद्ध हुई ऐसा कह सकते है।

और समाज रूपी कुटुम्ब के सब व्यक्तियों के हित का महत्त्व पहचान कर न्याय से हरएक का हिस्सा हरएक को देना ही तो त्याग है।

वैसे देखा जाय तो आजकल के लोगो के मन में त्याग और संयम शब्दों के बारे में ही घृणा पैदा हुई है। इन शब्दों की बुनियाद में जो शुद्ध तत्त्व है उन के लिए सज्जनो के मन में आदर भाव की कमी नहीं है। और जिस का कारण भी स्पष्ट है। संन्यासी वैरागियो ने और साधुओ बावाओं ने त्याग और संयम का ठेका अपने पास रखा और वह आदर्श बरबाद किया। परम्परागत रूढ़ियों की छिछली और अर्थविहीन निरुपयोगी नहर में से इन सद्‌गुणो का प्रवाह उन्होंने पहले बहने दिया। आगे चल कर यह प्रवाह बहना भी बन्द हो गया। और उसे एक छोटे से छीलर का रूप मिला। फिर लोगों को उस में से बदबू न आये तो और क्या होगा?

जो सच्चे समाजसेवी त्यागी और संयमी हो उन को चाहिए कि वे दुनिया से अलिप्त न रहें। अपनी रहन-सहन दुनिया से भिन्न बना कर अपनी एक अलग जाति पैदा न करें। ऐसे लोगो को सिन्दूर लगा कर देव बना कर अपने समाज में से एक तरफ रखने की कला समाज को साध्य है। 'हम आप को पूज्य कहेंगे, आप का आदर करेंगे, लेकिन आप हमारे व्यवहार में दखल मत दीजिए,' इस तरह समाज बडी नम्रता से लेकिन साफ-साफ कहता रहता है। "आप ठहरे महात्मा लोग। आप के लिए जो सम्भव है वह हमारे लिए कैसे सम्भव होगा ?" इस तरह बार-बार कह कर समाज यही चाहता है कि ये लोग सामाजिक आदर्श सुधारने की कोशिश न करे। भक्ति करेंगे आप के आदर्श की, लेकिन आचरण होगा भिन्न आदर्श का, इस तरह के बर्ताव का समाज आदी हो गया है। इस लिए समाज-सेवक को चाहिए कि वह अपनी शुद्धि की रक्षा कर समाज में दस लोगो में घुल मिल कर रहने की कोशिश करे। और दस लोगो मे रह कर भी त्याग और संयम का पालन किस प्रकार चुपचाप हो सकता है यह बतावे। इसी तरह ये आदर्श समाज में घुस कर समाजव्यापी बनेंगे और आखिर सारे समाज का उद्धार होगा।

त्याग और सयम को आप आदर्श कहिए या सामाजिक वृत्ति कहिए, समाज की बुनियाद ही उन पर आधारित है। इतना ही नही बल्कि जीवन का सच्चा आनन्द भी इन पर ही निर्भर है।

कबीर ने एक जगह कहा है कि त्याग शीतल होना चाहिए, आक्रोशयुक्त नही। त्यागी मनुष्य का मुखभाव भूखे मनुष्य की तरह न हो, बल्कि अपने बच्चे के लिए सब तरह का त्याग कर के सन्तोप मानने वाली माता के समान प्रसन्न होना चाहिए। सच्चे त्याग-संयम के यह एक कसौटी ही है।

(१२ अगस्त १९५८)

नया वानप्रस्थ

हमारे चार आश्रमो में से वानप्रस्थ आश्रम का चिन्तन इन दिनो नही हो रहा है। कही भी देखें गृहस्थाश्रमी लोग तो सब जगह होते ही हैं। सन्यासी इन दिनों पहले की अपेक्षा कम पाये जाते है। लेकिन वे भी है सही। वानप्रस्थाश्रम, गृहस्थ और सन्यास का बीच का एक विष्कम्भक है। उस जीवन का वर्णन

अनेक स्मृतियो मे और इतिहास-पुराणो में पाया जाता है। लेकिन उस का पूरा चिन्तन इन दिनो नही हो रहा है।

गुजरात में सेवानिवृत्त पेन्शनरो के लिए वानप्रस्थ शब्द वहाँ के विद्वानो ने चला कर देखा, लेकिन वह चला नही।

स्मृतियो में और पुराणो में वानप्रस्थ जीवन के बहुत कडे वर्णन आते हैं। उस पर से जो अनुमान निकलते हैं उस का हम पहले विचार करे।

ब्रह्मचर्य-आश्रम विद्या और संस्कृति की पूर्व तैयारी के तौर पर है। वानप्रस्थ आश्रम सन्यास की तैयारी के लिए है। बाक़ी मनुष्य के सामाजिक जीवन का और सब पुरुपार्थ का प्रधान समय गृहस्थाश्रम ही है। जब शरीर निरोगी और मजबूत होता है, इन्द्रियाँ समर्थ और तेज होती हैं, उसी समय मनुष्य को चाहिए कि वह सब तरह का पुरुषार्थ करे। आयु के इस समर्थ प्रभावशाली काल को संस्कृत में 'कल्यवयस्' कहा है। इस उम्र में धन, कीर्ति, प्रतिष्ठा, आदि पा कर और बच्चो को उच्च शिक्षा और सस्कार दे कर जब मनुष्य कृतार्थ होता है, तब स्वाभाविकतया वह आराम तलब बनता है, सब तरह के सुख प्राप्त कर के सन्तुष्ट होता है, समाज की सेवा कर के प्रतिष्ठा पाता है और बाक़ी के दिन सुख, सन्तोप और निश्चिन्त अवस्था में व्यतीत करना चाहता है।

जिस तरह यौवन का उन्माद होता है वैसा ही पुरुपार्थ-पराक्रम का भी उन्माद होता है, जिसे महत्त्वाकाक्षा कहते हैं। जब इन का अवसर पूरा होता है, तब मनुष्य आराम ढूँढने बैठता है, कुछ शिथिल भी होता है। लेकिन यह अवस्था काफी दिन तक मनुष्य को पसन्द नही आती। आराम और सुख अच्छे हैं, लेकिन शिथिलता अच्छी नही है। मनुष्य ज़रा-सा नाज़ुक-बदन होते ही घबड़ा जाता है और चाहता है कि मैं फिर से हट्टा-कट्टा और सहनशील बनूँ।

सुखोपभोग की मात्रा बढने पर कुछ तृप्त हो कर मनुष्य चाहता है कि अब मैं फिर से सन्तोप की ओर मुड जाऊँ। और तीसरी बात इस से भी अधिक महत्त्व की है। मनुष्य सोचता है कि अब जब मैं धन नही कमाता हूँ, तब घर वालो की और समाज को सेवा लेने का मुझे अधिकार क्या है? जिस ने धन कमाना छोड दिया उसे चाहिए कि वह अपना खर्चा भी कम कर दे और लोगो की सेवा लेने की अपेक्षा स्वावलम्बन से ही अपना शेप जीवन व्यतीत करे।

ये तीनो आदर्श मन में रख कर सामाजिक जीवन से मुक्त हो कर निवृत्त जीवन का अनुभव करने की मनुष्य को इच्छा होती है जिसे हमारी संस्कृति ने संन्यास का नाम दिया है।

सन्यस्त जीवन आसान नही है। बुढापे में यात्रा करते रहना, भिक्षा माँग

कर पेट भरना और मन को सासारिक बातो में से खीच लेना आसान काम नही है। इस की पूर्व तैयारी करनी ही होती है। वही है वानप्रस्थ आश्रम।

जब लोग बारह-बारह बरस चार वेद और छह वेदाग का रटन करते थे, गृहस्थाश्रम में घर में अग्नि रख कर हवन करते थे, तब का वानप्रस्थ आश्रम अलग था। आज उसे कोई भी सजीवन नही कर सकता। यज्ञ-संस्था अब हमारे सामाजिक जीवन में से हट गयी है। ऐसी हालत में वानप्रस्थ आश्रम को नया ही रूप देना होगा।

जब मनुष्य इस तीसरे आश्रम में प्रवेश करता है तब वह अपने को धन कमाने के भार से मुक्त करता है। साथ-साथ घर का व्यवहार चलाने का भार अथवा अधिकार उसे छोड देना चाहिए। उस की आजीविका चलाने का कर्तव्य समाज का है और उस का कर्तव्य है समाज का हित करने वाली सस्थाएँ चलाने का और जब समाज माँगेगा, उसे सलाह देने का। वानप्रस्थ आदमी का आर्थिक भार किसी एक सस्था पर न रखते हुए अगर सारे समाज ने उस का प्रबन्ध कर दिया तो ज्यादा अच्छा होगा। फिर उस की योग्यता और समाज की गरज के अनुसार समाज उस से काम ले सकता है अथवा वह स्वय अपनी अभिरुचि के अनुसार समाज-सेवा का कोई-न-कोई कार्य पसन्द कर सकता है।

समाजसत्तावाद (Socialism) में अकसर सम्पत्ति की मालिकी समाज की होती है। वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने वाले सब लोगो का जीवन समाज को अर्पित होता है।

इस तरह से व्यक्तिगत जीवन का पूरा सकोच कर के जब मनुष्य अपने जीवन के द्वारा पूरा-पूरा सामाजिक बनता है, तब सामाजिक सरकार चलाने के लिए जो नैतिक भूमिका आवश्यक होती है, समाज को आसानी से मिलती है।

अपने शरीर द्वारा और परिपक्व अनुभव द्वारा समाज की सेवा करते-करते जब मनुष्य का शरीर और मन थक जाते हैं और चित्तवृत्ति अलिप्त हो कर निवृत्त जीवन की इच्छा करती है तब मनुष्य चाहे तो सन्यास आश्रम में प्रवेश करे और सब सामाजिक बन्धन छोड कर दुनिया के सब मनुष्यो को और प्राणी मात्र को अपनी ओर से अभयदान दे कर ऐसी भूमिका पर आरूढ हो कि मानो वह सब प्राणियो के दादा का दादा है। मन में वह कहे कि 'ये सब मेरे ही बच्चे हैं। इन में अपना और पराया ऐसा भेद कैसे करूँ? मैं न किसी का न्याय करूँगा, न किसी को सजा। मेरा हृदय विश्व-हृदय बन गया है। सब के लिए क्षमा, सब के लिए करुणा और सब के प्रति आत्मीयता प्रेरित मैत्रीभावना यही अब हो गयी है मेरी चित्तवृत्ति।'

वानप्रस्थ आश्रम ऐसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाली संन्यस्त वृत्ति की पूर्व तैयारी होगी। उस में निष्काम कर्मयोग परिपक्व होगा।

(१५ जून १९६४)

संन्यास : आश्रम या वृत्ति ?

महात्मा गान्धी ने संन्यास-आश्रम और संन्यासी वृत्ति की ओर ध्यान खीचा और कहा कि सन्यास-आश्रम को हिन्दू धर्म में महत्त्व का स्थान है। विश्व-कल्याण की योजना में संन्यास-आश्रम अपना महत्त्व रखता है। लेकिन सत्याग्रहाश्रम की स्थापना चार आश्रम की व्यवस्था के लिए नही है। गीता में जनक आदि राजाओ की जिस वृत्ति की प्रशंसा की है वही वृत्ति आश्रम को अभीष्ट है। संन्यास-आश्रम में जिस ने प्रवेश किया उस से हर तरह की सेवा लेते हिन्दू समाज सकोच करता है, इस लिए आश्रमवासी के लिए गेरुवा वस्त्र पहनना इष्ट नही है। सेवा-धर्म में जो चीज़ बाधक होती है, उस से दूर रहना चाहिए—यह थी गान्धीजी की मान्यता।

गान्धीजी की दृष्टि को स्वीकार करने पर भी संन्यास-आश्रम में प्रवेश करने की पुरानी इच्छा मर नही गयी थी। जब अन्तर्मुख हो कर चित्तशुद्धि का प्रयत्न किया तभी निश्चय हुआ कि सन्यास-आश्रम के लिए आवश्यक त्याग, वैराग्य और उपशम की साधना अधूरी है। इस लिए भी सन्यास की बात छोड़ देनी चाहिए।

साधक के रूप में रहना, जीवन के तरह-तरह के प्रयोग करते रहना और जीवन-विषयक तत्त्वज्ञान परिपक्व होने देना, यही सच्चा मार्ग है। इस के लिए जितनी स्वतन्त्रता आवश्यक है उतनी स्वतन्त्रता रखकर ही मनुष्य प्रगति कर सकता है।

यह भी अनुभव हुआ कि जिस तरह समुद्र में ज्वारभाटा का कुदरती नियम है, उसी तरह जीवन में भी नियतकालिक नही, किन्तु किसी अज्ञात प्रकार से साधना में भी ज्वारभाटा आ जाता है। साधनाक्रम कभी उत्कट होता है, कभी ढीला होता है। उन्नति की दृष्टि से दोनों के लिए स्थान है। अगर जल्दबाज़ी से आगे बढे तो कच्चापन दूर करने के लिए कुछ पीछे भी जाना पड़ता है। जितनी प्रगति पक्की हुई, उतनी ही जीवन-विकास की सच्ची बुनियाद मानी जा सकती है।

वृक्ष-वनस्पति को जिस तरह कुदरत मदद करती है उसी तरह उम्र भी मनुष्य को उस की साधना में मदद करती है। ऋतु-चक्र के परिवर्तन के अनुसार जिस तरह हम दिनक्रम में, आहार-विहार में और कपडे-बिस्तर में परिवर्तन करते है, उसी तरह बचपन, जवानी, बुढापा आदि अवस्था के अन्तर के अनुसार हम जीवन के आदर्श और प्रवृत्ति में परिवर्तन करते जायें तो वह हर तरह से सहायक और पोषक होता है और चित्तवृत्ति हमेशा के लिए प्रसन्न रहती है।

जवानी के दिनो में जैसे प्रवृत्ति, पराक्रम और पुरुषार्थ का विस्तार बढाया जाता है, उसी तरह उत्तरावस्था में भी मनुष्य को अपनी प्रवृत्ति का यथाक्रम सकोच करना चाहिए और वह सब इतनी सुन्दरता से और प्रसन्नता से करना चाहिए कि जब दुनिया से विदा होने का क्षण आयेगा, मनुष्य को सूखी खारिक के समान आसानी से गिर जाना चाहिए। (यह अन्तिम उपमा महात्माजी के मुख से सुनी हुई थी।) भारतीय आदर्श भी इसी ढग का है और वैज्ञानिक है।

निवृत्ति समय पर लेना इसी में बुद्धिमानी है। लेकिन मनुष्य को उस की पहचान आसानी से नहीं होती। निवृत्त होने में कभी जल्दबाजी होती है, कभी देरी होती है। और उस की कीमत देनी पडती है।

आजकल के कर्मप्रधान ज़माने में कहा जाता है, कि जब तक हम ज़िन्दा हैं, कुछ-न-कुछ सेवा करनी चाहिए। निवृत्त होने का मनुष्य को अधिकार ही नही है। काम करते-करते जब मनुष्य मरता है तब अँगरेज़ी में उस की कदर करते हुए कहते हैं—He died in harness.—अन्त तक काम करते रहने का आदर्श अच्छा है। हाथ-पैर चलते दुनिया से उठ जाना भाग्य का लक्षण है। लेकिन किसी ने कहा है कि जीन कसी हुई हालत में मरना घोडे के लिए ही अच्छा है। असली बात यह है कि हरेक अवस्था का कार्य अलग होता है। पहलवान भी बुढ़ापे में कुश्ती के अखाडे मे नही उतरता, लेकिन दूसरो को कुश्ती की खूबियाँ सिखाने लगता है। गायक भी किसी दिन महफिल में गाना छोड देता है। इसी तरह सेवा के क्षेत्र में भी समयोचित परिवर्तन करना आवश्यक होता है। नही करने से काम बिगडता है। उत्तराधिकारियो को यथासमय मौका नही मिलने से उन में मायूसी आती है मनुष्य की उत्तरावस्था जो सौरभमय होनी चाहिए, कलुषित हो जाती है।

रघुवश के प्रारम्भ मे ही कालिदास ने भारतीय राजाओ का जीवनक्रम सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। उन्हें बचपन में विद्याध्ययन की लालसा रहती थी। यौवन-काल में तरह-तरह के विषय जीवन के क्षेत्र और नये-नये प्रदेश बढाने की महत्त्वाकाक्षा वे रखते थे। वृद्धावस्था में राजा मननशील हो कर

निवृत्ति का सेवन करते थे और सादगी से रह कर समाज पर अपना बोझा कम करते थे। और अन्तकाल नजदीक आने पर योगयुक्त हो चोला छोड़ देते थे।

इस तरह जीवन-परिवर्तन करते रहने से सारी जिन्दगी सुखमय, प्रसन्न और सुवासित होती है और समाज को ऐसे व्यक्ति से पूरा-पूरा लाभ मिलता है।

वैदिक काल में चार आश्रम की जीवन-रचना कब शुरू हुई यह कहना मुश्किल है। बीच में सन्यास-आश्रम की कठिनाई ध्यान में ले कर और कच्चे संन्यास से जो विकृति पैदा होती है, उसे सोच कर भारत के मनीषियो ने सन्यासाश्रम को कलिवर्ज्य कह कर बन्द कर दिया था। बौद्ध, जैन आदि सम्प्रदायों ने भिक्षु-जीवन का महत्त्व बढ़ाया और श्री शंकराचार्य को भी सन्यासाश्रम की पुन स्थापना करना आवश्यक मालूम हुआ। गौराग प्रभु ने भी भक्तिमार्ग के साथ संन्यास को चलाया। हमारे जमाने में स्वामी विवेकानन्द ने संन्यास-आश्रम की प्रतिष्ठा बढायी और सन्यासी-जीवन में सेवा करते रहने का आदर्श खूब उत्साह से प्रचलित किया। महात्मा गान्धी ने संन्यास-आश्रम के प्रति आदर व्यक्त करते हुए सन्यास-आश्रम की अनावश्यकता बतायी और संन्यस्त-वृत्ति से रह कर अनासक्त भाव से विचारमय जीवन लोक-सेवा में व्यतीत करने के आदर्श को प्रतिष्ठित किया है।

गान्धीजी ने पुराने आदर्शों का आदरपूर्वक स्वीकार कर के उन में जो परिवर्तन किये उस में संन्यास-आश्रम और सन्यस्त वृत्ति का जीवन इस का भी जिक्र होना चाहिए।

(११ मार्च १९६८)

संन्यासिनी-आश्रम

"राजा जनक आदि गृहस्थाश्रमी लोगो ने जिस सन्यासयोग का अनुशीलन किया और जिस संन्यास योग को श्री गीता ने भी प्रतिष्ठित किया है वह तो एक सार्वभौम वृत्ति अथवा साधना है। वह चीज ही अलग है। हम आप से प्रश्न करना चाहते हैं कि चार वर्ण के साथ चार आश्रम की जो व्यवस्था हिन्दू संस्कृति में पायी जाती है उस को मान्यता आप देते हैं या नही? आज तक आप ने इस बारे में जो लिखा है इस पर से हम इतना ही समझे हैं कि संन्यास आश्रम के

बारे में आप के मन में सामान्यतया आदर है, किन्तु संन्यास आश्रम की आज की परिस्थिति में आप आवश्यकता देखते नही। क्या यह बात सही नही है?

"सवाल इस लिए उठा कि आप ने स्वामी विवेकानन्द के बारे में लिखते कहा है कि इन दिनो स्त्री-संन्यासिनी के स्वतन्त्र वर्ग की आवश्यकता है।"

प्रश्नकर्त्ता ने ठीक ही पूछा है। मैं ने गान्धीजी का अभिप्राय स्पष्ट बताया है। उन के मन में संन्यास आश्रम के बारे में आदर था। तो भी वे नही चाहते थे कि समाजसेवक गेरुआ वस्त्र धारण कर समाजसेवा करने निकलें। क्योकि गेरुआ लिबास सेवा में विघ्नकारक है। सामान्य लोग गेरुआधारी से सेवा नही लेते। सन्यासी की सेवा लेने में अधर्म समझते हैं। समाज की सेवा परिणीत भी कर सकते है और अपरिणीत भी कर सकते है। मानसिक सन्यास कोई ले तो कोई उसे मना नही करेगा। किन्तु सेवक सन्यास-आश्रम की पोशाक न पहनें तो अच्छा।

जीवन के अनुभव से मेरी भी राय वही है। लेकिन मैं ने यह भी देखा है कि वृत्ति में त्याग वैराग्य आने के बाद उसे दृढ़ करने में गेरुआ कपडे का उपयोग बहुत कुछ है। मनुष्य के सकल्प में दृढ़ता होनी चाहिए। खास कर के वैराग्य में। लेकिन मनुष्य में कभी-कभी शिथिलता आ जाती है। वैराग्य में ज्वार-भाटा पाया जाता है। ऐसे समय गेरुआ कपडे की सामाजिक प्रतिष्ठा मनुष्य को मज़बूत रखती है।

शीतकाल के दिनो में जिस तरह घर का वायुमण्डल गरम रखने के लिए अँगीठी की ज़रूरत होती है उसी तरह समाज के चारित्र्य की मात्रा उज्ज्वल रखने के लिए सन्त, सत्पुरुष, महात्मा और साधु का वर्ग ज़रूरी है। हम ने देखा है कि आश्रम में ब्रह्मचारी, सयमी, गृहस्थी और संन्यस्त वृत्ति के लोग तो थे ही, किन्तु ऐसे कोई अलग-अलग वर्ग बँधे हुए नही थे। युवा ब्रह्मचारी आजन्म ब्रह्मचर्य का सकल्प करने के बाद भी अगर देखे कि उस के लिए दाम्पत्य जीवन आवश्यक है तो वह वैसा कर सकता था। कोई कहता नही उस का उस में पतन हुआ है। सयमी गृहस्थाश्रमी के बारे में भी आश्रम में यही वृत्ति रहती थी। इस का एक लाभ यह था कि आश्रम के व्रतो का पालन सदस्यो के लिए सहज था और आश्रमो की प्रतिष्ठा का बोझ ले कर किसी को चलना नही पडता।

इस मुक्त वातावरण के कारण शिथिलता के खिलाफ कोई दीवाल नही रहती थी। इसे आश्रम जीवन का दोष भी कह सकते हैं और गुण भी।

ऐसे सारे अनुभव के परिणामस्वरूप मेरा अभिप्राय अब तटस्थ है। कोई

आदमी ठीक समझे तो गेरुआ वस्त्र धारण करे और उसे निभाने की पूरी-पूरी कोशिश करे। कच्चे वैराग्य के साथ संन्यास लेना और फिर पछताना चारित्र्य-सिद्धि के लिए अच्छा नहीं। कहते हैं कि भर्तृहरि ने कई बार संन्यास लिया और अपने को दुर्बल पा कर गृहस्थाश्रम में लौटे।

बौद्धों में संन्यासियो को अपने गुरु से आज्ञा पा कर संन्यास आश्रम छोडने की इजाजत है। उन का प्रधान सिद्धान्त है कि अगर दिल से वैराग्य समाप्त हो गया तो गेरुआ वस्त्र धारण करने में उस आश्रम का उपहास ही है।

हमारे जमाने में बौद्ध साधु श्री धर्मानन्द कोसम्बी अपने गुरु से इजाजत ले कर फिर से गृहस्थाश्रम में आये थे। राहुल सांकृत्यायन ने भी रशिया जा कर विवाह किया था। दोनो के बारे में समाज ने तनिक भी क्षोभ नहीं प्रकट किया।

मैं समझता हूँ सनातन हिन्दू समाज के लिए इन दिनो कोई निश्चित नीति तय नही हो सकती। रामकृष्ण मिशन के संन्यासी समाजसेवा का और धर्मप्रचार का कार्य करते ही हैं। दूसरे भी करते हैं।

एक बात स्पष्ट है। स्वामी विवेकानन्द जैसे उज्ज्वल उदाहरण के साथ जब कोई मिशन या सघ संन्यास आश्रम को चलाता है तब संन्यासियों की प्रतिष्ठा भी रहती है और परम्परा का तेज भी रहता है। बाक़ी संन्यास का और सस्था का तत्त्वत सम्बन्ध बैठ नही सकता। चन्द संन्यासी किसी भी संस्था या मठ के साथ सम्बन्ध न रखते हुए अपनी तेजस्विता क़ायम रख सकते हैं और समाज की अच्छी सेवा भी करते हैं। और चन्द संन्यासी तो गेरुआ कपडे का नाम आगे कर के भिक्षा माँगते संकोच अनुभव नही करते। अपने तीन लड़को को गुरुकुल में या ऋषिकुल में दाखिल कराने की अर्ज़ी ले कर आये हुए ब्रह्मचारी भी मैं ने देखे हैं।

यह हो गया पुरुष सन्यासी के बारे में। स्त्री सन्यासिनी का वर्ग हो या नही इस बारे में प्राचीन काल से दो मत हैं। एक मत कहता है कि स्त्री-स्वभाव में आत्यन्तिक वैराग्य नही है। कुदरत ने ही स्त्री को ऐसा कार्य दिया है जिस के कारण उस के स्वभाव में पुरुषावलम्बिता हमेशा पायी जाती है। लोग बडी-बडी प्रभावशाली स्त्रियो का उदाहरण देते हैं और कहते हैं कि उन को किसी न किसी ढंग से पुरुषों का प्रोत्साहन अथवा सहारा आवश्यक हुआ था।

बुद्ध भगवान् तत्त्वत मानते थे कि स्त्रियो को निर्वाण-प्राप्ति का उतना ही अधिकार है जितना पुरुषो को है। तो भी वे स्त्रियों को प्रव्रज्या देने को राज़ी नही थे। स्त्रियों को सघ में लेने में खतरा देखते थे। शिष्योत्तम आनन्द के आग्रह के कारण उन्होंने स्त्रियों को संघ में लिया अवश्य, लेकिन आज सीलोन

में हम देखते हैं बौद्ध भिक्षुणियो का संघ नही है। पूछने पर कहते है कि स्त्रियो को दीक्षा कोई स्त्री ही दे सकती है और हमारे यहाँ इस वक्त कोई बौद्ध भिक्षुणी नही है।

स्वामी विवेकानन्द ने वडे उत्साह के साथ सन्यास आश्रम को नये ढग से चलाया। उन की शिष्या भगिनी निवेदिता से प्रेरणा पा कर रामकृष्ण मिशन ने सन्यासिनियों का आश्रम चलाया है। मैं मानता हूँ कि स्त्री-जाति के लिए ऐसे आध्यात्मिक प्रोत्साहन की विशेष आवश्यकता है। पुरुष के ऊपर तनिक भी आश्रित हुए बिना और ससार चक्र में फँसे विना निष्काम सेवामय जीवन व्यतीत करने का मौका स्त्री-जाति को मिलना चाहिए। और ऐसे जीवन को समाज की ओर से बाकायदा मान्यता भी मिलनी चाहिए।

यूँ देखा जाय तो जिन स्त्रियो ने आजन्म वैधव्य का पालन करना स्वीकार किया है, वे अब एक तरह से सन्यासिनियाँ ही हैं। हिन्दू समाज में ऐसी कई विधवाएँ हैं जिन्होने अपने तेजस्वी शीतल वैराग्य के द्वारा अपने वैधव्य को उज्ज्वल कर के दिखाया है। समाज के अनेक स्त्री-पुरुषो को उन के द्वारा आश्वासन, प्रोत्साहन और प्रेरणा मिली है। लेकिन अधिकाश विधवाएँ तो बेचारी समाज की और कुटुम्ब की उपेक्षित आश्रिता ही हैं।

इन से भिन्न अपने त्याग वैराग्य की शीतल तेजस्विता के द्वारा और समाज शुद्धि के लिए समाजसेवा के नियमित कार्यक्रम चलाने वाली सन्यासिनियो की समाज को आज आवश्यकता है। सौ दो सौ वरस इस का प्रयोग करने के वाद समाज फिर से विचार कर सकता है कि सन्यासिनियो का आश्रम लाभदायक है या नही।

इस प्रयोग के लिए कोई समाजमान्य नियम बनाना जरूरी होगा। स्त्री-सन्यासिनी की पोशाक कैसी हो, रहन-सहन कैसा हो, उन के रहने का और आजीविका का प्रवन्ध क्या हो? यह सब पूर्ण रूप से सोच कर समाज को तय करना होगा जिस से उस आश्रम की दुर्दशा न हो।

जिन का अधिकार है वे ही इस दिशा में प्रारम्भ कर सकते हैं।

(१ जुलाई, १९६३)

श्रद्धा और विवेक

श्रद्धा, भोला विश्वास और पाखण्ड

विज्ञान (Science), तत्त्वज्ञान (philosophy) और अध्यात्म (Spirituality) तीनो सत्य की खोज करने के लिए निकले हुए यात्री हैं। तीनो के प्रस्थान अलग-अलग हैं। लेकिन तीनो का प्रासव्य एक ही है। एक ही किले पर चढ़ाई करने वाली लेकिन भिन्न-भिन्न दिशा से प्रारम्भ करने वाली ये तीन क़िस्म की सेनाएँ हैं। इन की दिशा भिन्न हो सकती है। चढाई का तरीक़ा अलग-अलग हो सकता है। लेकिन तीनो का उद्देश्य और तीनो का प्रासव्य तो एक ही होना चाहिए।

जिस तरह युद्ध में मिलिट्री, समुद्री बेडा और वायु-सेना तीनो के महकमे अलग-अलग होते हैं, उन की लडाई की पद्धति भी अलग-अलग होती है तो भी तीनो एक ही युद्धमन्त्री के इशारे से चलती हैं। तीनो का परस्पर सहयोग होता है। तीनो एक दूसरे की पूर्ति करती हैं। विजय तो तीनो के पुरुषार्थ के समुच्चय से ही होती है।

अगर इन तीनो अलग-अलग दलों के नेता आपस में ईर्ष्या करने लगें और कहने लगें कि सारा सामर्थ्य हमारा ही है, औरो की कार्य-पद्धति ग़लत है तो उन का कहना हास्यास्पद होगा। तीनो की परस्पर होड खतरनाक साबित होगी। और विजय तो दूर की दूर ही रह जायेगी।

पिछली शताब्दी में विज्ञान ने बहुत ज़ोरो से प्रगति कर दिखायी और उस के अभिमान में विज्ञान कहने लगा कि सत्य तो हमें ही प्राप्त है। धर्म और तत्त्वज्ञान सिर्फ़ ढकोसले हैं। उन दिनो पदार्थविज्ञान (Physics) को natural philosophy कहते थे। एक विज्ञानशास्त्री ने कहा कि फिलॉसफी-तत्त्वज्ञान दो किस्म के होते हैं—natural philosophy और unnatural philosophy, प्राकृतिक तत्त्वज्ञान और अप्राकृतिक तत्त्वज्ञान। Physics है natural philosophy है। बाकी जो कुछ philosophy गिनी जाती है वह सब unnatural philosophy है। फेंक देने के योग्य है।

समाजशास्त्र की यूरोप मे नीव डालने वाले Auguste Comte की यही भूमिका थी। उस ने धर्म, अध्यात्म और दार्शनिक तत्त्वज्ञान तीनो को भ्रामक बता कर सिर्फ विज्ञान को ही सत्यसमर्थ बताया। और विज्ञान की पद्धति को positivism का नाम दिया।

अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दी का यह अभिमान, यह ज्ञानज्वर बहुत कुछ उतर गया है। विज्ञान की प्रगति के कारण ही विज्ञान शास्त्री अब कहने लगे हैं कि हमारी विजय की मर्यादा है। विज्ञान ने अपनी अज्ञानमूलक सर्वज्ञता अब छोड दी है। अब गहरे ज्ञान के कारण उस में अपनी मर्यादा का भान हुआ है। और उस में नम्रता आयी है। उस की ज्ञान-मूलक अज्ञेयवादिता अब उसे शोभा ही नही किन्तु बल दे रही है।

जो हालत विज्ञान की हुई वही हालत इन दिनो अर्थशास्त्र यानी सम्पत्ति-शास्त्र की है। यह शास्त्र कहता है कि मनुष्य के समस्त इतिहास का रहस्य अर्थशास्त्र से ही मालूम हो सकता है। मनुष्य का इतिहास, उस का धर्मविकास, साहित्य और कला की निर्मिति इतना ही नही, किन्तु मनुष्य का जीवनोद्देश्य भी उस की आर्थिक परिस्थिति का फल है। उसी का परिणाम है।

जीवनशास्त्री कहते हैं कि मनुष्य का जीवन एक अत्यन्त गूढ तत्त्व है। जिस तरह संगीत में सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा ऐसे उत्तरोत्तर चढते हुए स्वर हैं और मानव सगीत ऐसे तीन सप्तको का बना हुआ है, इसी तरह जीवन के तत्त्व को पहचानने वाले कहते हैं कि एक ओर बिलकुल जड सृष्टि और दूसरी ओर मनुष्य हृदय में रहने वाला अन्तर्यामी और सारे विश्व में पाने वाला परमात्मा या परब्रह्म तत्त्व और इन दोनो के बीच पायी जाने वाली असंख्य सीढ़ियाँ मिल कर के यह सारी सृष्टि बनती है। इन में अनन्त प्रकार की विविधता होते हुए भी सब में अद्वैत याने अखण्ड अद्वैत भरा हुआ है।

अब सवाल यह आता है कि सब से नीचे का स्तर जो जड विज्ञान का है उसी को हम बुनियाद मानें या सब से ऊपर का स्तर जो परब्रह्म परमात्मा है उसे 'ऊर्ध्वमूलम् अध शाख' के हिसाब से बुनियाद माने। जड विज्ञान के सिद्धान्तों को सही मानकर उन्ही के अनुसार वनस्पतिविज्ञान, प्राणीविज्ञान, मनोविज्ञान आदि शास्त्रो के सिद्धान्त सिद्ध करने का एक मार्ग है। दूसरा मार्ग इस के विपरीत है। मानव जीवन में जो अध्यात्म पाया जाता है वही सुप्त रूप में प्राणि-जगत् में भी पाया जाता है या नही, और प्राणि-जगत् में जो अध्यात्म हम पा सकते हैं वही जड-जगत् में अनुमान से हम सिद्ध कर सकते हैं या नही यह देखने का दूसरा तरीका है। सच्चा ज्ञानोपासक दोनों रास्ते जाना पसन्द करेगा।

ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर। दोनो ढंग से आने-जाने से ही ज्ञान सर्वांगीण होगा।

जो लोग जड विज्ञान के मामूली सिद्धान्तो की कसौटी बनाकर आध्यात्मिक अनुभव कस कर देखते हैं वे कहते हैं कि आध्यात्मिक अनुभव केवल भ्रम है। तर्कशास्त्री, विज्ञानशास्त्री और वैद्यकशास्त्री अकसर यही कहते हैं कि हमारा न आत्मा पर विश्वास है न परमात्मा पर। न धार्मिक सिद्धान्तो पर। आप के आत्मा और परमात्मा दोनों अगर हमारे प्रयोगशाला में आ जायें और टेस्टट्यूब में बैठने को तैयार हो जायें तब हम उन के बारे में सोच सकते हैं।

जब विज्ञानवादियो की यह भूमिका बालिश साबित हुई तब अध्यात्मवादी भोले भक्तों ने दुन्दुभी बजाना शुरू किया कि देखिए विज्ञान हार गया है। जिन आध्यात्मिक चमत्कारो का ये सायंटिस्ट इनकार करते थे वे सब सच्चे हैं, भ्रममूलक नहीं हैं इस की गवाही नये वैज्ञानिक ही दे रहे हैं। अब किस की हिम्मत है कि हमारे दैवी चमत्कारो को कोई अस्वीकार करे?

जहाँ जड विज्ञान की पहुँच नही है ऐसे चमत्कार इस सृष्टि में हो सकते हैं इस बात को मानने को हम तैयार हैं। मानव मन और जड़ सृष्टि दोनो एक ही दुनिया के तत्त्व हैं। इन दोनो में द्वैत नही है। मानसिक जगत् और पार्थिव जगत् परस्पर विरोधी, एक दूसरे से भिन्न और पृथक् अलग दुनिया नहीं है इतना तो सब को मान्य करना ही पड़ता है। लेकिन अगर जड़ विज्ञान को आध्यात्मिक अनुभव और उन पर से बने हुए आध्यात्मिक सिद्धान्त मानने ही पडते हैं तो आध्यात्मिक अनुभव और उन पर से बनाये हुए आध्यात्मिक सिद्धान्त इन दोनों को जड़ विज्ञान की सामान्य कसौटी भी माननी चाहिए। अगर जड विज्ञान सिद्ध करे कि कोई एक खास अनुभव भ्रममूलक है तो उस का यह निर्णय क़बूल करना चाहिए। लेकिन अगर जड़ विज्ञान कहे कि अमुक अनुभव को हमारी कसौटी पर कसते हम इस निर्णय पर पहुँचे है कि हमारी कसौटी ही अपर्याप्त है, अमुक आध्यात्मिक अनुभव को कसने में हम असमर्थ है तो उस चीज की कसौटी मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में जा कर करनी होगी।

माता मरियम के प्रताप से लूर्द के झरनो में कोई लोकोत्तर शक्ति आयी है और वहाँ पर असाध्य भौतिक रोग भी देखते-देखते दूर हो सकते है ऐसा बयान नोबल प्राइज विजेता डॉ० अलेक्सिस कॅरेल ने दिया है। उस के साथ हमारा झगड़ा नही है। लेकिन हम अभी भूले नहीं कि कुछ दिन के पहले ओरिसा में अनुगूल के पास एक नेपाली युवक प्रकट हुआ था जिस ने जो हाथ में आयी वह जडी बूटी दे कर कई लोगों के रोग मिटाये थे। नेपाली बाबा की कीर्ति

हिन्दुस्तान में सब जगह फैल गयी। भोले विश्वासी, श्रद्धालु मरीजो का वहाँ ताँता लगा। सचमुच वहाँ कुछ शक्ति है या नही, किसी ने देखा भी नही। लोगो की भीड बढ़ी, हैजे का प्रादुर्भाव हुआ और कई लोग देखते-देखते मर गये।

भोली जनता हर चीज पर विश्वास करने की आदी होती है। श्रद्धा अच्छी चीज है। अश्रद्धा की अपेक्षा श्रद्धा अच्छी है। लेकिन बेवक़ूफी की अपेक्षा तो अश्रद्धा ही अच्छी है। और जहाँ बुद्धू लोगो को ठगने की तरह-तरह की युक्तियाँ धूर्त लोग चलाते हैं, वहाँ पर श्रद्धा का दुरुपयोग होने की सम्भावना भूलनी नही चाहिए। जडविज्ञान, मनोविज्ञान और अध्यात्म तीनो का सतत सहयोग ही तारक है।

(अप्रैल १९५२)

श्रद्धा और विवेक

मामूली किताब और धर्म-ग्रन्थ में बडा अन्तर रहता है। मामूली किताब हम चाव से भले पढें, विशेष आदर से नही पढते। मन कहता है कि देखें तो सही इस में क्या लिखा है। अच्छा हो तो ग्रहण करेंगे, नही तो रख देंगे, और अच्छा लगा तो भी ग्रहण करने का सकल्प उठना ही चाहिए ऐसा भी नही।

धर्म ग्रन्थो की बात अलग है। हम उसे पढते ही श्रद्धा से हैं। मन की तैयारी रहती है कि इस की सब बातें अच्छी ही है। हम ऐसा नही सोचते कि इस में कुछ अच्छा हो तो लेंगे। हम इतना ही सोचते हैं कि इस में से जो बात जँचे उस का स्वीकार करने की तैयारी या योग्यता हम मे है या नही। ऐसे ग्रन्थो में जो बात नही जँचती उस के बारे में भी हम तुरन्त नही कहते कि यह बात बुरी है। हम कहते हैं कि इस की खूबी ध्यान में नही आयी। हमारी ही कुछ अपूर्णता होगी। या कहते हैं कि जिस जमाने में यह सब लिखा गया उस के लिए यह अच्छी होगी। अब जमाना बदल गया। अब ये बातें काम की नही हैं।

काश! कि हम सब के सब अच्छे ग्रन्थो के बारे में ऐसी ही मन की अनुकूलता अथवा उदारता रख सकें। किसी ने सही कहा है कि धर्म ग्रन्थ उसी सद्भाव से पढना चाहिए जिस सद्भाव से वह लिखा गया। मैं तो कहूँगा कि केवल धर्म-ग्रन्थ के बारे में ही नही किन्तु सब के सब गम्भीर या अच्छे ग्रन्थो के बारे में हमारी यही वृत्ति रहनी चाहिए।

अब एक दूसरी बात है कि धर्म-ग्रन्थ हम श्रद्धा से पढ़ें यह तो अच्छा और जरूरी है ही। लेकिन श्रद्धा के साथ विवेक तो होना ही चाहिए। अन्ध-श्रद्धा अश्रद्धा से कम खतरनाक नही है। और दोनो के मूल में सत्य-निष्ठा की कुछ कमी पायी जाती है।

अभी एक संस्था की सचालिका से मेरी बातचीत हुई। उन के यहाँ धार्मिक वायुमण्डल स्थापित करने के लिए 'तुलसी रामायण' की पढाई होती है। मैं ने कहा कि शिक्षा की दृष्टि से बढ कर दूसरा कोई ग्रन्थ मैं सोच ही नहीं सकता। लेकिन इस से पढाते समय श्रद्धा और विवेक दोनो की मदद एक सी लेनी चाहिए।

अपनी बात समझाने के लिए मैं ने एक उदाहरण दिया। मैं ने कहा कि न आप ईसाई हैं न मैं ईसाई हूँ। तो भी हम दोनो के मन में ईसा मसीह के प्रति और उन के उपदेश के प्रति आदर है। अगर हम अपनी संस्था में बायबल या उस के कुछ हिस्से पढाने बैठें, तो हम अपने विद्यार्थियो को कह सकते हैं कि इस में से इतनी बाते अच्छी हैं। हम खुशी से ले सकते हैं। बाक़ी की अमुक बातें उन के समाज की दृष्टि से लिखी हैं। हम वैसी-की-वैसी नही ले सकते। हमारे जीवन के अनुकूल वे नही हैं, क्योंकि हमारी संस्कृति का रंग अलग है।

पूरी श्रद्धा रखते हुए हम इस तरह से विवेक से काम लेते हैं। तो क्या तुलसी रामायण पढ़ाते हम यही दृष्टि क़ायम नही रख सकते ? तुलसी रामायण में जो उपदेश हैं, वे सामान्य तौर पर ग्राह्य हैं ही। जिस ढग से वे रखे गये हैं, सीधे हृदय तक पहुँचते हैं। तुलसी रामायण को हम ने अपना धर्म-ग्रन्थ बनाया है। क्योंकि उस में मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र की उपासना बतायी है। तो भी हम कह सकते हैं कि स्त्रियो के बारे में तुलसीदास ने जो लिखा है, वह सब का सब हमें वैसा ही नही लेना है। बन्धु-भक्ति का जो आदर्श राम-चरितमानस में पाया जाता है, वह रामचन्द्र के प्रति भले ही ठीक हो, लेकिन दो भाइयो के बीच इस आदर्श को हम निभा नही सकेंगे। हम पसन्द भी नही करेंगे। नौकरों के लिए तुलसीदास ने जो आदर्श पेश किया है, उस के बारे में भी आज हम यही कहेंगे।

गरज़ यह, कि तुलसीदास ने राम के इर्द-गिर्द जो वायुमण्डल तैयार किया है, उस वायुमण्डल के साथ हम उस के सब वचन धर्मवचन के तौर पर शायद पसन्द कर सकते हैं। लेकिन आजकल की दुनिया में तुलसी के वचन हम वैसे के-वैसे नही ले सकते। हमारे बच्चों को भी यह बात समझानी चाहिए। नही तो हमारे बच्चे उन के मुग्धकाल में इन सब बातों को अक्षरश. ठीक समझेंगे

और कहेंगे कि हमारे शिक्षक तो ऐसे नही चलते। हमारे माँ-बाप भी नही चलते। समाज में जो लोग अच्छे गिने जाते हैं, उन का भी आचरण तुलसीदास की नसीहत से भिन्न दीख पडता है।

ऐसा सोच कर उन के मन में ग्रन्थो के बारे मे, बडो के बारे मे और आदर्शों के बारे में अश्रद्धा पैदा होती है जो बच्चो की शिक्षा के लिए खतरनाक है। जिस नतीजे पर उन को आना ही पडता है, उस के बारे में हम अगर साफ-साफ अपना अभिप्राय पहले से कह दे, तो उन के मन की परेशानियाँ टल जाती हैं और नैतिक जीवन की जडे सुदृढ बनती है।

(जुलाई १९५८)

श्रद्धा बनाम भोलापन

मेरे एक आदरणीय व्यक्ति ईश्वरनिष्ठ थे। ईश्वरनिष्ठा के कारण उन में चारित्र्य की दृढता और तेजस्विता तो आयी ही थी, लेकिन साथ-साथ अत्यन्त नम्रता और निराग्रहीता भी। स्वभाव भोला था। ज़रा भी अनुकूल घटना हो गयी तो कहते थे कि ईश्वर कितना अनुकूल है, कृपालु है। बाद में जब पता चला कि घटना का बयान ही गलत था, कहने वाला गलत समझा था और सचमुच घटना अनुकूल नही थी, तब वे तुरन्त कहने लगे कि ईश्वर प्रतिकूल दीख पडता है। हमारी कुछ गलती हुई होगी, इस वास्ते घटनाचक्र हमारे खिलाफ हो गया है।

मैं ने उन से कहा कि अनुकूलता-प्रतिकूलता हम अपनी दृष्टि से तय करते है। कोई चीज़ हमें पसन्द न आये, दु खदायक भी हो, लेकिन वही हमारे हित की हो और ईश्वर ने वह दु ख हमारे हित के लिए ही दिया हो। और वह हमारे किसी दोप के कारण नही, हमारे कल्याण के लिए ही आया होगा। हम निर्णय कैसे कर सकते हैं? जहाँ हमारी जानकारी ही अल्प है, वहाँ हम कार्यकारण सम्बन्ध भी कैसे पहचान सकते हैं?

कोई चीज हमें मिले, हमारा काम सफल हुआ, हम राज़ी हुए तो क्या उस में ईश्वर की अनुकूलता ही है? ईश्वर की भेजी हुई चीज़ अगर हमारे हित की न हो, ईश्वर ने केवल कसौटी के लिए ही भेजी हो, हमारी धर्मबुद्धि, न्यायबुद्धि शिथिल हुई, हम भगवान् की भेजी हुई चीज देख कर प्रसन्न हुए, हम ने उसे

भगवान् की अनुकूलता मान ली और चीज को स्वीकार कर के हम गिरे, हमारे चारित्र्य में शिथिलता आ गयी और आगे जा कर उस पतन के लिए हमें भुगतना पडा। भुगतने के लिए जो सज़ा भगवान् ने भेजी उस में भगवान् की नीयत हमें सुधारने की हो तो उस में भगवान् की अनुकूलता ही हमें देखनी चाहिए।

यह सारा घटनाचक्र गूढ है। इस में तुरन्त कार्यकारण सम्बन्ध हम देख नही सकते और उस पर से अनुमान भी नही लगा सकते। आस्तिकता हमें इतना ही कहती है कि परिस्थिति हमारे लिए, हमारी दृष्टि से, अनुकूल हो या प्रतिकूल, हमें श्रद्धा कायम रखनी चाहिए कि ईश्वर जो कुछ भी करता है, हमारे भले के लिए ही।

हमारा धर्म परिस्थिति के न अनुकूल बनने का है, न प्रतिकूल। धर्मबुद्धि जागृत रख कर जिस वक्त जो आचरण योग्य हो, सदाचार के लिए अनुकूल हो, वही करना चाहिए। क़दम-कदम पर ईश्वर की अनुकूलता की कसौटी करने हम न बैठे। अगर हम पाप में से बच गये तो वह ईश्वर की कृपा है। अगर हम लालच में फँस गये तो यह हमारी ग़लती है। उस के लिए ईश्वर से हम क्षमा माँगें और हमें चारित्र्य की दृढता देने के लिए भगवान् से प्रार्थना करे।

हम ने सुना है कि जब आगाखान महल में पू० कस्तूरबा का देहान्त हुआ और उन के देह को अग्निसस्कार दिया गया तब तीन दिन के बाद देखा गया कि चिता की अग्नि मे उन की काँच की चूड़ियाँ न टूटी थी, न गली हुई। वैसी-की वैसी थीं। इसे हम चमत्कार कह सकते है। चन्द लोग कहने लगे कि कस्तूरबा के सतीत्व की यह निशानी है। हो सकता है।

लेकिन सवाल यह उठता है कि हरेक सती के चिताभस्म में काँच की चूडियाँ ऐसी जैसी की वैसी मिलेंगी या मिलनी चाहिए ?

अथवा जिन-जिन स्त्रियो के चिताभस्म में से उन की काँच की चूडियाँ सलामत नही निकली, उन के सतीत्व के बारे में कुछ खामी या कमी समझनी चाहिए ?

ऐसा त्रिकालाबाधित नियम होता तो लोगो ने उस का कब का निरीक्षण किया होता और इतिहास में लिख कर रखा होता।

जब शरीर से प्राण निकल जाता है तब हम कसौटी कर के मान लेते हैं कि प्राण सचमुच शरीर को छोड़ गया है। हम साँस देखते हैं। नब्ज़ चलती है या नही यह देखते हैं। शरीर गरम है या ठडा है यह भी देखते हैं। ज़रूरत पडने

पर दूसरी भी कसौटियाँ आज़माते हैं और निर्णय पर आते है कि अब शरीर को प्राण छोड गये हैं।

क्या इसी तरह कांच की चूडियो का सलामत रहना या न रहना सतीत्व या असतीत्व की निशानी है ?

अगर ऐसा नही है तो ऐसे क़िस्मो की चर्चा कर के हम लोगो को भ्रम में क्यों डालते हैं ?

महाराष्ट्र में मगळवेढा गाँव में रहने वाले सन्त दामाजीपत की कथा प्रचलित है। मगळवेढा के बहुत से अकालग्रस्त लोग दामाजी के पास आये। दामाजी विजापुर के बादशाह के कर्मचारी थे। उन के पास सरकारी अनाज की कोठियाँ भरी हुई थी। उन्होने किसी से पूछे बिना कोठियो का सब अनाज अकालग्रस्तो को बाँट दिया। शिकायत बिजापुर के बादशाह तक पहुँची। दामाजीपत को सख्त सज़ा देने के लिए बिजापुर बुलाया गया। दामाजी चले। जानते थे कि मृत्यु दण्ड मिलेगा।

इतने में भगवान् ने हरिजन कासिद का रूप ले कर बिजापुर के बादशाह को एक चिट्ठी दी और साथ-साथ धन भी भेजा। चिट्ठी में लिखा था कि सरकारी कोठी में इतना अनाज था। उस के पैसे इतने होते हैं। पैसे ले कर रसीद कासिद के पास दीजिए और दामाजी को मुक्ति का खत दीजिए। दोनो चिट्ठियाँ मिल गयी। इधर दामाजी रास्ते में दुपहर को नहा कर गीता पढने बैठे तो पुस्तक में बादशाह की दोनो चिट्ठियाँ उन्हें मिल गयी। दामाजी समझ गये कि भगवान् ने ही मेरे कारण हरिजन कासिद का रूप धारण किया। उन्होंने विजापुर जा कर बादशाह को सब हाल सुनाया और नौकरी से इस्तीफा दे दिया। बादशाह को बडा अफसोस हुआ कि वे भगवान् को पहचान न सके।

सन्त दामाजी की यह कथा पीढी-दर-पीढी हम सुनते आये हैं।

अब ऐतिहासिक सशोधन से पता चला कि इस में कोई चमत्कार नही था। एक हरिजन जमीदार ने दामाजी का सकट सुन कर अपनी तरफ से सरकार को पैसा दे दिया और दामाजी को बचाया। इस के बारे में उस समय के दफ्तर में जो खतपत्र हुए थे वे भी अब मिल गये हैं।

इस ऐतिहासिक घटना से हमारी श्रद्धा दृढ होती है कि सज्जनों का सकट देख कर दूसरे सज्जनो की उदारता जागृत होती है और वह सकट के समय दौड कर मदद करता है। श्रद्धा के लिए ऐतिहासिक घटना काफी हैं। उसे

चमत्कार का रूप देने से अद्भुत रस जरूर मिलता है, लेकिन धर्मश्रद्धा मजबूत नही होती।

क्या हर एक सन्त इतनी अपेक्षा रखे कि दामाजी को जैसे मदद मिली वैसी उसे मिलेगी ही? क्या अनुमान निकाले कि सच्चे सन्तो को मदद मिलनी ही चाहिए? न मिलने पर उस का सन्तपन कच्चा है? अथवा भगवान् जब जी में आता है तब किसी की मदद करता है, जी में नही आया तो नही करता है? भगवान् को चचल मन का भक्तवत्सल बनाना काव्य की दृष्टि से आसान है, सुन्दर है, लेकिन धर्मश्रद्धा के लिए पोषक नही है। संकट के समय अकल्पित ढंग से मदद मिलने पर भोले लोग जो अनुमान निकालते है, धर्मश्रद्धा के लिए हमेशा मददगार ही होते हैं, ऐसा नही है।

(२१ जुलाई १९५९)

धर्म-ग्रन्थों का प्रामाण्य किस लिए?

माँ-बाप बच्चे को जन्म देकर परिवार मे उस की स्थापना करते है। धीरे-धीरे उस का सम्बन्ध आस-पास के समाज से बढने लगता है। सभी से उसे ज्ञान, कौशल्य और सस्कार मिलते हैं। और वह इस सारे सम्बल को लेकर जीवन जीने का अनुभव और आनन्द लेता है और नये-नये प्रयोग भी करता है।

पुराने अनुभव से बँध न जाना, नये-नये प्रयोग आजमाना और अज्ञात के क्षेत्र मे आगे बढने की हिम्मत करना मनुष्य का स्वभाव है।—व्यक्ति का भी और समुदाय का भी। इसी को प्रगति कहते हैं।

सारे समाज के अनुभवो को मनुष्य अगर समझ नही लेगा, उस को स्वीकार नही करेगा, और केवल अन्धे प्रयोग करेगा तो प्रगति नही होगी। पुराने अनुभवो के बाहर जाना ही नही, अनुभवो के प्रति ही निष्ठा रख कर के केवल जीवन-यापन करना, ऐसा अगर तय किया तो भी प्रगति नही होगी। जडता ही आयेगी। जडता में स्थिरता नही होती, किन्तु परागति और विकृति आ जाती है। इस लिए मानव के कल्याण के लिए और समाज के हित के लिए धैर्य और प्रगति दोनो को यथाप्रमाण अवकाश (गुंजाइश) होना चाहिए।

समाज की व्यवस्था सँभालने के लिए बाहरी जीवन के कानून बनाये जाते हैं और आन्तरिक और बाह्य दोनो तरह के जीवन के विकास के लिए धर्मशास्त्र

रचे जाते है। एक दफा बने हुए कानूनो मे और धर्मशास्त्रो में बार-बार परिवर्तन नही हो सकता। और हर किसी को परिवर्तन करने का अधिकार भी नही होता। मामूली समाज जब एक व्यवस्था का आदी बनता है, तब वह राज्य के कानूनो में, समाज की रूढि मे और धर्मशास्त्र के विधि-निषेध में परिवर्तन चाहता भी नही। सूक्ष्म रूप से परिवर्तन होते जाते है उन्हें वह बरदाश्त करता है। कानूनो के क्षेत्र में समय-समय पर कानून बनाने का अधिकार जिन का है, उन के मन में क्या था यह सोचने का काम न्यायाधीश का नही। कानूनो का जो भी अर्थ होता हो, उस के अनुसार ही उसे चलना है। कानूनों की भाषा स्पष्ट न हो, अथवा उस के अर्थ होते हो, तो उस से लाभ उठाने का अधिकार न्यायाधीश अपने हाथ में लेता है। और उसे कोई रोक नही सकता। कानून की भाषा का अर्थ कभी व्यापक, कभी सकुचित कर के थोडी-बहुत प्रगति करना व्यक्ति के लिए और समाज के लिए अपरिहार्य बनता है और समाज में अकसर वैसा किया भी जाता है।

कानून बनाने का अधिकार या तो राजा को होता है या उस के नियुक्त अधिकारी को अथवा प्रजा की ओर से नियुक्त प्रतिनिधियो से बनी हुई संसद्‌सभा को। राजा अथवा संसद्‌सभा कानून के बारे में सर्वसमर्थ होते हैं। कानून बनाना, बदलना या रद्द करना—सारे अधिकार उन्ही के होते हैं।

(कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुम् सर्व-समर्थ. ।)

अब धर्मशास्त्र की बात कुछ अलग होती है। पुराने ज़माने में समाजमान्य ऋषिमुनि ही धर्म का विधान करते थे। राजा अगर सर्वसमर्थ माना गया तो धर्मकार ऋषिमुनियो को 'सर्वहितकारी और सर्वज्ञ' मानना ज़रूरी हो गया। उन्होने जो कहा है वही योग्य है, उस का उल्लघन नही हो सकता, ऐसा जब समाज स्वीकार करता है, तभी समाज का धार्मिक जीवन सम्पन्न होता है। धर्मकार ऋषिमुनि की भी आदत थी कि समाज के नियन्त्रण के लिए नियम बनाते हुए पुराने बडो के वचनो का आधार देना अथवा जो रूढि सनातन काल से चलती आयी है उसी का समर्थन करना।

धर्म के दो हिस्से माने गये। समाज की उन्नति के लिए, अभ्युदय और नि'श्रेयस् के लिए जो हितकर है वह बताने वाला धर्म स्मृतियो में पाया जाता था। और जन्म-मरण के बन्धन से छूट कर निर्वाण या मुक्ति पाने की साधना को मोक्षधर्म कहते है। ऐसा मोक्षधर्म बताने वाले के बारे में कहा जाता है कि या तो वे सर्वज्ञ थे, या प्रत्यक्ष भगवान् ने ही, उन के द्वारा ये आदेश दिये है।

जो भी हो, व्यक्ति और समाज अपने को ऐसे श्रुति-स्मृति ग्रन्थो से और उन के वचनो से बँधे हुए मानते थे। सब ईसाई बायबल के वचनो से बँधे हुए हैं। सब मुसलमान क़ुरान की आज्ञा से बँधे हुए। सब हिन्दू श्रुति-स्मृतियो से बँधे हुए—ऐसा रिवाज शुरू हो गया। हरएक धर्म और पन्थ के लोग मानते हैं कि उन का धर्म ईश्वर की प्रेरणा से ही चला है। अब अगर सब का ईश्वर एक ही है तो ईश्वर की प्रेरणा परस्पर विरोधी नही हो सकती। ईश्वर को प्रत्येक जमाने का, हरएक देश की परिस्थिति का और हरएक समाज की सास्कृतिक योग्यता का बराबर खयाल होने से वह अपनी प्रेरणा बदलता रहेगा। हमेशा के लिए और सब के लिए एक ही प्रेरणा भगवान् क्यो देगा ? निरुपाधिक परिपूर्ण सत्य भले ही एकरूप और सार्वभौम हो, लेकिन धर्मों के सिद्धान्त, रस्मरिवाज और आग्रह समय-समय पर बदलते ही रहेंगे। जिन धर्मो में ऐसे परिवर्तनो की गुंजाइश नही है उन में शास्त्रार्थ के झगडे चलेंगे और शब्दच्छल को बढावा मिलेगा। कानून में भी यदि शब्दच्छल चलता है तो धर्मशास्त्र में अधिक चलेगा।

इंगलैंड में पहले Case Law चलता था। यानी क़ानून न बनाते हुए, पुराने न्यायाधीशो ने जो निर्णय दिये होंगे उन्ही में सब कानून आ जाते हैं, ऐसा माना जाता था। न्यायाधीश के सामने कोई विवाद आया तो पुराना कौन-सा 'केस' यहाँ लागू होता है, यह देखने का काम न्यायाधीश का था। (उस की भूमिका यह रहती थी कि "मैं कोई नया क़ानून नही बना रहा हूँ। जिस-किसी पुराने केस के साथ यह विवाद नज़दीक का हो, उसी का निर्णय यहाँ लागू करता हूँ। परस्पर विरोधी दो 'केस' सामने आने पर न्यायाधीश को कहना पडता था कि 'इस विवाद में वह केस नही किन्तु यह केस लागू है।' इस में सूक्ष्म शब्दच्छल को और तर्क-वितर्क को जगह रहती ही थी। विवाद का निर्णय होने के बाद यह नया निर्णय स्वतन्त्र और प्रमाणभूत माना जाता है। अँगरेजी मे इसे Legal fiction कहते हैं।)

अब धर्मशास्त्र की बात लीजिए। ईसाइयों के लिए तौरात और इंजिल (Old Testament and New Testament) प्रमाणग्रन्थ हैं। तौरात हिब्रू भाषा में है और इंजिल ग्रीक भाषा में। इन के अनुवाद चाहे जितने हो सकते हैं। प्रमाणभूत तो मूल ग्रन्थ। अनुवाद नही। इगलैंड के राजा जेम्स ने विद्वान् धर्मगुरुओ को बैठा कर बायबल का अनुवाद करवाया, तब इगलैंड की धर्मसंस्था चर्च ने मान लेने का निश्चय किया कि अनुवाद करते समय अनुवादक ईश्वर-प्रेरित थे इस लिए यह अनुवाद प्रमाणभूत माना जाये और मूल ग्रन्थ को परे रख कर, अँगरेजी अनुवाद को ही ईश्वर-प्रेरित ग्रन्थ माना जाये। अब अनुवाद

शुद्ध है या नही यह देखने की भी बात न रही। बायबल के उस अनुवाद को Authorised Version कहते हैं।

हमारे यहाँ भगवद्गीता वैदिक धर्म का एक पौराणिक प्रकरण है, जिस में वेदवाद के प्रति आदर नही है। सन्यस्तवृत्ति का तो समादर है किन्तु सन्यास आश्रम की उपेक्षा ही है। इस प्राचीन पौराणिक ग्रन्थ को हम ने अपना प्रधान ग्रन्थ बनाया। वेदान्तियो के लिए और आज के हिन्दुओ के लिए अधिक-से-अधिक मान्य ग्रन्थ यही है। इस गीता को सर्वोपरि, सर्वमान्य प्रामाणिक ग्रन्थ मानने पर उस का अर्थ समझने की बात महत्त्व की बनी। शाकर मत के अनुयायी कहेंगे "शाकर भाष्य का अर्थ ही सही है। दूसरे अर्थ मान्य नही हैं।"

महाराष्ट्र के पुराने-से-पुराने सन्त ज्ञानदेव ने शकराचार्य के भाष्य की मदद ले कर अपना काव्यमय विस्तीर्ण भाष्य मराठी में लिखा—जिस का नाम है 'भावार्थ दीपिका'। अब ज्ञानेश्वर के भक्त कहते हैं कि "हमारे लिए मूल संस्कृत गीता नही किन्तु 'माँ ज्ञानेश्वरी श्रीमद्भगवद्गीता का भाष्य अवश्य है, किन्तु हमारे लिए अन्तिम प्रमाण ज्ञानेश्वरी ही है। मूल गीता से भी बढ कर।"

हमारे जमाने की बात है। महात्मा गान्धी ने भगवद्गीता का गुजराती अनुवाद तैयार किया और आश्रमवासियो को दिखा कर उन की सूचना के अनु-सार शुद्धि-वृद्धि कर के प्रकाशित किया। उस का नाम है 'अनासक्तियोग'। उस की भूमिका में गान्धीजी ने अपनी दृष्टि पेश की है और अनुवाद के बीच-बीच में टिप्पणियाँ दी हैं, जिन में भी उन्होने अपनी दृष्टि विशद की है।

जब अनासक्तियोग के साथ मूल सस्कृत गीता छापने का प्रस्ताव आया तब गान्धीजी ने उसे पसन्द नही किया। उन्होने मुझ से कहा कि "गीता के उपदेश के अनुसार जीने के चालीस बरस के सतत प्रयत्न से जो जीवनदृष्टि बनी है वही इस अनासक्तियोग में दी गयी है। गीता का अनुवाद होते हुए भी इसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ मानना चाहिए। जो इसे पसन्द करते है उन के लिए यह एक मौलिक और प्रमाणभूत जीवनदर्शन माना जाये।"

श्री विनोबाजी ने शकराचार्य, ज्ञानेश्वर और महात्माजी से प्रेरणा पा कर गीता का अपना स्वतन्त्र मराठी अनुवाद तैयार किया और उस के साथ चिन्त-निका और प्रवचन भी दिये। उस में उन का अपना जीवनदर्शन व्यक्त होता है। उन का कहना है कि "पूर्वाचार्यों से विरोधी नही किन्तु कई भिन्न वस्तुएँ उस मे पायी जायेगी। प्रगति की यह निशानी है।"

एक ही ग्रन्थ में से जीवनदर्शन की अनेक शाखाएँ निकल आती हैं। इन शाखाओ में से प्रशाखाएँ और उपशाखाएँ निकलेंगी ही।—जैसा वृक्ष में होता

है वैसा जीवनदर्शन में भी पाया जाता है। ग्रन्थ प्रेरणा देते हैं। जीवनदर्शन हर-एक का उस की श्रद्धा, चिन्तन और अनुभव पर आधार रखता है। इस लिए हम केवल एक ग्रन्थ या एक व्यक्ति पर आधार न रखते हुए प्रेरणा सब आप्त पुरुषो से और आप्त ग्रन्थो से लें। (यहाँ आप्त का अर्थ होता है विश्वासपात्र और आदर के योग्य।) और अन्त में अपनी दृढ श्रद्धा, जीवन का गहरा अनुभव और उस पर का उत्कट चिन्तन—इस त्रयी पर आधार रखे। केवल अन्ध हो कर चले तो जीवन उन्नत नही होगा। जड़ता और विकृति ही जीवन को घेर लेगी।

मैं ने नमूने के तौर पर थोड़े से उदाहरण दिये हैं लेकिन जीवन के तमाम क्षेत्रों में यही बात है। जीवन है ही मौलिक प्रयोगो के लिए। एक भी आदमी का जीवन व्यर्थ नहीं है। भगवान् ने विश्वास रख कर जीवन-प्रयोग का मौका हर एक को दिया है। उस विश्वास के योग्य बन कर हमें अपना जीवन पारमार्थिक बनाना चाहिए। पारमार्थिक यानी गम्भीर—जीवन उपहास नही है, हँसी-मजाक अथवा क्षुल्लक कामो में बरबाद करने के लिए नही है। 'क्षुद्रकामाय नेष्यते'। तुच्छ हेतु के लिए नही है।

(१५ सितम्बर १९६५)

व्यक्तिनिष्ठा बनाम तत्त्वनिष्ठा

व्यक्तिनिष्ठा बनाम तत्त्वनिष्ठा यह सवाल बहुत पुराना है। और उस की संस्कृति देखते यह सवाल दीर्घकाल तक चलनेवाला है। जिस सवाल का हल केवल सिद्धान्त की दृष्टि से न कभी हुआ है, न होनेवाला है। व्यक्तिनिष्ठा और तत्त्वनिष्ठा दोनों पक्ष एक-से सबल हैं, समर्थ हैं और मनुष्य-मानस को हमेशा घेरे हुए हैं।

बुद्धि कहती है, "सत्य तो तत्त्वनिष्ठा को ही अनुकूल है। जो चीज सत्य है, ज्ञानानुकूल है, सर्वकल्याणकारी है, न्यायमूलक है उसी को तत्त्व कहते हैं। तत्त्व वही है जो सत्य है, सारभूत है। बुद्धि, हृदय और भावना ने सदा के लिए जो पसन्द किया है, मान्य किया है, वही तत्त्व है। उस के प्रति निष्ठा रखना मनुष्य का धर्म है। इस तरह की नार्दद व्यक्तिनिष्ठा के लिए हो नही सकती। माता-पिता के प्रति आदर, बडों के प्रति आदर मनुष्य के लिए स्वाभाविक हैं। बुद्धि का असाधारण तेज देखकर मनुष्य-हृदय बुद्धिमानों के प्रति आदर से झुकता ही

है। जिस के हाथ के नीचे काम करने के लिए हम तैयार हुए है उस की आज्ञा का पालन करना हमारा स्पष्ट धर्म है ही। वही आज्ञापालन जब हम उत्साह से, आदर और भक्ति से करते हैं तब उस को व्यक्तिनिष्ठा कहते है। अपनी बुद्धि की अल्पता ध्यान में आने से मनुष्य नम्र हो कर दूसरे की बुद्धि, होशियारी और व्यापक दृष्टि के सामने झुक जाता है। इसी में से व्यक्तिनिष्ठा पैदा होती है। लेकिन किसी भी व्यक्ति के सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ और पूर्ण पुरुष होने की सम्भावना नही है। इसलिए व्यक्तिनिष्ठा में हमारी सामान्यतया समृद्धि होने की सम्भावना मान कर भी व्यक्तिनिष्ठा को हम सर्वश्रेष्ठ नही कह सकते। दस में से नौ दफ़े व्यक्तिनिष्ठा लाभदायी हुई तो भी दसवी दफे व्यक्ति की अपूर्णता के कारण हम खतरे में आ सकते हैं। और खतरे की बात परे रख कर भी हम कह सकते हैं कि अपूर्ण व्यक्ति को, स्खलनशील व्यक्ति को अपने लिए शिरोधार्य बनाना, आत्मा का अपमान करना है। केवल तत्त्व ही, सम्पूर्ण, सर्वहितकारी न्याय्य सत्य ही हमारी निष्ठा का आधार और भाजन बन सकता है। इस से कम किसी भी चीज़ के सामने सिर झुकाना अज्ञता है, जड़ता है और सच पूछो तो गुलामी है। इसलिए व्यक्तिनिष्ठा को गौण बना कर तत्त्वनिष्ठा को ही श्रेष्ठ और ग्राह्य मानना चाहिए।"

तत्त्वनिष्ठा के पक्ष में की हुई यह दलील अकाट्य है। बुद्धि, हृदय और भावना तुरन्त इस दलील को और इस के पीछे की शुद्ध दृष्टि को स्वीकार करता हैं।

तत्त्वनिष्ठा के पक्ष में और भी एक दृष्टि या दलील है।

अपूर्ण मनुष्य अपनी बुद्धि से पूर्ण सत्य को अथवा अन्तिम तत्त्व को प्राप्त करता आया है ऐसा अनुभव नही है। जिस चीज़ को आज हम सत्य मानते हैं वह कल असत्य, अर्धसत्य या विकृत और कलुषित सत्य साबित हो सकती है। इस से डरने का कोई कारण नही है। जिस क्षण जो चीज़ हमें अन्तिम सत्य मालूम होती है उसी के पीछे हिम्मतपूर्वक हम चलें। जिस क्षण मालूम हुआ कि हमारा सत्य पूर्ण सत्य नही है उसी क्षण, उस सबल सत्य को छोड कर नवप्राप्त शुद्ध सत्य को अपनी निष्ठा अर्पण करते जब तक हम हिचकिचाते नही तब तक हमारी सत्यनिष्ठा और तत्त्वनिष्ठा अबाधित है। (एक राजनिष्ठ, मतलबी मनुष्य ने ऐसी ही दलील की थी। वह कहता था, मेरी राजनिष्ठा व्यक्तिनिष्ठ नही है। जिस क्षण राजा राजपद से हटाया जाय उसी क्षण मेरी राजनिष्ठा उसे छोड देती है और उस की जगह जो भी व्यक्ति राजगद्दी पर विराजमान हो जाय उस के प्रति मेरी निष्ठा अर्पित हो जाती है। इसलिए हम लोग कभी-कभी अपनी निष्ठा को राजनिष्ठा न कह कर गद्दी-निष्ठा कहते हैं।)।

सच्ची तत्त्वनिष्ठा में ऐसा मतलबीपन नही होता। क्योंकि गद्दीनिष्ठ मनुष्य अधिकार का तावेदार होता है। और अधिकार में नैतिक श्रेष्ठता होती है ऐसा कोई कह नही सकता। तत्त्वनिष्ठा में जो सर्वोदयी सत्यनिष्ठा होती है वह नैतिकतम होती है। इसीलिए सन्तो ने सत्य को ही धर्म कहा है और परब्रह्म भी कहा है। (सत्या परता नाही धर्म, सत्य तेचि परब्रह्म। सत्यापाशी पुरुषोत्तम, सर्वकाळ तिष्ठत—एकनाथ।)

यह हो गयी तत्त्वनिष्ठा की वात। अब व्यक्तिनिष्ठा की दृष्टि भी समझनी चाहिए। व्यक्तिनिष्ठा कहती है—

जिस सत्य की वात हम करते हैं, जिस की खोज में हम हैं और जिसे हम अपनी निष्ठा अर्पण करना चाहते हैं वह २ + २ = ४ जैसा गणित-सत्य नही होता। गणित का सत्य, तटस्थ तर्क का सत्य और पदार्थविज्ञान शास्त्र (फिजिक्स) जैसे तर्ककर्कश भौतिक विज्ञान के सत्य अलग होते हैं। उन के प्रति सव की निष्ठा अपरिहार्य होती है। इसी को याद कर के श्री आद्य शकराचार्य ने कहा था कि, अग्नि शीतल है, ऐसा सौ-सौ वेदवचन भी अगर हमें कहें तो भी हम उसे मान नही सकते। वही शंकराचार्य जरूर कह सकते हैं कि श्रुति का वचन (वेद का वचन) अन्तिम प्रमाण है। बुद्धि और तर्क का आश्रय ले कर वेदवचनो की मीमासा करने वैठना नास्तिकता है।

व्यक्तिनिष्ठा का प्रतिनिधि कहता है कि हम चाहे जैसे तुच्छ व्यक्ति के प्रति निष्ठा रखने की वात करते ही नही। हमारी व्यक्तिनिष्ठा में सुयोग्य व्यक्ति के प्रति निष्ठा रखने की ही वात है। इतना स्पष्ट करने के वाद हम कहेंगे कि तत्त्वनिष्ठा भी अन्ततोगत्वा किसी-न-किसी व्यक्ति के निर्णय पर ही आधार रखती है।

अब अगर कपिल, कणाद, जैमिनी जैसे महान् ऋषियो को सत्य का दर्शन अलग-अलग हुआ और सोच-विचार कर निर्णय कराने की आकलन शक्ति ऋषियो की जैसी हमारी न रही तो हम क्या करे? इन ऋषियो के विवाद सुन कर वुद्धि दिङ्मूढ होती है और जीवन मे कुछ-न-कुछ निर्णय पर आना ही पडता है। ऐसी हालत में हम अल्पज्ञ और विकासहीन लोग अपनी वुद्धि को अन्तिम निर्णय करने का अधिकार दें तो वह तत्त्वनिष्ठा नही किन्तु स्वव्यक्तिनिष्ठा (आत्मनिष्ठा) ही होगी।

इसलिए हम कहते आये हैं कि सामान्य तौर पर व्यक्ति के निर्णय को महत्त्व नही देना चाहिए, समाज के अभिप्राय को ही प्रमाणभूत मानना चाहिए। अनेक ज़माने में मानव व्यक्तियो ने जो अनुभव प्राप्त किया उसी को निर्णायक

सत्य मानना मनुष्य के लिए हितकर है। किसी भी हालत में व्यक्ति की अपेक्षा समाज श्रेष्ठ है ही। (इसी को व्यष्टि-समष्टि न्याय कहते है।)

यह हुई सामान्य व्यवहार की बात। किन्तु कभी-कभी कोई लोकोत्तर विज्ञानवेत्ता अथवा अध्यात्म का अधिकारी जब कोई नयी बात लाता है तब उस की बुद्धि का, उस के अनुभव का और उस की लोकोत्तर श्रद्धा का नाप हमारे पास न होने से हम केवल उस की व्यक्तिगत महानता का आदर करते हैं और उसी को अपनी निष्ठा समर्पित करते है।

गणित का सत्य तर्कशुद्ध होते हुए भी यान्त्रिक होता है। उस का सवाल हम दोनो, एक ओर रख दें। किन्तु जीवन का सत्य लचीला होता है, प्राणपूर्ण होता है, परिस्थिति बदलने पर अपना रूप भी बदलता है। उसे न पहचानना जड़ता है। जो लोग केवल तर्काधीन रहते है उन को बाज दफ़े समाज तर्क-परतन्त्र अथवा तर्कजड़ कहता है। ऐसे लोगो के हाथ में समाज अपने को सुरक्षित नही मानता। (क्या हम नही जानते कि इस युग के महापुरुष गान्धीजी हर एक सिद्धान्त को व्यवहार की शुद्ध कसौटी पर कसने में मानते थे ? और एक दफे व्यवहार को मान लिया तो या तो बडो के वचनो पर आप को आधार रखना पडता है अथवा हर एक व्यक्ति को अपने निर्णय के अनुसार चलने का अधिकार दे कर समाज-विघातक अराजकता माननी पडती है।)

जब हम सुयोग्य व्यक्ति के प्रति अपनी निष्ठा अर्पण करते है तब उस की धार्मिकता, न्यायपरायणता और सर्वहितकारिता की ओर ही देखते हैं। जिस चीज को हम जीवन का सत्य मानते है उस में परस्पर विरोधी अनेक तत्त्वो के बीच समझौता करना पडता है, लाभ-हानि का विचार करना पडता है, जिसे अँगरेज़ी में balance of expediency कहते है। (कुत्ते ने पानी से भरे हुए मिट्टी के बरतन में मुँह डाला तो पानी फेंक कर बरतन को तोड डालने की बात शास्त्रो ने बतायी है। उसी जगह धातु का बरतन हो तो पानी फेंक कर बरतन मांजने पर शुद्ध होता है ऐसा कहा है। और बरतन में अगर घी रहा और उस में कुत्ते ने मुँह डाला तो ऊपर-ऊपर का घी निकाल कर फेंक देना और बाकी का शुद्ध समझ कर खा लेना ऐसा शास्त्रो का विधान है। इस में केवल एक ही दृष्टि है कि कितनी हानि सहन हो सकती है और कितनी नही। सर्वनाश होने का प्रसंग प्राप्त होने पर मनुष्य आधे को छोड देता है, खाने को तैयार होता है। सर्वनाश सहन करना मुश्किल है।)

ऐसी-ऐसी बातो को व्यवहार की बातें कहें या शास्त्रवचन कहें, वे व्यक्ति-निष्ठा की ही बातें हैं। फिर मन मनाने के लिए हम इष्ट व्यक्ति को प्रामाणिक

और सर्वज्ञ कहते हैं, त्रिकालज्ञ कहते हैं, पूर्ण पुरुष कहते हैं और आखिरकार उसे ईश्वर की विभूति अथवा अवतार भी कहते हैं। शास्त्रो में सत्य जानने वाले सर्वहितकारी, निष्पक्ष व्यक्ति को आप्त कहा है। आप्त याने विश्वासपात्र, अल्-अमीन।

धर्मशास्त्रकारो ने और आज के न्यायालयो ने भी अन्तिम निर्णय ज्युरी के यानी आप्त व्यक्ति के हाथ में रखा है। व्यवहार में बहुत-सी चीजें हम अनिर्णीत नही रख सकते, निर्णय कर के ही आगे बढना पड़ता है। इसी लिए शास्त्रो ने धर्मतत्त्वो का विवेचन करने के बाद कहा है कि कम-से-कम दस ब्राह्मणों को अथवा विद्वानो को इकट्ठा कर के उन से निर्णय माँग लेना। यह कोरम का रिवाज था। कम-से-कम दस की परिषद् को दशावरा परिषद् कहते थे। दस न मिलने पर धर्मज्ञ तीन व्यक्तियो के कोरम (Quorum) को त्र्यवरा परिषद् कहते थे।

क्या यह सब व्यक्तिनिष्ठा के नमूने नहीं हैं? हम कहेंगे कि व्यक्ति यानी अनेक अच्छे मान्य सिद्धान्तो का जीवित रूपरंग। व्यक्ति में केवल बुद्धि नहीं होती, केवल न्यायबुद्धि से वह निर्णय नही देता, न्याय के साथ कल्याण-बुद्धि भी मिला देता है, जिसे अँगरेज़ी में Equity कहते हैं, सस्कृत में इसे 'समम्' कहते हैं। व्यक्ति निर्णय करते समय बुद्धि, भावना, उदारता, दया, क्षमा, सर्वहित-कारिता और मागल्य आदि सब तत्त्वों का एक साथ प्रयोग करता है। सर्वमान्य शास्त्रो का भी अर्थ तो पूज्य व्यक्तियों से ही हम माँग लेते हैं। इस लिए यह स्पष्ट है कि प्राणधारी, शरीरधारी मनुष्य-समाज के जीवन के लिए सत्य का और सारभूत तत्त्व का निर्णय व्यक्ति पर ही छोडना पडता है। अन्ध न्यायनिष्ठा से धर्मज्ञ व्यक्ति का निर्णय अधिक शुद्ध होता है। इस लिए हम निर्णय तो आखिर-कार व्यक्ति पर ही छोड़ेंगे और अपनी सारी शक्ति ऐसे व्यक्ति को पसन्द और मान्य करने में खर्च करेंगे।

लेकिन यह भी हमेशा सम्भव नही होता। भारत और पाकिस्तान का जब बँटवारा हुआ तब कौन-सा मुल्क किस राज्य के पास जाय इस का मुख्य निर्णय होने के बाद बाक़ी का विवादास्पद निर्णय दोनो पक्षो ने एक अँगरेज़ के हाथ में सौंप दिया और उस का निर्णय, जो भी हो, मान्य करने का प्रथम वचन दिया। मनुष्य-व्यवहार में ऐसा करना ही पड़ता है।

और इस के आगे जा कर निर्णय तत्त्व और सिद्धान्त पर नही, व्यक्ति पर भी नही किन्तु रुपया या पैसा हवा में उछाल कर वह जमीन पर जैसे पडेगा उस के अनुसार किया जाता है, जिसे अँगरेज़ी में toss कहते हैं। बड़े-बडे राष्ट्रीय और

आन्तरराष्ट्रीय महत्त्व के सवालो का निर्णय इसी तरह दैवाधीन करना पडता है।

यह सारा विवेचन इस लिए किया है कि इस के वाद जो चर्चा हम करेंगे इस में दोनों पक्षो का खयाल हमारे सामने है, दोनो पहलुओ का महत्त्व हम जानते है, स्वीकारते है सो तो है ही लेकिन यह भी है कि समस्त मनुष्य जाति भी दोनो पक्षो का अनुभवसिद्ध महत्त्व मजूर कर के ही चलती है।

साधारणतया सोचने वाला कोई भी आदमी कहेगा कि "व्यक्तिनिष्ठा गौण चीज़ है, तत्त्व ही श्रेष्ठ है। व्यक्ति आज है, कल नही होगा। व्यक्ति में अनेक तरह के दोष होते हैं, कमज़ोरियाँ होती हैं, स्वार्थवश हो कर या अभिमान से व्यक्ति पाप करने को प्रवृत्त होता है। ऐसे व्यक्ति के प्रति निष्ठा रखना किस काम की ? व्यक्तिनिष्ठा में गुलाम-वृत्ति को ही पोषण मिलता है। डरपोक, कायर या मतलबी मनुष्य ही व्यक्तिनिष्ठा के वश होगा। मनुष्य के लिए तत्त्वनिष्ठा ही योग्य है, इत्यादि।" लेकिन मनुष्यजीवन केवल तत्त्वो का बना हुआ नही रहता है। कभी कभी व्यक्तिनिष्ठा ही जीवन का सार सर्वस्व बनती है। स्त्री की पतिनिष्ठा व्यक्तिनिष्ठा ही है। लेकिन उसी के आधार पर गृहस्थाश्रम चलता है, दाम्पत्य-जीवन सुखी होता है और उसी में से पति-पत्नी की अपत्यनिष्ठा फलित हो कर कौटुम्बिक जीवन कृतार्थ होता है। फ़ौज में सेनापति की आज्ञा का पालन करना एक तरह से व्यक्तिनिष्ठा है, दूसरी तरह से उसे हम तत्त्वनिष्ठा भी कह सकते हैं। वचननिष्ठा—अपने शब्दो की कदर कर के दिये हुए वचन के लिए ज़रूरत पडने पर सर्वस्व का त्याग करना—व्यक्तिनिष्ठा भी है और तत्त्वनिष्ठा भी।

हर राष्ट्र का अपना स्वभाव होता है। भारत के लोग स्वामी-निष्ठा के लिए शुरू से मशहूर हैं। दूसरे किसी राष्ट्र के लोग अपनी तत्त्वनिष्ठा पर नाज़ रखते हैं।

अँगरेज़ो के वारे में कहा जाता है कि वे होते हैं समय-साधु—अवसरवादी। अपने स्वार्थ के लिए वडे जागरूक होते हैं। लेकिन ऐसे चतुर होते हैं कि हर समय किसी न किसी सिद्धान्त को आगे करते हुए अपने को तत्त्वनिष्ठ घोषित करते हैं। उन्ही के लेखक वरनार्ड शॉ ने अँगरेज़ो के इस स्वभाव का मज़ाक उडाया है।

गहराई से सोचने पर लगता है कि किसी भी राष्ट्र, जाति या जमात के बारे में सार्वत्रिक सिद्धान्त वनाना खतरनाक है। हर एक समाज में तरह-तरह के व्यक्ति होते हैं। समाज का स्वभाव भी एक-सा नही रहता। अँगरेज़ लोग वगालियो को वाचाल और कायर कह कर उन की खिल्ली उडाते थे। लेकिन

वगभग के वाद वगालियों ने ऐसी वीरता दिखलायी कि अँगरेज़ स्वय प्रभावित हुए और उन्होंने पुरानी निन्दा छोड दी।

साररूप यही कह सकते हैं कि व्यक्तिनिष्ठा और तत्त्वनिष्ठा दोनों में आर्यता होते हुए भी उन का अतिरेक पागलपन वन जाता है। एक राजा अच्छा हो तो उस का कार्य सिद्ध करने के लिए मनुष्य स्वामिनिष्ठा के नाम पर चाहे सो वलिदान दे सकता है। लेकिन उसी के लड़के के लिए वैसी ही निष्ठा रखना और अन्ध हो कर उसी के पीछे चलना कभी-कभी राष्ट्रद्रोह वन जाता है। व्यक्तिनिष्ठा हो या तत्त्वनिष्ठा हो, उस का भाव अक़्ल-होशियारी से समझना चाहिए। निष्ठा में अन्धत्व के लिए गुजाइश नही होनी चाहिए। वडे-वडे काम तो साथियो की परस्पर निष्ठा से ही सफल हो सकते हैं। किन्तु हमारे देश में हर एक निष्ठा को अन्ध हो कर पकड रखने की आदत हो गयी है। धर्मनिष्ठा अच्छी चीज़ है। किन्तु वही जव रूढ़िनिष्ठा अथवा अभिमान का रूप धारण करती है तव वह दोषरूप वनती है। शास्त्रग्रन्थ के वचनो को पकड कर चलने का अन्धत्व दुनिया के सव देशो में और सव धर्मों में पाया जाता है। इसी के कारण झगडे चलते रहते है और असली मानव हित का द्रोह होता है और सच्ची तत्त्वनिष्ठा ही ग़ायव हो जाती है। परिस्थिति को समझना और जिस वक्त जो वात योग्य है उसी को दृढता से करना यही है सच्चा रास्ता। मनुष्य की समझशक्ति जव दुर्वल होती है तव कोई भी नियम उस के लिए घातक वन जाता है। हर एक समाज के नेताओ का अनुभव है कि लोगो में समझ कम और अन्धापन अधिक होता है। और ऐसा अन्धापन वहुत वार निष्ठा का रूप और नाम धारण करता है।

व्यक्तिनिष्ठा निष्ठा के रूप में चाहे जितनी अच्छी और उन्नतिकर भले ही क्यो न हो, उस में एक वडा दोष आता है। व्यक्तिनिष्ठ आदमी स्वय सोचता नहीं। व्यक्तिनिष्ठ राष्ट्र तो अन्धा वन कर किसी एक आदमी के पीछे चलता है। इस से लाभ हुआ या हानि यह सोचने का होश भी उस में नही रहता और जिसे निष्ठा अर्पण की उस के चले जाने के वाद सारा राष्ट्र किंकर्तव्य-विमूढ वनता है, स्वयं सोच नही सकता और वाज़ दफे ऐसे राष्ट्र के टुकडे हो कर हर एक टुकडा अपने-अपने नेता के पीछे चल कर राष्ट्र का ही नाश कर देता है। राष्ट्र के हर एक व्यक्ति में सोचने की शक्ति तो होनी ही चाहिए, दूसरा इलाज नही है।

(१५ मार्च १९६७)

■

मन्दिरों का सुधार

मन्दिरों का सुधार-१

हमारे देश में मन्दिर, मस्जिद और गिरजाघर बहुत हैं। पता नही कि अन्य देशो में इन की तादाद हम से अधिक है या कम। लेकिन इतना तो हम महसूस करते ही हैं कि हमारे यहाँ पूजा और इबादत के ऐसे मकान हद से ज्यादा हैं। हमारे लोग पहले जितने मन्दिर बनाते थे उतने अब नही बनाते हैं, यह बात सही है। लेकिन पहले मन्दिरो की जितनी हिफाजत होती थी, गिरे हुए मन्दिरो का जितना जीर्णोद्धार होता था उतना अब नही होता है इस लिए बेकार मन्दिरो की सख्या बढती जाती है। गाँव के लोग उत्सव के समय अथवा ऐसे ही किसी मौके पर मन्दिर में इकट्ठा अवश्य होते हैं लेकिन हमारे मन्दिर अब पहले के समान सामाजिक जीवन के केन्द्र नही रहे है।

जब अँगरेजो का राज्य था तब उन की नीति थी कि महत्त्व की बातो में हमारा स्वातन्त्र्य छीन लिया जाये लेकिन गौण बातो में हमारे प्राचीन रिवाज, संस्था या प्रणाली का बडी ही तत्परता से रक्षण किया जाये। धार्मिक और सामाजिक जीवन में कोई सुधार करने निकले तो सनातनी लोग उस का विरोध करते थे, लेकिन अँगरेज भी हमारे जीवन में हस्तक्षेप नही करने के अपने सिद्धान्त की दुहाई देकर रूढिवादियो की ही मदद करते थे।

इस कारण सस्था के तौर पर मन्दिरो में कोई सुधार नही हो सकता था। अब रूढिवाद का रक्षण करने वाली कोई परायी सरकार नही रही है। अब हरेक समाज के नेता लोग लोकमत तैयार कर के जरूरी सुधार कर सकते हैं। इस लिए अब मन्दिर सुधार की बात हमें सोचनी चाहिए। जो बात मन्दिरो के बारे में सोची जायेगी, वही बात मुसलमान समाज अपनी मस्जिदो के बारे में सोच सकेगा।

मेरा पहला सुझाव यह है कि क्योकि मन्दिर आदि सस्थाएँ आबादी की महत्त्व की जगह रोकती हैं, इस वास्ते उन पर टैक्स लगाना चाहिए। यह टैक्स दो प्रकार का हो। मन्दिर कितनी जगह रोकता है, मन्दिर बनाने के

लिए कितना खर्चा हुआ है और मन्दिर चलाने के लिए कुल मिला कर वार्षिक खर्च कितना होता है, यह सब सोच कर एक टैक्स लगाना चाहिए जिसे, हम वास्तु कर या Site tax कह सकते हैं। और दूसरा कर मन्दिरो की कुल आय पर होना चाहिए। जिस मन्दिर की कोई आय ही नहीं और जिस का उपयोग भी जनता नहीं करती है और जिस के लिए लोग Site tax भी देने को तैयार नही हैं, उस मन्दिर को या तो तोड़ देना चाहिए या कोई ऐतिहासिक या कलात्मक महत्त्व होने पर सरकार के पुराण वस्तु सरक्षण विभाग को सौंप देना चाहिए और यह जाहिर करना चाहिए कि उस पर अब उस धर्म पन्थ के लोगो का कोई अधिकार नहीं रहा है। जो मन्दिर रहदारी के रास्ते पर हैं और वाहनादि व्यवहार को रोकते हैं उन पर ज्यादा tax लगाना चाहिए और उस आमदनी से राहगीरो को सहूलियते देनी चाहिए। अगर जनता ऐसा टैक्स देने को तैयार नही है तो ऐसे मन्दिरो की जगह बदलने का हक़ म्युनिसिपालिटी को रहना चाहिए।

बनारस, प्रयाग, गोकर्ण आदि स्थानो पर छोटे-बड़े मन्दिरो की इतनी तादाद है कि बनारस में कही-कही शिवलिंग का उपयोग कुत्तो को करते मैं ने देखा है। ऐसी लज्जाजनक स्थिति को सुधारने के लिए समाज को चेतावनी देनी चाहिए कि मन्दिरो की हिफ़ाज़त समाज नही कर सकता है तो उन को हटाया जायेगा और मन्दिर की विडम्बना बन्द की जायेगी। अगर समाज ऐसे मन्दिरों की भी रक्षा ही चाहता है तो उस के खर्चे के लिए उस समाज के पास से योग्य टैक्स लेने का सरकार को अधिकार होगा। हिफ़ाज़त के लिए कम से कम क्या-क्या करना होगा यह बताने का अधिकार सरकार के हाथ रहेगा। जिस मन्दिर की व्यवस्था अच्छी नही होगी उसे जुरमाना किया जायेगा। पूर्व अफ्रिका में मैं देख आया हूँ कि वहाँ के शहरो में मकान के इर्दगिर्द का बग़ीचा अगर अच्छी हालत मे न रखा तो म्युनिसिपालिटी तुरन्त मकान में रहनेवालो को या मकान मालिक को दण्ड करती है। दण्ड छोटी मात्रा में रहता है और वह भी तुरन्त देना पड़ता है। अगर हम अपने शहरो को और गाँवो को स्वच्छ, निरोगी और सुन्दर रखना चाहें तो हमें भी ऐसे क़ानून बनाने ही चाहिए। यह तो मानी हुई बात है कि केवल क़ानून से कुछ नही होता है। समाज के नेताओं को ही इस बात में ऊँचे आदर्श रखने चाहिए। जहाँ-जहाँ नयी बस्ती तैयार की जाती है, वहाँ-वहाँ आदर्श के नियम बना कर स्पष्ट करना चाहिए कि जो लोग इन नियमों का पालन करने को तैयार हों उन्हीं को वहाँ जगह मिलेगी।

मन्दिर प्रवेश के क़ानून तो सरकार ने बनाये ही हैं। साथ-साथ सामाजिक

शान्ति के नियम भी बनाने चाहिए। जिस से सारी रात भजन के नाम से मन्दिर में कोलाहल न चले और पडोसियो की निद्रा का भग न हो। हमारा सामुदायिक धार्मिक जीवन नियमबद्ध होना चाहिए।

(सितम्बर १९५०)

मन्दिरों का सुधार–२

मन्दिरो के सुधार के बारे में लिखे मेरे लेख को पढ कर भागलपुर से श्री गोपालकृष्ण मल्लिकजी ने कुछ सुझाव भेजे हैं। उन का साराश नीचे दिया जाता है।

"(१) अगर किसी मन्दिर, देवालय या पोखरे पर किसी व्यक्ति या परिवार का ही अधिकार हो और उसे अच्छी हालत में रखने की हैसियत उस व्यक्ति या परिवार की न हो तो उस की सारी व्यवस्था वहाँ के समाज के सुपुर्द करने के लिए उन्हें बाध्य किया जाये।

(२) जिस पुराने मन्दिर और मसजिद की व्यवस्था का सन्तोषजनक प्रबन्ध न हो उस के लिए कानूनन कुछ तुरन्त प्रबन्ध करना या करवाना चाहिए।

व्यवस्था सम्बन्धी सुधार के साथ नैतिक सुधारो का भी आग्रह रखना चाहिए।

(३) जिन महान् मन्दिरो की प्रतिष्ठा के कारण दर्शको की सख्या हमेशा बहुत रहती है उन मन्दिरो के प्रवेशद्वार बडे करने चाहिए। अन्दर हवा और प्रकाश पूरी मात्रा में मिल सके इस के लिए भी खिडकियो का प्रबन्ध करवाना चाहिए।

(४) जगन्नाथपुरी, भुवनेश्वर, कोणार्क, वेळूर, हळेबीड आदि मन्दिरो में जो बीभत्स मूर्तियाँ जगह-जगह पर पायी जाती हैं उन को नष्ट करवा देना चाहिए (मैं इस सुझाव से पूर्णतया सहमत नही हूँ। बीभत्स मूर्तियो को न तोडते हुए वही के वही मिट्टी या चन्दन आदि के नीचे दबा देना चाहिए जिस से समाज के स्त्री-पुरुषो की नजर उन पर न पडे। एक ज़माने के पतन का यह सबूत बिलकुल नष्ट हो जाये यह शायद समाजशास्त्रियो को पसन्द नही होगा। बेहतर तो यह होगा कि कई मूर्तियो के फोटो ले कर बाद में उन को नष्ट किया जाय।)

(५) केवल कुतूहल की दृष्टि से जो लोग मन्दिर में जाना चाहते हैं उन पर वह टैक्स नही लगाया जाये जो यात्रा के हेतु मन्दिर जानेवाले भक्तो से लिया जाता है।

(६) 'जो वात मन्दिर के लिए है वह मसजिदों के लिए भी है।'

इस तरह के कई सुझाव पेश किये जा सकते हैं। स्वराज सरकार का यह आवश्यक कर्तव्य है कि मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर और कब्रस्तान आदि जगहो के वारे में सोचनेके लिए उन-उन समाजो की एक-एक समिति वह नियुक्त करे और उन को सरकार की सामान्य नीति वतायी जाये। जिन स्थानो की हिफ़ाज़त नही हो सकती और जिस का महत्त्व अव कुछ रहा नही है उन्हें समाप्त कर देने का काम उस समाज का है। जो स्थान सँभाल कर रखने है उन की सुरक्षा के लिए समाज अपनी ओर से चन्दा इकट्ठा करे और इस वारे में सरकार के जो क़ानून हो उन का पालन करे। स्वच्छता, सदाचार, शिष्टाचार और आवश्यक शान्ति की दृष्टि से सारा प्रवन्ध सुधारने का काम समाज के नेताओ के सुपुर्द किया जाये।

जिन-जिन स्थानो के प्रति समाज को विशेष श्रद्धा है उन के प्रवन्व के नियम वनाये जायें और सव धर्मों के प्रतिनिधियो की एक समिति वनायी जाये जो सर्व सामान्य नियम वनाये और उन के पालन पर अपनी निगरानी रखे।

अगर ऐसी समिति में मतभेद पैदा हुआ तो सरकार का निर्णय सव को मान्य करना ही चाहिए।

मेरा सुझाव है कि मन्दिरो में भात-रोटी आदि ऐसी चीज़ें नही चढायी जायें जिन में स्पर्शास्पर्श या दृष्टि-दोप का सवाल उठ सके।

(अक्तूवर, १९५७)

जीर्णोद्धार या विसर्जन

जैसा कि और प्रान्तो में भी हो रहा है, महाराष्ट्र में चन्द सेवक अपनी वुद्धि-शक्ति के अनुसार सच्ची ग्रामसेवा कर रहे हैं। अभी एक भाई मिले जिन्होने अम्वर-चरखे का और मद्य-पान निपेव का अच्छा काम किया है। युवको के मन पर प्रभाव डाल कर वे उन से तरह-तरह के अच्छे काम कराते हैं। कही उन्होंने

देखा होगा कि नदी किनारे एक मन्दिर और घाट बहुत बुरी हालत में हैं। उन्होंने नवयुवको की सहायता से घाट पर का और इर्द-गिर्द का कूडा-करकट दूर किया। लोगो को नहाने की अच्छी सहूलियत हुई। उन्होने मन्दिर भी साफ करवाया और किसी से पैसा मांग कर मन्दिर की दीवारो को चूना भी लगवाया।

अपने ऐसे अच्छे अनुभव के बल पर उन्होने एक सम्मेलन में प्रस्ताव रखा कि "अगर इस तरह अपने-अपने विभाग में स्वयंसेवक मन्दिरो का जीर्णोद्धार करें तो बहुत बडी सेवा होगी। सैकडों मन्दिरो की दशा सोचनीय है। अगर नवयुवक सोचें, तो सब के सब मन्दिर स्वच्छ हो सकेंगे।"

जब कभी मन्दिरो के जीर्णोद्धार की बात आती है तब कई सनातनी आत्मा ऐसे कर्मों के प्रति आकर्षित होते हैं और चन्दा दे कर उत्साह के साथ कार्यक्रम अपनाते है।

मैं ने देखा कि इस कार्यक्रम के बारे में कुछ स्पष्ट बात करना जरूरी है। जिस भाई ने नदी-किनारे का मन्दिर और घाट नवयुवकों की मदद से साफ किये उन का अभिनन्दन करते मैं ने कहा कि जिन मन्दिरो के प्रति उपासको की भक्ति जागृत है अथवा जो मन्दिर स्थापत्य कला की दृष्टि से मनोहर और रक्षणीय हैं ऐसो की सूची बना कर देश के सामने सुधार के लिए रखनी चाहिए। लेकिन सब के सब, भले-बुरे मन्दिरो की हिफाज़त का बोझा हम नही उठा सकते।

भक्त-हृदयो के उत्साह के कारण और पुण्यलोलुप या कीर्तिलोलुप धार्मिको के छोटे-बडे पुरुषार्थ के कारण देश में मन्दिरो की सख्या इतनी बढी है कि सब के सब मन्दिरों के जीर्णोद्धार का कार्यक्रम हम बनावे तो समाज सेवा के सब काम छोड कर पचास-साठ बरस तक यही काम करना पडेगा। और तब तक सुधरे हुए मन्दिर भी फिर से जीर्ण होने लगेंगे और फिर से मरम्मत के अधिकारी बनेंगे।

जब अँगरेज़ राज्यकर्ता इस देश को छोड गये, तब उन्होंने इस देश में जगह-जगह पायी जाने वाली गोरो की श्मशानभूमि (cemetery) का भी विचार किया। उन्होने तय किया कि सब की सब श्मशान भूमियों की हिफाज़त करना नामुमकिन है। इस लिए महत्त्व की चन्द श्मशान भूमियो की हिफाजत का उन्होने प्रबन्ध किया और बाकी के सब क़ब्रस्थान क़ुदरत को लौटा देने का उन्होने निश्चय किया। इस तरह जिन कब्रस्थानों का विसर्जन किया गया, वहाँ की दीवालें टूट जायें, उन के पत्थर और स्मारक-पत्थर भी कोई उठा कर ले जाये तो कोई शिकायत नहीं करेगा।

सारे समाज को इकट्ठा कर के हम लोग कभी ऐसा निर्णय नही करते।

लेकिन हमारी सामान्य नीति भी यही है। लावारिस मन्दिर, मसजिद या गिरजाघर, समाधि या कब्रे हम कुदरत की मर्ज़ी पर छोड़ देते हैं। बम्बई के इर्द-गिर्द मैं ने ऐसे गिरजाघर देखे हैं जो उजाड और गिरने की हालत में हैं। कब्रस्थान और मसज़िदे भी ऐसी हालत में पायी जाती हैं। बहुत वरस हुए, बडोदा में गोया गेट के पास मैं ने ऐसे टूटे मन्दिर देखे थे जिन की जगह चन्द मुसलमानो ने खरीद कर वहाँ मदरसे बाँध दिये थे। मन्दिर की जगह बेचने वाले हिन्दू थे, खरीदने वाले मुसलमान थे। किसी के मन में धार्मिक झगडा पैदा कर के खून वहाने का खयाल नही आया।

आज बनारस में हम देखें तो शायद मनुष्यो के मकानो की सख्या और छोटे-मोटे मन्दिरो की सख्या कही-कही एक-सी होगी। बनारस में रह कर या जा कर मरने वालो की तादाद काशी की बस्ती से ज़रूर ज्यादा होगी। और दक्षिण में हैदराबाद में जहाँ देखें तहाँ इतनी क़ब्रे भली-बुरी हालत में पायी जाती हैं कि उन की गणना करने के लिए एक बडा महक़मा खड़ा करना पड़ेगा।

इस दिल्ली मे भी मैं ने ऐसे स्थान देखे हैं कि जहाँ पहले क़ब्रस्थान था। अब उस का वैसा उपयोग कोई नही करता। जब कभी गड्ढे भरने के लिए मिट्टी की जरूरत होती है तब ऐसे पुराने 'उजाड़' कब्रस्थान की मिट्टी खोद कर गधे या बैल पर लाद कर ले जाते हैं। कोई उस की शिकायत नहीं करता। सिर्फ़ जब क़ौम-क़ौम के बीच, सम्प्रदाय-सम्प्रदाय के बीच झगड़ा शुरू होता है तब हर एक मरे हुए आदमी को वीर कह कर उस की क़ब्र को शहीद होने से बचाने के लिए ज़िन्दे आदमी अपना और दूसरो का खून बहाते हैं।

उत्तम उपाय तो यह है कि मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर, समाधियाँ, क़ब्र-स्थान आदि सार्वजनिक स्थानों के बारे में उस समाज के शरीफ लोगो की समितियाँ बना कर उन को कहना चाहिए कि कौन से स्थान सुरक्षा के लायक़ हैं और कौन से मकानो का विसर्जन करना लाजमी है।

मैं तो यह भी कहूँगा कि जब ज़िन्दे आदमियो को रहने के लिए जगह मिलना मुश्किल हो गया है और लोकसेवा के सार्वजनिक मकानो के लिए अनुकूल जगहें नही मिल रही हैं, जहाँ हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आदि जमातें धर्मस्थान या कब्रस्थान के नाम से जगह ले बैठती हैं उन के पास से पक्षपात रहित सामुदायिक कर (टैक्स) लेना चाहिए। अगर समाज किसी मकान को या श्मशान को पवित्र और उपयोगी समझता है तो उस के लिए वार्षिक कर देने की उस समाज की तैयारी होनी चाहिए। जो स्थान या मकान सारे राष्ट्र के लिए पवित्र और आदरणीय हैं उन की सूची बना कर उन के लिए अलग

प्रबन्ध किया जा सकता है। लेकिन आम तौर पर मन्दिर, मसजिद, गिरजा घर, आदि मकान ज़रूरत से ज्यादा नही रखने चाहिए। और जो रखे जाते- हैं उन की हिफाज़त उस जमात के द्वारा कानूनन करवानी चाहिए। जिस स्थान की हिफाज़त समाज के द्वारा नही हो सकती उसे साफ कर के सरकार को या समाज को सौंप देना चाहिए, ताकि उस भूमि का अच्छा उपयोग हो सके।

मन्दिर बढते जाते हैं, त्योहार बढते जाते हैं, लोगो के धार्मिक रिवाज बढते जाते हैं और प्रजा के सार्वजनिक जीवन का सकोच होता जाता है। ऐसी हालत का इलाज करना ही चाहिए।

(१२ मई, १९५६)

मन्दिर-शुद्धि

जब दिल्ली में मैं ने सुना कि वैद्यनाथ धाम के पडाओ ने या चन्द रूढिवादी सनातनियो ने श्री विनोबा भावे पर आक्रमण किया, तब मुझे आनन्द हुआ। श्री विनोबा को विशेष चोट न लगी इस का आनन्द गौण वस्तु थी। मुझे इस बात का आनन्द था कि सनातनियो ने अपनी गुप्त विरोध नीति छोड कर सीधा हमला करना आवश्यक समझा। मुझे विश्वास है कि रूढिवाद के इस एक कदम से रूढ़िवाद की अपनी कबर खुद गयी है।

सनातन हिन्दू-धर्म का दुर्भाग्य है कि उस ने अपने रक्षण का भार अन्ध रूढ़ि और जड परम्परा के हाथ में सौंप दिया है। अन्ध रूढि और जड परम्परा केवल जड और अन्ध ही नही, वह कायर और धूर्त भी है।

रूढिवाद ने हमारे ब्राह्मणो को सकुचित बना दिया। उन्होने कहना शुरू किया कि धर्मशास्त्र तो सिर्फ ब्राह्मण ही पढ सकते हैं। बाक़ी के सब लोगो को धर्म के बारे में अज्ञान रखने में ही रूढिवाद ने अपनी सुरक्षा देख ली। ईश्वर की कृपा थी कि भारत के सन्तो ने इस रूढ़िवाद का प्रतिवाद किया और धर्म का ज्ञान आबालवृद्ध सब को दे दिया।

रूढिवाद ने हमारे राजाओ को और उन के मन्त्रियो को जड बना दिया और देखते-देखते देश परतन्त्रता के गर्त में जा गिरा। रूढ़िवाद ने पुराने इतिहास का लोप किया। वर्तमान इतिहास की उपेक्षा की और भविष्य में भी कोई जाग्रति न पैदा हो इस लिए ऊटपटाग भविष्य पुराण भी लिख मारा।

सर्व-नाश का इतना माद्दा तैयार करने के वाद देश में अगर परतन्त्रता आ जाये तो इस में आश्चर्य ही क्या है ?

मन्दिर प्रवेश की ही वात हम सोचे। उन्होने पूजा का अविकार सिर्फ़ व्राह्मणो और पुजारियो के हाथ में ही रखा। हरिजनो को तो मन्दिर प्रवेश निषिद्ध ही कर डाला। लेकिन मैं ने एक ऐसा भी सनातनी मन्दिर देखा है जिस में मन्दिर में प्रवेश पानेवाले सवर्ण हिन्दुओ को आज भी शर्म नही है कि जहाँ ये सवर्ण पुरुप दर्शन के लिए जा सकते हैं वहाँ तक उन की माताओं को, वहनो को, पत्नियों को और लडकियो को प्रवेश का अविकार नही है। क्योंकि वे स्त्री जाति हैं।

दुर्वलो का दमन करने वाले इस रूढिवाद की विदेशी राज्यकर्ताओ के सामने कुछ न चली। भिन्न-वर्मी राजाओ के राजकर्मचारी इन सनातनी रूढ़िवादियो की मर्यादा थोडे ही मान्य रखनेवाले थे! कई वार भिन्नवर्मी राजकर्मचारियो ने मन्दिरो में जा कर तहकीक़ात की है। तव ये निर्वीर्य रूढिरक्षक असमंजस में पडे कि अव क्या किया जाये। गाय की विष्ठा और मूत्र से मन्दिर को पवित्र कर सकते थे। लेकिन अगर इस से भी चिढ कर राज्य कर्मचारी सजा करें तो ?

रूढिवाद का वुद्धिवल कभी हारा हुआ नही है। उस ने वर्मशास्त्र की मदद ली और कहा—'ना विष्णु पृथिवीपति' पृथ्वीका मालिक राजा मनुष्य होते हुए भी प्रत्यक्ष विष्णु ही है। इस वास्ते वह तो मन्दिर में आ ही जायेगा।

राजा का यह अविकार मान्य करने के वाद इन कायरों ने युक्तिवाद चलाया कि राजा शव्द में राजा के सव कर्मचारी भी आ जाते हैं। यहाँ तक कि कोई पुलिस भी आ जाये तो वह भी राजा का प्रतिनिवि होने के कारण नररूपेण खडा रहने वाला वह एक वडा देवता ही है।

इस तरह चाहे किसी भी वर्म का हो, राजा, उस के कर्मचारी और उस की पुलिसो को मन्दिर प्रवेश की इजाजत वर्मशास्त्र से ही सिद्ध हुई। राज्यकर्त्ता के साथ राज्यकर्त्ता के वर्म के सव लोगो को भी एक तरह की प्रतिष्ठा देने का इलाज सनातन रूढि के पास है।

गुजरात में अगर कोई वर्म मार्तण्ड व्राह्मण हरिजन को छू जाये तो इस महापाप का प्रायश्चित्त रूढिवाद के अनुसार दो तरह से हो सकता है। या तो वह सनातनी वर्मनिष्ट पुरुप अपने कपडे उतार कर भिगो ले और स्वयं नख-शिखान्त स्नान कर ले या अगर इतनी तकलीफ वरदाश्त न हो सके तो किसी मुसलमान को जा कर छू ले। सव पाप उतर जाता है। जव महात्मा गान्वी शुरू-शुरू के दिनों में अस्पृश्यता निवारण के लिए गुजरात में दौरा करते थे तव

कभी-कभी उन के साथ मुहमदअली शौकतअली भी जाते थे। सनातनियों ने यह अच्छा मौका पाया। सभा में खब आने लगे। जब तक सभा में अलीवन्धु जैसे विशालकाय मुसलमान हैं तब तक अस्पृश्यता का डर बिलकुल नही था। जब यह बात महात्माजी के ध्यान में लायी गयी तब उन्हें इस का स्पष्टीकरण करना पडा।

सनातनियो की एक दूसरी खूबी हैं। अगर किसी कुत्ते ने मिट्टी के घडे के पानी में मुँह डाला तो वे कहेंगे कि पानी फेंक दो और घडा तोड दो। मगर धातु के बरतन में कुत्ते ने मुँह डाला तो कहेंगे कि पानी फेंक दो और बरतन आग पर रख कर गरम करो तो शुद्ध हो जायगा। लेकिन अगर किसी कुत्ते ने घी के कनिस्तर मे मुँह डाला या थोडा चाट भी लिया तो ऊपर-ऊपर का थोड़ा सा घी फेंक देने से काम चल जायेगा। कनिस्तर और कनिस्तर का घी अशुद्ध नही माना जायेगा। इसी तरह अगर वडे मेले मे सैकडो और हजारो लोग इकट्ठा हुए और उन में अनजान में हरिजन आये और उन का स्पर्श हुआ तो ऐसे समय पर 'स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते,' छुआछूत है नही।

ऐसा कह कर वे रोजमर्रा के जीवन में छुआछूत कायम रख देते हैं। अगर किसी ब्राह्मण को लाचारी से किसी ब्राह्मणेतर के साथ एक पक्ति में बैठना पडे तो पक्तिभोजन का दोष टालने के लिए वह चुपचाप कोयले की एक लकीर दोनो के बीच खीचेगा। और कहेगा कि लकीर के कारण एक पक्ति की दो पक्तियाँ हो गयी। इस वास्ते पक्तिदोष नही रहा। भोजन करते-करते अगर पडोस के आदमी का स्पर्श हुआ तो गुस्से मे आकर ब्राह्मण थाली छोड कर चला जायेगा, लेकिन अगर ऐसा नही कर सकता है तो पानी का स्पर्श अपनी दो आँखो से कर के शुद्ध हो जायेगा और आराम से खायेगा।

यह सब कहने का अर्थ इतना ही है कि आचरण में रूढिवादी से चाहे जितनी तबदीली करवाइए, छुआछूत का भेद वह दिल से हटने नही देगा। अगर बिहार के मुख्य मन्त्री श्रीबाबू हरिजनो को ले कर देवगढ के मन्दिर में गये तो सनातनी कहेंगे कि वे तो राजपुरुष हैं—प्रत्यक्ष विष्णु के अवतार। उन के साथ जितने भी लोग आयेंगे उन के दर्शन और स्पर्श से उस वक्त के लिए पवित्र होगे।

ऐसी लचीली रूढि को तोडना आसान नही है। मन्दिर के पडे-पुजारी अकसर इतने लोभी और अवसरवादी होते हैं कि उन को दबाने से वे दब तो जाते है, लागूलचालन करने के लिए भी तैयार होते हैं। लेकिन मौका मिलते ही अपनी पुरानी चाल कायम रखते है।

इस लिए सच्चा उपाय यही है कि जिस तरह सिख लोगो ने गुरुद्वारा शिरोमणि प्रवन्वक सभा क़ायम कर के सत्याग्रह के वल पर अपने-अपने गुरुद्वाराओ का क़ब्ज़ा ले लिया उसी तरह शुद्ध सनातनियो को इन मन्दिरों का क़ब्ज़ा रूढ़िवादियों से छीन लेना चाहिए और मन्दिरो की व्यवस्था में आमूलाग्र परिवर्तन करना चाहिए।

स्वराज्य के दिनो में सत्याग्रह करने की आवश्यकता नही है और शिरोमणि सभा के जैसी किसी एक जमात के हाथ में मन्दिर का क़ब्ज़ा देने की जरूरत नही है। जिस तरह मद्रास की ओर Temple's Endowment Act हुआ है और मन्दिरो की ओर से होने वाले खर्चे का प्रवन्व मुक़र्रर किया है इसी तरह सारे देश में मन्दिरो की सम्पत्ति का विनियोग सुव्यवस्थित हो जाये ऐसा इलाज करना चाहिए।

सव से पहले यह तय होना चाहिए कि मन्दिरों पर किसी व्यक्ति विशेष का स्वामित्व न रहे। सारे समाज का स्वामित्व रहे। इस में हरिजन भी शुमार हो। और मन्दिर की प्रवन्धक समिति में चमार या भंगी में से कोई-न-कोई एक सदस्य अवश्य हो।

दूसरी वात यह तय हो कि मन्दिर में कोई पुजारी न हो। भक्त लोग पहले से इजाज़त ले कर अपना क्रम और समय तय करें। और उस समय जा कर मन्दिर में पूजा करें। मन्दिर की साफ़-सफ़ाई का और उत्सवों का प्रवन्व प्रवन्वक समिति के द्वारा हो। मूर्त्ति को अभिषेक करने का और नैवेद्य चढाने का अधिकार हरिजन आदि सव जातियो को रहे।

मन्दिर में जो नैवेद्य या भोग चढाया जाता है उस में भात-रोटी आदि कच्ची रसोई के पदार्थ विलकुल न हों। सूखामेवा, ताज़ामेवा और मिठाई आदि सर्वग्राह्य चीजो का ही भोग लगाने का नियम हो।

मन्दिर में नामस्मरण या कीर्तन के नाम शोरगुल और कोलाहल करने की इजाज़त किसी को न हो। मन्दिर में शान्त, गम्भीर, पावन और प्रसन्न वायुमण्डल रखा जाये और वहाँ पर अगर संगीत का प्रवन्ध रहा तो वह भी सात्त्विक ढग का हो। मन्दिरो में रणभेरी आदि जंगी वाद्यो के लिए अवकाश नहीं होना चाहिए।

उत्सवो के दिन सव लोगो को मन्दिरो में वुलाया जाये और शुद्ध सात्त्विक भक्ति का और मानवोचित सदाचार का उपदेश भी हो या सन्त साहित्य का पारायण चले।

मन्दिरों की सम्पत्ति में से संस्कृत भाषा का अध्ययन विना किसी भेदभाव

के सब लोगो को सुलभ किया जाय। सस्कृत में पाली, अर्धमागधी आदि भाषाएँ भी आ जाती है। मन्दिर के साथ एक पुस्तकालय भी अवश्य हो जिस में लोगो को धर्म का ज्ञान और धार्मिक पुस्तकें पढ़ने का अवसर मिले।

' मन्दिर के साथ एक पशु चिकित्सालय भी अवश्य होना चाहिए। जिस के ज़रिये गाय, बैल, घोडा, कुत्ता आदि सब ऐसे पशुओ की सेवा हो जिन की सेवा मनुष्य हमेशा लेता आया है।

इस तरह मन्दिरो के द्वारा धर्मोचित समाज-सेवा के अनेक प्रकार हम चला सकते है। आजकल मन्दिरो में जो अनाचार चलता है, देवदासियो को मन्दिरो में रखा जाता है वह सब तुरन्त बन्द होना चाहिए। सब के सब मन्दिर धर्म-प्रधान सस्कृति के जीवित केन्द्र बनने चाहिए।

हमारे मन्दिरों में जहाँ-तहाँ धर्मवचन लिखने या खुदवाने का प्रयत्न नही होना चाहिए। ऐसे वचनो से मन्दिरो का वायुमण्डल जैसा चाहिए वैसा नही रहता। धर्मवचनो के लिए एक अलग कमरा या कक्ष रखना चाहिए, जिस में धर्मवचन की अनेक शिलाएँ पारी-पारी से रखी जा सकती हैं।

मन्दिर जो आज जड जरठ रूढिवाद के क़िले बन गये है उन्हें जीवित, प्रगतिशील मानवता के विकास के केन्द्र बनाना चाहिए। और उन का प्रबन्ध समाजमान्य सदाचारी लोक-सेवको के हाथ में रखना चाहिए।

श्री विनोबा के ऊपर जो घातक आक्रमण हुआ उस के फलस्वरूप अगर मन्दिरों की व्यवस्था मे इतना परिवर्तन हो जाय तो वह एक बडा लाभ ही होगा। सन्तों के कष्टो का लाभ समाज को पूरा-पूरा मिले यही इष्ट है।

(नवम्बर १९५३)

ख़ानगी मन्दिरों को हम ठीक करें

जब से अस्पृश्यता-निवारण के कानून देश में सर्वानुमति से स्वीकृत होने लगे तब से जगह-जगह मन्दिरो के ट्रस्टी लोग कानून की बारिकियाँ ढूँढने लगे हैं कि बचने का कोई उपाय है या नही।

वे क्यो नही जानते कि जहाँ महात्माजी जैसे पुण्यपुरुषो की और धर्मप्राण व्यक्तियो की प्रेरणा से सारे राष्ट्र ने और समस्त हिन्दू समाज ने तय किया है

कि अस्पृश्यता का कलक दूर करना ही है तव कानून की खामियाँ ढूँढ़ना मिथ्या प्रयत्न है, समय का, धन का और वुद्धि का केवल दुरुपयोग है ?

वकीलो को और वॅरिस्टरो को लड़ने पर दोनो तरफ़ से लाभ ही है। वे तो "स्वस्ति रामाय, स्वस्ति रावणाय" कहेंगे ही।

मन्दिर के अर्थलोभी ट्रस्टी लोग डरते होंगे कि हरिजनो के मन्दिर में आने से रूढिप्रिय सनातनी लोग मन्दिर में कम आयेंगे और मन्दिर की आमदनी कम होगी। कई मन्दिरो का अनुभव इस से उल्टा ही हुआ है। दक्षिण में मदुरा की तरफ के एक मन्दिर के वारे में मैं जानता हूँ कि वह मन्दिर हरिजनो के लिए खुला होते ही चन्द ब्राह्मणो ने उस मन्दिर में जाना छोड़ दिया। जव ब्राह्मणेतरो को इस वात का पता चला तव वे खसूसन इसी मन्दिर में दर्शन के लिए जाने लगे। वही पर दक्षिणा देने लगे। फल यह हुआ कि इस मन्दिर पर जो पुराना कर्जा था वह तो नयी आमदनी से दूर हो ही गया, मन्दिर के ट्रस्टियो ने मन्दिर के इर्द-गिर्द नये मण्डप और कमरे वना दिये और आज उस मन्दिर की हालत ईर्ष्या करने लायक़ है।

जहाँ देखें मन्दिर के ट्रस्टी कहते हैं कि हमारा मन्दिर सार्वजनिक नही है। मुट्ठीभर खानगी लोगो के स्वामित्व का यह खानगी मन्दिर है। इस में क़ानून हरिजन प्रवेश की जवरदस्ती नही कर सकता।

ऐसी परिस्थिति में हमारा सुझाव है कि हम कानून का अर्थ स्पष्ट करने के लिए मुकदमा तैयार कर कोर्ट में न जाये। ऐसा नया कानून वनाने की कोशिश भी हम न करें कि मन्दिर—सार्वजनिक हो या खानगी—जहाँ वहुत-सी जनता या कोई वडा वर्ग दर्शन के लिए जा सकता है उस मन्दिर में हरिजनो का प्रवेश होना ही चाहिए। हम इस से एक आसान रास्ता सुझाते हैं। सरकार निम्नलिखित योजना अमल में लावे—

१. सरकार सव मन्दिरो के ट्रस्टियो से पूछे कि आप का मन्दिर सार्वजनिक है या खानगी ? खानगी मन्दिरों का एक रजिस्टर वना कर सरकार स्पष्ट करे कि इतने मन्दिर आज से खानगी गिने जायेंगे।

२ इस के वाद सरकार स्पष्ट करे कि जो मन्दिर खानगी हैं उन को Charitable Endowment Act जैसे क़ानूनो का लाभ नही मिलेगा। याने ट्रस्ट रजिस्टर वनाना होता है तव रजिस्ट्रेशन फी माफ़ होती है या कम ली जाती है इस का लाभ उन को नही मिलेगा। शहर नगरपालिका की तरफ़ से पानी का, विजली का अथवा ऐसी दूसरी सेवा का टॅक्स अगर मन्दिरों को कम देना पडता हो तो ऐसी सहूलियत भी वन्द की जाय।

और सब से महत्त्व की बात यह कि आमदनी के ऊपर जो income-tax लिया जाता है उस में भी खानगी मन्दिरो को धर्म-संस्था को मिलने वाले लाभ नही मिलेगे। मिल मालिको को, बडे-बडे कारखानदारो को, ज़मीदारो को और पूँजीपतियो को जिस हिसाब से टैक्स देना पडता है उसी हिसाब से मन्दिरो की आमदनी पर टैक्स लिया जायेगा।

जब देश को अनेक पचवर्षीय योजनाओ के लिए धन की आवश्यकता है, खानगी मन्दिरो की आमदनी में से पचीस प्रतिशत से ले कर नब्बे प्रतिशत तक अगर कर लिया जाय तो जनता के सिर पर का बोझा कुछ कम हो जायेगा।

३ जब उत्तर प्रदेश में ज़मीदारी विसर्जन का कानून पास हुआ तब कई मन्दिरो के मालिक श्री गोविन्द वल्लभ पन्तजी के पास गये थे। और पन्तजी ने उन को आश्वासन दिया था कि आप के मन्दिर सार्वजनिक ट्रस्ट हैं। आप की ज़मीने खालसा नही की जायेगी।

खानगी मन्दिरों के लिए ऐसा आश्वासन हो नही सकता। इसलिए जिन मन्दिरों के पास बडी-बडी इस्टेट हैं, ज़मीन, बगीचे, बडी-बडी कोठियाँ और हवेलियाँ है वे अगर खानगी मन्दिर है, हरिजनो को अन्दर आने नही देते तो उन के लिए भी ज़मीदारी विसर्जन का कानून लागू करना चाहिए। इस के लिए ज़रूरत पडने पर कानून भी बनाया जा सकता है। या पुराने क़ानून में ज़रूरी सुधार भी किया जा सकता है।

अगर स्वराज्य सरकार ने इतना काम कर लिया तो हरिजनो को ले कर सनातन मन्दिरो के सामने न सत्याग्रह करना पडेगा न मोर्चे ले जाने पडेंगे। कोर्टबाजी का खर्च भी बच जायेगा और बहुत से मन्दिर के ट्रस्टी स्वय अपनी तरफ से ज़ाहिर करेंगे कि हमारे मन्दिर सार्वजनिक हैं। वे स्वय ही हरिजनो को आमन्त्रण देंगे, स्वागत समारम्भ करेंगे। दगा फसाद नही होगा। कही भी कटुता नही रहेगी और जहाँ लोग अत्यन्त रूढिग्रस्त है उन के मन्दिरो से सरकार को काफी आमदनी होगी जो अस्पृश्यतानिवारण के कामो के लिए अकित (earmarked) बनायी जा सकती है।

सुना है कि दक्षिण में ईसाइयो के चन्द गिरजाघरो में हरिजनो के खिलाफ पक्षपात किया जाता है। सवर्ण ईसाइयो के साथ हरिजन ईसाई घुल-मिल कर प्रार्थना नही कर सकते। हरिजन ईसाइयो के लिए श्मशान भी अलग हैं। अगर ऐसा रिवाज आज भी प्रचलित है तो ऐसे गिरजाघरो को ठीक करने का रास्ता आसानी से ढूँढ निकाला जा सकता है।

जब हम अस्पृश्यतामूलक भेदभाव मिटाने पर तुले हैं तब ईसाई, मुसलमान आदि समाजो में भी देखना चाहिए कि किस हद तक भेदभाव अब भी जारी है और उसे दूर करने की प्राणपण से कोशिश होनी चाहिए। समाजनेता और राष्ट्रीय सरकार दोनो संकल्प करें कि इस एक दोष को हम पांच बरस के अन्दर समूल दूर करेंगे।

(१५ मार्च १९६१)



साधु और समाज

साधु और समाज

किसी ने कहा कि हमारा साधु हमारे समाज का आदर्श पुरुष नहीं है। इस बात को सुन कर हमारे एक मित्र कुछ घबरा गये और उन्होने मुझे लिख कर पूछा कि इस में मेरी राय क्या है।

यह जमाना अर्ध-सत्य का है। लोग थोडा कुछ सोचते है, कुछ नतीजे पर आते हैं और अपने खयाल को ऐसे शब्दो में रखते हैं कि मानो वही परम सत्य है। अगर मैं जवाब दूँ कि हमारे साधु हमारे समाज के लिए आदर्श हैं भी और नही भी तो इस से क्या बोध होगा ?

हिन्दुस्तान में सब तरह के साधु हैं। जितने लोग साधु का वेश पहनते हैं। साधु की भाषा बोलते हैं, साधु की गद्दी चलाते हैं, वे सब के सब साधु होते ही हैं ऐसा नही है। लेकिन सवाल यह नही है। सवाल यह है कि क्या समाज उस आदर्श को अपना सकता है जो साधुओ के लिए बताया गया है ? अगर सारा समाज उन्ही के ढग पर चलेगा तो क्या समाज का हित होगा ? थोडी मिसालो को हम सोचे।

मैं ने एक साधु देखा है जिस ने अपना दाहिना हाथ सूर्य भगवान् को सौप दिया था। उस हाथ को वह हमेशा अपने सिर पर ही रखता था। सारा काम बायें हाथ से ही करता था। नतीजा यह हुआ कि उस का दाहिना हाथ करीब-क़रीब सूख गया था। अगर उसे हिलाने की सोचता तो भी हिला नही सकता। व्यक्ति को हमारी दुनिया साधु ही कहेगी। मैं उसे तमोगुणी भक्त और प्रयोगवीर कहूँगा। प्रयोगवीर में परिणाम देखने की और सोचने की शक्ति होनी चाहिए। वह उस में होती तो वह अपने प्रयोग को पूरा आज़माने के बाद छोड देता। बुद्ध भगवान् सच्चे प्रयोगवीर थे। उन्होंने कई बातें आज़मायी और छोड दी। रामकृष्ण परमहस भी प्रयोगवीर थे। प्रयोजन पूरा होते ही वे अपने जीवन में परिवर्तन करते गये।

तितिक्षा—इन्द्रियों द्वारा सब तरह की कठिनाइयाँ सहन करनी और अपनी

सब कमजोरियाँ हटाकर इन्द्रियो पर विजय पाना—यह है साधुता का प्रथम लक्षण। मामूली आदमी मे जो सहन शक्ति नही होती है वह साधुओ में पायी जाती है। लेकिन वही शक्ति उच्च समाज-सेवकों में और शूरवीरों में पायी जाती है। जो लोग साधु का वेश ले कर बैठते हैं वे शायद तितिक्षा का अतिरेक करते हैं लेकिन उन के पास से समाज इतना तो सीख ही सकता है कि सादगी, सयम और परोपकार के बिना हम जीवन के आदर्श तक नही पहुँच सकते हैं। जो लोग औरो को बचाने के लिए अपनी जान खतरे में डालते हैं वे भी तो साधु पुरुष हैं। जो लोग समाज-सेवा करते-करते अपनी सारी जिन्दगी गला डालते हैं वे अगर साधु नही तो साधु है कौन ?

अकसर साधुओ की तीन बातें सारा समाज ग्रहण नही कर सकता है। साधुओ को धन का लोभ नही होता है। उन की जिन्दगी बिलकुल सादी होती है। जीने के लिए उन्हें बहुत थोडी चीजें काफ़ी होती हैं। ऐसी हालत में साधु लोग अपनी रोजी कमाने में समय नही खरचते है। साधुओ के द्वारा समाज की सच्ची, या मानी हुई, इतनी सेवा होती है कि साधुओ को वह खिलाना-पिलाना समाज के लिए बोझ रूप नही होता है। बेशक, सच्चे और अच्छे साधु की यह बात है। दूसरे साधु भी होते हैं जो झुकने वाली दुनिया को झुकाने मे बडे उस्ताद होते हैं।

साधु लोग समाज की सेवा कर के—नैतिक और तबीबी सेवा करके—थोडा कुछ दान लेते हैं और वे समाज के आश्रित माने जाते है। इधर डॉक्टर भी समाज की भली-बुरी सेवा कर के मनमानी फीस लेते हैं वे आश्रित नही माने जाते हैं। वे तो स्वाश्रयी ही नही किन्तु कमाने वाले समाज के उद्धारक माने जाते है।

सच्चा साधु गाँव के लडने वाले दो भाइयो को बुला कर उन के बीच समझौता करा देता है और दिल-सफ़ाई भी कर देता है। वकील और बॅरिस्टर अदालत में जा कर भाइयो के झगडे में मदद करता है। समझौता नही लेकिन कोरे इन्साफ़ की बात वह सोचता है।

तो भी इतना तो कहना चाहिए कि साधु जिस तरह अपनी आजीविका के लिए समाज पर निर्भर रहता है वैसे मामूली लोग नही रह सकते। इस दरजे साधु समाज का आदर्श नही बन सकता।

मेहनत कर के अपनी रोजी कमाने वाले साधु कभी नही थे, सो बात नही। कबीर जुलाहा था। गोरोबा कुमार था। रैदास चमार था। सदन कसाई था। खिस्ती धर्म को व्यवस्थित रूप देने वाला सेन्ट पॉल तम्बू बना कर अपना पेट

भरता था। इतना ही नही किन्तु अपनी मेहनत से अपने हिजरती शिष्यो को भी खिलाता था।

हमारे देश में हमारे साधु समाज-सेवा करने के लिए वाध्य नही थे। समाज भी उन से सेवा लेते सकोच करता है। लेकिन सच्चे साधु हमेशा किसी-न-किसी प्रकार की समाज-सेवा करने में लगे ही रहते हैं। ऐसी हालत में अगर हम साधुओ के आदर्श में इतना सुधार करे तो काफी है कि साधु अपनी रोजी कमाने के लिए या समाज-सेवा करने के लिए मेहनत-मजदूरी करे तो वह अच्छा ही है। जो साधु मेहनत-मजदूरी कर सकते हैं उन्हें ऐसी मज़दूरी से रोकना और दान पर ही जीने के लिए उन्हें ललचाना, पुण्य का काम नही है, इतना अगर हमारे लोग समझ जायँ तो हमारे साधु, समाज के लिए आदर्श पुरुष वन सकते है।

हमारे देश में ही नही किन्तु दुनिया भर में हर धर्म के साधुओ में ब्रह्मचारी और गृहस्थी ऐसे दो भेद हैं। रोमन कॅथोलिक मक और हमारे सन्यासी ब्रह्मचर्य का व्रत लेते हैं। कई समाज-सेवक, धार्मिक प्रेरणा से नही किन्तु समाज-सेवा की उत्कटता के कारण अविवाहित रहते हैं। वडे-वडे सशोधक और ज्ञानोपासक भी एकाग्रता वढाने की दृष्टि से अविवाहित रहते है। सारा समाज इन का अनुकरण नही कर सकेगा। लेकिन इस लिए हम यह नही कह सकते हैं कि ब्रह्मचर्य का जीवन समाज के लिए आदर्श नही है। आदर्श तक हर आदमी नही पहुँच सकता है यह तो मानी हुई बात है। लेकिन क्या इस लिए हम कह सकते हैं कि सामान्य कोटि का जीवन आदर्श है?

कम-से-कम हिन्दूधर्म ने तो आदर्श ब्रह्मचर्य और आदर्श गृहस्थाश्रम ऐसे दो आदर्श समाज के सामने रखे हैं और भारपूर्वक कहा है कि दोनो एक-से श्रेष्ठ है। आदर्श गृहस्थाश्रमी भी समाज के लिए आदर्श पुरुप हो सकता है। और आदर्श ब्रह्मचारी भी।

महात्मा गान्धीजी के मत के अनुसार अखिल मनुष्य जाति के लिए एकमात्र आदर्श ब्रह्मचर्य का ही है। मनुष्य जाति का जीवन मोक्ष के लिए है। पूर्ण निर्विकारिता के विना मोक्ष-प्राप्ति असम्भव है। इस लिए मनुष्य विवाहित हो या अविवाहित, उसे पूर्ण निर्विकारिता के लिए ही कोशिश करनी चाहिए। आगे जा कर उन्होने ऐसा भी कहा है कि केवल सन्तान उत्पत्ति के एकमात्र उद्देश्य से ही गृहस्थाश्रमी, धर्म के अनुसार सम्भोग करे तो उसे भी ब्रह्मचर्य ही समझना चाहिए। लेकिन मोक्ष के माने ही निर्विकारिता है। यही उन की भूमिका थी। उन की साधना भी वही थी।

समाज के आदर्श में और साधुओं के आदर्श में और भी एक फ़र्क है। साधु कहते हैं कि "भले ही हमारा जीवन एकांगी गिना जाये, किन्तु हम सिर्फ नैतिक उन्नति के प्रयत्न में ही दिलचस्पी रखेंगे। अपनी सारी शक्ति अपनी निजी व समाज की नैतिक व आध्यात्मिक उन्नति के लिए ही लगायेंगे। सांसारिक ज्ञान की खोज में और उस के विस्तार में हम अपना समय व्यतीत नही करेंगे। दवा दे कर रोग का निवारण करना हमारे में से चन्द लोगो की प्रवृत्ति बन गयी है। लेकिन सचमुच वह हमारे क्षेत्र के बाहर की चीज़ है।" संगीत, चित्रकला, कविता आदि कलाओ में कई साधुओ की दिलचस्पी होती है। धर्म व नीति के प्रचार में उन की बहुत कुछ मदद हो सकती है इसलिए साधु लोग कभी-कभी इन कलाओ का अनुशीलन भी करते हैं। लेकिन वह भी उन का क्षेत्र नही गिना जाता है।

सामाजिक आदर्श कहता है कि मनुष्य का विकास सर्वांगीण और प्रमाणबद्ध होना चाहिए। ऐसे अनेक साधु हो गये हैं जिन्होने जीवन-विकास के एक भी अंग की उपेक्षा नही की है। भविष्य में ऐसे साधु को ही सच्चे और सर्वश्रेष्ठ साधु कहा जायेगा।

साधु को चाहिए कि वह परलोक परायण ही बने, इस लोक के बारे में उस के मन में उपेक्षा ही रहनी चाहिए—यह था साधुओं का पुराना आदर्श। सब साधुओ ने इसे मान्य नही रखा था। आज भी इस बारे में दो मत हैं।

सारांश यह कि साधुओ के आदर्श अनेक हैं। सामाजिक जीवन के आदर्श भी अनेक हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में जो साधु नये-नये प्रयोग करते हैं उन में कम या अधिक एकांगिता रहेगी ही। तो भी हम कह सकते हैं कि आदर्श सामाजिक पुरुष का चित्र और आदर्श साधु का चित्र दिन पर दिन एक दूसरे के नज़दीक आ रहे हैं।

(दिसम्बर १९५०)

सार्वजनिक जीवन और साधु

स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता ये मानव के लिए इस युग के महान् आदर्श हैं। इन तीनों मे बन्धुता सर्वश्रेष्ठ है। बन्धुता अगर सिद्ध हो गयी तो स्वतन्त्रता और समता का द्रोह नही हो सकेगा।

अब हम समता के बारे में सोचें। पश्चिम की, युरॅप-अमेरिका की गोरी जाति ने माना और दावा किया कि गोरो का वश ही श्रेष्ठ वंश है। बाक़ी के वंश उन से हीन होने के कारण उन के मातहत ही रहने चाहिए। उन्होंने सारी दुनिया में अपना राज्य और अपना आतंक फैलाया। उन के मन में कुछ भी हो, आज उन्होंने अपना पुराना दावा छोड दिया है। सफेद, पीले, काले और गेहुँवे तथा लाल रग के सब वश शिक्षा-दीक्षा में कम-ज्यादा होते हुए भी तत्त्वत· समान हैं और एक से न्याय के अधिकारी हैं, यह बात आज दुनिया में सर्वमान्य हुई है।

एक ज़माना था जब स्त्रियो को पुरुषो से गौण और हीन माना जाता था। स्त्रियो को राजनीतिक अधिकार नही मिलते थे। शिक्षा-सस्था में प्रवेश नही मिलता था। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी उन्हें बिलकुल ही हीन या गौण मानते थे। अब स्थिति सुधर गयी है। स्त्री-पुरुष के अधिकार सम-समान हो गये हैं। जहाँ अधिकार समान नही हैं, वहाँ पर भी तत्त्वतः उन की समानता का कोई विरोध नही करता।

धर्मों के बारे में तो हरएक धर्म ने अपनी श्रेष्ठता का दावा ज़ोर-शोर से चलाया, इतना ही नही, हरएक धर्म दुनिया के सामने घोषित करता आया है कि 'पूर्ण सत्य मेरे ही पास है। लोकोद्धार की शक्ति सिर्फ़ मुझ ही में है। बाकी के धर्म असत्य से भरे हुए और भ्रान्त हैं।'

धर्मों की यह अहश्रेयसी होड अभी तक चालू ही है। लेकिन अब वे मानने लगे हैं कि धर्मों के आपस के झगडो से लाभ उठा कर अधर्म आगे बढ़ रहा है और सब के सब धर्म दिन-पर-दिन क्षीण हो रहे है। इस लिए धर्म अब सोचने लगे है कि बेहतर तो यह होगा कि अपनी-अपनी श्रेष्ठता का बाजा बजाना छोड कर और परस्पर ईर्ष्या को भूल कर सहयोग का वातावरण पैदा करना चाहिए। सब धर्म मिलकर अधर्म के खिलाफ़ मोर्चा बाँधें यही आत्मरक्षा का उपाय है।

हमारे देश में हम लोगो ने चार वर्ण की समाज-व्यवस्था चलायी। तीन वर्ण मिल कर अपने को द्विज कहलाने लगे और शूद्रो को सब से निचला स्थान दे कर उन्हें सब अधिकारो से वचित किया। आगे जा कर तीन वर्णों में भी उच्च-नीच भाव घुस गया। इस का दुर्दैवी इतिहास यहाँ दोहराने की जरूरत नही। अब जनतायुग स्थापित होने के कारण और चुनाव में सख्याबल का महत्त्व बढने के कारण चार वर्ण समान हो गये है। ज्ञानबल, तपोबल, शरीरबल, कौशल्य और द्रव्यबल इन सब बातो में भिन्नता होने पर भी सब वर्ण एक समान भूमिका पर आ गये हैं। सब की मानवता एक है, सब के अधिकार एक हैं।

सबों को हर तरह की शिक्षा और उन्नति के हर तरह के मौक़े एक से प्राप्त होने चाहिए, इस को स्वीकृति मिल चुकी है। अस्पृश्यता-निवारण के प्रचण्ड आन्दोलन के कारण भी व्यक्ति-मात्र की समानता सिद्ध हो चुकी।

हमारे यहाँ की जाति-व्यवस्था ऊँच-नीच भेद की बुनियाद को मान्य रखती आयी है। लोगों में वर्णभेद से भी अधिक आग्रह रहा है जातिभेद का। और जातिभेद एक ऐसी सामाजिक सीढी है, जहाँ पर चढ़ना-उतरना क़रीब-क़रीब असम्भव-सा है। लेकिन यहाँ पर भी मानवता-युग ने अपना असर डाला ही है। अब सब जातियाँ तत्त्वत एक ही दर्जे की हो गयी हैं। वर्णों की और जातियों की समानता महाभारतकालीन ऋषि-मुनियो ने भी वेदान्त की बुनियाद पर स्वीकृत की थी। भारतीय संस्कृति के लिए जितना उच्च-नीच भाव स्वाभाविक है उतना ही स्वाभाविक है सब का समानभाव।

अब रहा चार आश्रमों का सवाल। ब्रह्मचारियों का आश्रम तो क़रीब खतम हुआ है। वानप्रस्थ भी अब कम पाये जाते हैं। बाक़ी रहे गृहस्थी और साधु। इन साधुओं में संन्यासी, भिक्षु, सन्त, महन्त, महात्मा, बाबा, बैरागी, गद्दीपति और आध्यात्मिक गुरु, सब आ जाते हैं। समाज इन को अपने से श्रेष्ठ मानता है, क्योंकि ये लोग अकसर शादी नहीं करते, धन नही कमाते, धर्म का अध्ययन कर के उस का पालन करने की कोशिश करते हैं। लोगों को उपदेश करने का ठेका उन्ही का होता है। ऐसे लोगो को समाज आदर की निगाह से देखे यह स्वाभाविक है। लेकिन जब ये लोग स्वयं समाज में अपनी श्रेष्ठता ले कर घूमते हैं, अपना विशेष अधिकार चलाने का आग्रह रखते हैं और अन्दर-अन्दर ईर्ष्या असूया से जलते रहते हैं तब उन का उच्चता का दावा हास्यास्पद होता है। हरएक के नाम के सामने श्री कितनी बार लिखा जाय यह भी उन के मन महत्त्व की बात होती हैं। कोई होता है श्री १०८ तो कोई होता है श्री १००८। राजा, महाराजा, राजाधिराज, ऐसी श्रेणी जैसी पायी जाती है, अथवा उपाध्याय, महोपाध्याय, महामहोपाध्याय और आचार्य की तरह विद्वानों में श्रेणी होती है, वैसी ही साधुओं में पायी जाती है। ऐसे भेद के कारण झगडे और खून तक हुए हैं। ब्रह्मर्षि, क्षत्रियर्षि का भेद ले कर वसिष्ठ-विश्वामित्र के बीच जो कडा झगड़ा हुआ था सो तो सब जानते हैं। भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर स्वामी के दिनों में भी श्रेष्ठता का यह झगडा काफ़ी पाया जाता है।

अब वे दिन आ गये हैं जब गृहस्थी और संन्यासी दोनों में समानता स्वीकार की जाये। विलायत में House of Lords में शिकार और विलास

के शौकीन सरदार लोग और धर्माचार्य बिशप आदि धर्ममार्तण्ड एक सदन में बैठते हैं और अपने को House of Commons से ऊँचा मानते हैं। लेकिन यह भेद भी अब कृत्रिम-सा हो गया है। हमारे यहाँ वर्णभेद तो बहुत-सा मिट गया है। जब कोई ब्राह्मण वैश्य के घर पर रसोई बनाने का काम करता है, तब उसे घर के लोग महाराज भी कहते हैं और नाराज होने पर गालियाँ भी देते हैं। अन्नक्षत्र में भिक्षा पाने वाले सन्यासियो को नारायण कहने का रिवाज है। जब वे सोते हैं तब कहा जाता है कि स्वामीजी समाधि में पडे हैं। लेकिन अन्नक्षत्र के कर्मचारी ऐसी आदर की भाषा बोलते हुए भी अपना यथार्थ भाव प्रकट कर ही देते हैं।

व्यक्ति की श्रेष्ठता उस के चारित्र्य के कारण या प्रभाव के कारण स्वीकृत होती है, लेकिन कोई आदमी साधु दल का सदस्य है, इस लिए उस की महत्ता मानने के दिन अब नही रहे। जब साधु साधु हैं इस वास्ते ऊँचे मच पर बिठाये जाते हैं और लोग उन्हें देख कर साधुओ के रेवड का जिक्र करते हैं तब स्पष्ट होता है कि यह आदरभाव बिलकुल कृत्रिम है। कम से कम साधुओ को तो इस का आग्रह नही रखना चाहिए।

और जब साधु लोग उच्चासन का आग्रह रखते हैं और अन्दर-अन्दर तर-तम भाव से दरबारी भेद की अपेक्षा रखते हैं तब तो वह सारा प्रकार काल-ग्रस्त होने से हास्यास्पद बनता है। पुरानी सस्कृति में से आदर के साथ सग्रह करने लायक दूसरी बहुत-सी चीजे हैं। ईर्ष्याजनक उच्च-नीच भाव को तो तिलाजलि ही देनी चाहिए।

इस धर्मविमुख कलिकाल मे अपनी प्रतिष्ठा की और उच्च धार्मिकता की कदर नही होती है, ऐसा देख कर कई साधुओ ने सार्वजनिक सभा-सम्मेलनो का त्याग ही किया था। कौन किसे पहले अभिवादन करे, इस का निर्णय आसान नही होने के कारण कई सन्यासी और शंकराचार्य एक-दूसरे से मिलते भी नही थे। लेकिन अब उन्होंने देख लिया है कि इस तरह स्वेच्छाबहिष्कृत होने से कुछ लाभ नही और समाज अपने रास्ते जाता ही है, तब साधु-सन्यासी, सन्त-महन्त, एक-दूसरे से मिलने लगे हैं, सहयोग की बात सोचने लगे हैं और सगठित भी होने लगे हैं। गृहस्थाश्रमी समाज नेताओ के साथ वे समान भाव से पेश आने लगे हैं और पार्लियामेंट के सदस्य भी होने लगे हैं। उन्होने उच्च-नीच भाव बहुत कुछ छोड दिया है और मानवता के हिसाब से समानतामूलक प्रचलित शिष्टाचार का स्वीकार करने लगे हैं। यह सब अभिनन्दनीय है। जो लोग इस बदले हुए जमाने को अभी तक समझ नही पाये हैं, उन को सँभाल लेना समाज

का कर्तव्य है। सार्वजनिक जीवन में हिस्सा लेने के लिए उन्हें प्रोत्साहन देना और उन के विफल जीवन को सफल बनाने में सहायभूत होना समाज का कर्तव्य है।

(२६ नवम्बर १९५७)

विकास की दिशा

साधु लोग संगठित होने लगे हैं, धर्म-चर्चा और धर्मोपदेश के साथ कुछ सेवा का कार्य भी करेंगे, यह तो अच्छा है ही, लेकिन सब से बडा लाभ इस में यह है कि साधु लोग जो आज तक एक-दूसरे से अलग रहते थे, एक-दूसरे से परिचय बढायेंगे, सहयोग के लिए तैयार होंगे, मतभेद को बर्दाश्त करने लगेंगे और शास्त्रार्थ के वायु-मण्डल से ऊपर उठ कर उच्च भूमिका पर समन्वय करेंगे।

अहिंसा के उपासक अब संघटित होने लगे हैं, अहिंसा शोधपीठ अथवा विश्वधर्म संघ नाम से कुछ प्रवृत्ति करेंगे, इस से भी बड़ा लाभ होगा। आज तक शास्त्र-वचन की चर्चा चलती थी। प्राणिहत्या टाल कर व्यक्तिगत जीवन निष्पाप बनानेकी अभिलाषा थी। साधु लोग अहिंसा का पालन कहाँ तक करे, गृहस्थाश्रमी धनपरायण लोग किन नियमो का पालन कर सन्तोष करें इसी का बोलबाला था। अब समाजशास्त्र में अध्यात्म का वायुमण्डल ला कर उसे ध्येयपरायण और सजीव करना पडेगा और ऐसे नवजीवन प्राप्त समाजशास्त्र की प्रेरणा से अहिंसा को सामाजिक जीवन में विकसित करना होगा। मनुष्य-मनुष्य के बीच, वर्ग-वर्ग के बीच और वंश-वंश के बीच जो ईर्ष्या, द्वेष और संघर्ष अनहद बढ़ रहा है उस से दुनिया के छोटे-बडे सब राष्ट्र व्यथित और चिन्ताकुल हुए हैं। उन्हें रास्ता दिखाने का काम केवल राजनीति का नही है, अर्थशास्त्र का भी नही है। वह श्रेष्ठ काम तो समाजशास्त्र ही कर सकता है और समाजशास्त्र में यह शक्ति तभी आयेगी जब वह विश्वकल्याणकारी अध्यात्मदृष्टि से पुनीत होगा।

जब हमारे साधु, पण्डित और आचार्य समाजशास्त्र का गहरा अध्ययन करेंगे और उस पर अपनी अध्यात्म-परम्परा का प्रकाश डालेंगे, तब उन में यह शक्ति आयेगी। जब वे इस तरह नये क्षेत्र में पदार्पण करेंगे और एक ओर शिष्यभाव से इतिहास, लोकजीवन और समाजशास्त्र का अध्ययन करेंगे और

दूसरी ओर धर्मशास्त्र की सकुचित कालग्रस्त रूढियो से मुक्त होगे, तभी वह सशोधन की दिशा समझ सकेंगे।

और जब यह पूर्व तैयारी होगी, तब भारतीय प्रतिभा के वल पर वे दुनिया को नया रास्ता दिखा सकेंगे।

इस काम के लिए पुराने ढंग के प्रगाढ पाण्डित्य की आवश्यकता कम है। बुनियाद में जा कर तत्त्व को पकडने की पैनी दृष्टि की आवश्यकता अधिक है। लोकसेवा के जो अनेक प्रयोग इतिहासकाल में हो चुके और आज भी देश-विदेश में हो रहे हैं उन का अध्ययन किये विना लोकहित की दृष्टि पूरी तरह से प्राप्त नही होगी।

इस काम के लिए केवल धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र का वारह बरस का अध्ययन पर्याप्त नही है। तार्किक बुद्धि यहाँ पूर्णरूप से मदद नही दे सकेगी। मानसशास्त्र का गहरा अध्ययन इस में चाहिए। इतिहास के अध्ययन से बड़े-बडे समाजो के जीवन-परिवर्तन का खयाल नज़र के सामने होना चाहिए। आधुनिक विज्ञान ने क्या-क्या शक्तियाँ मनुष्य के हाथ में ला दी हैं, इस का भी कुछ खयाल संशोधक को होना चाहिए। इतनी तैयारी के वाद ही, आध्यात्मिक आदर्श अपने तार्किक दार्शनिक कारावास से मुक्त होगे और समाज-हित की सेवा में प्रस्तुत होगे।

इस में भी अनेक प्रस्थान हैं, अनेक पन्थ हैं, अनेक दृष्टियाँ हैं। उन का भी परिचय होना ज़रूरी है ताकि ग़लत रास्ते ले जाने वाली विचारधाराएँ संशोधक पहचान सके और उन्हें टाल सके। बुनियाद बहुत गहरी, बहुत ही व्यापक और मज़बूत होने पर ही संशोधन की शक्ति प्रकट होगी और रास्ता दिखने पर लोगो को समझा कर उन के दिल मे अनुकूलता पैदा करने की शक्ति और शैली सशोधक में और सेवक में आ जायेगी।

सुनता हूँ कि साधु-सगठन के वाद अव योगियो का संगठन भी होने वाला है। यह भी इष्ट है। योगविद्या की परम्परा वहुत पुरानी है। उस की फलश्रुति बडी ही लुभावनी है। हर जगह आज भी ऐसे लोग पाये जाते हैं जिन्होने इस विद्या में कमोबेश प्रत्यक्ष प्रयोग कर के कुछ अनुभव पाया है और कुछ उपयोगी या चमत्कृतिजनक शक्ति भी हासिल की है। लेकिन इस क्षेत्र मे अनुभव बहुत कच्चा है। जितना दावा किया जाता है, उस की पूरी-पूरी कसौटी हो नही पायी है। जो विशेष जानते है, उन की गूढभाषा से पूरा बोध नही होता। और इन सब कारणो के लिए लोग असमजस में पड जाते हैं। क्या सचमुच यह कोई उपयोगी विद्या है या सिर्फ़ ढकोसला ही है? यहाँ पर भी शरीरशास्त्र,

मानसशास्त्र, वैद्यक और आरोग्यशास्त्र की बुनियाद पर प्रारम्भ करना होगा और वाद में गूढ शक्तियो की खोज चलानी होगी। जब तक यह विद्या परदा-नशीन है तब तक इस के वारे में कुछ समझना, सोचना कठिन हो जाता है। जब योग-विद्या प्रयोगशाला के चबूतरे पर आ जायेगी तब उस में सच क्या है, कितना है इस की कसौटी हो सकेगी। और सम्भव है कि आज तक जिस का हम केवल ख्वाब ही देखते थे वह चीज अनेको के लिए प्रत्यक्ष होगी।

यहाँ पर भी संगठन के द्वारा प्रारम्भ अच्छा होगा। हमें यह मंजूर है कि प्रयोगपद्धति से योगपद्धति श्रेष्ठ है, लेकिन प्रयोगपद्धति के सहारे ही योगपद्धति आइन्दा प्रगति कर सकेगी। जिस तरह पदार्थ-विज्ञान-शास्त्र वढा है उसी तरह मनोविज्ञानशास्त्र भी वढाने की जरूरत है। और वह भी जब अध्यात्म के मात-हत रह कर प्रयोग करेगा तब लोकोत्तर फल पा सकेगा। केवल सगठन से विशेष प्रगति नही हो सकेगी। शोध, संशोधन, प्रयोग और पुरुषार्थ से ही इस क्षेत्र में युगानुकूल जागृति और प्रगति हो सकेगी।

(४ मार्च १९५८)

दो सवालो का आसान हल!

आजकल दुनिया में कैसे अजीव समाज-शास्त्री और समाज-व्यवस्थापक तैयार हो रहे हैं!

समाज में वावन या तिरपन लाख साधु हैं। यह वात वीस-तीस वरस से हम सुनते आये हैं। यह सव साधुओ की सख्या है या इन में अकालनिर्मित भीखमंगे भी हैं यह किसी ने निर्णीत नही किया है। साधु लोग भिक्षा पर निर्वाह करते हैं, इस से हम नही कह सकते कि भिक्षा पर निर्वाह करने वाले सव के सव लोग साधु ही होते है। चन्द लोग जाति से साधु होते हैं। वे घर-गिरस्ती भी करते हैं, साहुकारी करते हैं, ठेके लेते हैं, तो भी उन की जाति साधु की होती है। इन को सख्या 'तिरपन लाख' में आती है या नही यह किसी ने स्पष्ट नहीं किया। चंद लोग कुछ महीनो तक उद्योग-हुनर करते है और खाली महीनो में दिन को साधु का वेश पेहन कर भिक्षा मांगते हैं और रात का समय वेकार न जाये इस लिए चोरियाँ करते है। मर्दुमशुमारी के आँकडे इकट्ठा करने वाले लोगो ने इन को कहाँ डाला है यह भी हम नही जानते।

खैर ! भारत में साधुओ की संख्या बावन या तिरपन लाख है, जिन को खिलाने का भार समाज पर होने से समाज-व्यवस्थापको को उन की चिन्ता हो रही है।

स्वराज्य के आन्दोलनों के दिनो में चन्द समाजशास्त्रियो ने सुझाया था कि इन साधुओ को वरदी पहना कर इन की एक फौज बनायी जाये। जिन का काम सुझाने का है उन का काम सूचना अमल मे लाने का, हमारे देश में नही होता। यह सूचना अमल में नही आयी और साधु लोग आज भी समाजशास्त्रियो की चिन्ता का विषय रहे है।

समाजशास्त्रियो की चिन्ता का दूसरा विषय है भारत की पेशाकार वेश्याएँ। इन की निश्चित सख्या नही वतायी है लेकिन इन का सवाल साधुओ के सवाल के समान ही जटिल है। हमारे चद समाजशास्त्रियो ने माना कि एक सवाल दूसरे सवाल के गले में बाँधा तो दोनो हल हो गये !! साधुओ की शादी वेश्याओं से कर दी तो फिर किसी भी किस्म की चिन्ता न रहेगी। फिर तो समाज जैसा चल रहा है, आराम से चलेगा। कितना सस्ता इलाज हाथ आ गया ! लेकिन बिल्ली के गले में घटी बाँधे कौन ? जो लोग शादी ही करने को तैयार नही हैं उन को वेश्याओ के साथ शादी करने के लिए बाध्य कौन करे ? और वेश्याएँ क्यो ऐसी व्यवस्था को पसन्द करें ?

चद लोग मानने लगे हैं कि स्वराज्य-सरकार सब कुछ कर सकती है। "कानून बनाओ और सख्ती से उस का अमल करो।"

साम्यवादी चीन ने वेश्याओ का सवाल हल किया है। लेकिन उन को साधु-वेश्या संयोग का आसान तरीका नही सूझा। हम ने चीन में जा कर कई शहरो में इस की पूछ-ताछ की। वहाँ पर देखा कि इन दुर्दैवी बहनों को उन्होने उन के गाँव उन के घर भेज दिया और रिश्तेदारो को उन्हें सँभालने को कहा। जिन के लिए ऐसी व्यवस्था नही हो सकी उस के लिए जगह-जगह उद्योगालय खोल दिये और यूँ अपनी मेहनत-मजदूरी से पेट भरने का रास्ता उन के लिए तैयार कर दिया।

यहाँ इस युग के समाजशास्त्र के सस्थापक फ्रान्सीसी तत्त्वज्ञ ऑगस्टस कॉन्ट का स्मरण होता है। यह मनीषी ईश्वर पर या धर्म पर श्रद्धा नही रखता था। उस ने मानवता का मन्दिर स्थापन किया उस में मानवता की श्रेष्ठ प्रतिनिधि के रूप एक स्त्री की मूर्ति रखी। उस मूर्ति की वह पूजा करता और प्रसाद के रूप में कोरी रोटी खाता था क्योकि वह गरीबो का आहार था। इस तत्त्वनिष्ठ ऑगस्टस कॉन्टने स्त्री जाति के उद्धार के प्रतीक के रूप में एक वेश्या के साथ

शादी की। यह वेश्या अपना स्वधर्म क्यो छोड़े ? कई बार वह भाग गयी और उतनी ही बार ऑगस्टस कॉन्ट निष्ठापूर्वक उसे वापस ले आया। वेश्याधर्म और निष्ठाधर्म के द्वन्द्व या तनाजे में वह हारने को तैयार नही था।

विश्व की सेवा करने वाले साधु लोग, भगवान् की प्रेरणा से पतितो का उद्धार करने वाले साधु लोग वेश्याओं को अपनी बहनें या अपनी लड़कियाँ समझ कर उन के उद्धार का कार्य अपने हाथ में ले सकते हैं। अपने ढंग से वे कोई रास्ता भी निकाल सकते हैं। इस कार्य में पतन का जो खतरा है उसे उठा कर भी यह पवित्र सेवा करने का संकल्प कर सकते हैं, लेकिन हमारे उतावले सस्ते समाजशास्त्रियो के ढंग से नहीं।

(१ दिसम्बर १९५९)



अवतारवाद

हम फिर से सोचें, हमारा अन्तिम आदर्श कौन-सा?

अवतारवाद हिन्दू सस्कृति का एक प्रधान अग है। बौद्धो ने कल्पना की कि कोई मामूली जीव प्रयत्नपूर्वक उन्नतिकारी सद्गुणो में पारमिता प्राप्त करते-करते बोधिसत्त्व होता है और बोधिसत्त्व अपनी साधना चलाते-चलाते जब सब तरह की पारमिताओ में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब वह अर्हत् अथवा बुद्ध बनता है। बुद्धो में भी चन्द तो अपने ही लिए बुद्ध बनते हैं जिन्हें प्रत्यक् बुद्ध कहते हैं। ऐसे बुद्ध जब विश्व का उद्धार करने योग्य बनते हैं, तब वे तथागत बनते हैं, सम्यग् सम्बुद्ध बनते हैं।

जीव-दशा में प्रगति करते-करते जीव बुद्धत्व प्राप्त करता है।

अवतार की कल्पना इस से भिन्न है।

स्वय परमात्मा मानवजाति के कल्याण के लिए जीव का रूप धारण कर के नीचे उतर आता है। उतर आने को ही अवतार कहते है। परमात्मा जीव का रूप ले कर मनुष्यो के बीच काम करता है और अपना अवतार-कार्य पूरा होने पर वापस चला जाता है। बोधिसत्त्व में विकासवाद—Evolution की कल्पना है। अवतार की कल्पना में वह नही है।

शिव, विष्णु, देवी, गुरु आदि सब देव-देवियो के अवतार होते है। पुराणो में कही-कही विष्णु के चौबीस अवतार बताये हुए है। लेकिन पता नही क्यो विष्णु के दश अवतार ही लोकप्रिय हुए। शिवजी के अवतार इतने लोकप्रिय नही हुए हैं। देवी के अवतारो का हिसाब हमारे पास नही है। गुरु के अवतार आज भी होते होगे।

इस वक्त हम बुद्ध भगवान् का चिन्तन कर रहे है। बौद्ध कल्पना के अनुसार सुमेध अथवा ऐसा ही कोई जीव प्रयत्न करते-करते गौतम बुद्ध की स्थिति तक पहुँच गया। उस ने जगत्-उद्धार का रास्ता बताया। निर्वाण-प्राप्त गौतम बुद्ध को फिर से जन्म नही लेना है। हम हिन्दुओ ने गौतम बुद्ध को अपनाया और उसे

विष्णु का नवम अवतार बताया। इस तरह बौद्ध और सनातनी दोनों के लिए बुद्ध भगवान् एक-से पूजार्ह बन गये।

भारत में समन्वय का जो युगकार्य हम करना चाहते हैं, उस के लिए बुद्ध की यह उभयान्वयी स्थिति सब तरह से लाभदायी है।

विष्णु के दस अवतारों का जब चिन्तन करता हूँ, तब अनेक विचार मन में आते हैं। मत्स्य, कूर्म, वराह और नृसिंह—ये चार अवतार विकासवाद—Evolution के सूचक हैं।

विकासवाद कहता है कि पृथ्वी का गोला जब कुछ ठंडा हुआ, तब पहले समुद्र बने। जीवसृष्टि का प्रारम्भ भी पानी में ही हुआ। आज हम पानी को जीवन कहते हैं, यह सब तरह से उपपन्न ही है। पानी में जलचरों की जीवसृष्टि पैदा हुई, इसलिए हमारा प्रथम अवतार मत्स्य है। बाद में पानी के जीव पानी में रहते हुए ज़मीन पर भी जाने लगे। हवा में साँस लेना, उन के लिए ज़रूरी हो गया। जलचर और भूचर अवस्था का प्रतिनिधि है कछुआ। इसलिए हमारा दूसरा अवतार हुआ कच्छप—कूर्म।

पानी छोड ज़मीन पर क़ायमी वास्तव्य करने वाले पशुओं में उत्पन्न हुआ हमारा तीसरा अवतार वराह, जो अपने दन्तशूल से पृथ्वी को ऊपर उठा सकता है। दन्तशूल मानो उस का हल ही है। सब से पहला हलधर वराह ही था।

अब पशुओं में अगर मनुष्य पैदा हुआ है, तो आधा श्रेष्ठ पशु और आधा मनुष्य, ऐसा एक अवतार चाहिए ही। वह हो गया नृसिंह।

हमारे पौराणिक देव-देवियो के मण्डल में अथवा परिवार में हनुमान् है, गरुड है, लेकिन किसी पक्षी को हम ने भगवान् का अवतार नहीं बनाया, उस का वाहन बनाया। इस का कारण क्या होगा? पशुओं में मनुष्य श्रेष्ठ पशु है। लेकिन मनुष्य आसमान में उड नही सकता। मुर्गा, बतख और मोर से ले कर गरुड तक सब खेचर आसमान में कमोबेश उड सकते है। क़ुदरत ने मनुष्य को यह शक्ति नही दी इसलिए क्या हम लोगों ने पक्षियो में से किसी को अवतार नही बनाया?

वामन, परशुराम, राम और कृष्ण, ये सब मानव रूपधारी हैं और मानवी शक्तियो का उत्कर्ष बताते हैं। इन में बटु वामन की पूरी जीवनकथा हमारे पास नही है। वामन का रूप धारण कर के भगवान् विष्णु ने त्रिविक्रम किया। विष्णुर्त्रेधा विचक्रमे। वामन अवतार का यह एक ही कार्य पुराणो में पाया जाता है।

नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और कृष्ण ये पाँच अवतार साधुओं का रक्षण करने के लिए और दुराचारियों का दमन करने के लिए हुए थे। मनुष्य समझ सके और उस से लाभ उठा सके ऐसे थे उन के जीवनकार्य अथवा अवतारकार्य।

राम और कृष्ण दोनों गृहस्थाश्रमी थे। दोनों की जीवनकथा में संन्यास का कोई स्थान नहीं है। वसिष्ठ और विश्वामित्र स्त्रीसंग से परे नहीं थे। वाल्मीकि के आश्रम में लडके और लडकियाँ साथ रहते थे और साथ पढते भी थे। राजा जनक तो, संन्यासी भी जिन से सबक सीख सकें ऐसे, आदर्श गृहस्थाश्रमी थे।

रामावतार पर कुछ विशेष विचार करें। राम ने स्वयं गुह के साथ दोस्ती की, शबरी की भक्ति की क़दर करते हुए उस के चखे हुए जूठे बेर भी खाये। जटायु, सुग्रीव, हनुमान्, नल, नील, जाबवान आदि आदिवासियों के साथ आदर का व्यवहार रखा। समानभाव से उन से व्यवहार किया। सुग्रीव के साथ की दोस्ती निभाने के लिए उस के भाई बाली के साथ ऐसा व्यवहार किया जिस का बचाव करते रामभक्त थक जाते हैं। राम के मन में आर्य-अनार्य का भेद नहीं था। वनवास के दिनों में उन्होंने सब वन्यजातियों का जीवन-व्यवहार सहानुभूतिपूर्वक देखा था।

तो भी राम ठहरे मर्यादा-पुरुषोत्तम। उन्होंने जिस मर्यादा का पालन किया, वह उन की हृदय की बतायी हुई आर्य मर्यादा नहीं थी, किन्तु आर्य वंश ने संकुचित भाव से जो अपनी श्रेष्ठता मान ली थी, उस की मर्यादा थी वह। ऐसी मर्यादा की आज्ञा पालन करते हुए उन्होंने निरागस, तापसी शम्बूक का वध किया, गुरु के कहने से एक स्त्री की हत्या की और समाज की मर्यादा की रक्षा के लिए उन्होंने अपनी ऐसी स्त्री का त्याग किया जिस की पवित्रता से बडे-बडे तीर्थ भी अपने को पावन बनाते थे। उस समय का समाज भले प्रसन्न हो कर रामचन्द्रजी को पुरुषोत्तम कहे। पुरुषोत्तम तो बुद्ध और कृष्ण भगवान् थे जिन्होंने उत्तमता का खयाल और आदर्श समाज से नहीं किन्तु अपने आर्य हृदय से लिया। धर्माचरण का अन्तिम प्रमाण है 'आत्मनस् तुष्टिरेव'। यह वे जानते थे।

मेरे मन में अवतार-परम्परा में बुद्ध को कहाँ रखें इस का निश्चय नहीं होता है। विष्णु का अवतार सृष्टि के पालन के लिए है, समाज-व्यवस्था सम्भालने के लिए है। और बुद्ध भगवान् तो भिक्षुओं के संघ बना कर उन्हें निर्वाण का रास्ता बताने वाले हैं। संसार का नाश कर के मोक्ष का रास्ता दिखलाने वाले तो शिवजी हैं। तब हम बुद्ध को शिवजी का ही अवतार क्यों न मानें?

राजा भर्तृहरि शिव-उपासक था। ऐसा भी माना जाता है कि वह बौद्ध भी

था। मुझे उस में कोई असंगति नही मालूम होती। कोई कहेगा कि शिवजी योगी होते हुए भी गृहस्थाश्रमी हैं। पार्वती को हमेशा अर्धांग पर बिठाये हुए हैं। दो बच्चो के पिता भी हैं। उन को हम विरागी कैसे मानें? जवाब इतना ही है कि पुराणों में शिवजी का चरित्र कैसा भी बताया हो, शिवजी वैरागियों के ही उपास्य देवता हैं। शिवजी स्मशान में रहते हैं और मोक्ष का मार्ग ही बताते हैं। बुद्ध का जीवन-चरित्र और बुद्ध का उपदेश सोचते बुद्धावतार का वायुमण्डल संसार का मोह तोडने वाले शिवजी के ही नजदीक है।

भारतीय जीवन-संस्कृति का अन्तिम स्वरूप अथवा आदर्श स्वरूप क्या है? सब लोग निष्पाप बनें, सब लोग सदाचारी, ईश्वर-भक्त बने, भक्ति के साथ मुक्ति भी प्राप्त करें, कोई भी व्यक्ति दुराचारी न हो। अज्ञान न हो, सब के सब मोक्ष-गामी बने, दुःख, दारिद्रय, रोग, दुराचार और अधःपात का नामोनिशान दुनिया में न रहे,—क्या यही है हमारी संस्कृति का अन्तिम आदर्श?

ऐसे आदर्श के लिए कोशिश करता था गयासुर। फिर उसे असुर क्यों कहा? उस के स्पर्श से सब लोग पवित्र और मुक्त होने लगे। यमराज ने उस की शिकायत की, दुनिया में कोई पापी नही रहा इसलिए नरकलोक मे कोई आता नही। नरकलोक खाली हो गया, यही थी उस की शिकायत। इस का भी इलाज करने के लिए ही, देवों ने गयासुर को मारना चाहा।

आर्य संस्कृति का शायद आदर्श यही है कि दुनिया में सज्जन भी रहें और दुर्जन भी। स्वर्ग भी रहे और नरक भी। तभी तो सज्जनो की क़दर होगी। सज्जनो का परित्राण हो। दुष्कर्मकारी दुर्जनों का नाश जरूर हो। लेकिन सज्जनता और दुर्जनता दुनिया में रहनी तो चाहिए। यही आदर्श दीख पडता है स्वर्ग-नरक मानने वाली हमारी पौराणिक सस्कृति का।

भगवान् बुद्ध ने ऐसे आदर्श को स्वीकार नही किया इसलिए सनातनियों ने घोषित किया कि समाज को, मूढ लोगों को बहकाने के लिए बुद्ध अवतार हुआ था। जिस में पशु मारे जाते हैं, ऐसे यज्ञो का उन ने विरोध किया, वैर की जगह पर अवैर का उपदेश दिया। और असंख्य लोगों को गृहस्थाश्रम से अलग कर के भिक्षु बनाये और उस के सामने स्वर्ग का नहीं किन्तु निर्वाण का आदर्श रखा।

यह सारा अनर्थ टालने के लिए भगवान् कल्कि का रूप धारण कर के आने वाले हैं। कल्कि घोड़े पर सवार होंगे, हाथ में तलवार लेंगे, और अधार्मिक लोगों का विनाश करेंगे।

अहिंसा के प्रचार से ऊबे हुए लोग हिंसा को जब प्रतिष्ठित करने लगते है, तब उन के चित्त के सामने कल्कि का ही अवतार रहता है। बुद्ध ने जो

बिगाडा, सो कल्कि सुधार देगा। सृष्टि की घटमाल चलती रहती है। ससार और निर्वाण, जन्म और मृत्यु, पाप और पुण्य, सज्जनता और दुर्जनता, सत्ययुग और कलियुग सब कुछ इस दुनिया में रहेगा, रहना चाहिए। क़ायमी सुधार और अन्तिम निष्पाप पवित्रता कभी आने वाली नही, होने वाली नही। ऐसे शिथिल श्रद्धावादी लोगो ने ही पौराणिक सस्कृति के चित्र बनाये दीख पडते है। ऐसा नही होता तो, बुद्धावतार को भ्रमोत्पादक नही कहा जाता और बुद्ध के बाद कल्कि की अपेक्षा नही की जाती।

(१५ जून १९६४)

पुराने और नये अवतार

घर के बरतन काम में लाने से अथवा यूँही रखने से गन्दे हो जाते हैं। उन पर जग भी चढता है। इस लिए समय-समय पर बरतनो को माँजना पडता है। कभी सिर्फ पानी से धोते है, कभी मिट्टी या राख से साफ करते है। इतने से काम न चला तो इमली, नीबू आदि खटाई से ज़ंग उतारते है और इतने से भी बरतन साफ न हुआ तो उसे तेजाब से साफ करते हैं। बरतन कैसे भी हो, समय-समय पर उन्हें साफ करना ही पडता है।

बरतन की बात ही क्या ? हमारा शरीर भी रोज़-रोज गन्दा होता है। चमडी के छेद पसीने से और मिट्टी से बन्द हो जाते हैं। शरीर की उपेक्षा की तो शरीर से दुर्गन्ध ही निकलती है। इस लिए स्नान कर के शरीर को साफ करना ही पडता है। गन्दा होना शरीर का स्वभावधर्म है जिसे प्रकृति भी कहते हैं। और गन्दे शरीर को स्नान के द्वारा साफ करना आत्मधर्म अथवा सस्कृति है। स्वभावधर्म याने प्रकृति और आत्मधर्म याने सस्कृति। दोनो मिल कर जीवनधर्म बनता है। प्रकृति की उपेक्षा की तो उस में से विकृति पैदा होती है। फिर तो बडे प्रयत्न से विकृति को दूर कर के सस्कृति की ओर जाना पडता है।

समाज-शरीर का भी ऐसा ही है। लोगो की जडता के कारण, आलस्य, उपेक्षा और अधोगामी प्रवृत्ति के कारण जब समाज में दोष आते हैं, सदाचार शिथिल होता है तब सस्कृति-धुरीणो को और ऋषि-मुनियो को समाज-शुद्धि के लिए मेहनत करनी पडती है। समय-समय पर नहाना जिस तरह मनुष्य शरीर

के लिए ज़रूरी है, आत्मशुद्धि के लिए प्रयत्न करना समाज के लिए भी ज़रूरी होता है।

मामूली नहाने के लिए पानी पर्याप्त है। चमड़ी के छेद अथवा रन्ध्र साफ़ करने के लिए शरीर मलना ज़रूरी है। ठंडे पानी से जब पूरी सफ़ाई नहीं होती तब गरम पानी हम उपयोग में लाते हैं। इस के आगे जा कर तेल की मालिश कर के साबुन लगा कर गरम पानी से नहाते हैं। शरीर की चमड़ी मुलायम बनाने के लिए बेसन भी काम में लाते हैं।

इसी तरह समाजशुद्धि और समाज की उन्नति के लिए समाजसेवक, धर्म-प्रचारक, सन्त-महन्तों की सेवा काम में लानी पड़ती है।

किन्तु जब मनुष्य के आदर्शों में ही सुधार करने की आवश्यकता होती है, महान् अन्यायों का इलाज करना पड़ता है, और युग-परिवर्तन का दिन आता है तब जिन पवित्र, तेजस्वी मनीषियों के ऊपर समाज का नेतृत्व करने का भार आता है उन की तरफ़ समाज विशेष आदर और श्रद्धा की नज़र से देखता है। उन के कार्य की और उन की दृष्टि की कमियाँ भी समाज बरदाश्त करता है और उन का कार्यकाल समाप्त होने के बाद उन को अवतार का इलकाब भी देता है। महात्मा गान्धी ने अनासक्ति योग (गीता) की प्रस्तावना में लिखा है—"अवतार से तात्पर्य है शरीरधारी विशेष पुरुष! जीवमात्र ईश्वर का अवतार है, परन्तु लौकिक भाषा में सब को हम अवतार नहीं कहते। जो पुरुष अपने युग में सब से श्रेष्ठ धर्मवान् है उसी को भावी प्रजा अवतार रूप से पूजती है।....जिस में धर्म-जागृति अपने युग में सब से अधिक है वह विशेषावतार है।"

भागवत में भी लिखा है, "हे ऋषियो, जैसे अगाध सरोवर से हजारों छोटे-छोटे स्रोत निकलते हैं वैसे ही सत्त्वनिधि भगवान् के असंख्य अवतार हुआ करते हैं। ऋषि, मनु, देवता, प्रजापति, मनुपुत्र और जितने भी महान् शक्तिशाली व्यक्ति हैं वे सब के सब भगवान् के ही अंश हैं। (भागवत १-३-२६-२७)

भगवान् की अवतार ग्रहणशक्ति की मर्यादा नहीं है। अवतार हर ज़माने में, हर देशों में, हर तरह के धर्मोंमें होते आये हैं और होते रहेंगे। भगवान् का ही वचन है, कि 'मेरे ऐसे विस्तार का अन्त नहीं है। न अन्ति अन्तो विस्तरस्य मे'।

यह मानना कि हमारे हिन्दू धर्म में ही अवतार होते हैं, और धर्मों में हो नहीं सकते, अवतार की कल्पना को बिलकुल संकुचित करना है। क़ुरान-शरीफ़ में साफ़-साफ़ कहा है कि ऐसा एक भी देश नहीं और ऐसा एक भी ज़माना

नही, जिस में लोगो को आगाह और खबरदार करने के लिए हम ने अपने नबी नही भेजे हैं।

कहते हैं कि ईसाई धर्म में भी ऐसे ही विचार को स्थान है।

हमारे हिन्दू धर्म को हम सनातन धर्म कहते हैं। हिन्दू नाम तो सिन्धु नदी पर से आया है और यह नाम हमारे लोगो के लिए और हमारे धर्म के लिए विदेशी लोगो के द्वारा दिया हुआ है। हमारे धर्म का अपना निजी नाम है—धर्म अथवा सनातन धर्म।

लेकिन सनातनधर्म, एक विशाल, व्यापक, जागतिक धर्म है। आर्य धर्म, बौद्ध धर्म, जैन और सिख धर्म, शाक्त और वैष्णव धर्म ये सब सनातन धर्म की ही शाखाएँ हैं। इतना ही नही इसलाम, यहूदी धर्म और ईसाई धर्म भी हिन्दू धर्म जैसी सनातन धर्म को शाखाएँ हैं। ईसाइयो का ख्रिस्ती धर्म और सिख धर्म सचमुच ही एक ही शाखा है। यह कैसे, इस पर हम ज़रा विचार करेंगे।

ईश्वर के नाम रूप अनन्त हैं। दुनिया के लोगो ने जितने भी देव-देवियो को माना है, सब भगवान् के ही अलग-अलग रूप हैं। देव-देवियो की संख्या चाहे जितनी हो, आखिरकार वे एक ही अद्वितीय भगवान् के रूप ही है। असली भगवान् से अलग कोई भगवान् नही है।

हमारे यहाँ जो अनेकानेक देव-देवियो की संख्या पायी जाती है उस में कुछ व्यवस्था लाने के लिए हिन्दू धर्म ने पाँच देव मुख्य माने। जितने भी देव-देवियाँ हैं, इन पाँच के ही अवतार है। अपने जिस-किसी देव की पूजा करनी है उसे केन्द्र में रख कर बाकी के चार बग़ल में रख कर पाँचो की एक साथ पूजा होनी चाहिए। इसे कहते हैं 'पचायतन पूजा'।

पचायतन पूजा के द्वारा सब देवो का समन्वय हो गया। भगवान् की एकता समझ में आयी और कम से कम बड़े पाँच महान् पन्थ एकत्र आ गये। सामाजिक और सास्कृतिक एकता दृढ करने का काम सब से प्रथम पचायतन पूजा के द्वारा ही सिद्ध हुआ।

अब इन पाँच के पचायतन में भगवान् का एक छठा रूप दाखिल करना ज़रूरी हुआ। वह है 'ज्ञानदाता, मोक्षमार्ग बताने वाला गुरु'। इस तरह से पंचायतन की जगह हमारे धर्म में षडायतन पूजा होनी चाहिए।

गुरु के द्वारा भगवान् को पहचानना और गुरु को ही भगवान् कहना यह भी सनातन धर्म की ही एक साधना है। इस तरह भगवान् जरथुश्त्र को मानने वाले पारसी, नानक आदि दस गुरुओ को मानने वाले सिख और भगवान् ईसा

को मानने वाले ख्रिस्ती छठे गुरु-आयतन के हैं। बौद्ध और जैन भी इसी के अन्दर आ सकते हैं।

जिस तरह हम कपिल महामुनि, ऋषभदेव, बुद्ध भगवान् को अवतार मानते हैं, उसी तरह भगवान् ईसा को भी हम ईश्वर का अवतार मान सकते हैं। हम इतना ही कहते हैं कि आदर बताना है तो सब नबियो के परिवार को और इज्जत की निगाह से देखना चाहिए।

भागवत में जो बाईस अवतार बताये हैं उन में श्रीकृष्ण को अलग बताया है। बाकी मानव अवतारो में कपिल, ऋषभदेव, परशुराम, वेदव्यास, बलराम, बुद्ध ये नाम खास ध्यान खींचते हैं। ये सब ऐतिहासिक पुरुष माने जाते हैं। तब जरथुस्त्र, हजरत मूसा, इब्राहीम, गुरु नानक, ईसामसीह, कन्फ्यूशियस, बसवेश्वर, महावीर आदि को भी हम अवतार क्यों न कहें? सनातनी मानस इस में आपत्ति नही उठायेगा। इन सभी ने जो धर्म या पन्थ चलाये वे सब सनातन धर्म की ही शाखाएँ हैं। जिस को जो पन्थ पसन्द आये उस की साधना करेगा और चलायेगा, लेकिन सब के प्रति आदर और पूज्यभाव रखेगा ही।

ऊपर की सूची में हम मुहम्मद पैग़म्बर को भी रखना पसन्द करेंगे। लेकिन हमारे पुराने दोस्त मुहम्मदअली ने आपत्ति उठाते कहा कि, "आप लोग अवतारी पुरुषों को ईश्वर कहते हैं, हम किसी भी आदमी को ईश्वर के साथ शरीक नही करते। मुहम्मद पैग़म्बर आदमी थे, उन को भगवान् कहना हमें मंजूर नहीं है।" मैं ने उन से दलील करते कहा, "आदम को खुदा मत कहो, आदम खुदा नही, लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।" तो भी उन्हें सन्तोष नही हुआ। अन्त में मैं ने चर्चा खतम करते उन्हें कहा कि, "आप ने मुहम्मद पैग़म्बर का ठेका लिया है वह मजूर किये बिना चारा नहीं। इस लिए आप की मुखालिफ़त मैं नही करूँगा।"

हिन्दू धर्म की दृष्टि से सब नाम ईश्वर के ही हैं। हम सब ऋषिमुनि, अवतार, नबी, प्रोफेट आदि को मानते हैं। सब धर्म-ग्रन्थों को पवित्र वाणी गिनते हैं, और सब धर्मो को इज्जत की निगाह से देखते हैं। हम जानते है कि मनुष्य अपनी योग्यता, प्रगति और अभिरुचि के अनुसार अलग-अलग साधनाएँ पसन्द करेगा। एक को जो साधना मदद करती है दूसरे को शायद मदद नही करेगी। एक के लिए अद्वैत मुफ़ीद है, दूसरे के लिए द्वैत। कोई भगवान् को 'माँ' कहेगा, कोई कहेगा 'पिता', तो कोई कहेगा 'गुरु'। हमारे सनातन धर्म में सब साधनाओं के लिए अवकाश है।

अगर हरएक पन्थ को आप अलग-अलग धर्म कहेंगे तो सार्वभौम सनातन

धर्म को हम धर्मकुटुम्ब अथवा धर्मपरिवार कहेंगे। इस सनातन धर्म में ईश्वर को मानने वालो के लिए भी जगह है और 'ईश्वर को हम पहचान नही सकते', ऐसा कहने वालो के लिए भी स्थान है। नास्तिकों के प्रति और सशयवादी लोगो के प्रति दया बता सकते हैं। किन्तु उन को सनातन धर्म मे से बहिष्कृत नही करेंगे। जो कोई अपने जीवन मे उन्नति चाहता है और सब के प्रति आत्मीयता बढाने की कोशिश करता है, उसे विराट् और सार्वभौम सनातन धर्म में स्थान है ही।

किसी ने कहा, "अवतार तो दस हैं, आप बाईस और चौवीस अवतार कहाँ से ले आये?" मैं ने कहा, "अवतार दस और बाईस नही किन्तु अनन्त हैं। बाईस अवतारो की फेहरिस्त और वर्णन भागवत के पहले ही स्कन्ध में है।" दस अवतारो का श्लोक भी हमें मालूम है।

मत्स्य. कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामन।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्ध कल्की च ते दश॥

भारतभर में यही दस नाम और यही क्रम सर्वमान्य है। लेकिन श्रीकृष्ण को अवतार न कह कर अवतारी याने परब्रह्म मानने वाले लोग कृष्ण की जगह बलराम को देते हैं और ऊपर के श्लोक में तीसरा चरण यों बनाते हैं 'रामो रामश्च रामश्च' पहला है परशुराम, दूसरा है दाशरथी राम और तीसरा है बलराम। भागवत में जहाँ बाईस अवतार दिये हैं वहाँ कृष्ण और बलराम दोनो अवतार माने गये हैं।

इन अवतारी नामों में और उन के क्रम में कोई खास व्यवस्था नही है। तो भी हम ने विकासवाद की खूबी इस में देखी है। विकासवाद के हिसाब से जीवसृष्टि का प्रारम्भ पानी में हुआ। प्रथम जीव सूक्ष्म कीट थे। बाद में जमीन पर और पानी में भी वनस्पति का प्रादुर्भाव हुआ। उस के बाद आये पशु और पक्षी। पानी के अन्दर की सृष्टि को अगर हम जलचर कहें तो जमीन पर की सृष्टि को कहेंगे 'भूचर' और आकाश में उड़नेवालो को कहेंगे 'खेचर'।

जलचर, भूचर, खेचर प्राणियो के बाद आया मनुष्य। जो बुद्धि के विकास के कारण, कर्म-कौशल्य के कारण और धर्मभावना के कारण ईश्वर की विशेष सृष्टि माना गया है। (और चन्द लोगो का कहना है कि, भगवान् ने मनुष्य को पैदा कर के हाथ धो नही डाले हैं। मनुष्य से भी अधिक योग्यता के प्राणी सृष्टि में आयेंगे अथवा आज होंगे भी। लेकिन इस की चर्चा में हम नही उतरेंगे।)

सृष्टि की उत्पत्ति पानी में हुई तब का अवतार है 'मत्स्य'। जब चन्द

प्राणी पानी में भी रहने लगे और जमीन पर आकर, साँस लेने लगे तब का अवतार है, 'कच्छप' अथवा 'कूर्म'। जमीन पर रह कर कीचड़ के साथ दोस्ती करने वाला अवतार है 'वराह'। फिर हम आते हैं मनुष्य और पशु के बीच का रूप धारण करने वाले नरसिंह के पास। उस के बाद जब पूरा मनुष्य पैदा हुआ तब वह बाल्यावस्था में था। उस का अवतार है वामन। उस की कथा पौराणिक है। उस में से कोई खास बोध हमें नहीं मिलता। अधर्म का नाश कर के धर्म की स्थापना करने के लिए अगर भगवान् मनुष्य का रूप लेते हैं तो वामन अवतार का रहस्य क्या है? जिस बलि को वामन अवतार ने पाँव के नीचे दबाकर पाताल भेजा उस बलि में हम कोई अधर्म, पाप, दुराचार या दुष्टता देख नहीं सकते। ऊँच-नीचभाव और श्रेष्ठ-कनिष्ठभाव क़ायम रखने के लिए, अन्याय, अत्याचार करने वाले लोग समता, प्रगति और जीवनशुद्धि पसन्द नहीं करते। ऐसे लोग शूद्रों का रोज नहाना और साफ़ कपड़े पहनना भी पसन्द नहीं करते। शूद्रों के पास सम्पत्ति रहे यह भी वे बरदाश्त नहीं करते। उन के बरतन भी टूटे-फूटे हों, वे घोड़े पर या दूसरे किसी वाहन पर बैठ कर चलें इतना भी इन धर्माभिमानी लोगों को पसन्द नहीं है। उन को तो वामन और कल्कि अवतार ही पसन्द आयेंगे। उन की बात यहाँ छोड़ दें और बाकी के ऐतिहासिक मानवी अवतारों का थोड़ा स्वरूपचिन्तन करें।

परशुराम, राम, कृष्ण और बुद्ध ये चार हैं मानवी ऐतिहासिक अवतार।

परशुराम ने ब्राह्मण होते हुए भी क्षात्र धर्म को स्वीकार करते हुए क्षत्रियों को इक्कीस बार हराया। तब क्षत्रियों ने ज़माना पहचान कर अपना संगठन बनाकर एक राजा को सम्राट् बनाया और बाक़ी बने उस के माण्डलिक राजा।

परशुराम ने कुल्हाड़ी लेकर जंगलों को काटा और ग्राम-नगर के लिए ज़मीन तैयार की। इस परशुराम के बाद आता है राम। इस की पत्नी थी 'अयोनि-सम्भवा'। याने—

ज़मीन में हल चलाने से जो हलाई या लीक बनती है उस में से पैदा हुई थी। जनक राजा भी बड़े किसान थे। खेती के प्रारम्भ का ही वह ज़माना होगा। जनक प्रजा के राजा थे। इस लिए उन का हल सोने का था। लेकिन बारिश के पहले सब से प्रथम हल चलाने का अधिकार राजा जनक का था। जनक ने हल चलाया तो बाद में प्रजा भी हल चलाती थी। दक्षिण में जिस ज़मीन में हल चलता नहीं था उस ज़मीन को अहल्या कहते थे। ऐसी अहल्या भूमि का राम ने उद्धार किया। याने वहाँ खेती शुरू की।

कृष्णावतार में बलराम ने हल चलाया और कृष्ण ने गाय और बैल का पालन कर के उन की वृद्धि की। बडे भाई कहलाये 'हलधर' और छोटे का नाम हुआ 'गोपाल'।

इस तरह कृषि सस्कृति का विस्तार हुआ, लेकिन साथ-साथ जमीन के स्वामित्वके लिए झगडे होने लगे। जो क्षत्रिय थे वे ही क्षत्रिय बनकर आपस में लडने लगे। खेती तो सहयोग से होती है। झगडे में होते हैं युद्ध। युद्धो के कारण कैसा सहार होता है इस का अनुभव आर्यजाति ने महाभारत युद्ध के द्वारा किया। इस के बाद हिंसा से ऊबी हुई जनता अहिंसा की ओर ही मुडेगी। जगल तोड कर, पशुओं को मार कर और लहू का कीचड़ बनाकर जो यज्ञ होते थे और युद्ध चलते थे उस का निषेध किये विना संस्कृति का आगे बढना नामुमकिन था। इस लिए बुद्ध और महावीर के युगकार्य की महत्ता क़बूल किये बिना चारा नही था। इस लिए हमारे लोगो ने लोकप्रिय बुद्ध भगवान् को अवतार माना। लेकिन यज्ञ और युद्ध छोडने को भी वे तैयार नही थे। इस लिए उन्होने कहना शुरू किया कि भगवान् ने धर्मविरोधी लोगो को बहकाने के लिए बुद्ध का अवतार लिया था। (भला भगवान् भी कभी बहकाने का धन्धा कर सकता है ? अधर्म को प्रोत्साहन दे सकता है ?)

लेकिन बुद्ध भगवान् का अवैर का, अहिंसा का सन्देश जो स्वीकार न कर सके उन्होने चलाया कि अब दसवाँ अवतार आयेगा, जो घोडे पर चढ कर हाथ में तलवार ले कर दुष्टो का सहार करेगा और पुराने धर्मों को फिर से स्थापित करेगा।

भगवान् समय-समय पर अवतार लेता है यह कल्पना सुन्दर है। जिस के बारे में जनता का विश्वास होता है कि यह पुरुष धर्मपरायण है, मानवजाति का हितकर्ता है और इस ने युगपरिवर्तन किया है उस की इज्जत करने के लिए जनता उसे अवतार होने की प्रतिष्ठा देती हैं। यूँ तो हर एक के जीवन में और हर एक के हृदय में भगवान् कमोबेश अवतार लेता ही है। पुराने जमाने में धर्म के ठेकेदारोने अवतार की कल्पना का दुरुपयोग किया है। आयदा भी करेंगे, लेकिन इस कल्पना को छोड देने की जरूरत नही है। यह कहना कि भगवान् भूतकाल में ही अवतार लेता था, अब नही लेता, और नही लेगा, भगवान् की शक्ति को मर्यादित करना है।

गीता में भी नही लिखा कि "जब तक भारत में सस्कृत भाषा का प्रचलन रहेगा तब तक ही मैं अवतार ले सकता हूँ।" भगवान् ने यह भी कभी नही कहा कि, 'मैं अवतार लूँगा तो भारत में ही लूँगा।'

मनुष्य हिन्दू धर्म, इसलाम धर्म, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म, पारसी धर्म आदि किसी-न-किसी धर्म के हो सकते हैं, लेकिन भगवान् तो हिन्दू, खिस्ती अथवा इस्लामी नहीं है। भगवान् सब धर्मों का है। सब धर्म भगवान् के हैं। भगवान् किसी भी धर्म के अन्दर पराधीन नहीं होता। भगवान् तो स्वतन्त्र ही रह सकता है।

अवतार की कल्पना अगर जीवित रखनी है तो सोच-समझ कर असख्य लोग जिन की धर्म-प्रेरणा मानते हैं उन को हमें अवतार के तौर पर स्वीकार करना ही चाहिए।

(१ जनवरी १९६६)



फलज्योतिष के बारे में

ज्योतिष में मेरा विश्वास कहाँ तक है, इस सवाल के जवाब में कुछ विस्तार से लिखना पडेगा। सूर्य, चन्द्र, ग्रह-उपग्रह, धूमकेतु और आकाश के अनगिनत तारो के बारे में मुझे दिलचस्पी बहुत है। स्पुटनिक में बैठ कर वहाँ जाने के खयाल से नही, किन्तु लाखो बरसो से हमारे आसपास वे घूमते रहते हैं, हमें प्रकाश और उष्णता देते है और न जाने और भी क्या-क्या देते हैं। इस लिए उन के बारे में जानने को जी चाहता है।

मैं तो कहूँगा कि और कुछ देते हो या न हो आनन्द, शान्ति और उल्लास तो ये सब देते ही है। इस लिए आनन्द बढाने के हेतु तारो का काव्य समझ लेना जरूरी है। इन ज्योतियो का आयुष्य कितने करोड बरसो का है—कितने करोड नही—कितने परार्ध बरसो का है यह समझने की इच्छा जरूर होती है। लेकिन जब कोई इन तारो से पूछ कर मेरी आयु कितनी बाकी है यह बताने की आशा दिखाता है तब उस मे मुझे दिलचस्पी नही है।

मैं जानता हूँ कि तुम्हारा सवाल तारो के काव्य के बारे में नही है गणित ज्योतिष के बारे में भी नही है। जिसे हमारे लोग फल-ज्योतिष कहते हैं, उसी के उपलक्ष्य में तुम ने सवाल पूछा है।

लोग जब पूछते हैं कि क्या तारो का और ग्रहो का हमारे नित्य के जीवन पर कुछ असर हो सकता है? तब मुझे वैज्ञानिक दृष्टि से कहना पडता है कि इस विश्व में हर चीज का हर चीज पर असर होता ही रहता है। अगर चन्द्र का मुझ पर असर होता है तो मेरा भी चन्द्र पर जरूर कुछ-न-कुछ असर होता ही होगा। पृथ्वी के करोडो लोगो पर जैसे चन्द्र का असर होता रहता है, वैसे ही इन करोडों लोगो में से हरेक का असर चन्द्र पर होने वाला है। चन्द्र को किसी फलज्योतिषी के पास जाकर जरूर पूछना चाहिए कि इन-इन लोगो का मुझ पर क्या असर होता होगा। चन्द्र की आयु हम से ज्यादा है। उस बेचारे पर मेरे पुरखाओ के पुरखाओं का भी असर हुआ होगा। अब चन्द्र पर असर करने का

मौका मुझे मिला है। ज्योतिषियो ने सूर्य सिद्धान्त में से श्लोक निकाल कर ग्रहो का गान्धीजी पर क्या-क्या असर हुआ उस का सूक्ष्म वर्णन दिया है। गान्धीजी जैसे महात्मा का इन ग्रहो पर जरूर कुछ न-कुछ असर हुआ ही होगा। वह सब बतानेवाला कोई चन्द्रसिद्धान्त या मानवसिद्धान्त अभी तक किसी के हाथ में नही आया है।

मान लिया कि ग्रहो का असर आदमी पर होता होगा। लेकिन ठीक असर क्या होता है, कब होता है, कहाँ तक होता है, इस का सही विज्ञान किसी के भी पास नही है। ज्योतिषी जो बताते हैं, उस में वैज्ञानिकता कितनी है, यह तो हम नही जानते। बाक़ी रहता है सिर्फ अन्धविश्वास। उसे ले कर हम क्या करें?

अगर ज्योतिष की ही बात है तो ग्रहो के द्वारा होने वाले असर को हम बदल तो नही सकते। बहुत हुआ तो जान सकेंगे कि क्या-क्या असर होने वाला है। जानने से कुछ इलाज भी कर सकेंगे। हम जानते हैं कि दिसम्बर, जनवरी, फरवरी में जाडा बढता है, इस लिए पहले से हम गरम कपडे खरीद लेते है। कुछ लोग पाक भी खाते हैं। यह सब आहार-विज्ञान और शारीरिक विज्ञान के अनुसार निश्चित होता है।

लेकिन ज्योतिषशास्त्र के साथ मन्त्रशास्त्र आता है। शनि का अगर मेरे जीवन पर कुछ बुरा असर होने की बात ज्योतिषी ने समझायी तो वह यह भी समझायेगा कि शनि की पीड़ा दूर करने के लिए 'शन्नो देवीरभीष्टये' इत्यादि वैदिक मन्त्र का जाप मैं करूँ अथवा दक्षिणा देकर किसी ब्राह्मण से करवाऊँ तो शनि की पीडा दूर होगी। इस मन्त्र के प्रारम्भ में श और न ये दो अक्षर आते हैं इतना ही इस मन्त्र का शनिमहाराज से सम्बन्ध है। मन्त्र का अर्थ देखते शनि के साथ उस का वास्ता तनिक भी नही है। लेकिन मन्त्रशास्त्र में बुद्धि चलाने की मनाही है। यह तो क़बूल करना ही पड़ेगा कि मन्त्रो का अमुक असर होता ही है ऐसा अगर सिद्ध हुआ तो उसे मानना पडेगा। लेकिन आजकल के वैज्ञानिक लोग जिस निश्चित रूप से कार्यकारण सम्बन्ध दिखा सकते हैं वैसा निश्चित सम्बन्ध मन्त्रशास्त्री बता या दिखा नही सकते। अमुक समय ऐसा हुआ, अमुक को ऐसा लाभ हुआ ऐसी कथाएँ बहुत सुनाते हैं। नही मानोगे तो तुम को नुकसान होगा ऐसा डर भी दिखाते है। लेकिन किसी ने भी मन्त्र बोल कर या रट कर स्पुटनिक को आकाश में आज तक नही भेजा है। मन्त्रशास्त्र, फलज्योतिषशास्त्र, विज्ञान के साथ अपनी तुलना कर के अपनी बात सिद्ध नही कर सकता।

हम उदार हो कर बहुत तो इतना कहेंगे कि ये विज्ञान तो हैं, लेकिन अभी

कच्चे हैं। भौतिक विज्ञान भी जब कच्चा था तब घमंडी ज्यादा था। १८वी सदी के विज्ञान ने अध्यात्म, धर्म और मानसशास्त्र की भी हँसी उडायी थी। कच्चे विज्ञान अगर हद से ज्यादा दावा करते जायें तो उन्हें बच्चे समझ कर उन की बातें हम बरदाश्त करेंगे और कहेंगे कि श्रद्धा-विश्वास के साथ आगे बढते जाओ, किसी दिन परिपक्वता आ जायेगी तब तक बडे-बडे दावे छोड दो तो अच्छा है।

फल-ज्योतिष में जो बातें आज कल बतायी जाती हैं उन में बहुत से ज्योतिषी सूक्ष्म गणित तक जाते ही नही। स्थूल मान से कुछ-कुछ कह देते हैं, जिस पर स्वयं उन्ही को विश्वास नही होता है। जो ज्योतिषी स्थूल गणित करते हैं उन्ही के मुँह से सुनना चाहिए कि स्थूल गणित वाले कैसी लीला चलाते हैं। किन्तु सूक्ष्म गणित का फल भी निश्चित रूप से मिलता ही नही। और फल-ज्योतिष के गणित के सिद्धान्त किन आधार पर बनाये हैं यह भी कोई कह नही सकता। कदम-कदम पर अन्धविश्वास रखने की ही बात आती है।

फल-ज्योतिष के पीछे लगने वालो के बारे में मेरी शिकायत कुछ और ही है। जो लोग ज्योतिष, सामुद्रिक या शकुन के पीछे पडते हैं उन की बुद्धि क्षीण होती है। सकल्पशक्ति, अनुमानशक्ति ऐसी सब शक्तियाँ दुर्बल बनती हैं। मनुष्य कदम-कदम पर डरता रहता है, घबराया हुआ मालूम पडता है। जहाँ उत्साह से काम करना चाहिए, निडरता से सत्कार्य का सेवन करना चाहिए वहाँ मनुष्य आत्मविश्वास खो बैठता है। जिस ने फल-ज्योतिष का सहारा लिया वह गीता की नसीहत भूल ही जाता है—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" जितने भी लोग मैं ने फल-ज्योतिष का सहारा लेते हुए देखे वे सब के सब अस्वस्थ चित्त के मालूम हुए। इस लिए मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि ज्योतिष की बातें प्राय ऊटपटाँग होती हैं। कौन-सी बात सही होगी और कौन-सी नही इस का निर्णय करने का पैमाना किसी के पास नही होता और मनुष्य का चिन्तन ही विकृत हो जाता है। इस लिए मैं सब को सलाह देता हूँ कि ज्योतिष के पीछे न पडें।

जिन्हें शुद्ध प्रयोग की दृष्टि से सत्य समझने की इच्छा हो वे प्रयोग कर के देखें और प्रयोग का फल जाहिर भी करें। लेकिन लोगो को तो अपने जीवन मे से फल-ज्योतिष को निकाल ही देना चाहिए।

(३ मार्च १९५९)

भाग्य या अदृष्ट

एक सज्जन ने भाग्य के बारे में चन्द सवाल पूछे हैं। ऐसे सवाल पूछने का एक रिवाज हो गया है। एक ही विषय पर अनेक दृष्टि के अनेक जवाब पढने से विचार-वैचित्र्य का परिचय तो होता ही है और विचार के भिन्न-भिन्न प्रस्थान—starting points ध्यान में आते हैं।

अपने विचार स्पष्ट करने का और थोड़े में लिखने का मौक़ा देने वाले ऐसे प्रश्नों का मैं स्वागत ही करता हूँ।

"क्या भाग्य में आप का विश्वास है ?"

इस प्रश्न का जवाब देने से पहले 'भाग्य' शब्द का अर्थ स्पष्ट होना चाहिए। गीता में किसी कार्य के अनेक कारण ढूँढने के बाद जो कारण ध्यान में नही आ सकते उन को 'दैव' कहा है। इस से भी अच्छा शब्द है 'अदृष्ट'—जो हमारे देखने में नहीं आया। जिसे देखने की सम्भावना नही, वह है अदृष्ट ऐसा कारण भी अपना कार्य तो करता ही है लेकिन उस का हिसाब हम नही कर सकते। इस लिए जब कार्य-कारण सम्बन्ध का हम हिसाब लगाते हैं तब 'अज्ञात' और 'अज्ञेय' (unknown, unpredictable) का भी सोचना ही पडता है।

जो लोग कार्य-कारण सम्बन्ध ढूँढने के आदी होते है ऐसे वैज्ञानिक वृत्ति-वाले लोगो को क़दम-क़दम पर अदृष्ट का अनुभव होता है। वे कहते हैं कि पूरा-पूरा हिसाब जब नहीं हो सकता, तब निश्चयात्मक अनुमान न निकालते हुए 'अदृष्ट' के लिए अवकाश रखना ही पडता है। और हम निर्णयात्मक नही बोल सकते।

ये सारी हुई वैज्ञानिक बातें। लेकिन सामान्य लोग नसीब, तक़दीर, भाग्य, दैव आदि शब्दो से कुछ ज्यादा अर्थ निकालते हैं। वे मानते हैं कि दैव नाम की कोई गूढ शक्ति है, व्यक्ति है, जो कभी हमारे विरुद्ध होती है और लाख कोशिशें करने पर भी हमे कामयाब नही होने देती। और कभी अनुकूल होने पर ऐसे फल भी देती है, जिस के लिए हम ने पूरी मेहनत न की हो अथवा बिलकुल ही प्रयत्न न किया हो। ऐसा 'नसीब' कभी-कभी हमारे पीछे पडता है और सफलता पाने ही नहीं देता।

एक आदमी बडा खर्च कर के शहर में गया। दस-बारह आदमियों से अलग-अलग जगह उसे मिलना था। सुबह से लेकर शाम तक वह घूमा। एक भी

आदमी उसे नही मिला। सारी मेहनत निष्फल गयी। वह कह सकता है कि मेरी तकदीर ही खराब थी। लोग कहते हैं कि "न जाने आज सुबह किस का मुँह देखा था, मेरा कुछ भी काम न हो सका।"

यह सरासर वहम है। लेकिन ऐसा आदमी कभी कहता है, 'भगवान् जाने मैं कैसे मुहूर्त पर निकला था कि आज मेरा एक भी काम न हो सका।' ज्योतिष के मुहूर्त की बात हम छोड दें। लेकिन मुहूर्त जैसी चीज़ है अवश्य। हर एक आदमी को मिलने का समय अगर पहले से पूछ रखा होता और लोगो से मिलने का क्रम भी सोच कर रखा होता तो आदमी सब से मिल सकता। हिसाब से पहले या देरी से निकलने से सारा काम अवश्य बिगड जायेगा। हिसाब से अनुकूल समय को मुहूर्त कहते हैं। हमारे पुराने शास्त्रो में लिखा है—राक्षस मुहूर्त को नहीं जानते। देव जानते है इसलिए कामयाब होते है। यहाँ भाग्य की बात नही है लेकिन अक़्ल और दूरदेशी की बात होती है। अच्छा किसान बीज बोने का मुहूर्त जानता है, खाद का प्रमाण जानता है। समय पर सब मेहनत करता है। अच्छी फसल पाता है और भाग्यशाली कहलाता है। लेकिन इस में मौसम की अनुकूलता अदृष्ट होती है। जब मौसम का विज्ञान काफी बढेगा तब वह 'अदृष्ट' या 'भाग्य' नही रहेगा। अनुभव, बुद्धि, समयज्ञता और रचनाकौशल जैसे बढ़ते जाते है वैसे ही अदृष्ट का—तकदीर का क्षेत्र कम होता जाता है। इन सब बातो को बढ़ाना—यही एक तरीक़ा है भाग्य बदलने का।

यह सब हो गयी बाह्य परिस्थिति या साधनो की अनुकूलता या प्रतिकूलता। साथ-साथ मानसिक उत्साह, प्रसन्नता, शुभाशसा (आशावादिता) और सर्वोदय वृत्ति, यह भी आन्तरिक और बाह्य सफलता के लिए आवश्यक बातें होती है। इन सब बातों का जब समुच्चय होता है और उन का चरम कोटि तक विकास और उत्कर्ष होता है, तब उसी को ईश्वरकृपा कहते है। ईश्वर को ही भाग्य कहना गलत बात है। भाग्य अन्धा माना गया है। चचल माना गया है। ईश्वर के बारे में हम वैसा नही कह सकते। ईश्वर की कृपा कब मिलेगी, कैसे मिलेगी, इसे हम नही जानते। लेकिन ईश्वर की कृपा किस हालत मे प्राप्त नही हो सकती, सो तो हम अवश्य जानते है। जो सदाचारी नही है, दूर तक जो नही देखता, जो प्रमादी है, उस पर ईश्वरीय कृपा नही बरसती। ईश्वरीय कृपा भले ही अज्ञेय हो, किसी ने उसे अन्धी नही कहा है।

अब रही ज्योतिष की बात। बारिश कब होगी, गरमी कब बढेगी, जाडे के दिन कब आते है, कितने साल के बाद सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण फिर-फिर आते हैं और उन का असर फसल पर क्या होता है, यह सब ज्योतिष, विज्ञान और

मौसम विज्ञान शास्त्र से हम कमोवेश समझ सकते हैं। इस अर्थ में कार्य-कारण भाव ढूंढ़ने में ज्योतिष की मदद होती है। चन्द्र की कलाओं का समुद्र के ज्वार भाटा से सम्बन्ध होता है, वैसे ही आकाशस्थ ज्योतियों का हमारे जीवन पर कुछ-न-कुछ असर होता ही होगा। लेकिन उन का कार्य-कारण सम्बन्ध हम नहीं जानते। आज ज्योतिष के बारे में जो दावे किये जाते हैं, वे अधिकांश भ्रामक ही हैं—गलत साबित हुए हैं। लेकिन आखिरकार वह विज्ञान का सवाल है, तक़दीर या भाग्य का नहीं। जब तक उसे हम नहीं जानते, उसे अदृष्ट या दैव कह सकते हैं।

जो लोग भाग्य पर विश्वास रखते हैं, वे ज्यादातर अकर्मण्य और पुरुषार्थ-विहीन बनते हैं। वे अन्ध-विश्वासी तो होते ही हैं। इसलिए, पुरुषार्थी होने पर भी उन का भविष्य ख़तरे में ही रहता है। और उन का मानस जुआरी का मानस बनता है।

इन सब बातों को सोचने के बाद हमारे पुरखों में से किसी ने कहा—

पौरुषात् जायते सिद्धि पौरुषात् धीमतां क्रमः।
दैवं आश्वासनामात्रं दुःखपेलवबुद्धिषु॥

पौरुष—पुरुषार्थ या प्रयत्न के बिना सिद्धि नहीं हो सकती। धीमान् लोग—बुद्धिशाली लोग—पौरुष के आधार पर ही अपना जीवनक्रम चलाते हैं। हारे हुए दुःखी लोगों के कमजोर मुलायम दिलों को आश्वासन देने के लिए ही 'दैव' की कल्पना की है।

यहां इतना लिख देना आवश्यक है कि लोकोत्तर पराक्रमी लोग कभी-कभी अन्तःकरण के दैववादी होते हैं, और दैववाद के कारण ही उन में असाधारण दृढ़ता और निष्ठा आ जाती है। लेकिन ऐसों की दैववादिता ईश्वरनिष्ठा का ही एक पहलू होता है।

(३ अक्तूबर १९५९)

नवग्रहों की पीड़ा

ईश्वर की सृष्टि में हम हैं। हमारे सब ओर दुनिया फैली हुई है। हम स्वयं दुनिया का एक अंग हैं। दुनिया का चिन्तन करने वाले चन्द लोगों का सूत्र है कि दुनिया के एक-एक कण में सारी दुनिया सूक्ष्म रूप में भरी हुई है। पेड़ की

टहनी का एक टुकडा काट कर हम बोते हैं। उस में से एक सारा पूरा वृक्ष पैदा हो जाता है। आश्चर्य-चकित हो कर कवि गाता है—'एक बूंद से मानव-जैसे पुतले बनाये हजारो।' सचमुच यह सारा विश्व एक गूढातिगूढ़ वस्तु है। कल्पना कर के थक जाने पर कवियो ने कह दिया कि भगवान् तो अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के नायक हैं। पुराणकारो ने ब्रह्माण्ड की कल्पना का स्थलकाल में विस्तार कर के दिखाया है। किन्तु यह सारा ज्ञान कहाँ से आया सो तो बताया नही। लोग कहते हैं कि योगविद्या से ऋषि-मुनियों ने यह सब पाया। योग-विद्या के ग्रन्थ हैं उन में उस विद्या की साधना और प्रक्रिया बतायी है। उस के अनुसार चलने वाले कई लोग देखने में आते है। उन का स्वभाव, उन की सिद्धियाँ और उन का ज्ञान देखते कई बार दु ख होता है। कभी भी सन्तोष या उत्साह नही होता। योगविद्या का माहात्म्य बताने वाले बहुत हैं, सिद्धि बताने वाले बहुत कम। उन की आखिरी दलील इतनी ही होती है कि जिस चीज़ को तुम नही जानते उस को इनकार करने का तुम्हें अधिकार क्या है? लेकिन उन से भी एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि आप को जिस का न ज्ञान है, न अनुभव उस के बारे में कुछ भी कहने का और केवल कल्पना पर बडे-बडे महल खडे करने का अधिकार आप को भी कहाँ से मिला? क्या अज्ञान किसी विचार-परम्परा की बुनियाद हो सकती है?

गूढवादी लोग इस तरह चर्चा में परास्त होने के बाद अपना पैंतरा बदल देते हैं और कहते है कि, 'यह चर्चा का विषय नही है, अनुभव का है। हम अपने अनुभव के बल पर कहते हैं।' वे जानते नही कि अनुभव का नाम लेना अपने को, अपने पक्ष को और भी कमज़ोर करना है। सामान्यतया दुनिया के सब सज्जन ऐसे 'अनुभव'वादियों से चर्चा करना छोड देते हैं। मन में कहते हैं आप के अनुभव की कदर करने वाले आप को बहुत से आदमी मिलेंगे। आप अपना सम्प्रदाय चलाइए। आप का अनुभव हमारे काम का नही है। अनुभव की भी तो कसौटी होती है। भोले लोगो की अपनी एक अलग दुनिया होती है। उस में हमें प्रवेश नही करना है। हमें जिस चीज़ का अनुभव होता है उस का हम सबूत भी दे सकते हैं और अनुभव भी करा सकते हैं।

पुराणो में चन्द्रलोक की बातें आती हैं। आजकल के खगोलशास्त्र में भी चन्द्रलोक की बातें आती हैं। खगोलशास्त्र का अनुभव दूरबीन के द्वारा, गणित और पदार्थ-विज्ञान के द्वारा हम सब को करा सकते हैं। रसियन और अमेरिकन व्योमयात्री खगोलशास्त्र के और विज्ञान शास्त्र के बल पर आकाश में घूम आये। उन्होने चन्द्र के पृष्ठभाग के फोटो भी लिये। खगोलशास्त्री दूरबीन की मदद से

चन्द्र पर के पहाड़ो का और खड्डो का चित्र निकालते हैं। उन की ऊँचाई-गहराई का ठीक नाप भी लेते है। उन के इस अनुभव का वे अनुभव करा सकते है। इस लिए उन की बातें विश्वासपूर्ण होती हैं।

गूढविद्या के 'अनुभव'वादी अकाटच दलीलें करते हैं, लेकिन अपने 'अनुभव' का दूसरो को अनुभव नही करा सकते। वे कहते हैं हम बताते हैं ऐसी साधना तीस-चालीस बरस तक करो, तब तुम्हें अनुभव मिलेगा। साधना भी ऐसी बताते है जिस पर विश्वास रखना आसान नही होता। हम जब पूछते है कि आप की बतायी हुई साधना जिन्होने की है ऐसे चार-दस आदमियो को बताइए। उन के अनुभव में अगर एकवाक्यता दीख पड़ी तो हम आप की बाते सुनने को तैयार होगे।

गूढ अनुभव और गूढ विद्या को हम अस्वीकार नही करते। जिस चीज़ को हम नही जानते उस का इनकार करना गलत होगा। लेकिन इनकार कर नही सकते इस लिए हम थोडे ही स्वीकार करने के लिए बँधे हुए हैं ?

मनुष्य के ज्ञान का क्षेत्र आज मर्यादित है। उस का अज्ञान का क्षेत्र अज्ञात है और इसी लिए अमर्याद है। हम इतना ही कह सकते हैं कि ज्ञान की बुनियाद पर श्रद्धा और तर्क के बल से हम अनुमानो की इमारत खड़ी कर सकते हैं। लेकिन वहाँ पर भी खोज और प्रयोग कर के निश्चय पर पहुँचने की अपेक्षा तो रखते ही है। हमारे देश में और दुनिया में अन्यत्र भी असख्य भोले लोग मौजूद है जो अज्ञान के बल पर कल्पना के सहारे और काल्पनिक अनुभव की दुहाई दे कर एक काल्पनिक दुनिया खडी कर देते है। उन का यह प्रयास उन्हें मुबारक। किन्तु वे आसपास के लोगो को आग्रहपूर्वक उन की अन्धी और अविश्वसनीय बुनियाद पर निकाले हुए अनुमान के अनुसार चलने को कहते हैं। कोई न चला तो उस की तरह-तरह से निन्दा करते हैं। उसे नास्तिक, दुर्दैवी, अभागा कहते हैं। मन मे चिढते हैं और फिर उसे टालते भी हैं।

सारी ज़िन्दगी ऐसे आस्तिक, श्रद्धावान् 'अनुभव'वादियो का मैं परिचय पाता आया हूँ। वे मुझे जबरदस्ती साक्षात्कारी अवतारी पुरुषो के पास ले गये है। प्रसाद के तौर पर उन का उच्छिष्ट खाने का उन्होने मुझसे आग्रह भी किया है। उन की बात न मानने पर उन्होने मुझ पर तरस भी दिखाया है। ऐसे लोगो ने मुझे जितना डर बताया वैसा कोई मेरा नुकसान नही हुआ और जिन भोले लोगो ने उन की बात मान ली उन को कोई लाभ हुआ भी मैं ने न देखा न सुना।

जो लोग अपने मर्यादित ज्ञान के बल पर चलते हैं और अज्ञान का क्षेत्र

घटाने की कोशिश करते है, उन की प्रगति हम देखते हैं । केवल सासारिक और भौतिक प्रगति ही नही, आध्यात्मिक प्रगति भी दीख पडती है । और उन का अच्छा असर आसपास फैला हुआ भी स्पष्ट दीख पडता है । और जो लोग दावा-ही-दावा करते रहते हैं उन का भी असर फैलता है । वह किस किस्म का होता है यह भी हम देखते आये हैं ।

मेरे वचपन में लोग कहते थे कि सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण के समय कुछ भी खाना नही चाहिए । खाने पर भस्मरोग होता है । (भस्मरोग क्या वला है इस की तलाश करने पर मालूम हुआ कि आदमी की भूख अनहद वढती है । वह जो खायेगा भस्म हो जाता है । न कभी उस की तृप्ति होती है न उस की शक्ति वढती है ।) ग्रहण के समय खाने का विचार मनुष्य को सूझना नही चाहिए । ग्रहण रोज़ नही होते इस लिए ध्यान से उन्हें देखना चाहिए यहाँ तक मैं सहमत हूँ । अगर कोई कहे, जैसा चन्द सनातनी लोग विज्ञान की दुहाई दे कर दलील करते हैं—कि ग्रहण के समय सूर्य की किरणें हमारे शरीर तक नहीं पहुँचती, इस लिए हमारी पाचनशक्ति क्षीण होती है, इस लिए ग्रहण के समय नही खाना चाहिए तो मैं सुनने को तैयार हूँ । लेकिन सुन कर अनुभव करने को भी जी चाहेगा । रात को सूर्य की किरणें हम तक नही पहुँचती, तो भी लोग मज़े से खाते हैं । किसी को अजीर्ण या भस्मरोग नही हुआ । मैं ने तो एक-दो दफे सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण के रहते खा कर देखा । मुझे कोई भस्मरोग नही हुआ । दूसरा भी कोई नुक़सान नही हुआ । लाभ इतना ही हुआ कि किसी ने अज्ञात का डर दिखाया तो मान जाने की जो कमज़ोरी मनुष्य मे होती है वह दूर हुई । अन्ध-श्रद्धालु लोगो की आग्रही वातें मान लेने की और हज़म करने की शक्ति क्षीण हुई । जिस चीज़ को हम नही जानते उस को हम स्वीकार करे कि हम नही जानते इतना काफी है । जो लोग गूढ अनुभव का दावा करते हैं और उस के वल पर हम पर सवार होना चाहते हैं उन की वातो की या तो हम उपेक्षा करें, या जाँच करें । उन के वताये हुए डर की हम शरण न जाये ।

किसी ने मुझसे पूछा कि फलितज्योतिष मानते हो ? मैं ने कहा कि मैं कैसे कहूँ कि आकाश के ग्रहों का, तारो का और अन्य ज्योतियो का मुझ पर या किसी पर असर होता ही नही ? होता होगा । उस असर के होते हुए भी मेरा जीवन-क्रम ठीक चल रहा है और जो लोग फलितज्योतिष पर विश्वास करते हैं और ग्रह-शान्ति के मन्त्र वोलते है और दान देते हैं उन के जीवन में कोई खास सुधार हुआ देखने में नही आया । अगर कोई आ कर मुझ से कहे कि आप का स्वास्थ्य आप को अच्छा लगता है, लेकिन कल आप को एक भयानक वीमारी होने वाली

है, इस लिए आज मैं दवा देता हूँ उसे ले लीजिए और मैं ने उस की दवा ले ली तो दूसरे दिन वह जरूर कह सकता है कि देखिए कितनी भयानक बीमारी से आप बच गये। मेरी दवा का यह अद्‌भुत असर है। मेरी दवा न लेते तो जरूर आप छह महीने तक बीमार रहते। तो ऐसे आदमी को मैं क्या जवाब दूँ? मैं मन में कहूँगा बिना कारण दवा ली और बेवक़ूफ़ बना। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मैं दवा न लूँ और मेरा भोला नौकर मुझे बचाने के लिए कोई मन्त्र बोले, दान करे और लोग मुझे कहें कि देखिए अपने नौकरो के इलाज से आप बच गये। ऐसी दलील का जवाब क्या हो सकता है? मैं फिर से कहता हूँ कि मैं यह नही कहता कि फलितज्योतिष जैसा कोई विज्ञान हो नही सकता, किन्तु आजकल जो फलितज्योतिष चलता है उस पर मेरा विश्वास नही बैठता। अगर फलितज्योतिष कोई सायन्स (विज्ञान) है तो वह कच्चा है, उस की बुनियाद कच्ची है। उस के दावे को हम मान नही सकते।

इतना विस्तार से जवाब दे कर भी मुझे सन्तोष नही हुआ। मैं ने आगे जा कर कहा कि मेरा अनुभव है कि जो लोग फलितज्योतिष को मानते हैं और उस के अनुसार चलते हैं या इलाज करते हैं उन की विचार-शक्ति, तर्क-शक्ति और शुद्ध अनुमान निकालने की शक्ति क्षीण होती है। अज्ञात के डर के कारण वे ज्ञात का अनादर करते हैं। स्वयं बेवक़ूफ़ बन कर दूसरों को बेवक़ूफ़ बनाने की कोशिश करते हैं। अन्य पुरुषार्थ छोड कर फलितज्योतिष के पीछे पड़ते हैं। समय और पैसा बरबाद करते हैं और इन का जीवन दयापात्र बनता है। इस लिए फलितज्योतिष में अगर थोड़ा कुछ सत्यांश होने की सम्भावना रही तो भी उस के पीछे जाने में नुक़सान ही नुक़सान है। जितने सकट हम स्पष्ट देखते हैं उन का शुद्ध इलाज हम करते जायें और विश्वास रखे कि यह दुनिया ईश्वर की है। यह अनाथ नही है। इस में हम अपने ज्ञान, अनुभव और शुद्ध श्रद्धा के अनुसार चले। बाक़ी का सब ईश्वर के हाथ में है इस विश्वास से हम अपने मन को मजबूत करें। हम ज्ञान के उपासक बनें न कि अज्ञात और अज्ञान के।

इन दिनो आकाश में आठ ग्रह एक राशि में आये। याने पृथ्वी से ये सब एक राशि में दीख पडे। पृथ्वी ऐसे स्थान पर आयी कि जहाँ से ये आठ ग्रह एक ही राशि में आये हुए हो ऐसा दृश्य खड़ा हुआ। इन में राहु, केतु तो सचमुच ग्रह नही हैं। ये तो ज्योतिष शास्त्र के बताये हुए दो काल्पनिक बिन्दु हैं जिन के बीच हमेशा १८० अंश का अन्तर रहता है। बाक़ी के सात ग्रह एक राशि में दीख पडे। कुछ समय तक उसी हालत में वे रहे। इस में कोई बड़ी बात

तो है नही। आकाशस्थ अनेक ज्योतियो का इस तरह एक राशि में आना बार-बार सम्भव नही होता। लेकिन उस में दूसरी कोई खूबी नही है।

जिस दिन मैं साठ बरस का हुआ उस दिन मैं ने सोचा कि मेरी जिन्दगी में ऐसा दिन न कभी आया था, न आयन्दा आने वाला है। इस लिए मेरे लिए यह दिन अनोखा है, अजीब है, उसे अद्भुत भी कह सकता हूँ। लेकिन उस का कोई दूसरा महत्त्व तो नही है। जैसे दूसरे दिन वैसा ही यह दिन है। उस दिन मैं ने अपने साठ बरस के जीवन का चिन्तन किया। आगे के जीवन के लिए कुछ संकल्प भी किये। इस से अधिक उस दिन मैं दूसरा कुछ था ही नही। इसी तरह जब सात या आठ ग्रह एक राशि में आये तब मेरा कर्तव्य हुआ कि मैं इस दृश्य को ध्यान से देखूँ। ऐसा मौका मुझे जिन्दगी में शायद ही कभी मिलेगा। जब कभी गान्धीजी और रवीन्द्रनाथ एक ही स्थान पर आये, हम बडे कुतूहल से उन दोनो को एक साथ बैठे देखते थे। हम ने कभी नही माना कि उन के इस तरह एकत्र आने से कुछ शान्ति करने की जरूरत है या कुछ जाप करने की। श्री सम्पूर्णानन्द और श्री डालमिया अपने अनुभव से भले कहें कि फलितज्योतिष सच्चा है, हम तो अष्टग्रह का दृश्य आकाश में देख कर सन्तोष मानेंगे। ग्रह-शान्ति के लिए पैसा इकट्ठा करना, दक्षिणा दे कर मन्त्रो का जाप करवाना, घी जलाना, आदि प्रवृत्ति में नही पडेंगे। अगर पृथ्वी का नाश ही होने वाला है, तो हो। महायुद्ध आदि झझटो से सब को एक साथ मुक्ति मिलेगी। चुनाव की चिन्ता किसी को नही करनी पडेगी। क़र्ज़ा देने वाला, लेने वाला दोनो उस की चिन्ता से मुक्त हो जायेंगे और विश्वमें दीर्घकाल के लिए शान्ति स्थापित होगी। ज्ञात वस्तु का और उस के ज्ञात परिणामो का हम योग्य इलाज जरूर करें। लेकिन असिद्ध वस्तु का डर रख कर हम नाहक अस्वस्थ न बनें।

जब किसी ने मुझ से पूछा कि क्या इस अष्टग्रह का हमारे देश पर कुछ असर होगा तब मैं ने हँसते हुए कहा, क्यो नही? असंख्य लोग दिन-रात डरते रहेंगे। कई लोग पैसा इकट्ठा कर के यज्ञ-याग करवायेंगे। बडे-बडे लोगो को चेतावनी दी जायेगी कि आप सँभल कर चलें। हवाई जहाज में न बैठें। कोई हिम्मत का काम न करें। अँधेरे में न जायँ। अष्टग्रह का एक बडा असर यह होगा कि लोग रेल की यात्रा कम करेंगे। इस लिए मुसाफिरी करने वालो को बैठने सोने की जगह अच्छी मिलेगी। बीमा कम्पनी को काम बहुत मिलेगा। (बीमा कम्पनियाँ डरेंगी या नही इस का पता नही।) ऐसे-ऐसे बहुत परिणाम होंगे और वे अष्टग्रह के कारण ही होंगे।

अगर कही भूचाल हुआ तो हम कह नही सकेंगे कि अष्टग्रह के कारण ही हुआ। अगर किसी की मोटर पेड़ के साथ टकरायी तो हम कह नही सकेंगे कि उस का कारण अष्टग्रह की युति ही है। लेकिन जो भी यज्ञयाग होगे, जपजाप्य होगा, डर फैलेगा और खर्चा होगा वह तो अष्टग्रहयुति का फल ही होगा इस में कोई शक नहीं। इतना प्रत्यक्ष कार्यकारण सम्बन्ध होते हुए हम कैसे कहें कि अष्टग्रह-युति का कोई असर ही नही ?

हाँ, एक वात भूल गया। इस अष्टग्रह युति के कारण फलितज्योतिष के वारे में लेख लिखे जायेंगे। वहुत से पक्ष में होगे, चन्द विपक्ष में होगे और ग्रहो की चर्चा वहुत चलेगी।

(१५ फरवरी १९६२)

वहम का साम्राज्य

नीचे का खत आये करीव दो महीने हो गये। लेखक ने निर्मल भाव से अपनी भावनाएँ और अपनी उलझन उस में व्यक्त की है। लेखक ने अपनी मानसिक स्थिति का जो वर्णन किया है वही हालत हमारे देश के लाखो, वल्कि करोडो लोगो की है। खत मुझे अच्छा लगा। लेकिन अष्टग्रह योग के वारे में अभी-अभी लिखा ही है। इस लिए ज्योतिष के वारे में तुरन्त लिखने को जी नही चाहा।

इतने में वम्वई से एक परिपत्र आया। जिस में वम्वई के विख्यात और लोकप्रिय दो ज्योतिषियो का सत्कार करने का विचार हो रहा है ऐसा लिख कर दोनो की योग्यता के वारे में भी उस मे लिखा है। इन दो ज्योतिषियो में से एक को मैं पहचानता हूँ। वडे ही सरल, निरभिमानी सज्जन हैं। और ज्योतिषी होते हुए भी लोभी नही हैं। इस का प्रभाव मुझ पर विशेष पडा। फलित-ज्योतिष पर जैसा वे विश्वास रखते हैं वैसा मैं नही रखता, नही रख सकता। ज्योतिष, हस्त सामुद्रिक, मुख सामुद्रिक, शकुन, भविष्यवाणी, दैवी प्रेरणा आदि के वारे में वचपन से सुनता आया हूँ। इन वातो पर विश्वास रखने की कोशिश की, अविश्वास कर के भी देखा। सूर्य सिद्धान्त, भृगुसंहिता आदि ग्रन्थो के वारे में काफ़ी सुना। भूत-प्रेतों से वातचीत करने के साधनरूप प्लेंचेट का भी उपयोग कर के देखा। भूतो की खोज में अमावास्या की मधरात में

श्मशान भी हो आया और कुएँ की गहराई में भी पहुँच गया। 'नरसोवाची वाडी' आदि तीर्थस्थानों में जा कर वहाँ इकट्ठा होने वाले भूतप्रेतग्रस्त लोग भी देखे। Night shade of life जैसे ग्रन्थ भी पढे। देशी भाषा में तो भूतो के चमत्कार बताने वाले न जाने कितने ग्रन्थ पढे। हुलूस, देवचार, समंघ, ब्रह्म-समध, जिन, हिडल आदि के बारे में तो बचपन से सुनता आया था। कहने की जरूरत नही कि इन सब बातो के बारे में चिन्तन भी काफी किया।

लोग मुझ से पूछते हैं आप फलितज्योतिष को मानते हैं? भूत-प्रेतादि योनि पर विश्वास करते हैं? जिन उपनिषदो का आप के मन पर आध्यात्मिक असर है उस में भी 'गन्धर्वगृहीता' कन्या का जिक्र आता है। उस पर आप विश्वास रखने के लिए बाध्य है या नही? ऐसे-ऐसे सवालो का जवाब अनेक बार दिया है। वही जवाब आज यहाँ थोडे में देना चाहता हूँ। लेकिन उस के पहले वह खत देना जरूरी है जिस का जिक्र ऊपर आया है:

"फलितज्योतिष के सम्बन्ध में शकाएँ होते हुए भी पूर्व सस्कारो वश फलित ज्योतिष के चक्कर में मन आ जाता है और अपने और अपने परिवार के भविष्य के सम्बन्ध में जन्मपत्री दिखाने और बच्चे-बच्चियो की सगाई-सम्बन्ध के सिलसिले में कुण्डलियाँ मिलाने के झझट में पड जाता है। फलस्वरूप आगे की शकाओ और कुशकाओ से तत्काल यथेष्ट निर्णय नही हो पाता है।

"मैं हृदय से चाहता हूँ, कि मुझे अपनी इस मानसिक उलझन को दूर करने के लिए बौद्धिक आधार मिले। बडी कृपा होगी आप मुझे इस सम्बन्ध में अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर सविस्तार समझाने की कृपा करेंगे, ताकि मैं अपने को वहम से मुक्त रखते हुए, विवेक के आधार पर अपने भविष्य को बनाने में अग्रसर हो सकूँ।"

आकाश के सितारे देखने का और उन मे से त्रिकोण, चौरस आदि आकृतियाँ बनाने का शौक मुझे बचपन से है। खुली बैलगाडी में सो कर रात की मुसाफिरी भी करने का मौका बचपन में अनेक बार मिलने के कारण आकाश के सितारे मेरे घनिष्ठ स्नेही बने चुके हैं। दूरबीन से उन्हें देखना, उन के बारे में पढना और सितारों में भगवान् का जो अजर-अमर काव्य सनातन काल से जाहिर होता आया है उस का आनन्द पा कर विश्वनाथ भगवान् की भक्ति मजबूत करना यह मेरा सदा का आनन्द रहा है।

इन सितारो को बचपन से देखता आया हूँ—पहचानता आया हूँ, उन से दोस्ती करता आया हूँ और इन के बारे में सहृदय लोगो से बातचीत भी की है। तारो का स्वरूप, उन की गति, उन का प्रमाण और परस्पर सम्बन्ध सम-

ध्नने के लिए जरूरी गणित और विज्ञान का परिचय पा लिया। इस के कारण मेरा काव्यानन्द वढ़ा और भगवान् के प्रति भक्ति में एक नयी ही खुशबू प्रतिष्ठित हुई। मैं स्वयं कल्पना में एक विराट् पुरुष वन कर सूर्य के ग्रह अपने-अपने चन्द्रों को साथ ले कर सूर्य के इर्द-गिर्द कैसे घूमते होगे, शनि के वलय का रूप कैसा होगा, इन अनेकानेक चन्द्रो के कारण तरह-तरह के ग्रहण कैसे होते होगे और सूर्य के इर्द-गिर्द पृथ्वी के भ्रमण के कारण दिवस-रात्रि और ऋतु कैसे पैदा होते हैं और समुद्र में ज्वारभाटा का श्वासोच्छ्वास कैसा चलता है इस का प्रत्यक्ष दर्शन मैं करने लगा। इस के वाद अति विराट् वन कर असख्य तारे, उन की नीहारिकाएँ और आकाशगंगा के विशालतम जगत् का विश्वरूप दर्शन भी मैं ने कल्पना की आँखों से किया। और तारों का विज्ञान (Stellar physics) के वारे में पढ़ कर एक-एक तारे के पेट में उष्णता कितनी है और तप्त धातुओं का ताण्डव कैसा चलता है इस का भी अद्भुतरम्य साक्षात्कार किया। तारों को जन्म देने वाले हिरण्यगर्भ की नीहारिकाओं में प्रवेश करने की कल्पना की भी हिम्मत न हुई। तव—'दिशो न जाने न लभे च शर्म।' कह कर वापस आना पड़ा। सर्वंकषा कल्पना भी जहाँ थक जाती है ऐसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डो का खयाल करना यह भी एक वेदान्त की अद्वैत साधना ही है और वैदिक ऋषि अघमर्षण कहते हैं कि ऐसी साधना से पाप धुल जाता है। यह तव होगा जव ज्योतिष के विराट् विश्वरूप दर्शन के साथ ऋत और सत्य का साक्षात्कार हो।

भौतिक ज्योतिष और गणित ज्योतिष के साथ मानव जाति ने फलित-ज्योतिष की ओर भी प्रयत्न चलाया है। लेकिन हम कह नही सकते कि इस क्षेत्र में मनुष्य-जाति ने प्रयत्न की पराकाष्ठा की है। ग्रहो का और तारों का मनुष्य-जीवन पर असर हो सकता है इतना अनुमान करने के वाद उन्होंने इन सव ग्रहो को जीवित पुरुष मान कर उन्हें व्यक्तित्व प्रदान कर के उन ग्रहो की शान्ति करने के उपाय ढूंढ़े।

जव हम देखते हैं कि सूर्य-चन्द्र का असर समुद्र के पानी पर होता है और वनस्पति की नसो में घटने-वढने वाले रसो पर भी होता है, तव हम कैसे कहें कि ग्रहों का हमारे शरीर पर कुछ भी असर नही हो सकता। हम जिस ऋतु में जन्म लेते हैं उस ऋतु का असर हमारे शरीर के सप्तधातुओं पर कुछ-न-कुछ होता ही है। वात-पित्त-कफ पर भी ऋतु का असर हो सकता है। यह जितना सत्य है इतना ही यह भी सत्य है कि असरो की वैज्ञानिक शोध-खोज अभी तक नहीं हुई है। ऋषि-मुनियो के अतीन्द्रिय योगसामर्थ्य की दुहाई दे कर हम लोगो ने केवल कल्पना, अवैज्ञानिक अनुमान और शुद्ध वहमों का वचाव सैंकड़ो वरसों

तक किया और लोगो को अन्धश्रद्धा का और अर्थविहीन लोभ और भीति का पोषण किया। लेकिन न हमारे ज्ञान में कुछ वृद्धि हुई न जनता के स्वास्थ्य और कल्याण में कुछ फर्क हुआ।

फलितज्योतिष के बारे में लोग जब विश्वासपूर्वक जोर-जोर से कहते हैं तब उन पर तरस आता है और ऐसे लोग भी हमारी वृत्ति को अश्रद्धा और नास्तिकता कह कर जनमानस को हमारे खिलाफ बनाने की कोशिश करते है। यह लीला हमेशा चलने वाली है ही।

जन्म पत्रिका तैयार कर के जन्म लग्न के अनुसार फल बताने वाले और उस पर विश्वास रखने वाले बहुत लोग हमने देखे हैं। जैसे भूतो पर विश्वास रखने वाले लोगो की बातें जनता विश्वास के साथ सुनती है, वैसे ही ग्रहो के असर की बातें लोग विश्वास रखने के आग्रह के साथ सुनते हैं। अविश्वास करने पर आप पर ग्रहो का शाप उतरेगा ऐसा डर बताने वाले लोग तो होते ही हैं।

कहते है चन्द्र के आसपास कोई वायुमण्डल नही है। वहाँ गरमी और सर्दी धीमे-धीमे नही बढती, चन्द्रके ऊपर सूखे महासागर है। मरे हुए ज्वालामुखी भी होंगे। जिस किस्म की जीवसृष्टि को हम पहचानते हैं वैसी जीवसृष्टि चन्द्रके ऊपर नही है, हो भी नही सकती। ऐसे निर्जीव और निष्प्राण चन्द्र में मनुष्य के जैसे रागद्वेषादि होते हैं ऐसा मानना हमारे लिए आसान नही है। जो मान सकते हैं उन की श्रद्धा उन्हें मुबारक।

जब लोग कहते हैं कि हमारे जीवन पर चन्द्र का असर होता है तब मेरे मन में तुरन्त विचार आता है कि मैं सजीव, प्राणवान्, चैतन्यमूर्ति हूं। मेरा असर चन्द्र पर अवश्य होता होगा। उस का हिसाब करने वाले ग्रन्थ हमारे पास क्यो नही? जरूर कोई कह सकता हैं कि ऐसे ग्रन्थ चन्द्रलोक में अवश्य होंगे। मैं ऐसे लोगो से वाद-विवाद नही करूँगा।

फलितज्योतिष के ग्रन्थ पढ़ कर जो लोग ग्रहो के हमारे जीवन पर होने वाले असर की बातें करते हैं उन पर मेरा विश्वास नही है। काकतालीय न्याय से उन की कही चन्द बातें सही निकलें तो भी उन पर विश्वास रखने के लिए मैं तैयार नही हूँ।

पचाग में एक अवकहडा चक्र दिया जाता है। उस चक्र की किनारी पर ग्रीक वर्णमाला के अक्षरों के जैसे कई अक्षर लिखे हुए पाये जाते हैं। ज्योतिषी लोग इस अवकहडा चक्र की मदद से नये जन्मे हुए बालक के नाम का आद्याक्षर

वताते हैं। और वालक का गण देव, मनुष्य या राक्षस है यह भी वताते हैं। इन की चर्चा और इन के भविष्य काफी सुनने के वाद मेरा निश्चय हो गया है कि ये सारे ढकोसले हैं। जन्मपत्री देख कर शादियाँ तय करना यह भी विलकुल फ़िजूल वात मालूम होती है। जो लोग ज्योतिष को पूछ कर लड़के-लड़कियों की शादी कराते हैं और जो लोग पूछे विना करते या कराते हैं उन के अनुभव से स्पष्ट होता है कि ज्योतिष की, नक्षत्र और जन्माक्षर की अनुकूलता देख कर किये हुए विवाह अधिक सफल हुए हैं ऐसा कहीं भी अनुभव नही है। वर और कन्या के दोनो खानदान का स्वभाव, उन के रस्म-रिवाज, तथा उन के पारिवारिक इतिहास को देख कर और वर और कन्या के स्वभाव का खयाल कर शादियाँ तय होनी चाहिए। ग्रहयोग की वात वीच में ला कर माँ-वाप और दूसरे लोग अपनी सच्ची ज़िम्मेवारी भूल जाते हैं और मानते हैं कि हम ने ग्रहो की अनुकूलता देख ली अव दूसरी वातें देखने की ज़रूरत ही क्या ?

वालक के जन्म के साथ उस की जन्मपत्री वनाना और उस पर से भविष्य तय करवा कर उस पर विश्वास रखना सचमुच जीवनद्रोह है। अन्ध हो कर विश्वास रखना और वच्चों के वारे में पहले से अभिप्राय वाँध लेना वालको के प्रति अन्याय है।

वारिश कव होगी इस का कुछ अन्दाज़ देने वाला एक विज्ञान है जिसे अँगरेज़ी में मेटीऑरॉलॉजी (meteorology) कहते हैं। हमारे देश में किसानों ने दीर्घकालीन अनुभव के वाद और कुछ नये-नये अनुमान उस में जोड़ने के वाद अपना एक भोला ग्रहमान-विज्ञान वनाया, जिसे 'सहदेव-भडली-वाक्य' कहते हैं। भोले युग की यह वैज्ञानिक प्रवृत्ति थी। उस की क़दर करनी चाहिए। लेकिन जव कोई किसान गाँव के ज्योतिषी से पूछ कर खेत में अनाज वोता है तव वह वुद्धिमानी का काम नही करता। विवाह के लिए मुहूर्त ढूँढना, यात्रा के प्रस्थान के लिए ज्योतिषी से मुहूर्त पूछ आना यह एक वहम का ही अंग है।

आसाम के इतिहास में हम ने पढा था कि लड़ाई करने चली फ़ौज के साथ एक ज्योतिषी भी रहता था। उस से पूछे विना फ़ौज कुछ नहीं कर सकती थी। एक दफ़े सेनापति लाछितफूकन ने देखा कि शत्रुपर धावा वोलने का अनुकूल अवसर आ गया है। और उस ने ज्योतिषी से पूछा। जोशी महाराज ने मीनमेष गिन कर कहा, 'इस वक़्त मुहूर्त नहीं है। ग्रह अशुभ हैं। वडा नुक़सान होगा।' सेनापति सयाना था। उस ने जोशी महाराज को धमका कर कहा कि अभी के अभी मुहूर्त निकाल कर दे दो। नहीं तो तुम्हारा सिर उडा दूँगा। जोशी

महाराज समझ गये कि ग्रहो के असर से भी बढ़ कर है सेनापति की तलवार का असर। उन्होने झट मुहूर्त निकाल दिया। सेना उसी क्षण निकल पडी।

फलित-ज्योतिष, सामुद्रिक और शकुन आदि वहमो के पीछे कुछ सत्य है या नही ऐसे प्रश्नो का उत्तर देना फिजूल है। मैं तो सब से कहता हूँ कि ऐसे वहमों पर विश्वास रखने वाले लोगों के मन पर ग्रहों का कहिए या वहमो का कहिए, बहुत बुरा असर होता है। वे अपनी निर्णयशक्ति खो बैठते है। परिस्थिति पहचानने का अपना कर्तव्य वे भूल जाते है और अन्धविश्वास बढने से उन का व्यक्तित्व दया और तिरस्कार का पात्र बनता है। फलितज्योतिष के पीछे पड़ने वालो का पारावार नुक़सान होता है। उन की मनोरचना दयापात्र बनती है और उन के बारे में आदर रखना मुश्किल होता है। ऊपर जिन दो ज्योतिषियो का ज़िक्र मैं ने किया है उन्होने शुद्ध गणित कर के और फलित-ज्योतिष के ग्रन्थ देख कर अष्टग्रहयोग शुरू होने के पहले ही जाहिर किया था कि अष्टग्रही बिलकुल मामूली ढंग का एक सामान्य योग है। न वह अनर्थसूचक है, न उस योग में ऐसा सामर्थ्य है कि मामूली छोटे-मोटे संकट भी पैदा कर सके। अगर जनता ने उन की यह बात मानी होती तो हवन कर के घी जलाने के पीछे हज़ारों रुपये बरबाद नही होते। लेकिन अगर मैं जनता से कहूँ कि इन दो ज्योतिषियो के निर्णय पर और उन की भविष्यवाणी पर विश्वास रखें तो मेरी सारी भूमिका ही टूट जायेगी। मैं ने गणित किये बिना और ज्योतिषग्रन्थों से पूछे बिना स्पष्ट किया था कि मैं नही मानता कि इस अष्टग्रहयोग के कारण कुछ खास बनने वाला है। फलित-ज्योतिष आदि प्रवृत्ति से हमारे समाज का बड़ा ही नुक़सान हुआ है। इस प्रवृत्ति को छोड़ ही देना चाहिए और मनुष्य को वैज्ञानिक ढंग से जीने का निश्चय करना चाहिए।

लोग कहते हैं कि ज्योतिष में शायद कुछ होगा। हम कहते हैं कि शायद नही भी होगा। प्रयोग कर के हर चीज़ को कस कर के देखना चाहिए। अश्रद्धा से मनुष्य-जाति का जितना नुकसान हुआ है उस से हज़ार गुना नुकसान अन्धश्रद्धा से हुआ है। सब से बडा नुकसान तो यही है कि वहमों पर विश्वास करने वाला आदमी छोटा बनता है, डरपोक बनता है। निर्णय करने की शक्ति खो बैठता है और समाज को भी नीचे खीचता है।

जिस किसी को ऐसे विषयो में दिलचस्पी है उस को चाहिए कि वह पहले तर्कशास्त्र और अनुमानशास्त्र अच्छी तरह सीखें। डिडक्टीव लॉजिक और इन्डक्टीव लॉजिक—निगमनिक तर्क और आगमनतर्क और हेत्वाभास तीनो का

अच्छी तरह से अध्ययन करे और उस के बाद वैज्ञानिक निष्ठा से हजारों और लाखों उदाहरणों की जाँच कर के निर्णय पर आवे और लोगों के सामने पूरा मसाला रजू करे। अगर कोई बात सही भी हो तो भी जब तक उस की जाँच-पड़ताल नहीं हुई है वह वहम ही है और उस का स्वीकार अन्धश्रद्धा से करना खतरनाक है।

(१ नवम्बर १९६२)



भारत का अध्यात्म

भारत का अध्यात्म

प्रश्न—विदेशो से जो चुनिन्दा लोग आते हैं वे कहते हैं कि "भारत में एक वातावरण है जो और कहीं नही है। हम तो भौतिकवादी बन कर बहुत गुमराह हुए हैं जीवन के सभी गूढ और मौलिक तत्त्व खो बैठे हैं। हमारे पास न चैन है, न शान्ति। तुम्हारे पास चैन और शान्ति दोनो हैं। इसीलिए आँखे भारत पर जमी हुई हैं। तुम क्यो हमारे पीछे चले हो? भारत अगर अपना अध्यात्म खो बैठा, तो हम बाकी दुनिया का क्या होगा?"

उत्तर—जब तक भारत आजाद नही था तब तक यह सवाल पूछने वालों की संख्या कम थी। हमारे अध्यात्म को लोग ख्वाब कहते थे, खत कहते थे, हवाई तरंग कहते थे और कभी-कभी जीवनद्रोही परलोक-परायणता भी कहते थे।

चन्द साम्राज्यवादी खुल्लमखुल्ला हमें कहते थे कि, "यह श्रमविभाग अच्छा है, तुम नाक पकड़ कर प्राणायाम और ध्यान कर के अध्यात्म की बात सोच लो। हम तुम्हारे देश में राज करेंगे। तुम्हारा रक्षण करेंगे। और जिस की तुम्हें परवा नही है उस धन को इकट्ठा करेंगे।"

और भी एक पक्ष था जो आपस में कहता था कि, "भारत के लोगो को उन के सुख-स्वप्न से जगाना हमारा काम नही है। हम उन के अध्यात्म की मुँह भर के स्तुति करें तो वे राज़ी होते हैं, हम पर विश्वास रखते हैं और फिर भारत में राज करना हमारे लिए आसान होता है।"

हमारे यहाँ और भी एक वर्ग के लोग आते थे जिन्हें भारत का अध्यात्म, भारत का योग, भारत की मन्त्र-शक्ति और यहाँ की गूढ विद्या आकर्षक लगती थी। जीवन के सिद्धान्त के तौर पर नही, किन्तु जिज्ञासा और कुतूहल के तौर पर ही वे यहाँ की बातो की खोज करते थे। उन्हें यह भी आशा रहती थी कि भारत की इस प्राचीन विद्या में से हम जरूर कुछ ऐसा निकाल सकेंगे जो यहाँ के लोग नही जानते हैं। फिर तो हम इन लोगों के देश पर ही नही, इन के

वाहरी जीवन पर ही नही, किन्तु इन के हृदय पर भी राज्य कर सकेंगे। ऐसे लोग भी भारत की विरासत के वारे मे गौरव की वातें कहते हैं।

जव से भारत स्वतन्त्र हुआ है, यूरॅप-अमेरिका के लोगो को एक ही चिन्ता है कि इतना वड़ा देश कही साम्यवादी कम्युनिस्ट न वन जाय। रशिया, चीन और भारत ये तीन ही ऐसे देश हैं जिन की लोकसख्या असीम है। अगर ये तीनों साम्यवादी वन गये तो वाक़ी दुनिया की खैरियत नही। इन में से दो तो साम्यवादी वन चुके। भारत साम्यवादी वनने से आज इनकार करता है। उसे रशिया का जड़वाद पसन्द नही। इसलिए इसी पर ज़ोर दे कर भारत का अध्यात्म हम को कायम रखना चाहिए। रशिया के खिलाफ जो दीवार खडी करनी है उस में भारत के अध्यात्म का उपयोग सव से ज्यादा है।

जो लोग केवल देशाभिमान के कारण अध्यात्म का नाम लेते हैं उन से कोई मदद मिलने वाली नही। जो सचमुच अध्यात्मवादी हैं उन्ही की शक्ति वढ़ानी चाहिए।

यह हो गयी इस सवाल की एक तस्वीर। अव दूसरी ओर देखें। चाहे जिस उद्देश्य से कही हो अगर इन लोगो की वात सही है और भारत सचमुच अध्यात्म-परायण है तो उसे वढावा देना ही चाहिए। हमारे शत्रु भी हमारी जिस वात पर हमारा ध्यान केन्द्रित करना चाहते हैं उसे खतरनाक समझ कर उसे छोड़ देना यह होगा पश्चिम का अन्ध और विपरीत विकृत अनुकरण। इस से भी हमें वचना है।

जव तक युरॅप वैभव के शिखर पर था तव तक उन की संस्कृति से और उन की जीवन दृष्टि से हम चकित हुए थे। अव देखते हैं कि उन की वह संस्कृति संघर्षमूलक है और विनाश की ओर जा रही है। इसलिए उन का अन्ध अनुकरण तो करना ही नही।

हम यह भी सोच रहे हैं कि क्या पश्चिम का इतिहास पढने के वाद हम उन का पुरुषार्थ और अपने अध्यात्म का संयोग नही कर सकते? क्या अध्यात्म के लिए विज्ञान और उस से मिलने वाली सहूलियतें छोड ही देनी चाहिए?

हम और भी सोचते हैं कि अगर हम में विदेशी लोगो को आकर्षित करने वाला और परम शान्ति देने वाला अध्यात्म है तो हमें उस का अनुभव क्यो नही होगा? हमारा आलस्य, हमारी जडता, हमारी परावलम्बिता, आपस-आपस की क्षुद्र ईर्ष्या, पशुओं के समान अन्धी सन्तान वृद्धि और निम्न कोटि तक पहुँचा हुआ जीवनस्तर क्या यही हमारा अध्यात्म है? अगर हम में अध्यात्म है तो उस की सुगन्ध हम क्यो नही अनुभव करते?

हमारी सामाजिक व्यवस्था में जो अन्याय, उत्पीडन और शोषण चलता है वह तो अध्यात्म नही है। चन्द जातियाँ हमेशा के लिए दबी रहती हैं यह भी अध्यात्म नही है। धर्माभिमान के नाम जो अत्याचार होते है वह तो अध्यात्म हरगिज नही। दुनिया कैसी भी चले हम अपने भक्तिस्तोत्र गाते रहेंगे। नाक पकड कर प्राणायाम करेंगे और गूढ शक्तियो की बाते करते ही जायेंगे तो क्या हमारा अध्यात्म सुरक्षित रहेगा ?

जापान, चीन और भारत जब अपनी सादगी में और अपने अध्यात्म में सन्तुष्ट थे तब ये पश्चिम के लोग हमारे बीच आये उन्होने अपने हाथ-पैर फैलाये और हम पर अपना आधिपत्य जमा लिया। तब हमारे अध्यात्म ने हमारी रक्षा नही की। २००-४०० साल हर तरह की विडम्बना सहन की और उन को हम पहचानने लगे। जो-जो चीजें वे यहाँ ला कर बेचते थे वह सब हम यहाँ अब तैयार करने लगे। तब उन की पकड़ कम हो गयी।

अगर हम रेल, मोटर, बस और साइकिल पर सवार होना छोड दे तब तो हमारा अध्यात्म शायद सही होगा। साइकिल से ले कर हवाई जहाज तक का व्यवहार तो हम बढा रहे है। तब अध्यात्मवादी हम लोग ये चीजे दसगुना दाम पर विदेश से खरीदें या अपने देश में ही बनावें ? दसगुना दाम दे कर जब हम विदेश से यन्त्र आदि खरीदते हैं तब उन चीजो के साथ हम परावलम्बन भी खरीदते है और परावलम्बन कोई आध्यात्मिक चीज़ नही है। "स्वातन्त्र्यात् लभते परम्" हर बात में जब हम स्वाश्रयी स्वतन्त्र होगे तभी हमारा अध्यात्म खिलेगा !

इस सारी दलील का मतलब यह नही कि हम पश्चिम का ही अनुकरण करे। इस का अर्थ इतना ही है कि हम आँखें खोल कर, परिस्थिति देख कर, अपनी बुद्धि चलाकर तय करें कि हमारे लिए क्या अच्छा है।

अध्यात्म की भी युगानुरूप नयी आवृत्ति हो सकती है। समाज के नेता और अध्यात्म के प्रयोगवीर स्वेच्छा से अकिंचन बने, तपस्या करें, अन्न-वस्त्र का उपयोग कम से कम करे यह बात तो समझ में आती है। लेकिन सामान्य लोगो में अगर अकाल और भुखमरी रही तो अध्यात्म तो क्या मामूली सदाचार भी उन मे नही रहेगा। इसी लिए गान्धीजी कहते थे कि रोटी ही भूखे का भगवान् है। करोडो के लिए रोटी का प्रबन्ध करना यही आज का सच्चा अध्यात्म है।

जिस तरह आरोग्य, यौवन, आत्मविश्वास, पराक्रम आदि का अनुभव

मनुष्य को अन्दर से होता रहता है इसी तरह अध्यात्म की भी बात है। हमें अपना अध्यात्म दीख न पड़े और विदेशियों को वह दीख पड़े यह नामुमकिन बात है।

हाँ, जो चीज हम ने हजम की है, जो चीज हमारे खून में है, हड्डियों में है, हमारा स्वभाव बन गयी है उस की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता, विदेशियों का जा सकता है। ऐसी चीजों को खोने पर ही हम उस का महत्त्व महसूस करने लगते हैं। और अगर अन्धापा आ गया, जड़ता और बधिरता आ गयी तो कीमती वस्तु खोने पर भी वह बात हमारे ध्यान में नहीं आयेगी।

हमें हमारी अध्यात्म की पूँजी खोनी नहीं है। योग से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ अध्यात्म नहीं हैं। विज्ञान के प्रयोग से मिलने वाली सिद्धियाँ और ज्ञान-ध्यान के योग से मिलने वाली सिद्धियाँ एक-सी अन-आध्यात्मिक हैं।

अध्यात्म की सच्ची बुनियाद है सदाचार, कारुण्य, प्रेम, सेवाभाव और विश्वात्मैक्य। इस में से त्याग और बलिदान समय-समय पर अपने-आप प्रकट होते हैं, और क्योंकि अध्यात्म-दैवी तेजस्वी शक्ति है, इस लिए उस में से कुछ सिद्धियाँ भी अपने-आप पैदा होती हैं।

हमारी जनता में, हम मानते हैं, इस से अधिक ईश्वरनिष्ठा है, सन्तोष है, क्षमावृत्ति है, जीवदया है। यह सारा अध्यात्म के लिए बहुत ही क़ीमती कच्चा मसाला है। इसी के जोरों महात्माजी निराश राष्ट्र में उत्साह और आत्म-विश्वास पैदा कर सके। उसे त्याग और बलिदान तक ले जा सके। इसी के जोरो वे देश के बुद्धिमान् लोगों को सेवा की दीक्षा दे सके।

लेकिन यह कहना कि पश्चिम की विद्या पा कर हम जड़वादी बन गये अर्ध-सत्य ही है। हम ऊपर से अध्यात्मवादी और अन्दर से केवल भौतिकवादी ही नही किन्तु जडवादी बने तभी तो हम परतन्त्र बने, तभी तो विदेश के लोग यहाँ आ कर अधिकार जमा सके। हमारे राष्ट्रीय दुर्गुण अँगरेजों के पहले ही नहीं, किन्तु पठान-मुग़ल आदि के पहले भी काफ़ी बढ चुके थे। और अबुद्धि का दुर्गुण तो सारे समाज में फैला हुआ था ही। इसी लिए हम राष्ट्रप्रेम खो बैठे, स्वजनों का द्रोह करने को तैयार हुए और अज्ञानमूलक जडता के कारण देश का नेतृत्व खो बैठे।

अब भगवान् की कृपा से और महात्माजी की शिक्षा से हम आजाद हुए हैं। अब हमें हमारा सामाजिक जीवन अध्यात्म की बुनियाद पर, हमारी राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुसार तैयार करना होगा। ज्ञानोपासना, कौशल्य और निपुणता, मनुष्यप्रेम, अखण्ड उद्योगिता, सादगी और निर्भय अहिंसा यह हैं आज का

हमारा अध्यात्म । विदेश के लोग अगर ये बातें हमारे राष्ट्रीय जीवन में, लोक-जीवन में देखते हैं तो वह खुशी की बात है ।

ध्यान, चिन्तन, हृदयशुद्धि, वैराग्य और आत्मौपम्य इन बातो का महत्त्व सर्वोपरि है । ऊपर बतायी हुई दो किस्म की तैयारी होने के बाद, सेवायोग और ध्यानयोग की बुनियाद पर हम पूर्णयोग की ओर जरूर जा सकते हैं ।

हम नही मानते कि बाक़ी की सारी दुनिया अध्यात्मविहीन है और भारत ही अध्यात्म का खजाना है । इस में शक नही कि हमारी विरासत सब से बडी है लेकिन उस का खोया हुआ अधिकार हमें फिर से पाना है । आज की शिक्षा में बाक़ी अनेक शिक्षा मिलती है । अध्यात्म की भयानक उपेक्षा हो रही है इस में शंका नही । राष्ट्र को चाहिए कि वह शिक्षा की बुनियाद ही बदल दे ।

(११ मार्च, १९५७)

अध्यात्म और चमत्कार

बचपन का बहुत बरसो का मेरा अनुभव है कि जहाँ-जहाँ बहुत दिन तक बारिश नही हुई हो, मेरे जाने से बारिश हो जाती थी । बचपन से मुझे यात्रा का बडा शौक़ था । इस लिए ऊपर का अनुभव एक नही अनेक जगहो का और अनेक बरसों का है ।

लोग मेरा अभिनन्दन करते कहते थे कि 'आप का आगमन बडा शुभ है, मुबारक है । आप के आने से ही बारिश हो गयी । हम बडे परेशान थे कि बारिश कब होगी । आप सरीखो के पुण्य आगमन से हमारा दु ख दूर हो गया ।'

ऐसी बातें सुन कर अच्छा लगता था । लेकिन न बचपन में न आज उन का कथन मुझे सच्चा लगा है । लोगो की भोली श्रद्धा देख कर हँसी आती थी । श्रद्धा की तो मैं कदर करता हूँ । लेकिन जहाँ न बुद्धि का उपयोग होता है, न तर्क का, न दीर्घकालीन अनुभव का, ऐसी चीज को मैं श्रद्धा कहने को तैयार नहीं हूँ । वह निरा भोलापन है, उस की कोई नैतिक कीमत नही है । और उस में खतरा तो बहुत रहता ही है । इस लिए ऐसे भोलेपन को मैं ने कभी निर्दोष नहीं माना है ।

मैं ने यह भी देखा है कि हमारे देश के अनेकानेक बुजुर्गों के जीवन में ऐसी भोली श्रद्धा काम करती है और वे कभी-कभी नाहक खुशी में आते हैं और

उतने ही नाहक़ मायूस भी हो जाते हैं। और जो लोग ऐसी अन्धी श्रद्धा को नहीं मानते उन को अति-बुद्धिवादी और क़रीब-क़रीब नास्तिक माना जाता है।

इस में शक नहीं कि इस सृष्टि का व्यापार जिन क़ानूनों से चलता है उन की पूरी जानकारी हमें नहीं है। पदार्थविज्ञान के और भौतिक शास्त्रों के सब क़ानून भी हम नहीं जानते। और भौतिक विज्ञान में दुनिया का समस्त ज्ञान आ जाता है यह भी बात नहीं है। इस लिए दुनिया में असंख्य बातें हैं जिन्हें हम नहीं जानते या जिन की मीमांसा हम नहीं कर सकते। लेकिन जहाँ-जहाँ हम कुछ समझ नहीं पाते वहाँ तुरन्त अध्यात्म देखना, गैबी या दैवी शक्ति का अनुमान करना शुद्ध जड़ता है। इस में शक नहीं कि ईश्वर ही सब कुछ करने-कराने वाला है। लेकिन इसी सिद्धान्त की अगर हम रट लगावें, तो न हम दुनिया को समझ सकेंगे, न विज्ञान में आविष्कार कर सकेंगे। बारिश क्यों हुई? ईश्वर ने चाहा इस वास्ते!

किसी माता ने गान्धी भगवान् से प्रार्थना की कि मुझे एक बच्चा हो जाय। उसे बच्चा हुआ। उस ने बच्चे को ला कर गान्धीजी के पाँवों पर रखा और गान्धीजी के खादी कार्य के लिए कुछ दक्षिणा भी दी। गान्धीजी ने खादीकार्य के लिए मदद तो ली, लेकिन माता को समझाया कि उन में कोई ऐसी करामात नहीं है, जिस से लोगों को बच्चे मिल जायँ। लेकिन ऐसी बातों में लोग महात्माजी के शब्द भी लेने को तैयार नहीं होते। महात्मा लोग हमेशा चमत्कार का इन्कार करते हैं। लेकिन दुनिया का अनुभव है कि जहाँ महात्मा हैं वहाँ चमत्कार होते ही हैं।

अब इस का दूसरा पहलू देखिए। महात्माजी किसी गाँव में गये और वहाँ उन्होंने अस्पृश्यता-निवारण का ज़ोरों से उपदेश किया। गान्धीजी के उत्साही अनुयायियों ने सहभोजन का कार्यक्रम भी रखा जिस में ब्राह्मणों से ले कर हरिजनों तक बहुत से लोगों ने साथ बैठ कर भोजन किया।

थोड़े ही दिनों में उस गाँव में छूत का रोग उभर आया और बहुत से लोग मर गये। फिर तो पूछना ही क्या? रूढ़िवादी सनातनी लोग कहने लगे, 'यह देखिए, आप के महात्मा के आन्दोलन का फल! उन्होंने लोगों को अधर्म सिखाया और तुरन्त उस का फल मिल गया। कलियुग हुआ तो भी क्या? भगवान् सोया हुआ नहीं है। इस हाथ से करो, और उस हाथ से भुगत लो। अगर हमारे लोग बेवक़ूफ़ बन कर सहभोज नहीं करते, सब-गोलकार नहीं करते तो गाँव के इतने लोग क्यों मर जाते?' महात्माजी का माहात्म्य रोज़ ऐसे चमत्कारों की कसौटी पर कसा जाता है।

बिहार में बडा भूचाल हुआ। और जानमाल का नुक़सान कल्पनातीत हुआ। गान्धीजी का बिहार, श्रद्धालु बिहार, उसी पर यह आफत क्यो आ पडी ?

लोग कुछ भी कहें उस के पहले महात्माजी ने घोषणा की कि भारत में अस्पृश्यता का पाप बढ़ा इसी लिए भूचाल आ गया। लोग गान्धीजी का वचन–महात्माजी का वचन श्रद्धा से सुन गये। लेकिन गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर से रहा न गया। उन्होने स्पष्ट तौर पर गान्धीजी के कथन का विरोध किया और लोगो में एक वहम चलाने की गान्धीजी की इस कार्रवाई के प्रति अपना विरोध प्रकट किया।

मैं ने भी गान्धीजी के पास अपने ढंग से शिकायत की। उन्होने मुझे एक ही सवाल पूछ कर मेरा मुँह बन्द कर दिया कि क्या तुम मानते हो कि भगवान् की इस दुनिया में भौतिक जगत् अलग है और नैतिक जगत् अलग है और दोनों का कुछ परस्पर सम्बन्ध नही है ? दुराचार का कुछ भी असर भौतिक जगत् पर नही हो सकता ?

मैं जानता हूँ कि लोगो के मन में ईर्ष्या, द्वेष बढने से उन के पेट मे व्रण होते है और पेट का दर्द शुरू होता है। मैं जानता हूँ कि जिन के मन में सब के प्रति सद्भाव है उन के ऐसे स्वभाव का उन के स्वास्थ्य पर अच्छा असर पडता है। लेकिन नैतिक और भौतिक जगत् की एकता को मानना अलग चीज है और झट-झट अन्धे अनुमान निकालना अलग बात है।

जब गान्धीजी ने 'भारत छोडो' आन्दोलन शुरू किया तब देश में महँगाई वढी, बगाल की ओर असख्य लोग अकाल से मरे। तब कई 'श्रद्धालु' लोग कहने लगे कि अँगरेज सरकार का पुण्य क्षीण नही हुआ है। इस सरकार का आत्यन्तिक विरोध गान्धीजी ने किया, इसी लिए यह सारी आफत आ पडी है। गान्धीजी का आन्दोलन भगवान् को मजूर नही है।

अब नयी बात लीजिए। श्री विनोबा भावे काश्मीर पहुँचे और अभूतपूर्व बाढ काश्मीर में आयी। खेती का नुकसान हुआ। मवेशियो का नुकसान हुआ। लोग परेशान हो गये। तब किसी ने कहा कि सन्त पुरुष के आते कल्याण होना चाहिए था। उस की जगह यह अकल्याण हुआ। विनोबाजी का आना शुभ नही है। लोगो के मन ऐसे अनुमान—कैसे भी अनुमान मानने को तैयार होते ही हैं। विनोबाजी का उपदेश लोक-कल्याणकारी है या नही इस का बुद्धि से, अनुभव से या हृदय से विचार करने का खयाल लोगो ने छोड दिया और वे वहम का शिकार हो गये।

विनोबा समय-सूचक हैं ही। उन्होंने कहा, 'मैं ही एक बाढ हूँ। मेरे सामने यह छोटी बाढ कुछ नही है।'

अगर सन्त का नाम लेने से, उस का स्पर्श करने से, उस के आशीर्वाद पाने से भला हो सकता है, तो सन्त-समागम से अगर बरबादी होती हो तो सन्त के उपदेश की भी कोई क़ीमत नही रहती।

लोगो में वहम और अबुद्धि फैली है। स्वार्थवश उन्हें प्रश्रय नहीं देना चाहिए और उन से मिलते तात्कालिक लाभ के लोभ में नही पड़ना चाहिए।

हमारा दृढ अभिप्राय है कि अध्यात्म की बातो के साथ, धर्म की बातों के साथ चमत्कार और करामात का सम्बन्ध नही जोड देना चाहिए। धर्म में गूढ बातें अवश्य होती हैं। हमारे लिए ये नयी बाते नही हैं। हज़ारों बरसों का हमारा अनुभव है। गूढ बातें सामने रख कर लोगो की श्रद्धा बढाने की कोशिश से होने वाले लाभ हानि दोनो हमारे आज़माये हुए हैं। उस पर से हम कह सकते हैं कि इन चीज़ों से लाभ कम होता है, नुक़सान ज़्यादा। सब सन्तों ने भी कहा है कि जो चमत्कार के पीछे पडता है वह साधु भी गिरता है और समाज भी।

(८ सितम्बर १९५९)



प्रकीर्ण

क्या हम अध्यात्मवादी हैं ?

'पश्चिम के लोग जडवादी है, भारत के लोग अध्यात्मवादी है—ऐसा अकसर कहा जाता है। इस में आप की राय क्या है ?' ऐसा मुझे विदेश में जगह-जगह पर लोग पूछते थे। मैं उन्हें कहता था कि भारत आज तक परतन्त्र रहा। आज भारत पेटभर खाने के लिए अन्न नही पैदा कर सकता। लेकिन अन्न खानेवाली प्रजा को बढा रहा है। देश में रोग बहुत हैं। उन का पूरा निवारण नही हो रहा। झूठ, खून, चोरी, जारी, दगाबाजी आदि गुनाहो की सख्या और देशो की अपेक्षा भारत में कम नही है। भारत में चन्द लोग दूसरे लोगो को दबाकर अपना उल्लू सीधा करते है। ज्ञान का प्रचार जितने जोरों से होना चाहिए, उतना नही हो रहा है। यह सब देखते हम किस मुँह से कहें कि हम जडवादी नहीं हैं, अध्यात्मवादी हैं ? और देश के लोग जैसे होते हैं, वैसे ही हम भी हैं।

फर्क इतना ही है कि हमारे देश में चन्द अध्यात्मवादी उच्चकोटि के हो गये। उन की परम्परा अबाधित रही है और सन्तवाणी के नित्य प्रचार के कारण लोगो के कानो तक सदाचार की महत्ता और अध्यात्म की श्रेष्ठता पहुँचती रही है। हम अगर पुरुषार्थ में कुछ शिथिल हैं तो सन्तोष वृत्ति के कायल भी हैं।

इस लिए जब कोई अध्यात्मवीर या तेजस्वी पुरुष त्याग, बलिदान, संयम और आत्मशुद्धि की बात करता है तो हमारे लोग उस के प्रभाव में आकर उस की बातें मानने को तैयार हो जाते हैं।

अध्यात्म की बातें नित्यपरिचय की होने के कारण उन बातों को समझना हमारे लिए आसान है और जब कोई श्रेष्ठ महात्मा या सन्त हमारे सामने कोई कार्यक्रम बताता है तब हम उस की बातें मानने को तैयार हो जाते हैं। स्वभाव की यह अनुकूलता हमारे पास है। इस की कदर अगर दुनिया करे तो वह ठीक होगा। लेकिन सामान्य चारित्र्य में हम औरो से श्रेष्ठ हैं ऐसा दावा हम हरगिज नहीं कर सकते।

दूसरी एक बात सोचने लायक है। तपस्या, ध्यान, मन्त्र-साधना और योग

आदि आध्यात्मिक साधना में हमारे कई लोगो ने भले-बुरे अनेक प्रयोग कर देखे हैं। इस क्षेत्र में चन्द लोगो ने सिद्धि पायी, तो चन्द लोगो ने सिद्धि का दावा कर के लोगो को ठगने का धन्धा चलाया। अध्यात्म-साधना हमारे देश में अनेक व्यक्तियो ने चलायी है। उन की शक्ति का परिचय कभी-कभी मिलता है। उन का उपशम और उपशम से दृढ होने वाला चारित्र्य दुनिया को चकित कर सकता है। पश्चिम के लोगो के पास अगर किसी चीज़ का अभाव है तो वह है उपशम का। उन का पुरुषार्थ और उन का वासना-प्रकोप उन्हें उपशम के पास आने नही देता। लेकिन अब वे उपशममूलक चारित्र्य और उपशम मूलक संस्कृति की कदर करने लगे हैं। इस लिए वे भारत की ओर कुछ कुतूहल से, कुछ श्रद्धा से और कुछ लोभ से देखने लगे है। इस में चन्द लोगो का भ्रम दूर हुआ है। चन्द लोगो की अनुभवमूलक श्रद्धा बढी है और वे हमारी संस्कृति की हद से ज़्यादा तारीफ करते हैं। हमें तो उपशम और पुरुषार्थ दोनो का समन्वय करना है और वह केवल व्यक्तिगत जीवन में नही, किन्तु सामाजिक पैमाने पर और वैज्ञानिक ढग से। लोगो की स्तुति और अवास्तव श्रद्धा हमारे लिए पोषक नही बन सकेगी। हमारी एकागिता तो हमें दूर करनी ही चाहिए और लोकोन्नति के आदर्श में शिथिल नही होना चाहिए।

(३० सितम्बर १९५८)

निर्वैर या निर्वीर्य

हमारे धर्मशास्त्रो में हरेक व्यक्ति के लिए, हरेक वर्ण के लिए और हरेक प्रसग के लिए सूक्ष्म नियम और नसीहते है। व्यवहार-दृष्टि और धर्म-दृष्टि दोनो का उन में ऐक्य दीख पडता है। भारतीय समाज-शास्त्र के अध्ययन के लिए इन स्मृतिग्रन्थों का मसाला बहुत क़ीमती है।

लेकिन इन मे कभी-कभी एक वृत्ति देख कर चित्त को ग्लानि होती है। जगह-जगह पर नसीहते पायी जाती है कि खतरे को टाल दो, किसी आश्रय का सहारा लो, जान बचा लो, चाहे आत्म-तेज का कुछ भी हो। यह नसीहत ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी-यति, सभी को दी गयी है। मृगया-शील राजा, विवाहेच्छु तरुण, तिजारत के हेतु जगल की यात्रा करने वाला वणिक् सभी को बताया गया है कि जान खतरे मे न डालो।

कहा गया है कि ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) को पेड पर नही चढना चाहिए, जलाशय में तैरना नही चाहिए।

कन्या के पिता को नसीहत देते हुए धर्मशास्त्र कहता है कि जिस के दिल में वैराग्य भरा है, ऐसे से लडकी की शादी नही करनी चाहिए। यह तो ठीक। लेकिन आगे बढ कर कहा गया है कि जो शूर है उसे भी कन्या नही देनी चाहिए। किसी जबरदस्त ने रास्ते में पकड लिया तो झूठ बोल कर बच जाने में कोई हर्जा नही है। सकट में फँसने पर कोई धर्मान्तिर करे तो भी धर्मशास्त्र प्रतिकूल नही जायेंगे।

गृहस्थाश्रम के भोग-विलास के कारण जीवन में जो कमजोरी आ जाती है उसे दूर करने के लिए और व्रतपालन की दृढता बढ़ाने के लिए वानप्रस्थ की योजना है। सन्यास की वह पूर्व तैयारी है। ऐसे वानप्रस्थो को भी स्मृति सलाह देती है कि ये कलियुग के दिन हैं। जंगल में जा कर रहने पर कोई म्लेच्छ राजा तकलीफ देगा। स्वदेशी राजा रक्षण नही कर सकेगा। इस लिए अपने गाँव के आसपास के किसी बगीचे को अरण्य मान लेना और वहाँ आराम से रह जाना और अपने रिश्तेदारो से ही भिक्षा माँग लेना।

अब सन्यास धर्म ले लें।

संन्यासी तो निर्भयता की मूर्ति। धर्म-प्रचार के लिए उसे निर्भय हो कर सब जगह पहुँचना चाहिए। अमेरिकन राष्ट्रसेवक टॉमस पेन ने कहा था। 'My home is where Liberty is not' "जहाँ आजादी नही है, वही मेरा स्वदेश है। यानी उसे स्वतन्त्र करने के लिए मर मिटना ही मेरा स्वधर्म है।" सन्यासी में ऐसी वृत्ति होनी चाहिए। संन्यासी याने पाप, अनाचार, प्रजापीडन, आलस्य, अनास्था इत्यादि मानवशत्रु के खिलाफ प्राणों की परवा किये बिना लडने वाला योद्धा। ऐसों को स्मृति कहती है—"जिस प्रदेश के लोग नास्तिक हैं, उद्दण्ड हैं, जहाँ भिक्षा मिलना मुश्किल हो गया है, ऐसे प्रदेश में नही रहना चाहिए, वहाँ जाना भी नही चाहिए। जहाँ लडाई चलती हो, हत्याकाण्ड चलता हो, अकाल पडा हो, वहाँ सन्यासी को नही जाना चाहिए।"

क्या इस तरह का देहरखा धर्म सिखाने के लिए धर्मशास्त्र की जरूरत है?

शान्ति के दिनो में राजा लोग मृगया करते थे। उस का असली हेतु था लोगो की खेती और उन के मवेशियो का रक्षण करना। इस बारे में भी धर्म-शास्त्र का विवेक कहता है कि अगर शिकार के लिए जाना है तो जहाँ रथ उलट न जाय ऐसी समान भूमि देख कर या बनवा कर वहाँ मधुर मृगया व्यायाम करना चाहिए। राजा को अगर पुत्र-सन्तति नही है तो उसे लडने नही जाना

चाहिए। ऐसी फेहरिस्त कहाँ तक बढ़ायें? अपनी जान खतरे में डालने के परम धर्म का इस तरह लोप ही हो गया। निर्भय निर्वैरता का आदर्श टूट गया और निर्वीर्यता आयी।

(जनवरी १९५०)

सारी दुनिया क़ब्रस्तान न बन जाय

जब अँगरेज़ यहाँ से अपना राज छोड़ कर गये तब शुरू से हर बात को सोच कर, वे व्यवस्थित रूप से ठीक कर गये। मसलन् सरकारी दफ़्तरों में गुप्त पत्रव्यवहार था उसे या तो उन्होंने नष्ट किया या उसे अपने साथ ले गये। जो लोग पीछे रहे उन की भी बात उन्होंने सोच ली। जिन को पेन्शन आदि मिलती थी उन का भी प्रबन्ध किया। रेलवे चलाने वाले युरोपियन कम्पनियों ने अपने हित का प्रबन्ध किया। बड़ी-बड़ी व्यापारी कम्पनियों ने अपनी दुकानें बेंच डाली। कहीं भी नुक़सान नहीं होने दिया।

यहाँ तक कि जाते समय उन्होंने अपने लोगों के क़ब्रस्तान की बात भी सोची। और उसे सोचते तनिक भी कठमुल्लापन प्रदर्शित नहीं किया। उन्होंने अपने क़ब्रस्तानों की फ़ेहरिस्त बनायी। उन में से जो-जो हिफ़ाज़त के लायक़ थे उन की रक्षा के लिए अपनी ओर से प्रबन्ध किया और जिन की हिफ़ाज़त वे नहीं कर सकते थे या उन को ज़रूरी नहीं लगी उन के लिए उन्होंने तय किया कि उन को फिर से कुदरत का रूप लेने दिया जाये—They should be allowed to revert to nature—यानी वहाँ के पत्थर हटाये जायें अथवा कोई उठा कर ले जाये तो उस की परवा न की जाये। क़ब्रस्तान की जगह एक दफ़े छोड़ दी फिर उस का कुछ भी हो। उस में हल चला कर कोई खेती करे, कोई वहाँ पर मकान बना दे, कुछ भी करे।

हम लोग भी ऐसा ही करते हैं लेकिन विचारपूर्वक नहीं। मात्र अनास्था से सब कुछ होने देते हैं। कोई समझ-बूझ कर करने जाये तो उस का घोर विरोध करते हैं। यों देखा जाये तो दिल्ली के इर्दगिर्द राजधानियों का ही एक बड़ा क़ब्रस्तान है। जहाँ खोदें क़ब्रस्तान की ईंटें पायी जाती हैं। बनारस में ही नहीं, अनेक जगह पर खोदते-खोदते मन्दिर पाये जाते हैं। वर्धा के पास पवनार में भी ऐसा हुआ है। मैं एक ऐसी जगह जानता हूँ कि जहाँ के हिन्दू-मन्दिर

गिर गये थे। वह जगह मुसलमानों ने खरीद ली। मन्दिर के पत्थर हटाकर वहाँ पर उन्होने एक मदरसा बनाया। आसपास के सब लोग जानते थे कि यहाँ मन्दिर था। जिस के गिर जाने के बाद मुसलमानो ने यह जगह खरीद ली है और मन्दिर की जगह एक मदरसा शुरू किया है। यह भी नही कि वहाँ मुसलमानो का राज था और हिन्दू दबे हुए थे। वहाँ एक हिन्दू राजा का ही राज था। ऐसे स्थान पर किसी के दिल में आ जाये तो हिन्दू-मुस्लिम झगडा पैदा करना कोई कठिन बात नही है। कई मुस्लिम कब्रस्तान ऐसे हैं कि जो अनास्था से धीरे-धीरे टूट जाते हैं। लोग उस की ईंटे फेंक देते है। दस-बीस बरस के अन्दर उन का नामोनिशा भी नही रहता है। लेकिन अगर कोई सोचे कि उस कब्रस्तान की हिफाज़त तो नही हो रही है, कोई इस का मालिक नही है, नाहक ज़मीन रुकी हुई है, और उन पत्थरो को हटा दे तो तुरन्त झगडा शुरू हो जायेगा और शायद दो-चार खून भी हो जायेंगे। ऐसा झगड़ा होने के बाद चन्दा किया जायेगा, उस कब्रस्तान की मरम्मत होगी और वह पीर की जगह कहलायेगी!

मैंने सुना है कि गोवा में जब रोमन कॅथलिक पादरियो का ज़ोर था तब कई दुराचारी ईसाई लोग हिन्दुओ पर सितम ढाते थे और अगर हिन्दुओ ने, तग आ कर उस दुराचारी को मार डाला तो तुरन्त कॅथलिक पादरी उस आदमी को धर्मात्मा—शहीद बना कर उस के मृत्यु की जगह एक क्रॉस खडा कर देते थे और उस आदमी के नाम को सन्तमालिका में जोड देते थे।

कुछ भी हो अब हमें इस बात को सोचना चाहिए कि मरे हुए लोगो के नाम कितनी जगह रोकी जाये? एक तरीका यही है कि सब कब्रस्तान, स्मशान भूमि पर टॅक्स लगाया जाये। अगर टॅक्स देने वाला कोई समाज या व्यक्ति न मिले और सरकार को भी वह चीज़ महत्त्व की न लगे तो उस स्थान को तुरन्त प्राकृतिक रूप में परिवर्तित किया जाना चाहिए। लावारिस जगह का बोझा समाज पर नाहक का नही रहने देना चाहिए।

यह विचार नया है, मूलगामी है। नया है इसीलिए चन्द लोगो को विचित्र-सा लगेगा। इस का अमल होने पर लोगो को अच्छा लगेगा और फिर लोग आश्चर्य करने लगेंगे कि ऐसी चीज़ हमें इस से पहले क्यो न सूझी!

(सितम्बर १९५०)

श्राद्ध

प्रश्न—श्राद्ध के बारे में आप के क्या विचार हैं ? कहते हैं कि बद्री धाम में ब्रह्मकपाल शिला पर एक बार श्राद्ध करने से सब पितरों को मुक्ति मिलती है और दुबारा श्राद्ध करने की आवश्यकता नही रहती। आप की 'हिमालय की यात्रा' में भी इस बात का ज़िक्र है। कुछ लोग वहाँ श्राद्ध करने के बाद भी श्राद्ध करने में मानते हैं। आप का अभिप्राय हम जानना चाहते हैं।

उत्तर—मैं ने चार धामों की यात्रा की थी, उसे अब चालीस-पैंतालीस साल हो गये। उस समय बद्रीमाहात्म्य वग़ैरा बहुत सारे ग्रन्थ इकट्ठा कर के पढ गया था। गया माहात्म्य भी पढ़ा था। अब वह सब याद नही है। आयु भी पचहत्तर साल हो गयी है।

इस के अलावा मुख्य बात यह है कि सनातन धर्म पर तात्त्विक श्रद्धा-निष्ठा क़ायम होते हुए भी उस धर्म की मेरी मान्यताओं में काफी परिवतन हो गया है। श्राद्ध के रूढ प्रकार मुझे मान्य नही हैं। कौए की (जिन्दे या दर्भ के) चोंच से पिण्ड पर प्रहार करवाना आदि प्रकार अब मुझे बालिश मालूम होते हैं। शास्त्रधर्म के साथ उन का सम्बन्ध नही है। अनार्यों के कई रिवाज आर्यों ने ले लिये, और लोक-समुदाय की 'धार्मिक' मान्यताओ को सनातन धर्म में स्थान दिया। उस समय यह सब ठीक ही हुआ। अब धार्मिक रिवाजो का शुद्धीकरण होना चाहिए। नियमित रूप से धर्म का अध्ययन करते रहना, धर्म को जागृत रखने वालो की सहायता करना, पूर्वजो की सदाचार की परम्परा को क़ायम रखना और मनुष्य के आश्रय से रहने वाले पशु-पक्षियो का जीवन निर्भय और सुखी बनाने के लिए प्रयत्नशील रहना, इसी को मैं स्वर्गीय पितरो का श्राद्ध कहता हूँ।

ब्रह्म-कपाल पर जा कर श्राद्ध करने के लिए मैं नये लोगो की सिफ़ारिश नही करूँगा।

पुरानी निष्ठा के लोगो से मैं कहूँगा कि अगर बद्रीनारायण में ब्रह्मकपाल पर आप ने श्राद्ध किया हो, तो अब स्वर्गीय पितरो के नाम से मन्त्रोक्त या रूढ श्राद्ध न करें। पूर्वजो के बारे में आदर और स्मरण क़ायम रखने के हेतु हरि-

जन आदि पिछडी जातियो के कल्याण के लिए कुछ सत्कृत्य करें और दानधर्म भी करें।

मैंने अपने आस-पास के लोगो से कह रखा है कि मेरे पश्चात् मेरा श्राद्ध करने का वृथा श्रम कोई भी न करे। मैं उस की आवश्यकता महसूस नही करता। मैं यह भी नही चाहता कि मेरे बाद मेरी स्मृति कायम रहे। मेरे हाथों अगर कुछ सत्कृत्य हुए हो, तो वे सत्कृत्य और उन के सुपरिणाम कायम रहें। लेकिन उन के साथ का मेरा सम्बन्ध टूट जाय और नष्ट हो जाय।

अपना व्यक्तित्व समाज की स्मृति में कायम रहे, इस प्रकार की लोकेषणा और पुत्रेषणा मोक्ष के आदर्श के लिए बाधक है।

(२९ सितम्बर १९५९)

पुनर्जन्म-प्रचार के भयस्थान

सनातन धर्म के नाम से रूढियो की उपासना करने वाले लोगो की जडता भयानक होती है। अभी-अभी मुझे उस का शिकार बनना पडा है।

किसी ने बात फैलायी कि 'काकासाहेब पुनर्जन्म पर विश्वास नही करते'। मेरे धार्मिक विचार जिन को मालूम हैं वे आश्चर्यचकित हो कर मुझ से पूछने लगे, 'क्या बात सच है, काकासाहब, कि आप पुनर्जन्म पर विश्वास नही करते? हम ने तो कभी आप के मुँह से ऐसा नही सुना। अगर ऐसी कोई बात होती तो जरूर आप हमें कहते। और हम आप से चर्चा भी करते।"

मैं ने कहा, 'आप से चर्चा तो जरूर करनी है, लेकिन पहले ही साफ कह दूँ कि पूर्वजन्म और पुनर्जन्म पर मेरा पूरा विश्वास है। मोक्ष मिलने पर पुनर्जन्म के झंझट से हम मुक्त होते है यह सही है, लेकिन 'सन्त मत को स्वीकार कर के मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि अगर हर जन्म में सन्तसंग मिलने वाला हो तो हे भगवन्, हमें आप खुशी से गर्भवास में डाल सकते हो "तुका म्हणे गर्भवासी सुखें घालावे आम्हासी"। महायान बौद्ध पन्थ वालो के साथ मैं भी कहता हूँ, अकेले-अकेले मोक्ष पाने में कौन-सा मजा है? मुक्त हुए तो सब को साथ ले कर ही मुक्त क्यो न हो जायें? अगर नित्य-मुक्त भगवान् नीचे उतर कर अवतार ले सकते हैं तो मेरी सनातन आत्मा भगवान् का कार्य करने के लिए और मुक्त जीवन का आनन्द लेने के लिए, बार-बार जन्म लेते संकोच क्यो करेगी!'

'अब आप देख सकेंगे कि पुनर्जन्म पर मेरा विश्वास है इतना ही नहीं, किन्तु अपुनर्भव, मोक्ष का मैं इतना लालची नहीं हूँ कि पुनर्जन्म के प्रति मेरे मन में अरुचि हो।

'गीता के साथ और बौद्धो के साथ मैं भी मानता हूँ कि यह लोक अनित्य और असुख यानी दुःखमय है। (गीता ९-३३) लेकिन विश्वसेवा करते जो भी दुःख भुगतना पड़े, नित्य और आनन्दमय भगवान् की भक्ति के ज़ोरों उसे बरदाश्त करते आनन्द ही आयेगा। बार-बार जन्म लेना पड़े इस का डर हम ने कभी मन में रखा ही नहीं। जन्म लिये बिना ही अगर सारे विश्व के साथ एकता का अनुभव होता हो और विश्व की सेवा भी होती हो, तो बात अलग है। केवल इन्द्रिय-सुख के लिए और उस के साथ जो जलन भी आती है उस के स्वाद के लिए जन्म लेने की इच्छा नहीं है।'

मुख्य बात इस तरह बिलकुल साफ़ करने के बाद अब कहूँगा कि पुनर्जन्म की बात दिन-रात करने वालो के साथ मेरा झगड़ा कहाँ है।

मेरी भूमिका के अनुसार इस सृष्टि में, विश्व-चैतन्य ने अपने आनन्द के लिए अथवा लीला के लिए जीव का रूप धारण किया है और विविध रूप से जीवन का विस्तार कर के विश्वात्मैक्य की साधना के लिए गुंजाइश पैदा की है। इसे मैं भगवान् की ग़लती अथवा उन का प्रमाद नहीं मानता। उन की ऐसी लीला का एक अंग बनना अथवा साथी बनना यही मेरा काम है।

जीवन की हस्ती, उस का विकास और उस के अन्दर दिखाई देने वाला कार्य-कारण का सार्वभौम नियम समझने के लिए केवल वंशपरम्परा का कार्य पर्याप्त नहीं है। अपने जन्म के साथ मैं ने अपने माँ-बाप से असंख्य संस्कार प्राप्त किये। और हम सब लोग अपने समाज से असंख्य संस्कार प्राप्त करते हैं, इस में कोई शक नहीं है। लेकिन इतने से जीवन के सब सवाल हल नहीं होते। इस लिए और हर एक व्यक्ति की विशेषता समझने के लिए पुनर्जन्म को माने बिना चारा ही नहीं। मनुष्य, पशु-पक्षी, कृमि-कीट, जलचर-खेचर सब प्राणियों में और वनस्पति और कीटाणुओं में जो ऐक्य है उस का अनुभव करने के लिए और रहस्य पाने के लिए वंशपरम्परा का सिद्धान्त और विकासवाद का सिद्धान्त भी पर्याप्त नहीं है। इस लिए पुनर्जन्म को माने बिना दूसरे किसी भी प्रकार से विश्व-व्यवस्था का समर्थन नहीं हो सकता।

जिन लोगों को आत्मा के अनुभव का अस्वीकार करना है, उन को शायद भौतिक विकासवाद और वंशपरम्परा के सम्बन्ध से सन्तोष होता होगा। आत्मा

को बीच में लाये बिना जीवन-व्यवस्था को समझाने वाले बौद्धो को भी केवल 'सस्कार-समुच्चयो का पुनर्जन्म' मानना पडता है।

हम तो आत्मा के और पुनर्जन्म के अस्तित्व के लिए प्रमाण ढूँढना ही अनावश्यक मानते है। किसी-न-किसी रूप में आत्मा का अनुभव हर एक को होता ही है। और मृत्यु का निरपवाद अनुभव होते हुए भी हमारी नित्यता का अनुभव (कोई इसे भले ही भ्रम कहे) हम छोड नही सकते। और हम मान नही सकते कि एक ही जीवन के अनुभव से जन्मग्रहण का हेतु पूर्णतया सफल होता है। जन्म लेने का प्रयोजन गहरा है और जन्मान्तरो का अनुभव माँग लेता है।

तब सनातनधर्मी रूढिवादी लोगो के साथ हमारी कहाँ नही बनती ? इस का जवाब अवश्य देना चाहिए।

जीवन में कार्य-कारण का सम्बन्ध हमेशा ढूँढना पडता है। भौतिक विज्ञान, मानसविज्ञान और समाजविज्ञान की सब शाखाएँ हर एक घटना का कारण पूरी गहराई से ढूँढने लगी तब से समस्त विज्ञान ने अद्भुत प्रगति की है। 'अकाट्य प्रमाण और सन्तोषकारक सबूत मिले बिना किसी भी चीज़ को हम स्वीकार नही करेगे' ऐसी प्रतिज्ञा कर के विज्ञानवादी प्रयोगवीर शोध करने लगे इस लिए ज्ञान के क्षेत्र में इतनी प्रगति हुई। अब हमारे रूढिवादी सनातन-धर्मी जड लोग खोज करने की और प्रमाण ढूँढने की तकलीफ न उठाते हुए हर एक बात में पूर्वजन्म को बीच में ले आते हैं। फलाँ आदमी के स्वभाव मे फलाँ विचित्रता कैसे आयी ऐसा सवाल उठते ही झट कह दिया, "अजी वह तो पूर्वजन्म के संस्कार की बात है"। इतना कह दिया और छुट्टी पायी। इस में केवल बौद्धिक आलस्य है, पुरुषार्थ का अभाव है। ऐसी जडता को हम आस्तिकता का नाम देने को तैयार नही है। हम कहते हैं कि "आज की इस दुनिया के और इस जीवन के सब तत्त्वो की हम छान-बीन करें और हर एक घटना का छिपा हुआ कारण ढूँढ निकालें। खोज करने के पुरुषार्थ के सामने कोई भी चीज़ दीर्घकाल तक गूढ और अज्ञात रह नही सकती। कम-से-कम पूरी-पूरी छान-बीन किये बिना हमें सन्तोष नही होगा। ऐसा पुरुषार्थ करने के बाद ही पूर्वजन्म के क्षेत्र में प्रवेश करें।"

(हर एक अधिकारी को विशेष अधिकार दिये होते हैं जो सकट के समय अथवा असाधारण परिस्थिति में काम में लाने के होते हैं। कर्मचारी अधिकारी की योग्यता इस पर नापी जाती है कि हाथ में विशेष अधिकार होते हुए भी जहाँ तक हो सके वह उन का प्रयोग नही करेगा। अगर वह अधिकारी मान

वैठेगा कि मैं दिमाग़ क्यो चलाऊँ, विशेष अधिकार मेरे पास हैं ही और वे हैं तो काम में लाने के लिए ही, उन का क़दम-क़दम पर प्रयोग करूँ तो मेरा सारा काम आसान होगा, तो दुनिया जानती है कि ऐसे नालायक़ अधिकारी को अपना स्थान ही खोना पडता है। यही हालत है हर वात मे पुनर्जन्म को वीच में लाने वालो की।)

वौद्धिक आलस्य की मदद में लिये जाने वाले 'सच्चे सिद्धान्त' का हम विरोध नही करते किन्तु उस के दुरुपयोग की निन्दा जरूर करेंगे।

जीवन-व्यवस्था को समझाने के लिए क़दम-क़दम पर पुनर्जन्म की दुहाई देने वाले लोगो ने समाज की जडता वढायी है। उन्होने न विज्ञान में प्रगति की है, न जीवन में कोई सुधार। इस लिए पुनर्जन्म का आश्रय लेने वाले लोगों की जडता का मैं पूरा विरोध करता आया हूँ।

दूसरा एक भयस्थान इस से भी वुरा है। पूर्वजन्म को मानना एक वात है और पूर्वजन्म की वातें जानने का दावा करना दूसरी वात। कार्य-कारणभाव को और धर्म के अटल सिद्धान्तो को समझाने के लिए हमारे पुराणो में अनेक लोक-कथाएँ और काव्यमय प्रसंग रजू किये हैं। उन में मनुष्य जाति का अनुभव, लोगो के वहम और कवियो की कल्पना सव की खिचडी की जाती है। उन सव कथाओ को अक्षरश सत्य मानना धार्मिकता का लक्षण नही किन्तु जडता का और मूर्खता का लक्षण है। पुराने ज्ञानी लोग समझाते थे कि कई कथाएँ सत्य नही किन्तु अर्थवाद वाली होती हैं। भोले लोग ही सव वातो को सच मानते हैं, और वैसा नही मानने वालो को नास्तिक कहते हैं। कई लोग तो, नास्तिकता के इलजाम से वचने के लिए, कई पौराणिक वातो पर विश्वास न होते हुए भी विश्वास होने का स्वाग या दिखावा करते हैं। ऐसे लोगों के द्वारा पुनर्जन्म को वीच में ला कर तरह-तरह के अन्याय और अनाचार का समर्थन किया जाता है।

इस का सव से वडा और भयानक उदाहरण है अस्पृश्यता का। हरिजनो के प्रति हम लोगों ने पुश्त-दर-पुश्त अन्याय किया, उन को दवा कर रखा और इस सारे अधर्म और पाप का समर्थन करने के लिए सनातनियो ने वात चलायी कि "आप लोगो ने पूर्वजन्म में महापाप किये थे इस लिए आप को अछूत जाति में जन्म मिला है। इस जन्म में नम्रता के साथ उच्च वर्णियो की श्रद्धा से सेवा कीजिए। सारे अन्यायो को पाप का प्रायश्चित्त समझ कर सहन करेंगे तो ऐसे सात जन्मो के वाद आप को सवर्ण जाति में जन्म मिलेगा।"

ब्रह्मदेव के दरवार के ये कारभारी और व्यवस्थापक हरएक के पूर्वजन्म की

बात बराबर जानते हैं और निश्चयपूर्वक समझाते भी हैं !! (जब दबे हुए लोग जाग्रत् हो कर चिढ़ जायेंगे और इन सनातनी धर्मनेताओं की क्रूरता का बदला लेंगे तब इन सनातनियो को पता चलेगा कि अपने पूर्वजन्म के महापापो का ही यह फल उन्हें भुगतना पड रहा है ।)

भयस्थान का तीसरा नमूना पेश करते संकोच होता है, किन्तु दिये बिना चारा नही । धर्म के ये ठेकेदार लोग 'शास्त्रो की' बातें सुना कर समाज में गुरु का स्थान लेते हैं, दक्षिणा पाते हैं और शिष्यो के जीवनक्रम मे काफ़ी दिलचस्पी भी लेते हैं । अब एक ऐसे धर्मगुरु के एक धनी शिष्य थे । एक दिन गुरु महाराज के पास जा कर कहने लगे, "आज तक मेरा गृहस्थी जीवन अच्छी तरह से चल रहा है, लेकिन मेरे पडोस में एक खानदान आ कर रहा है । वहाँ की एक विवाहित स्त्री के प्रति मेरे मन में आकर्षण पैदा हुआ है । मुझे डर है कि यह आकर्षण उस पर भी है । मैं आप का शिष्य हूँ, आप के दिये मन्त्र का नियमित जाप करता हूँ, तो भी ऐसा नाजायज धर्म-बाह्य आकर्षण, हम लोगों में क्यों पैदा हुआ ? आप त्रिकालज्ञ हैं, मेरे गुरु हैं, तो ऐसी पापवासना का कारण क्या है बताइए । आप के मन्त्र का जाप मुझे बचाने में असमर्थ क्यों हुआ ?"

त्रिकालज्ञ गुरु ने कहा, "मुझे इस में आश्चर्य नही होता । पूर्वजन्म मे आप दोनो पति-पत्नी थे । उस समय के प्राक्तन का यह अवशेष है । इस लिए तो वे लोग आप के पडोस में आ कर रहे हैं । आप मन्त्र का जाप तो करते ही हैं । अब नवग्रह के दान दीजिए । सब ठीक हो जायेगा ।"

शिष्य को अपनी कमजोरी का समर्थन मिल गया । ईश्वर की कितनी कृपा है कि पूर्वजन्म की बाते मनुष्य भूल जाता है । इस जन्म के सम्बन्ध सँभालना जहाँ दूभर है वहाँ पूर्वजन्म की बात ला कर जीवन जटिल कहाँ करने जायें ? गुरु महाराज तो पडोस के आदमी के पास जा कर कहेंगे कि, "तुम्हारी पत्नी पूर्वजन्म में तुम्हारी बहन थी । इस लिए उस के साथ वैसा ही व्यवहार करो । अन्यथा जीवन-मलिन होगा ।" अब गुरु महाराज को उन बेचारो के पूर्वजन्म का यह ज्ञान प्राप्त हुआ उस के पहले जो बच्चे हुए होंगे उन की व्यवस्था क्या होगी ?

पूर्वजन्म, पुनर्जन्म और जन्मान्तर का सिद्धान्त तर्कयुक्त है । कोई कहेगा कि अनुभवसिद्ध भी है लेकिन अगर इस के द्वारा सामाजिक अन्याय का और व्यक्तिगत कमजोरी का और दुराचार का समर्थन ही हो तो उस सिद्धान्त की मर्यादा बाँधनी पडेगी, नही तो धर्म के नाम अधर्म फैलेगा और सर्वत्र अनवस्था

खड़ी होगी। हमारे देश में सन्तो की कृपा से इतनी धार्मिकता फैली हुई थी तो भी समाज में प्राणहीन जडता, लज्जास्पद बुद्धूपन और सार्वभौम दम्भ क्यों है इस का कारण भी ढूंढना होगा। गीता ने कहा है—अधर्म को ही मानने वाली तमोगुणी जडवुद्धि उत्तमोत्तम सिद्धान्त का भी विपरीत उपयोग करती है। (गीता १८-३२)

(१ नवम्बर १९६६)

पाप-पुण्य-पीड़ित

पांच-सात वर्ष के एक स्नेही इन दिनो कमोवेश वीमार रहते हैं। मेरे स्वास्थ्य के वारे में उन्होने हम दोनो के एक समान मित्र को पूछा होगा। मैं उस वक़्त विहार में समन्वय-पर्व के वारे में अनेक लोगो से प्राथमिक चर्चा करने घूम रहा था। मेरी प्रवृत्तिशीलता से उन्हें सन्तोष हुआ और अपनी वीमारी के वारे में दर्द। उन्होने हमारे समान मित्र से पूछा—"अस्सी वर्ष के काका साहव इतना काम कर रहे हैं और मैं विस्तर ले कर वैठा हूं। मेरा पूर्वजन्म का कौन-सा पाप होगा कि मैं इस तरह पंगु वन कर दूसरो की सेवा ले रहा हूं जव कि काका साहव सर्वत्र घूम कर प्रचार करते रहते हैं ?"

मैं भी कई वार वीमार पडा हूं। और मुझे भी अपनी अकर्मण्य दशा को सोच कर ग्लानि हुई है। इस में कोई नयी वात नही है।

लेकिन हर दु.ख के साथ किसी-न-किसी पाप को जोड देने की अपने लोगो की प्रवृत्ति मैं समझ नही सकता। हर दु खद स्थिति के पीछे कुछ पाप ही होगा यह अनुमान ग़लत है। और अगर हम मानते हैं कि हर दु ख किसी पाप का ही फल है, तो कौन से पाप का क्या फल होता है वह ढूंढना हमारा वैज्ञानिक कर्तव्य होता है। इस पाप का यही फल है, इतना निश्चित रूप से कह सकने की स्थिति हमारी होनी चाहिए। जो लोग कार्य-कारण का सम्वन्ध अटल मानते हैं उन का प्रधान कर्तव्य है कि वैज्ञानिक ढग से तलाश और संशोधन करते जायें और उस का नतीजा दुनिया के सामने धर दें। फलां दु ख का कारण कोई अज्ञात पाप ही होगा ऐसे कहने वाले लोगो के प्रति मन में आदर उत्पन्न नही होता। ये लोग वैज्ञानिक वृत्ति के नही किन्तु दैववादी होते हैं। 'शायद होगा' वाली भाषा विज्ञानवादी आदमी नही वोलेगा। 'शायद होगा' तो ढूंढा क्यों

नही ? बौद्धिक आलस्य क्षम्य कैसे किया जायेगा ?

यह हुई इस जन्म की बात। लेकिन हमारे लोग इस जन्म को छोड कर आसानी से पूर्व-जन्म की ओर दौडते है। इस जन्म में हम ने क्या-क्या पाप किया सो ज्यादातर हम जानते ही हैं। अज्ञात पाप पाप गिने जायें, तो भी क्षम्य होते हैं।

कई लोग महान् दु ख सिर पर आ पडने पर कहते हैं, "इस जन्म में तो हम ने ऐसा कोई पाप नही किया है, जिस के कारण हम पर इतना बडा सकट आ पडा। इसलिए कहना पड़ता है कि पूर्वजन्म का ही कोई पाप होगा।" इन की दलील हम समझ सकते हैं, लेकिन "दु ख और संकट का कारण पाप ही हो सकता है।" यह सिद्धान्त ध्यान में नही बैठता। इस में कुछ अति-व्याप्ति है।

इसी ओर ध्यान खीचने के लिए यह लेख लिखवा रहा हूँ।

पाप की व्याख्या क्या है ? हरएक ग़लती को, अनवधानता को और ग़फलत को अगर हम पाप कहते जायें तो वैसा करने का हमें अधिकार है। गणित नही जानने से अगर मैं ने कोई ग़लती की तो वह भी पाप होगा। अगर कलम बनाते चाकू से मैं ने अपनी अँगुली काटी तो वह भी पाप होगा। लेकिन पाप शब्द का प्रयोग इतना व्यापक नही है।

मनुष्य जिस जगत् में रहता है उस के उस ने अनेक विभाग किये हैं। एक है भौतिक-जगत्, दूसरा है बौद्धिक-जगत् और तीसरा है भावनात्मक जगत्। अगर हम बीमार हो कर बिस्तर-वश हो जाते हैं, तो उस का कोई भौतिक कारण हो सकता है, जिस का पाप पुण्य के साथ कोई सम्बन्ध नही है। अगर किसी के घर पर मैं ने भोजन किया, उस की गलती से भोजन में कोई विपाक्त पदार्थ आया और मैं बीमार पडा तो यह केवल एक दुर्घटना है। इस के लिए इस जन्म का या पूर्व-जन्म का पाप ढूँढने की आवश्यकता नही है।

मैं जानता हूँ और मानता हूँ कि भौतिक जगत् और नैतिक एक-दूसरे से अलग, अलिप्त, अस्पृष्ट या असलग्न नही हैं। दोनो परस्पर ओतप्रोत हैं। लेकिन पाप का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से है और उस में भी धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ही पाप की कल्पना की जा सकती है।

इस पृथ्वी पर मनुष्य-जाति का जन्म ही नही हुआ था ऐसे समय पर अगर कोई ज्वालामुखी का स्फोट हो कर उस में से अग्निरस (लावा) बहने लगा और उस के कारण कोई जगल और उस में रहने वाले जानवर और नजदीक के सरोवर में रहने वाली मछलियाँ मर गयी, तो यह सारी प्राकृतिक दुर्घटना

किस के पाप का फल गिना जायगा ? (मैं जानता हूँ कि हमारे पौराणिक, पूर्व-कल्प के मनुष्य, देव, पिशाच, गन्धर्व आदि के पापो का यह फल था, ऐसा कहने को तैयार होंगे। पौराणिक हमेशा सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होते हैं।) जहाँ भौतिक कारण स्पष्ट है, वहाँ नैतिक कारण ढूंढ़ने की आवश्यकता नही होनी चाहिए, तो भी अगर नैतिक कारण की शंका हुई तो कार्य-कारण सम्बन्ध स्पष्ट दिखाने की जिम्मेदारी हमारी होती है।

मनुष्य ग़लती या अपराध हमेशा करता है और उस के फल भोगता है। लेकिन हर समय वह पाप या नैतिक गुनाह नहीं होता। भौतिक जगत् के अपने नियम होते हैं। गणित, गति-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान, रसायन, खगोल-विद्या आदि विद्याओं के द्वारा हम भौतिक जगत् के स्थूल नियम समझ कर लाभ उठा सकते हैं। जहाँ इन नियमो का ज्ञान हमें नही होता, हमें कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। हवामान के नियम जो नहीं जानते उन का स्वास्थ्य अथवा दूसरा काम बिगड़ गया तो उस में हमारी जिम्मेदारी हो सकती है, ग़फ़लत के लिए हमें सजा भी मिलती है। लेकिन इस में हम पाप की बातें नही लाते।

भौतिक और बौद्धिक जगत् के साथ हमारा भावनात्मक जगत् भी ओतप्रोत अथवा अनुस्यूत है। उस का स्वतन्त्र विचार होना चाहिए। हर चीज को पाप और पुण्य के ढांचे में ढाल देना, बौद्धिक आलस्य है और नैतिक उत्तरदायित्व का इनकार है।

पाप-पुण्य का विचार धर्म-शास्त्र करता है, सदाचार और दुराचार का विचार नीतिशास्त्र करेगा। शील के विचार में पूर्वजन्म का पाप कहाँ से आया? स्वास्थ्य और आरोग्य के भी सूक्ष्म और जटिल नियम हैं। उन के बारे में बहुत कुछ अज्ञान रहता है। यह अज्ञान दुर्दैव है, ग़फ़लत है, कभी-कभी ऐसा अज्ञान अक्षम्य भी होता है। लेकिन उस में पाप की भावना ला कर खड़ी करना जरूरी नहीं है।

बौद्धिक जगत् का भी वैसा ही है। अगर हमारी अवधान समझ-शक्ति, तर्क-शक्ति, शुद्ध अनुमान निकालने की शक्ति तेज न रही, तो हम असंख्य ग़लतियाँ करते हैं और उन के तरह-तरह के फल हमें और औरो को भुगतने ही पड़ते हैं। इस में दुर्दैव हो सकता है। सामाजिक शिष्टाचार ने किया तभी तो शिष्ट और अशिष्ट, श्लील और अश्लील के भेद पैदा हुए। गुनाह और क़ानून का पालन है तो नीतिशास्त्र का विषय, लेकिन हो गया है राजशासन का खास विषय। आरोग्य और अनारोग्य के भेद के लिए आरोग्यशास्त्र को पूछना होगा और वैद्यक और आहार-मीमांसा की मदद लेनी पड़ेगी।

कोई चीज़ क़ानूनन आपत्तिजनक न होगी लेकिन शिष्टाचार को असह्य होगी।

भावनात्मक जगत् में नीति-अनीति का भेद जिस तरह प्रधान है, शिष्टाचार का भी जिस तरह उस में प्राधान्य है, उसी तरह कलात्मकता और विश्री अथवा विकलात्मकता भी एक तरह से भावना का ही क्षेत्र है। इस में रसहानि एक तरह गुनाह होता है। अनौचित्य असह्य बनता है। कलाक्षेत्र के अपने क़ानून भी होते हैं। अप्रसन्नता और नाराज़ी से ले कर असहयोग तक सज़ाएं भी होती हैं, जिस के खिलाफ कोई अपील भी नही हो सकती। और तो भी उस क्षेत्र में पाप की बात नही आती।

संघर्ष और समन्वय, युद्ध और शान्ति, समझौता और कटुता ऐसे अनेक द्वन्द्व खडे होते हैं। सामजस्य और विषमता का अनुभव तो कदम-क़दम पर होता है।

पाप-पुण्य की ही बात दिन-रात सोचने वाले लोगो को क्या कहें? पाप-पुण्य-पीडित लोग जीवन के सब के सब क्षेत्रों में पाप और पुण्य की ही बात चला कर जीवन के आकलन को ही विकृत और भ्रष्ट कर देते हैं। ऐसो को हम कहेंगे कि किसी चीज़ को विकृत करना महापाप है। क्योकि उस में जीवन-द्रोह है। जीवन है उन्नति के लिए, उद्धार के लिए, सस्कृति के लिए, समन्वय द्वारा जीवन-सिद्धि के लिए। इस में केवल पाप-पुण्य की बात न ला कर ऊपर जिन-जिन द्वन्द्वो का सकेत किया है, उन को सब दृष्टि से सोचना होगा। तभी हम सत्यार्थी, सत्यशोधक और सत्यसाधक बनेंगे और सत्यनारायण के अनुग्रह के अधिकारी बनेंगे।

(१५ अक्तूबर १९६५)

यज्ञ-धर्म का उत्तम रूप

केवल हवा की शुद्धि का ही सवाल होता, तो हम फिनाइल के पानी का छिडकाव कर के घर की और इर्द-गिर्द की हवा को शुद्ध करते। डामर या कोलतार जला कर भी हवा शुद्ध की जाती है। आजकल कपडो की रक्षा के लिए डामर की सफेद गोलियाँ (नाफ्टा पिल्स) का प्रयोग होता है। गौशाला में गायो को मच्छरों के आतंक से बचाने के लिए कडुवे नीम के पत्ते जलाये जाते है, जिस से हवा भी शुद्ध होती है और मच्छर भी भाग जाते हैं।

कुश्ती के अखाड़ो में कपूर और धूप जलाने का रिवाज तो है ही। और वायुमण्डल की शुद्धि के लिए सब से उत्तम साधन है साफ़ बहती हवा और सूर्य-प्रकाश। इसी लिए तो अनल और अनिल, आग और वायु—हवा की पावनता, पावकता स्वीकृत हुई है। और यह वायुमण्डल की शुद्धि का काम जो चाहे सो कर सकता है। समाज में गन्दगी दूर कर हवा को और घर के इर्द-गिर्द की परिस्थिति को शुद्ध करनेवाला सब से बडा अध्वर्यु मेहतर या भगी सदियो से काम करता आया है। किसी एक बगाली कविता का अनुवाद (शायद रविबाबू का किया होगा) हम ने बचपन में पढा था, जिस के अन्दर भगी को शुद्धिकारी भगवान् के रूप में बताया था।

अग्नि मे सुगन्धित द्रव्य जलाने से हवा की शुद्धि ज़रूर होती होगी। लेकिन यह बात गले नही उतरती कि हवा के नाम से घी जलाने से जो कार्बन डायोक्साईड—प्राणनाशक वायु पैदा होता है उस से हवा शुद्ध होती होगी। कई लोगो ने इस बात को प्रमाणित करने की कोशिश की है, लेकिन उस से सन्तोष या विश्वास नही हो सका। अवश्य यह मतभेद का विषय हो सकता है।

हम मानते है कि हवन के द्वारा वायुमण्डल की सफ़ाई करने का उद्देश्य बाद में सोचा गया है। हवन के द्वारा हम भगवान् की पूजा करते हैं। अपनी धर्म-भावना व्यक्त करते है। इस के अन्दर अर्पणवृत्ति प्रधान है। जब हवन के द्वारा चीज़ें जलायी जाती हैं तब हम अपने व्यक्तिगत और सामाजिक दोष जला डालने का सकल्प भी करते हैं। हवन की प्रवृत्ति के मूल में ईश्वर की आराधना की, आत्मशुद्धि और आत्मार्पण की भावना ही प्रधान है। वह चीज़ प्रधानतया आध्यात्मिक है। यज्ञधर्म हमारा प्राचीनतम धर्म है। हमारे धर्म-ग्रन्थो में हर जगह यज्ञ का रूपक आता ही है। पुरुष सूक्त कहता है 'यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवा तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।' यज्ञ भावना को परिपुष्ट करते नित्य के पंच-महायज्ञ सोचे गये और चलाये गये। यज्ञप्रवृत्ति रोचक हो गयी। उस में हज़ारो पशुओ का बलिदान होने लगा। अश्वमेध, गोमेध, राजसूय यज्ञ आदि तरह-तरह के विस्तार बढे। पशुओ का और पशुओ के मालिक किसानो का क्रन्दन और आर्तनाद स्वर्ग तक पहुँच गया। नेमीनाथ, महावीर, बुद्ध भगवान् आदि आर्य धर्म सुधारको ने ऐसे यज्ञो का तीव्र शब्दो में निषेध किया। जयदेव ने भी गाया—

> निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्
> सदयहृदय-दर्शितपशुघातम् ।
> केशव ! धृतबुद्धशरीर, जय जगदीश ! हरे !

लेकिन हमारी जाति का स्वभाव ही नही कि कोई प्राचीन चली आयी भव्य सनातन प्रथा में दोष देखते ही उस का हम त्याग करे। हम ने दोपो का निवारण किया। असली रस्म-रिवाजो के मूल में जो भव्य कल्पना थी उस को उज्ज्वल रूप दिया और यज्ञ में तो हम ने विश्वव्यापी सार्वभौम प्रक्रिया देखी। हम देवो के लिए यज्ञ करते हैं, देव हमारे लिए यज्ञ करते हैं। ऐसी परस्पर सेवा-द्वारा यज्ञचक्र, विश्वव्यापी जीवनचक्र, चलता ही रहता है। जीवन जीने से, इन्द्रियो के द्वारा उपभोग चलाने से जो विश्व-शक्ति का खर्च होता है उस की फिर से भरपाई करना यही है सच्चा यज्ञ-कर्म। कुएँ के किनारे नहाकर, बर्तन और कपडे धो कर जो गन्दगी हम पैदा करते है उसे दूर कर, जलाशय की और उस के इर्द-गिर्द की भूमि की शुद्धि करना यह एक यज्ञ ही है। यात्री लोगो ने किसी गाँव में एक रात का वास किया और इर्द-गिर्द काफी गन्दगी की। दूसरे दिन गाँव के लोगो ने सेवा के रूप में सब कुछ साफ किया और गाँव का वायुमण्डल पहले के जैसा शुद्ध बनाया। यह सारी प्रवृत्ति यज्ञ ही थी। संस्कृति ग्रन्थो का अध्ययन चालू रखना, सामाजिक, धार्मिक आदर्श लोग भूल न जायँ, उन की निष्ठा शिथिल न हो जाय इस लिए स्वाध्याय को चलाना, पुराण वाचन, हरिकथा, कीर्तन द्वारा लोक-शिक्षण की परम्परा अबाधित रखना यह तो यज्ञोत्तम ही है।

इस तरह गीताकार ने और हमारे साधु-सन्तो ने यज्ञ भावना को व्यापक सार्वभौम रूप दे दिया। और साथ-साथ जिस में पशुहिंसा है, घी, दूध, आदि अत्यन्त जरूरी आहार का नाश है, ऐसी चीजों का सन्तो ने जोरो से निषेध किया। धर्म के नाम भली-बुरी रूढियाँ चलाने वाले दम्भी साधुओ की फजीहत हमारे सन्तो ने कम नही की हैं। बचपन में एक गीत कण्ठ किया था। उस में फटकार के साथ एक पंक्ति आती है—व्यर्थ जालिसी तिला, तांदुला, तुपा। नाहक तिल, चावल और घी को जलाते हो।

जिस देश में जहाँ देखें वहाँ राजा लोग हजारो ब्राह्मणो को एकत्र कर के बडे-बडे यज्ञ करते थे। किसानो के घरों में घुस कर यज्ञ में मारने के लिए जबरदस्ती उन के पशुओ को ले जाते थे और जहाँ रसोई परोसने वाले लोग यज्ञ में भोजन करने वाले भूदेव ब्राह्मओ को हाथ जोड कर कहते थे कि आज काफी पशु नही मिले, इस लिए आप को माँस अधिक नही मिलेगा। कृपया शाक आदि दूसरी चीजें खा कर निभा लीजिए। कल ऐसी कमी नही रहेगी। (महा-भारत में लिखा है कि रन्तिदेव के यज्ञ में उस दिन केवल पचीस हजार ही पशु

मारे गये थे।) उसी देश में आज गाँवों में कभी-कभी माता के नाम पाडे का वध होता है। कामाख्या, कालीघाट, अम्बाजी आदि स्थानो में जो सतत पशुहत्या चलती है उस का दर्द हमें है ही। लेकिन यज्ञ के नाम पशु मार कर ब्राह्मण लोग पशु के पेट में से वपा निकाल कर जो अग्नि को अर्पण करते थे वह रिवाज तो क़रीब-क़रीब बन्द ही हो गया है। जिस तरह पति की मृत्यु के बाद उस की दुर्दैवी विधवा को जलाने का रिवाज हम लोगो ने बन्द किया, उसी तरह धर्म सुधारकों के प्रचार और प्रयत्न से पशुहत्या के यज्ञ भी बन्द हो गये। क़ानूनन् नही, किन्तु समाज की धर्मबुद्धि शुद्ध होने के कारण बन्द हुए। यज्ञ में पशुओ को मारने से पशुओ को स्वर्ग मिलता है। आदि 'परोपकारी' बाते धर्म-प्रेमियो ने कम नही की थी। हमारे यहाँ हर किसी चीज़ का समर्थन करने वाले लोग मिलते ही हैं।

इस साल अष्टग्रहो की बात उभार कर के न जाने कितना घी जलाया गया। घी के साथ अक़्ल भी जलायी गयी और शुद्ध धर्मबुद्धि भी जलायी गयी।

हमारे धार्मिक नेताओं ने प्राचीन यज्ञविधि के नमूने निर्दोष रूप में रहने दिये। जब लडके को जनेऊ दिया जाता है, शादियाँ होती हैं, गर्भाधान संस्कार होता है तब अग्नि जला कर हवन किया जाता है। ऐसे सस्कार भी बहुत कम हो गये हैं। आज कल के नवयुवक अग्नि, वेद और ब्राह्मणों को साक्षी रखने की जगह रजिस्ट्रार और दो गवाहो को साक्षी रख कर शादियाँ करने लगे हैं। ऐसा भी अनुभव नही कि वेद, अग्नि और ब्राह्मणो को साक्षी रखने से परस्पर निष्ठा टिकी रही है और क़ानूनी शादी करने से विवाह असफल ही हुए हैं। मैं स्वय हवन को छोड कर धार्मिक विधि से की हुई शादियाँ पसन्द करता हूँ। खास कर इस लिए कि हमारी परम्परा का हमें स्मरण रहता है। आसेतु हिमाचल सारे देश मे एक ही मन्त्र बोल कर शादियाँ होती है इस का स्मरण मुझे उन्नतिकर लगता है और मेरे पुरखा और उन के पुरखा इन्ही मन्त्रों के साथ विवाहबद्ध हुए थे ऐसा स्मरण भी मुझे मेरे पारिवारिक जीवन के लिए पोषक है। लेकिन धर्म के नाम आहार द्रव्यो को जलाना और अग्निप्रयोग से कृमि-कीटकों का नाश करना धार्मिक विधि का अंग न बने इतना तो हमें निश्चय करना ही चाहिए। सूक्ष्म रूप में घी आदि का हवन करने से बडे पैमाने पर होनेवाले दुरुपयोग को समर्थन मिलता है। गान्धीजी तो अनावश्यक अग्नि जलाने को भी पसन्द नही करते थे।

यज्ञ के पीछे जो व्यापक सार्वभौम धर्म-भावना है उस का प्रचार भगवद्गीता ने किया ही है। उसी को गान्धीजी ने युगानुकूल रूप दिया। जमाने के बदलने

पर यज्ञयाग और हवन आदि के रूप मे परिवर्तन होता रहेगा। सुगन्धित द्रव्य जलाने की जगह सुगन्धित फूलो से पूजा करने की सूचना भी हवन-प्रेमियो ने की है।

रूढिवादी सनातनी लोग पशुयज्ञ का भी समर्थन करते हैं। लेकिन वे भी इतने व्यवहारकुशल हैं कि देश भर जगह-जगह नित्य प्रति पशुयज्ञ करने का कार्यक्रम वे नही चला रहे हैं। लोग जब अष्टग्रह की आफत से डर कर दिल के कमजोर बनते हैं तब रूढ़िवादी इस का फायदा उठा कर घी जलाने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस का निषेध ही योग्य है, न कि समर्थन।

(१५ जून १९६२)

हिन्दू क़ानून

हिन्दुओ के सामाजिक जीवन की दुर्दशा अभी तक पूरी नही हुई है। हिन्दू आदर्श के अनुसार सामाजिक जीवन की व्यवस्था निर्णीत करने का भार राजा पर नही था। हिन्दू जीवन प्रधानतया धर्मपरायण होने के कारण हिन्दू सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन की व्यवस्था धर्म-परायण ऋषि-मुनियो के हाथ में थी।

राजा का काम सिर्फ समाज-व्यवस्था को लोगो के आदर्श के अनुसार चलाने का था। राजा न सामाजिक काम बनाता था न उस में कुछ परिवर्तन ही कर सकता था।

उच्चवर्णीय लोगो का जीवन ऋषि-मुनियो की स्मृतियो के अनुसार चलता था। जो लोग उच्च वर्णिक नही गिने जाते थे उन का सामाजिक आदर्श और उन का सामाजिक सगठन उन्ही की जाति सस्था की इच्छा के अनुसार चलता था। उच्चवर्णीय लोगों का संगठन भी अपनी जमात की जाति सस्था के हाथ में ही था।

इस तरह समाज-संगठन राजा के हाथ में न हो कर जनता के हाथ में रहता था और वह भी समस्त जनता के हाथ में नही। हर एक जमात अपना संगठन और अपना नियन्त्रण जमात के बडो की सलाह के अनुसार चलाती थी।

नतीजा यह हुआ कि समाज के भिन्न-भिन्न घटक व्यवस्थित और नियन्त्रित होते हुए भी सारे समाज में एक तरह की अराजकता ही रहती थी।

कहा जाता है हिन्दू-समाज का मूल सूत्र है—विविधता में एकता (Unity

in variety) लेकिन प्रत्यक्ष व्यवहार में विविधता ही बढती गयी और एकता अगर रही तो वह नाममात्र और कमज़ोर ही। भारतीय स्वभाव ही शान्ति-प्रिय तथा शान्ति-प्रधान होने के कारण हमारे लोग औरों के सामाजिक संगठन में और सामाजिक नियन्त्रण मे हस्तक्षेप नही करते। इस लिए जाति-जाति के बीच बहुत से झगडे नही होते थे। और सारा समाज बिना नियन्त्रण के किसी तरह चलता था।

अब ऐसी स्थिति चल नही सकती। उच्चवर्णीय और सामान्यवर्णीय ऐसा भेद अब नही चलेगा। और अब लोग समझ गये हैं कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को पूरा स्वीकार करते हुए भी भिन्न-भिन्न जमातों में समाज समस्त को कमोबेश हस्तक्षेप करना ही पडता है।

इस लिए अब हिन्दू क़ायदा या हिन्दू लॉ का महत्त्व पहले से बढ गया है। जब अँगरेज़ो का राज्य हुआ तब हमारा राजकीय और सामाजिक संगठन दोनों ढीले पड गये और कमज़ोर भी। अँगरेज़ो की अदालत की शरण लेने के हम आदी बन गये थे। ऐसी हालत में अँगरेज़ो को अपनी हिन्दू प्रजा की व्यवस्था करने के लिए हिन्दू लॉ के बारे में सोचना पड़ा। अँगरेज़ों ने देखा कि भारत की प्रजा की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा टूट गयी है। इस वास्ते इन लोगो पर मनमाने राज्य कर सकते है। अँगरेज़ो ने यह भी देखा कि भारत की प्रजा अपनी आर्थिक उन्नति के बारे में ग़फ़लत में है। भारत के उद्योग-हुनर उच्च कोटि के थे। भारत के व्यापारी तिजारत करने में कुशल थे। लेकिन सामाजिक संगठन कमज़ोर होने के कारण समस्त प्रजा का हित सरक्षण करने वाला कोई नही था। राजा लोगो के पास अर्थशास्त्री (Economists) कोई नही थे। इस लिए अँगरेज़ो ने भारत का शोषण करने का काम ज़ोरों से चलाया। यहाँ के उद्योग हुनर भी तोड़ डाले और हिन्दुस्तान की बाक़ायदा लूट चलायी।

लेकिन अँगरेज़ो ने देखा कि सामाजिक व्यवस्था के बारे में भारत के लोग बडे कट्टर रूढिवादी हैं। सामाजिक सगठन में हस्तक्षेप होने से वे चिढ जाते हैं और ज़बरदस्त विरोध करने लगते हैं, इस की उन्हें कल्पना थी। अँगरेज़ों ने हिन्दू लॉ बनाने में या चलाने में रूढिवादी लोगो के सन्तोष की ही बात सोची।

सती की प्रथा बन्द करने के लिए हम ने कानून बनाया और अपनी प्रगतिशीलता सिद्ध की, ऐसा बडे अभिमान के साथ अँगरेज़ अवश्य कहते हैं—लेकिन सती की प्रथा हमारे देश में व्यापक रूप में कभी थी ही नहीं। कही-कही कोई स्त्री पति के पीछे चितारोहण करती थी। कहीं-कही स्त्री को पति के पीछे चिता की अग्नि मे ज़बरदस्ती फेंक दिया जाता था। लेकिन लोकमत उसे पसन्द नही

करता था। सती की प्रथा करीब बन्द हो गयी थी। अँगरेज़ो ने सिर्फ कानून बनाने का श्रेय लिया।

जब से अँगरेज़ों की तरफ से हिन्दू लॉ संगठित होने लगा, तब से सामाजिक सुधार की प्रगति नही, किन्तु रूढिवाद की स्थापना होती रही।

स्वराज्य होने के बाद अगर हम ने कोई सामाजिक क़ानून बनाया है तो वह एक ही है, अस्पृश्यता निवारण का। बाकी तो जिसे हिन्दू कोड कहते हैं वह अँगरेज़ो के दिनों में जो भी रूप हिन्दू कानून ने लिया उसी का संगठन मात्र है। अगर कही प्रगति है तो एक ही बात में कि लग्न-विच्छेद परस्पर सम्मति से हो सकता है। इस हिन्दू कोड में प्रगति के लक्षण कही नही दीख पडते है। पुरुष या स्त्री के लिए एक ही पत्नी और एक ही पति हो, यह क़ानून भी प्रगति की निशानी माना जाता है। लेकिन इस के बारे में अधिक सोचना होगा।

मुख्य सवाल यह है कि क्या हिन्दू जीवन की विशेषता हम क़ायम रखें या उसे छोड दें। सामाजिक सगठन और सामाजिक नियन्त्रण राज्य के हाथ में न रहे, लोग अपने-आप अपना सगठन कर लें और सामाजिक सगठन ही समाज का नियन्त्रण करे यह आदर्श छोड देना चाहिए। ऐसा दीख पडता है कि आज सामाजिक संगठन बहुत ही दुर्बल हुआ है और समाज के स्वाभाविक नेता समाज-शास्त्र में पूरे प्रवीण नही है। ऐसी हालत में अगर प्रजा को सामाजिक संगठन का स्वातन्त्र्य दे दिया और राजकीय क़ानून ने अपनी जिम्मेवारी छोड दी तो आज की हालत में समाज का भला नही होगा। प्रतिगामी विचारो का गाँवो में अभी तक ज़ोर है। जाति-व्यवस्था की बुनियाद में ऊँच-नीच भाव भरा हुआ है और गाँव के नेता अब भी मानते है कि आतक फैला कर अपना अधिकार मज़बूत करने का उन्हें अधिकार है। ऐसी हालत में हिन्दू-समाज का नियन्त्रण सरकार के हाथ में रहे, यही इष्ट है। समाज के नियन्त्रण के लिए जो भी क़ानून बनाने हैं, सरकार ही बनावे। जो लोग आज राज्य चलाते है, स्वराज्य की बागडोर जिन के हाथ में है, ऐसे लोग आज काफी प्रगतिशील है। वे ही हिन्दू-समाज के सामाजिक दोप दूर करने के लिए आवश्यक क़ानून कर सकते हैं। लेकिन हमें डर है कि सरकार के हाथ में अगर सामाजिक नियन्त्रण के क़ानून बनाने की सत्ता चली गयी तो फिर सरकार की सत्ता ही मज़बूत होती जायगी और सामाजिक संगठन करने की शक्ति हमेशा के लिए टूट जायेगी।

हम मानते हैं इस वक्त हिन्दू कोड पास कर के हमें सन्तोप नहीं मानना चाहिए। सामाजिक प्रगति के लिए जो भी नये कानून आवश्यक है, उन को हम बनायें। पुराने कानूनों में जो दोप हैं उन्हें दूर करें और सामाजिक आदर्शो

के वारे में देश के नेताओ ने जो नये विचार वनाये हैं उन का प्रचार हम ज़ोरो से जनता में करे।

जनता शिक्षित और अद्यतन वनने के वाद सरकार को चाहिए कि वह अपने तमाम सामाजिक काम रद्द करे और समाज का संगठन और नियन्त्रण समाज के हाथ में ही छोड दे।

(सितम्वर १९५४)

द्वि-भार्या विरोध

सामाजिक मनुष्य के लिए पूरा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य हो नही सकता। सामाजिक जीवन में ही व्यक्ति का विकास हो सकता है। इस लिए व्यक्तिगत जीवन पर कुछ हद-तक, अंकुश रखने का अधिकार, समाज को दिया गया है। मनुष्य दूसरे की चीज़ नही ले सकता, रास्ते पर गलत दिशा से नही जा सकता, रात को अपने घर में भी ज़ोरो से आवाज़ नही कर सकता, लोगो के वीच नंगा नही रह सकता; यहाँ तक कि मनुष्य को आत्महत्या करने की भी इजाज़त नही है।

लेकिन समाज का यह अधिकार, व्यक्ति के जीवन पर अंकुश रखने की यह सत्ता, समाज किस तरह अमल मे ला सकता है ?

१. लोकमत का नैतिक प्रभाव डाल कर ?

२ क़ानून के ज़रिये व्यक्ति को रोक कर ? या

३. व्यक्ति को ज़वरदस्ती रोक कर ?

इस तीसरे उपाय से तो दुर्व्यवस्था पैदा होगी। मन में आया इस लिए, हरएक आदमी दूसरे को रोकने लगे तो दुनिया का व्यवहार चल नही सकेगा। इस लिए तीसरा इलाज समाज ने छोड़ दिया है।

समाज अपने अगुवा या प्रतिनिधियो के द्वारा क़ानून वनाता है। और अपनी सरकार के द्वारा उस का अमल करवाता है। मनुष्य की संस्कृति इस क़ानून-रचना तक आयी है। लेकिन सव से अच्छा तरीक़ा यह नही है।

सव से अच्छा तरीका पहला है—जिस में समाज अपनी पसन्दगी या नापसन्दगी ज़ाहिर कर के सन्तोष मानता है। समाज को जो पसन्द नही है वह करते व्यक्ति के मन में संकोच रहता है। समाज सज़ा न करे तो भी, समाज के धिक्कार से आदमी रुक जाता है।

अगर हम में सच्ची श्रद्धा, धीरज और आस्तिकता होती तो हम सरकारें, उन के क़ानून, और उन की सज़ाएँ, इन सब से दूर रह कर प्राकृतिक समाज की स्थापना करते और लोकमत के ज़रिये जो कुछ भी भलाई, व्यक्ति के मन में और रहन-सहन में पैदा कर सकें, उसी से सन्तोष मानते। सरकारों की मदद से जितना दुःख दूर होता है उस से अधिक कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। अगर हम राज्य-तन्त्र के बिना लोकसंगठन कर सकें तो शायद सत्ययुग स्थापित हो जाये।

हम कहते हैं कि धर्म-निरपेक्ष जनता-तन्त्र ही—Secular Democracy ही—समाज का उद्धार कर सकेगा। असली बात तो यह है कि राजतन्त्र-निरपेक्ष समाज-व्यवस्था ही मानवता को बचा सकेगी।

उपरोक्त ढंग के जिस के सिद्धान्त हैं, वह मद्यपान-निषेध, हिन्दू-क़ानून-सुधार आदि आवश्यक बातो के लिए भी सरकारी मदद के बारे में उदासीन रहा तो कोई आश्चर्य नही है।

हमारे यहाँ एक-पत्नी-व्रत का आदर्श अकेले श्रीरामचन्द्रजी ने ही दिखाया। तीन रानियो के होने से पिता की क्या हालत हुई यह रामचन्द्र ने देखा था। उन्होंने एक शब्द से भी अपने पिता की या माताओ की कभी निन्दा नही की। केवल अपने आचरण से श्रीरामचन्द्रजी ने बताया कि एक-पत्नी-व्रत ही मनुष्य जीवन के लिए सच्चा और अच्छा आदर्श है।

श्री रामचन्द्रजी का गौरव सब करते हैं। उन के बाद उन का अनुकरण किसी ने किया हो तो इतिहास पुराणो में उस का ज़िक्र नही है।

इस का अर्थ यह नही कि हमारी जाति में बहु-पत्नीकत्व का आदर्श ही सर्व-सामान्य था। दुनियाभर के सब भले सादे-भोले लोग एक पत्नी से सन्तोष मानते हैं और दुःख-कष्ट के जीवन में भी प्रेम और निष्ठा का स्वर्ग पैदा करते हैं। लेकिन हमारे धर्मों में, हमारी स्मृतियों में, हमारे कानूनो मे, अनेक पत्नीत्व का कही विरोध नही है, निषेध नही है।

सिर्फ़ स्त्रियो के बारे में हमारे समाज ने, बडे ही उत्साह के साथ, सर्वोच्च आदर्श रखा कि स्त्री के लिए जीवन में और मरण में एक ही पति हो सकता है। हमारी देवियाँ भी, एक नही सात-सात जन्म के लिए एक ही पति की कामना रखती हैं। स्त्रियो के उद्धार के लिए हम लोगो ने सती की प्रथा भी जारी की। उस में होने वाली ज़बरदस्ती के सबूत हमने कही रहने नही दिये। पति के लिए सब तरह की आज़ादी, और पत्नी के लिए सब तरह का बन्धन, सयम और आदर्शनिष्ठा—यह है हमारी आर्य संस्कृति का वैभव !! You must

be bound, My dear and I must be free (तुम बँधे रहो लेकिन मैं तो आज़ाद रहूँ) यही युक्ति हरएक पति की, अपनी-अपनी पत्नी के प्रति होती है। भले यह पंक्ति किसी अमेरिकन कवियित्री की हो।

जब से अँगरेज़ शासक, शिक्षक और धर्मोपदेशक हमारे देश में आये, एक-पत्नीव्रत का आदर्श हमारे सामने रखा गया। ब्रह्म-समाज आदि पन्थों ने उस का ज़ोरो से समर्थन किया। सामाजिक सुधार-दल ने द्विभार्या-निषेध पर जोर दिया। इस आन्दोलन का अच्छा असर हुआ। एकस्त्री के जीते जी दूसरी स्त्री के साथ शादी करते लोग शरमाने लगे और एक पत्नी का नियम क़रीब-क़रीब सार्वत्रिक हुआ। जब तक परराज्य था, सामाजिक कानून बनाना आसान नही था। विदेशी सरकार की मदद से स्वदेशी लोगों का क़ानूनी दमन करना, शायद इष्ट भी न था।

लेकिन पिछले दस-पन्द्रह बरसो का हमारा सामाजिक इतिहास आशास्पद नहीं है। इन दिनो कई सुशिक्षित महिलाओ ने ऐसे पुरुषो के साथ शादी करना पसन्द किया जिन की पहली स्त्री जीवित थी! समाज ने ऐसे विवाहो को धिक्कारा नही। कही-कही युवको ने और युवतियो ने यह कह कर कि उस में बड़ा ही नीति-धैर्य था, ऐसे विवाहो का प्रकट रूप में अभिनन्दन भी किया!

अगर अच्छे घरो की लिखी-पढी सस्कारी स्त्रियाँ भी द्विभार्या की बात पसन्द करें तो द्विभार्या विरोध का क़ानून पास करवाने का अर्थ क्या?

इस में तो जरा भी शक नही कि एक भार्या का नियम ही मनुष्य जीवन के लिए अच्छा और इष्ट है। जहाँ लग्न-विच्छेद, (तलाक़) और पुनर्विवाह के लिए समाज-मानस अनुकूल नही है वहाँ दूसरी पत्नी घर पर आने पर जो हालत होती है उसे देखते मन कहता है कि द्विभार्या विरोध का क़ानून तुरन्त ही पास होना चाहिए। परन्तु इस के लिए जितनी शक्ति हम कानून पास करवाने में लगाते हैं, इस से कहीं अधिक शक्ति लोकमत तैयार करने में लगानी चाहिए। यह काम अकेले पुरुषो का नही है, अकेली स्त्रियो का भी नही। सब को मिल कर एक-पत्नीत्व का वायुमण्डल तैयार करना चाहिए। साथ-साथ लग्नविच्छेद और पुनर्विवाह की सहूलियत स्त्रियों के लिए प्राप्त होनी चाहिए। आर्थिक परतन्त्रता स्त्रियो के लिए सब तरह से बाधक है। लेकिन धन कमाने का कर्तव्य स्त्रियो पर लादना यह भी एक अन्याय है। द्विभार्या-विरोधक क़ानून को सब तरह से पुष्टि देते हुए हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि केवल क़ानून बस नही है। लोकमत को जाग्रत करना चाहिए और उसे शिथिल भी नही होने देना चाहिए।

(अप्रैल १९५७)

समुद्र यात्रा की कायरता

जाति भेद के दूसरे दोष तो हैं ही, लेकिन एक बडा दोष यह है कि जातिबद्ध समाज में हरेक व्यक्ति का पूर्ण विकास नहीं होता।

हमारे वैश्य राष्ट्रीय अर्थशास्त्र कहाँ तक जानते थे यह तो हमें नही मालूम। लेकिन हमारे क्षत्रिय, राज्यकर्ता होते हुए भी, राष्ट्रीय अर्थशास्त्र से अक्सर अनभिज्ञ रहते थे। और शूद्र तो अर्थशास्त्र का आरम्भ भी नही जानते थे।

दूसरी एक महत्त्व की बात। देश की रक्षा का भार क्षत्रियो ने उठाया इसलिए राष्ट्र-रक्षा का विचार तक बाकी के लोगो ने छोड दिया। अगर क्षत्रिय हारे तो सामान्य जनता शत्रु के अधीन होते देरी नही लगाती थी। आज भी यह हालत सुधरी हुई नही है।

गान्धीजी ने भारपूर्वक कहा था कि जिस आदमी को भूख लगती है और अन्न के आहार के बिना जो जी नही सकते उन सब को खेती का कुछ-न-कुछ काम कमोबेश करना ही चाहिए। यही नियम देश की रक्षा के बारे में लागू है।

भारत का इतिहास पढ़ते हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि विदेशी लोगों ने इस भूमि पर जब कभी आक्रमण किया, या तो हमारे सरहद के पहाड लाँघ कर, या समुद्र के रास्ते आ कर। यह सब स्पष्ट जानते हुए भी हमारी सेना को आधुनिक ढग के पहाडी जग की पूरी शिक्षा शायद नही दी गयी है। अफ़गानिस्तान की सरहद के बारे में सोचने की अब ज़रूरत नही है। लेकिन असम, मणिपुर की ओर सजग-सतर्क तो रहना ही होगा।

लेकिन आज यहाँ इस पहाडी रक्षा की बात नही करनी है। सन् १४५० से विदेशी लोग दरिया के रास्ते हमारे यहाँ आने लगे। पोर्तुगीज, डच, फ्रेंच, अँगरेज़ सब ने आ कर यहाँ राज्य किया। लेकिन आज तक हम लोगो ने समुन्दर का विज्ञान और नौकानयन की कला में ज़रूरी प्रगति नही की। सारा-का-सारा देश जैन नही बना है। मास और मच्छी खाने वाले लोग देश में काफ़ी हैं। अँगरेज़ो के जहाज़ पर नौकरी करने वाले भारतीय खलासी काफ़ी हैं। लेकिन हम लोगों ने दरियाई तिजारत की महत्त्वाकाक्षा कभी रखी ही नहीं। जापानी लोग अपने जहाज़ ले कर हमारे यहाँ आते हैं। स्वीडन, नार्वे के जहाज़ आते हैं। अमेरिकन, रशियन जहाज़ भी आते हैं। अँगरेज़ो के जहाज़ तो अब

भी हमारे सागर पर अपना प्रभुत्व जमाये हुए हैं।

भारतीय स्वराज्य सरकार के पास जंगी जहाज़ कितने हैं ? हमारी नौ-सेना कितनी तैयार है ? यह सवाल महत्त्व का है ही। लेकिन उस से भी अधिक महत्त्व का सवाल है कि हमारे व्यापारी जहाज़ कितने हैं ? भारत के पास खनिज सम्पत्ति, जंगल की सम्पत्ति बहुत है। हमारे यहाँ अब हमारा कल-कारखानों का माल भी वढ रहा है। विदेश के लोग अगर अपना माल अपने जहाज़ों में लाद कर हमारे यहाँ वेचने लाते हैं तो हम भी अपना माल अपने जहाज़ों में भर कर विदेश वेचने क्यो न जायें ?

जव मैं देखता हूँ कि हमारे समुद्र किनारे के वारे में और हिन्द महासागर के वारे में विदेशी लोगो की ओर से लिखे हुए अच्छे-अच्छे सैकड़ो ग्रन्थ हैं और हमारी ओर से कुछ भी लिखा हुआ नहीं है, तव मुझे वडा ही दर्द होता है। और शर्म की वात तो यह है कि विदेशी लोगो की ओर से लिखे हुए कौन-कौन से ग्रन्थ हैं, उस का भी पता हमें नही है। और जव कोई ऐसे ग्रन्थ हमारे सामने आते हैं तव उन्हें पढ़ने की दिलचस्पी भी हमारे लोग नहीं व्यक्त करते।

हमारे यहाँ खारवा या खलासी जाति के जो लोग हैं उन की हिम्मत, उन का कौशल्य, उन की प्रामाणिकता और उन की सज्जनता सव लोग जानते हैं। दुनिया में इन का नाम इन गुणो में उच्च स्थान पर है। लेकिन इस जाति को हम ने कभी आज तक अपनाया नहीं है, इन की क़दर की नही। भारतभूषण आदि इल्काव आज तक हम ने इन लोगों को नही दिया। प्रो० वूच जैसे नौका-नयन-विशारद हमारे देश में कौन-कौन कितने हैं यह देख कर उन के पास देश के नवयुवको को भेजना चाहिए। ताकि सागरीय-यात्रा और नौकानयन विद्या के वारे में समस्त देश में एक नया उत्साह पैदा हो जाये।

आजकल विदेश से आये हुए विद्यार्थियो को भारत-भ्रमण के लिए काफ़ी सहूलियतें और प्रोत्साहन दिया जाता है। देश के युवको को भी थोडा कुछ प्रोत्साहन मिलता है। लेकिन यह सव रेल की यात्रा तक सीमित है। रेल, वस और पैदल यात्रा तो हमारे लोग जानते हैं। हम आखिरकार जमीन के जीव हैं। कोकण पश्चिम किनारे पर रहने वाले लोग वम्वई से मंगलूर तक आते-जाते रहते हैं। इन्हें समुद्र की ही यात्रा करनी पड़ती है। लेकिन मध्यम वर्ग के इन लोगो में से कितने लोगो ने समुद्र-यात्रा का उत्साह दिखाया है ? जिन्हें समुद्र-यात्रा करनी पडती है वे मानो जुलाव की दवा ली हो ऐसा मुँह कर के समुद्र-यात्रा के कष्टो का वर्णन करते हैं। इन्हें अगर स्वराज्य प्राप्ति के वाद एक चीज के ख्वाव आते होंगे तो वे वम्वई से मगलूर तक वने रेलवे वनाने के हैं।

ताकि जहाज की यात्रा करनी न पडे। समुद्रयात्रा का कुछ उत्साह दीख पडा कच्छी लोगो में, कन्याकुमारी की ओर पूर्वसमुद्र के किनारे पर और थोडा कुछ पूर्व बंगाल में। बाकी सब भारतीय समुद्रयात्रा-निषेध-युग के ही लोग है।

(४ जून १९५७)

चरैवेति चरैवेति

समुद्र यात्रा करके हमारे लोग सीलोन बसे हुए हैं। सीलोन की असली प्रजा भी ज्यादातर प्राचीन काल में भारत से ही जा कर वहाँ बसी हुई है।

हमारे लोगो ने बर्मा, जावा, चम्पा, स्याम आदि प्रदेशों में जा कर धर्म प्रचार किया और व्यापार भी बढाया। आज हमारे भारतवासी सुदूर फिजी टापू में जा कर बसे हैं और वही के बाशिन्दे बने हैं। दक्षिण-पश्चिम में मौरिशस टापू में भारतीयो की संख्या काफी है। हमारे पश्चिम की ओर पूर्व अफ्रीका में लाखो भारतीय जा कर बसे हुए हैं। दक्षिण अफ्रीका में भी उन की संख्या काफी है। गोरी प्रजा हमारे लोगो को वहाँ आराम से रहने नही देती।

दक्षिण अमेरिका की उत्तर की ओर भी ट्रिनिदाद, सुरिनाम और ब्रिटिश-गियाना में हमारे लोग काफी संख्या में हैं।

जब युरॅप की प्रजा दुनिया के सब खण्डो में और टापुओं में जा कर बसी तब हम घोर निद्रा में पडे हुए थे। अब तो हिन्दुस्तान के बाहर जा कर कही भी बसना आसान नही रहा। जहाँ जाने की कोशिश करें, दरवाजा बन्द मालूम पडता है। लेकिन हम विद्या-अर्जन के लिए, तिजारत के लिए या नये-नये मुल्क देखने के उद्देश्य से जरूर दुनिया घूम सकते हैं।

लेकिन हमें न अपने देश के बारे में पूरी जानकारी है, न पडोस के या दूर के देशो के बारे में। जब से काश्मीर का मामला दुनिया के सामने पडा हुआ है, विदेश के लडके-लडकियाँ काश्मीर जा कर वहाँ की हालत अपनी नजरो देख रहे हैं। अभी मेरे पास स्विट्जरलैंड के उन्नीस-उन्नीस बरस के दो लडके आये थे। घर के कोई अमीर नही हैं। सारी दुनिया का भ्रमण करने का संकल्प है। हर तरह की कठिनाइयाँ झेलते हुए घूम रहे है। मेरे पूछने पर हँसते हँसते उन्होंने कहा कि एक दफे तुर्किस्तान में हमें दस दिन फाका करना पडा। जेब में कुछ था ही नही। फिर अखबार के लिए कुछ लिखा, पैसे कमाये और आगे चले।

हमारे देश के नवयुवको को दुनिया देखने के लिए और अपने ज्ञान की वृद्धि करने के लिए घुमक्कड़ बनना चाहिए। हमारे पूर्वज बारह बरस की पढ़ाई के बाद तीन साल तक भारत-भ्रमण करते थे। उस के बाद शादी कर के कही भी स्थिर होते थे। काशी-रामेश्वर की यात्रा की, द्वारिका, कन्याकुमारी, जगन्नाथपुरी और बद्रीनारायण की यात्रा की तब वे मानते थे कि उन्होने दुनिया देख ली। उन के ज़माने के लिए वह ठीक था। मुग़लो के ज़माने में भारत और ईरान के बीच लोगो का आवागमन खूब होता था और संस्कृति का आदान-प्रदान भी। अब तो हमें दुनिया के सब देशों में जाना है। लेकिन कम से कम भारत से पडोस के देशो का और टापुओ का ज्ञान तो हमें लेना ही चाहिए।

आजकल भारत के अन्दर ज्ञान यात्रा और सेमीनार का बोलबाला बहुत है। जो नवयुवक चार सेमीनार में उपस्थित रहा उसे पुरस्कार-रूप प्रमाण-पत्र मिलता है। यह अच्छा है। लेकिन साथ-साथ हमें एक राष्ट्रीय फ़ेहरिस्त रखनी होगी, जिस में अपने ही उत्साह से जो नवयुवक विदेश हो आये हैं उन की योग्यता दर्ज की हो। ऐसे लोगो को उन के लायक काम ढूँढ कर के देना राष्ट्रीय सरकार का कर्तव्य है। ऐसी फेहरिस्त पाँच-दस साल तक ही रखनी होगी। उस के बाद विदेश हो कर आये हुए नवयुवको की संख्या इतनी बढ़ेगी कि उन की फ़ेहरिस्त मानो मर्दुम-शुमारी बन जायेगी। लेकिन भारतभ्रमण और विश्वभ्रमण को खास प्रोत्साहन देने की ज़रूरत है।

भारत के जातिभेद के, ऊँच-नीच के और ऐसे ही दूसरे सामाजिक सवाल हल करने का यही अच्छा तरीक़ा होगा।

(११ जून १९५७)

समानता की साधना

किसी भी जाति के धार्मिक, सामाजिक रीति-रिवाज उस के आध्यात्मिक आदर्शों के अनुसार ही होने चाहिए। आदर्शों में अगर सुधार या परिवर्तन हुआ तो सस्कार और रस्म-रिवाजों में भी परिवर्तन होना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं होता। रस्म-रिवाज एक दफ़े बन गये तो बन गये, फिर तो उन में परिवर्तन करने की शक्ति व्यक्ति के हाथ में नही रहती। सारा समाज तैयार होगा अथवा कोई बडा ज़बरदस्त आन्दोलन आ खड़ा होगा तभी परिवर्तन हो सकते हैं।

हमारे यहाँ वैदिक काल के आदर्श अलग थे। वैदिक सस्कृति का काफी विकास होने पर वेदान्तिक संस्कृति का उदय हुआ। वेदान्त के साथ मोक्ष आया। स्वर्ग और यज्ञ गौण हो गये। मोक्ष के आदर्श के कारण वैदिक कर्मकाण्ड की जगह कर्मयोग की स्थापना हुई। लेकिन वेदान्त के उत्साह ने एक तरफ ज्ञानयोग और दूसरी तरफ भक्तियोग को प्रधान बनाया। ज्ञान का और भक्ति का पूरा-पूरा प्रचार और अनुभव होने के बाद कर्मयोग की प्रधानता अपने-ही-आप आगे आयी।

ज्ञानयोग हो या कर्मयोग परब्रह्म की उपासना उस के साथ थी ही और ब्रह्म रहा निर्दोष और सम (निर्दोष ही समम् ब्रह्म)। इस लिए मनुष्य की साधना में जीवन-शुद्धि और समाज में समता का आना ज़रूरी था।

लेकिन ऐसा नही हुआ। यज्ञमार्गी लोग हिंसा को छोडने को तैयार नही थे और अहिंसा के बिना जीवन-शुद्धि हो नही सकती। कर्मकाण्डी लोगो ने दलीले चलायी—यागीया पशुहिंसा हिंसा न भवति।—यज्ञ के लिए पशु को मारना हिंसा नही है। ऐसा कहने तक उन्होने हिम्मत की। पशु तो रोते-रोते मरते थे और मार कर खाने वाले लोग कहते थे, 'इस में हिंसा नही है'। कर्मकाण्डी लोगो ने अपनी धर्मबुद्धि को सन्तोष देने के लिए दलीले चलायी कि यज्ञ में जो पशु मारे जाते हैं उन को स्वर्ग मिलता है। अतएव उन का कल्याण ही होता है। इन की हँसी उडाते चार्वाक कहने लगे, "अगर ऐसा ही है तो यज्ञ में अपने पिता की वलि क्यों नही देते? वे तो स्वर्ग की कामना भी करते हैं, बेचारे पशु स्वर्ग की बात भी नही जानते और इच्छा भी नही करते।"

यज्ञ के लिए लकडी चाहिए और पशु चाहिए। दोनो का नाश करने से स्वर्ग मिलता है, यह दलील जिन की समझ में नही आयी वे पूछने लगे—अगर पेड को काट कर, पशुओ को मार कर और लहू को कीचड बना कर स्वर्ग जाया जाता है तो नरक जाने का उपाय कौन-सा है? धीरे-धीरे यज्ञ सस्था अप्रतिष्ठित हो गयी और वेदान्तियो ने यज्ञ का वडा व्यापक अर्थ किया और पशुवध वन्द हो गया। न जाने इतना सुधार करते कितने ज़माने बीत गये।

ब्रह्म के दो लक्षण हैं—निर्दोष और सम। अगर मनुष्य अपने जीवन द्वारा परब्रह्म की उपासना करना चाहे तो सत्य, (ईमानदारी) अहिंसा और संयम के द्वारा ही मनुष्य निर्दोष हो सकते हैं। परब्रह्म का दूसरा लक्षण है समम्। मनुष्य हृदय में और समाज में समानता किये विना ब्रह्म की उपासना कैसे हो सकती?

सुख-दुःख के वारे में समम् वनने की साधना वेदान्तियो ने अच्छी की। लाभ-हानि, जय-पराजय के वारे में समानता धारण करने का उपदेश भी काफ़ी

हुआ। लेकिन विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और कुत्ते को मार कर पका कर खाने वाला चाण्डाल—इन के बीच समदृष्टि रखने का उपदेश हमारी आर्य-सस्कृति ने गीता में ही रहने दिया। पण्डित कहने लगे, "गीता ने दृष्टि समान रखने को कहा है, आचरण समान रखने को कहाँ कहा है? (पण्डिता समदर्शिन. न तु समवर्तिन) ऐसी दलील वे न करें तो चातुर्वर्ण का उच्च-नीच भाव छोडना पडेगा। सनातनियो का सिद्धान्त था कि ब्राह्मण भ्रष्ट हुआ तो भी इतर वर्णों से श्रेष्ठ है। शूद्रो की अपेक्षा द्विजातीय श्रेष्ठ। उन में भी ब्राह्मण श्रेष्ठ। ऐसी व्यवस्था छोडने को सनातनी तैयार नही थे। आज भी नही है। हिन्दू जाति और हिन्दू संस्कृति की बुनियाद में ही यह उच्च-नीच भाव भरा है।

दुनिया के दूसरे लोगो में और दूसरी संस्कृतियो में अभिमान, मग़रूरी और दूसरो के प्रति तुच्छता काफी है लेकिन उसे उन्होने धर्म की बुनियाद नही दी। हमारे यहाँ मनुस्मृति में भी वर्णों का श्रेष्ठत्व और कनिष्ठत्व पूरा-पूरा पाया जाता है। अनुलोम और प्रतिलोम का भेद भी नही तो कहाँ से आता?

असल मे पुरुष श्रेष्ठ और स्त्री कनिष्ठ ऐसा भेद भी हमारी संस्कृति में और दुनिया की अनेक संस्कृतियों में शुरू से आज तक मौजूद है। (कितना अच्छा कि पशुओ में नहीं है!) ईसाई लोगो में पहले ऐसी भी मान्यता थी कि स्त्री की आत्मा ही नही होती है। प्राण है, सुख-दु.ख है, बुद्धि और भावना है लेकिन आत्मा नही है।

सस्कृति के दोष दूर कर के विचार-शुद्धि और जीवन-शुद्धि करने वाले बुद्ध भगवान् भी इस संकुचितता से मुक्त नही थे। इस लिए प्रथम उन्होने स्त्रियो को दीक्षा देने से इनकार किया और जब दीक्षा देनी पडी तब नियम बनाया कि बिलकुल नयी दीक्षा जिसे मिली है ऐसा पुरुष भिक्षुक वृद्ध से वृद्ध पुरानी भिक्षुणी से भी श्रेष्ठ माना जाय और तमाम भिक्षुणियाँ उसे वन्दन करें।

यह सारा उच्च-नीच भाव हमारे मानस में उतर गया और रस्म-रिवाजो में भी पाया जाता है। हम अगर समानता की बात करे और रस्म-रिवाज पुराना रखें तो स्वभाव में परिवर्तन नही होगा। इस लिए समाज को जो रस्म-रिवाज मान्य हैं, पसन्द हैं, पूज्य है, ऐसो का भी फिर से विचार करना ही चाहिए। बाह्य आचार में परिवर्तन करने से भी मानस-परिवर्तन हो सकता है और समाजमान्य बनता है।

किसान जाति का एक बडा अफ़सर कभी जज, कभी कलेक्टर बनता था। रिवाज के अनुसार उस के नौकर बूट पहनने में उस की मदद करते थे, बूट साफ कर सकते थे। यह बिलकुल स्वाभाविक था। अब एक दफ़े उस की

कचहरी में एक गरीब ब्राह्मण चपरासी बन कर नौकरी पर लगा। बूट उतारने के लिए अफसर ने प्रथम उस को बुलाया। तुरन्त उस को खयाल आया कि यह नौकर जाति का ब्राह्मण है। ब्राह्मण जाति के हाथ से बूट उतरवाने की उस की हिम्मत न चली। जाति-पाँत को न मानने का उस का सिद्धान्त था। इस लिए उस ब्राह्मण नौकर को अब मना करना भी मुश्किल हो गया। उस अफसर ने अपने मन की दुविधा मेरे सामने व्यक्त की। मैं ने कहा, यही तो संस्कारो का महत्त्व है और इसी लिए सिद्धान्त के अनुसार सस्कार भी बदलने चाहिए।

अब दूसरी एक बात देखिए। हम ने अपने शरीर में भी मान लिया कि सिर ऊँचा है इस वास्ते वह श्रेष्ठ है। पाँव ज़मीन पर चलते हैं इस लिए वे कनिष्ठ हैं। किसी को गलती से हमारे हाथ का स्पर्श हुआ तो इस का किसी को बुरा नहीं लगता, लेकिन पाँव का स्पर्श हुआ, बिलकुल ग़लती से, तो भी मनुष्य बार-बार माफी माँगता है। वेद में भी चार वर्णों की एकात्मता बताने के लिए पुरुषसूक्त बनाया गया। उस में कहा है—ब्राह्मण समाज-पुरुष का मुख है। क्षत्रिय उस के बाहु हैं, वैश्य समाज-पुरुष की जाँघ है और शूद्र तो बेचारे पाँव में से पैदा हुए।

अब ऐसी व्यवस्था में अगर किसी को मैं आदर दिखाना चाहूँ तो कहूँगा, 'आप इतने बडे और ऊँचे है कि जहाँ आप के पाँव हैं वहाँ मेरा सिर रहेगा। (बुद्ध भगवान् ने तमाम स्त्री भिक्षुणियो को पुरुष भिक्षुसघ के नीचे रखा—वैसी ही यह बात है।) स्त्रियों को और शूद्रो को वेदमन्त्र बोलने का अधिकार नहीं, ऐसा नियम बनाने से स्मृतिकारो को सन्तोष नही हुआ। शूद्र लोग वेदमन्त्र सुनें भी नही, ऐसा नियम बनाया गया। इस के आगे जा कर नियम बनाया कि धर्मशास्त्र पढने का अधिकार केवल विद्वान् ब्राह्मण को ही है औरों को यह अधिकार नही है। और आखिरकार उन्होने नियम बनाया कि शूद्र लोग सस्कृत भाषा ही न सीखें। और इस नियम के लिए स्पष्टता की कि जो ब्राह्मण नही हैं उन सब को कलियुग में शूद्र ही गिनना चाहिए। सस्कृत तो देववाणी है, उसे पवित्र रखना चाहिए।

मनुस्मृति में असंख्य बातो में यह ऊँच-नीच भेद चलाया गया है। दण्ड कितना ऊँचा हो, ब्रह्मचारी के कपडे किस रंग के हो, नमस्कार का प्रकार कैसा हो, हरएक जाति के लिए नियम अलग। और जाति-व्यवस्था में स्थान ऊँचा या नीचा।

यह सब तोडना ही चाहिए। चन्द नियम आप-ही-आप टूट गये लेकिन

बहुत-से रहे हैं। जो उम्र में बडे हैं, जाति में श्रेष्ठ हैं अथवा पुरुष हैं उन को नमस्कार करते कम योग्य लोगो को उन के चरणो पर अपना माथा रखना चाहिए। माथा नहीं रखा जाता तो कम से कम हाथ से चरणों को स्पर्श करना चाहिए। स्पर्श सेवा का द्योतक है और उसे नम्रता भी बताया जाता है।

अपने गुरु का जिक्र नाम से नही करना चाहिए सो बात तो ठीक, लेकिन गुरु का जिक्र गुरु शब्द से भी नही करना चाहिए। गुरुचरण कहना चाहिए। नम्र और निष्ठावान् शिष्य कभी नही कहेगा कि गुरु की आज्ञा शिरोधार्य है। वह कहेगा गुरुचरणो की आज्ञा शिरोधार्य है। बड़ो के चरण और छोटों का सिर इन्ही का सम्बन्ध बन सकता है।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध, मालिक और नौकर का सम्बन्ध, उच्च और हीन जाति का सम्बन्ध, पति-पत्नी का सम्बन्ध, सब में आदर और नम्रता बताने के लिए चरण तो लाने ही पडते हैं। मेरे जैसा कहेगा कि गान्धीजी के चरणो में बैठ कर जो हम ने पाया, वही आप को कहता हूँ, इत्यादि। नम्रता दिखाने के लिए ऐसी भाषा शायद ठीक है लेकिन सामाजिक समानता की तो इस से हत्या ही होती है।

दुनिया में आदर, निष्ठा, पूज्यभाव और उस के साथ नम्रता आदि सद्गुण रहने ही चाहिए। ये सद्गुण जब लुप्त हो जायेंगे तब मानवजाति में सस्कारिता रहेगी ही नही। बड़ों के प्रति आदरभाव होना ही चाहिए। समान लोगो के प्रति सद्भाव होना चाहिए। छोटो के प्रति वात्सल्यभाव न रहा तो भी उन की इज्जत तो करनी ही चाहिए। लेकिन यह सब दिखाने के लिए अपने को हीन-दीन बनाने की क्या जरूरत है ?

इसलिए सारा पूरा विचार कर के मैं इस नतीजे पर आया हूँ कि चरणों पर माथा टेकने की और चरण स्पर्श की बात तो निकालनी ही चाहिए। दूसरे समाजो में यह रिवाज नहीं है तो क्या उन लोगो में नम्रता और आदर नही हैं ? नम्रता और आदर मनुष्यमात्र में होते ही हैं और बताने के तरीके भी होते हैं। लेकिन अपने को हीन बनाने की बात उस में नही होती। इसलिए मैं लोगों को समझा रहा हूँ कि आदर दिखाने के लिए हम हाथ जोड़ कर खडे-खडे नमस्कार करें। बहुत हुआ तो सिर जरा-सा झुके। लेकिन कमर झुका कर नमस्कार करने का और पाँव छूने का रिवाज छोड ही देना चाहिए।

मेरे इस नये नियम का विरोध कोई अच्छे-अच्छे लोगो ने किया है। उन के प्रति मेरे मन में आदर है। लेकिन अपनी बात पर अब मैं दृढ हूँ।

एक दिन मैं बम्बई से अहमदाबाद या साबरमती गया। उन दिनों मैं

गुजरात विद्यापीठ चलाता था। स्वाभाविक था कि मेरे चन्द विद्यार्थी मेरा स्वागत करने के लिए स्टेशन पर आवें। इस तरह विद्यार्थी आते भी थे। लेकिन इन में से एक महाराष्ट्रीय जवान मेरी ओर विशेष आकर्षित हुआ। रेलगाडी से मैं जैसे ही उतरा, उस ने आ कर मेरे पाँव छूए और उस के साथ आये हुए दूसरे चार-पाँच लड़के क्या करें ? देखादेखी उन्होंने भी चरण-स्पर्श किया, जो वे चाहते नही थे। उन का रिवाज भी वैसा नही था। मैं ने उस महाराष्ट्रीय विद्यार्थी को समझाया कि तुम ने सब को और मुझ को भी संकट में डाला यह अच्छा नही है। मन में आदर कम हो या ज्यादा। उस को बताने का तरीक़ा सर्व-मान्य होना चाहिए। जब वह नही माना तब उसे मैं ने बीच का रास्ता बताया। जब तुम अकेले मिलो तब चाहे चरण स्पर्श करो, तुम्हारे लिए मैं सहन करूँगा। (राजी तो हरगिज नही होऊँगा) लेकिन दूसरो के सामने पाँव छूना और कमर झुकाना बिलकुल मना है। बाद में उस ने देख लिया कि दो ढग का रिवाज चल नही सकता। क्योंकि चरण स्पर्श चोरी का मामला हो गया। फिर उस ने वह भी छोड दिया।

आज के ज़माने को हम डेमोक्रेटिक ज़माना कहते हैं। जनता का, प्रजा का, सामान्य मनुष्य का और समानता का यह ज़माना है। इस में उच्च-नीच भाव की शका भी आ जाये ऐसे सब रस्म-रिवाज छोड देने चाहिए। और भारतीय सस्कृति में श्रेष्ठ-कनिष्ठ का पाप हम ने इतना चलाया है और सार्वभौम बनाया है कि हमें तो ये सारे पुराने रस्म-रिवाज प्रयत्नपूर्वक और प्रतिज्ञापूर्वक छोड देने ही चाहिए। बडी कड़ाई से बन्द करने चाहिए।

किसी ने कहा, "आज कल के ज़माने के लोगो में आदर रहा ही कहाँ है ? आप का नियम आज के नवयुवक खुशी से पसन्द करेंगे।"

मैं ने हँस कर कहा, "अगर बात ऐसी है तो मेरी बात ज़ोरो से और जल्दी चलानी चाहिए ताकि नवयुवको को उद्दाम न होना पडे।"

हम चरणस्पर्श चाहें और माँग लें और उस की अपेक्षा रखें और जवान लोग उस में अरुचि और संकोच बतावें इस में दोनो की शोभा नही है। हम ही अपनी ओर से गलत रिवाज को तोड दें तो कितना अच्छा ?

और एक बात है। जब हमारी स्त्रियाँ पुरुषो के प्रति आदर दिखाने के लिए नीचे झुकती है, ज़मीन पर माथा टेकती है अथवा पाँव को छूती हैं तब मैं शरम का मारा अधमुआ हो जाता हूँ। स्त्री जाति के प्रति आदर दिखाना पुरुषो का काम है। उम्र मे छोटी हो या बडी, स्त्री को तो आदर दिखाने के लिए हरगिज़ नीचे नही झुकना चाहिए। हाथ जुडें, सिर ज़रा-सा झुके इतना काफी है।

देश के और समाज के पुराने और नये नेताओं से मेरी प्रार्थना है कि हमारी सस्कृति में से सर्वव्यापी, सार्वभौम, ऊँच-नीच भाव को दफ़नाने के लिए इतना सुधार जरूर करें कि कमर झुकाना, चरण स्पर्श करना, जमीन पर माथा टेकना और वैसी भाषा बोलना एकदम बन्द कर दें। इस से आर्यसंस्कृति की हानि होने वाली नही है, लाभ ही है और भगवान् 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' हमारे जमाने को आशीर्वाद देगा।

(१५ जनवरी १९६६)

नीति याने सदाचार

सदाचार की बात सोचते ही 'नीति' शब्द सब से पहले ध्यान में आता है। राजा भर्तृहरि ने नीति के सौ श्लोक लिख कर आर्यजनो को सदाचार का रास्ता बताया है। नीतिमान्, धीमान् आदि शब्द इसी अर्थ में प्रचलित हुए हैं।

धर्म की कल्पना में भी सदाचार आ जाता है इस में जब धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की बात आ जाती है तब उस में धर्म से तो केवल आरम्भ होता है। वहाँ धर्म का भाव है सामाजिक सदाचार के नियमो का पालन। इस से जो उच्च धर्म है, वह है मोक्ष का धर्म। मोक्ष धर्म ही सर्वोच्च पुरुषार्थ माना गया है। हालांकि मोक्ष से श्रेष्ठ भूमिका है विश्वात्मैक्य की।

भर्तृहरि ने भी प्रारम्भिक सदाचार के लिए 'नीतिशतक' लिखने के बाद अन्तिम उपदेश दिया 'वैराग्य शतक' के द्वारा। ('विज्ञान शतक' शायद भर्तृहरि का नही है।)

अब संस्कृत में और हमारी देशी भाषाओं में भी 'नीति' का अर्थ बहुत कुछ गिर गया है। यहाँ तक कि नीति का अर्थ धूर्तता, छल-कपट भी हो सकता है।

'नीति' का मूल अर्थ है सदाचारी लोगों के आचरण के नियम, जीवन की एक विशेष परिपाटी। सच बोलना, इन्द्रियों पर क़ाबू रखना, दिये हुए वचन का पालन करना, दूसरे के भले के लिए अपने स्वार्थ को छोड़ देना, जीवो के प्रति दयाभाव रखना, क्रूरता का त्याग करना, काम, क्रोध, लोभ आदि मनोविकारो पर अकुश रखना इत्यादि बातें मिल कर नीति बनती हैं।

ऐसी नीति का पालन अपनी अन्तरात्मा के सन्तोष के लिए और समाज के कल्याण के लिए जरूरी माना गया है।

जो सच बोलता है उस के वचन पर सब का विश्वास बैठता है। लोग उस का आदर करते हैं। यह हुआ सत्यवादिता से मिलने वाला स्वाभाविक लाभ। ऐसे लाभ को हम भूलें नही। लेकिन ईमानदारी का पालन ऐसे लाभ के लिए आदमी नही करता। जो लोग ईमानदारी से होने वाले लाभ को ही महत्त्व का मानते हैं उन्ही की बनायी हुई कहावत है—'Honesty is the best policy' यहाँ policy का अर्थ है 'नीति'। हमारे लोग भी कभी-कभी 'नीति' शब्द का उपयोग policy के अर्थ में करते हैं।

व्यक्ति का आचरण कैसा हो इस के नियम कुल-परम्परा की रीति में पाये जाते हैं। हरएक जाति के अगुआ अपनी-अपनी जाति के लिए नीति-नियम बनाते हैं। सब के लिए एक-से नियम नही होते। ब्राह्मण तपोभ्रष्ट होने से डरेगा। क्षत्रिय युद्ध में पीठ दिखाने से डरेगा। वैश्य दिवाला निकलने पर आत्महत्या करेगा। अपनी-अपनी जाति या वर्ग की खास नीति के लिए अँगरेजी शब्द है, 'Persona'

अब ऋषि-मुनियो ने वर्ण के अनुसार और जाति के अनुसार सदाचार के नीति-नियम बनाये। उन में राजा के लिए (अब राजा लोग रहे नही, किन्तु राज्यकर्ता—राजपुरुष हैं, उच्चाधिकारी और अमलदार हैं।) ये हैं :

राजा को सफलतापूर्वक राज्य चलाना है, जागरूक रह कर प्रजाहित करना है तो मामूली नीति से उस का काम नही चलेगा। राजा के स्थान पर नियुक्त होते ही उसे सोचना पडता है,

(१) दूसरे राजाओ के साथ मेरा व्यवहार कैसा हो ?

(२) अपनी प्रजा के साथ सम्बन्ध कैसा रखा जाय ?

(३) अपने ही मन्त्री, सलाहकार और अपने-अपने महक़मे के राज-कर्मचारियों के साथ मेरा सलूक कैसा हो ?

(४) राजगद्दी पर लोभी नज़र रखने वाले अपने दामादों के प्रति व्यवहार कैसा हो ?

(५) और अपनी स्त्री, पुत्र, मित्र व स्नेही और दास-दासियो के साथ व्यवहार कैसा हो ?

सब के ऊपर एक-सा विश्वास रखना राजा के लिए घातक होगा। राजा अगर नरम रहा तो लोग उस का अनादर करते हैं। उस के सिर पर चढ़ बैठते हैं।

इस से उलटा राजा अगर कडक और कठोर रहा तो लोग उस से त्रस्त होते हैं, उस से दूर भागते हैं। ऐसे राजा को प्रजा की निष्ठा नही मिलती।

इस लिए राजा की नीति नरम-गरम होनी चाहिए।

पड़ोसी राजा धोका दे सकता है, दुश्मन बन सकता है, इस लिए उस के साथ सँभल कर चलना चाहिए। अगर उस ने धोखा दिया तो आत्म-रक्षा के लिए उसे धोखा देने में हर्ज नही है ऐसी-ऐसी बातें राजनीति में आती हैं। राजा को कहा गया है कि वह अपनी पत्नी को भी रहस्य की सब बातें न कहे, उस का विश्वास न करे। स्त्रियो के साथ सचेत हो कर चलना चाहिए और रहस्य की बात उन्हें कभी नही कहनी चाहिए, इत्यादि नियम सब देशों के पुरखो ने बनाये हैं।

राजा लोग तो सभी के साथ धूर्तता से चलेंगे ही। लेकिन राजा को लोगों से भी सीधे ढंग से नही चलना चाहिए ऐसी सलाह दी जाती है—'नयो नृपजने'—और 'नारीजने धूर्तता' तो है ही।

'स्वदेश में चलाना धर्म को और शत्रु के देश में फैलाना अधर्म' ऐसी विचित्र और अनर्थकारी सलाह भी नीति-ग्रन्थो में पायी जाती है।

राजा लोगो को और समर्थ लोगो को भी सीधे ढंग से नही चलना चाहिए ऐसी सलाह दी गयी है, क्योंकि सीधा चलने में खतरा है ऐसा बताया जाता है, हालांकि दूसरे लोग कहते हैं कि दुर्बल आदमी के लिए धर्म-पालन का आग्रह हम नही रखेंगे। दुर्बल आदमी जैसा बन सके अपने को बचा ले, समर्थ होने पर धर्म का आचरण करे, ऐसा भी बताया गया है।

'समर्थो धर्ममाचरेत्'।

सदाचार पर जिन का विश्वास है ऐसे लोगो का वचन है—

'धर्मो रक्षति रक्षित.'

लेकिन दुनिया कहती है कि ऐसा हमारा अनुभव नही है। सदाचारी लोग दु स्थिति में पाये जाते हैं और दुर्जनो की भी तरक्की होती है। चन्द ईश्वर-निष्ठ लोग भले ही कहें कि 'भगवान् भलों का भला ही करता है, और दुर्जनों का नाश,' लेकिन अनुभव ऐसा नही है। सज्जनो का भला ही होता तो लोग बुराई का रास्ता लेते ही क्यों? हम सब चाहते हैं कि सदाचार का फल अच्छा ही हो। सदाचारी को सब तरह का सुख मिले, सन्तति, सम्पत्ति मिले, ऐसी हमारी भी इच्छा है। लेकिन वैसा होते दीख नही पड़ता। तिजारत करने वाले को मुनाफ़ा मिलना चाहिए लेकिन धर्म का पालन करने वाले को सब तरह का लाभ ही हो ऐसा आग्रह नही रखा जाता। जब धर्मराज से पूछा गया कि आप इतने धर्मात्मा हैं तब आप को ऐसी दुर्दशा क्यो हुई? तब उन्होने जवाब में कहा,

"मैं धर्म की तिजारत नही करता। दुर्दशा भी जीवन की उन्नति के लिए ज़रूरी तत्त्व है। दुर्दशा को हम दुर्दैव क्यो मानें? उसमें से भी हमारा भला ही हो सकता है।"

जीवन की सफलता के लिए मनुष्य अनेक तत्त्व आज़माकर देखता है।

(१) संकटो के खिलाफ अपना पूरा बल लगा कर लड़ना।

(२) जीवन की सफलता के लिए बुद्धि का सहारा लेना।

(३) सफलता पाने के लिए समर्थ संगठन खड़ा करना।

(४) न्याय के अनुसार चल कर विश्वास रखना कि जब "मैं किसी का बुरा नही करता, मेरा बुरा हो ही नही सकेगा।"

Wishing no body aught but good. Naught but good can come to me,

(५) सभी के प्रति क्षमा, उदारता, करुणा और सरलता का व्यवहार कर के विश्वास रखना कि ऐसी साधुता का अच्छा फल मिलेगा ही। ऐसे लोगों को जब सिद्धि नही मिलती तब भक्त लोग कहते है, 'तुम्हारी साधना में ही कुछ कमी रही होगी, वरना भगवान् के नियम तो अटल हैं।'

सच्चे जीवन-उपासक गीता-धर्मी होते हैं। वे जानते हैं कि भला करने वाले की कभी दुर्गति नही होती। लेकिन सिद्धि-असिद्धि का शास्त्र गूढ़ है। भले लोगों की मदद तो भगवान् अवश्य करते ही हैं, लेकिन आध्यात्मिक उन्नति में मदद करते हैं। सासारिक सिद्धि देंगे ही ऐसा वचन कभी उन्होने दिया नही है। सिद्धि के बारे में तटस्थ रहने की ही नसीहत दी है।

भले का भला ही होगा, यह सिद्धान्त केवल आध्यात्मिक अर्थ में ही सही है। सत्य की ही विजय है ऐसा कहते हुए ऋषि ने परस्मैपदी धातु को आत्मनेपदी बनाया, यह बताने के लिए कि सत्य की विजय ध्रुव है, किन्तु वह आत्मनेपदी विजय होगी। दुनिया की दृष्टि से भी विजय होगी, तुरन्त या यथा-समय होगी ही ऐसा विश्वास रखने का कोई कारण नही है।

हमें यह विश्वास होना चाहिए कि इस लोक में सारभूत तो सत्य का पालन ही है।

'सच्चम्हि सारभूय लोकम्हि'

दुनिया के लोग कहें या न कहें, आचरण में नीति का पालन यथा-शक्ति करते हैं और जब सत्य बोलना कठिन होता है, मौन का सहारा लेते हैं। मौन भी ईश्वर की एक विभूति ही है।

शास्त्रकारो ने भी सत्य बोलने में सज्जनो को कभी-कभी जो कठिनाई होती

है, उसे ध्यान में रखते कहा है, 'असत्य कभी भी नही बोलना। इस में तो अपवाद नही हो सकता। सत्य बोलने में जब नैतिक दोष आता है, तब मौन से चला लेना।'

यहाँ तक जो विवेचन अथवा मनन किया, उस पर से स्पष्ट होगा कि नीति शब्द स्पष्ट नहीं है, इस लिए 'सदाचार' शब्द का प्रयोग ही चलाना चाहिए।

सदाचार के दो अर्थ होते हैं। सीधा अर्थ है सद् आचार याने अच्छा आचार, शुद्ध आचार, कल्याणकारी आचार। दूसरा अर्थ है, सज्जनों की ओर से चलाया आचार। दूसरे अर्थ में आचार के अर्थ में सज्जन साधुपुरुष, नेक आदमी अथवा अल् अमीन लोग ही प्रमाण माने जाते हैं। पुराने जमाने में साहूकार का यही अर्थ था। सारा समाज जिस की नेकी पर विश्वास करता है, उसी को साहूकार कहते थे। जो चोर नही है, दुराचारी नही है, उसी को कहते थे साहूकार। लेकिन जिस तरह नीति शब्द बिगड़ गया उसी तरह साहूकार शब्द भी बिगड़ गया है। आज कल जिस के पास बहुत धन है और जो क़र्ज़ा दे कर सूद लेता है उसी को साहूकार कहते हैं।

धन की बात हम छोड़ दें। जो लोग ईमानदार हैं, सदाचारी हैं, जिन की नेकी पर समाज का विश्वास है, वे ही समाज का उत्तम धन हैं। लोगो की चारित्र्य-सम्पत्ति ही किसी भी समाज की पूँजी है।

(१४ जनवरी १९६५)

बौद्धिक आलस्य

सृष्टि के नियमों को पहचान लेना, हर घटना का कारण समझ लेना, मुसीबतों को दूर करने का उपाय ढूँढना और इरादे में कामयाब होने के लिए छोटी-बड़ी योजनाएँ चलाना, ये सब हैं मनुष्य के पुरुषार्थ के प्रकार। अपनी विचारशक्ति और कार्यशक्ति काम में लाना यही है—जीवनानन्द पाने का सब से अच्छा तरीक़ा। इस रास्ते बुद्धि तेज होती है। विचारशक्ति शुद्ध होती है। अनेक चीज़ो का एक साथ आकलन करने की आदत पड़ती है और मनुष्य समर्थ बनता है। ज्ञान की उपासना करते और योजनाएँ कार्यान्वित करते मनुष्य के धैर्य की कसौटी होती है और धैर्य ही मानवीय जीवन का विशेष लक्षण है। किसी महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिए बारह-बारह बरस तक प्रयत्न करते रहना

और एक ज़माने का काम अगर अधूरा रहा तो दो-दो तीन-तीन ज़माने तक वंश-परम्परा पुरुषार्थ करते रहना यह मनुष्य के लिए ही सम्भावित है। बाक़ी की सब दुनिया कालाधीन है। केवल मनुष्य ही कालोपासक है।

लेकिन मनुष्य में कभी-कभी आलस्य बढ़ जाता है। काम करते-करते थक जाना और थकान के कारण आराम लेना स्वाभाविक है, इष्ट है किन्तु काम के लिए प्रयत्न के प्रति अरुचि ही पैदा हो यह मनुष्य जीवन के लिए विकृति ही है। इस में भी शारीरिक आलस्य की अपेक्षा मानसिक और बौद्धिक आलस्य सब से खराब है। जहाँ बौद्धिक आलस्य आया, पुरुषार्थ तो नष्ट होता ही है, किन्तु साथ-साथ जीवन दर्शन भी विकृत होता है। हमारी जाति में यह बौद्धिक आलस्य काफ़ी मात्रा में घुस गया है। इसी लिए हमारा पुरुषार्थ क्षीण होता जा रहा है। बौद्धिक आलस्य का एक नमूना मैं कई बार पेश कर चुका हूँ। काशी वाराणसी में सैकडो बरस हुए रास्ते पर टमटम चलते हैं। पूना के स्टेशन पर घोडा गाडी (ताँगा) चलती हैं। मद्रास की ओर मंडी चलती है। इन सब वाहनो के प्रकार सौ दो सौ बरस हुए वैसे के वैसे ही हैं। इन में तनिक भी परिवर्तन नही हुआ है। अनुभव बढ़ते-बढ़ते इन वाहनों में कुछ सुधार करना चाहिए था। लेकिन हमारे यह सब वाहन मानो पूर्णता तक पहुँच गये हैं !

उधर युरॅप अमेरिका के लोग साइकिल, मोटर, स्कूटर आदि अनेक प्रकार के वाहन बनाते हैं। उन में हर साल नये-नये मॉडेल आते हैं। हर मॉडेल में कुछ नयी-नयी सहूलियत पायी जाती है। हम लोग करोडो रुपया दे कर नये-नये मॉडेल खरीदते हैं। और पश्चिम के लोगो की बुद्धिशक्ति की, सूझबूझ की कदर करते हैं। लेकिन टमटम के, ताँगे के या मडी के मॉडेल में सुधार के लिए अवकाश है, ऐसी शका भी हमारे मन में नही आती। न बनारस, पूना या मद्रास की म्युनिसिपैलिटी ने इनाम तय किया है जिस से हमारे पुराने वाहनो में कुछ सुधार हो। बनारस में असबाब रखा जाता है टमटम के बीच के हिस्से में और आदमी बैठते हैं असबाब के दोनो ओर पाँव पहिये के पास छोड कर। पूना के ताँगे में मनुष्य का आसन कभी स्थिर नही रहता। मद्रास की मडी में कभी-कभी सिर ऊँचा करना भी मुश्किल हो जाता है। लेकिन जहाँ सहन-शक्ति अमर्याद है, सूझबूझ की जरूरत ही क्या है ? सुधार के बिना हम सैकडो बरस हुए जीते आये हैं और आयन्दा भी सैकडों बरस तक जीयेंगे।

बौद्धिक आलस्य की मदद के लिए हम लोगो ने कई सहारे तैयार कर रखे हैं। एक है दैव।

ऐसा होने वाला था इस वास्ते हो गया। उस में कारण ढूंढने की जरूरत

क्या है ? जो होने वाला है, हो कर ही रहेगा। हम लाख प्रयत्न करेंगे तो भी न होने वाला कभी नही होगा और होने वाला कभी टल ही नही सकेगा। जिस ने दैव का इस तरह सहारा लिया उस की बुद्धि क्यों कर चलेगी ? उस का पुरुपार्थ मन्द होते-होते वन्द ही हो जायेगा।

आस्तिक लोगों का दैववाद कभी-कभी ईश्वर-निष्ठा का रूप धारण करता है। भगवान् कर्तुम् अकर्तुम् और अन्यथा कर्तुम् समर्थ हैं। करना, नही करना और किये हुए का उलटा करना यह सव भगवान् का ही अधिकार है। ऐसी हालत में हम पुरुपार्थ क्यों करे ?

ईश्वर की इच्छा या हेतु समझने का प्रयत्न भी हम न करें। भगवान् की वह सव लीला है। और लीला तो निर्हेतुक ही हो सकती है।

वौद्धिक आलस्य का दूसरा एक सहारा है आनुवंशिक सस्कार का सिद्धान्त। एक आदमी होशियार है, दूसरा होशियार नही है, एक की वुद्धिशक्ति तेज है, दूसरा वुद्धू है इस का कारण हम क्यो ढूँढें ? दिमाग़ चलाना हमारा काम नहीं है। क्या हम नही जानते कि मनुष्य के स्वभाव की सारी खूवियाँ और खामियाँ उन्हें उन के माँ-वाप के या पुरखों के आनुवंशिक संस्कारो से ही मिलती हैं। वनिया का वच्चा पैसे के हिसाव में चतुर होने वाला ही है। शूद्र का वच्चा कही हिसाव रखने में समर्थ हुआ है ? जिस का काम उसी के द्वारा हो सकता है, दूसरा करने लगा तो ठोकर ही खायेगा।

यही कारण है कि हमारे यहाँ लोगो के मन में शिक्षा के प्रति पूरा उत्साह नही पाया जाता। और हमारी वहुत-सी जातियाँ हमेशा पिछड़ी हुई ही रहती हैं। आज कोई आदमी दुखी और दरिद्र है इस का हम शोक क्यों करें ? पूर्वजन्म में उस ने अच्छा काम नही किया होगा, इस लिए आज ऐसी वुरी हालत में पडा हुआ है। यह दलील है वौद्धिक आलस्य का तीसरा सहारा। इसे कहते हैं पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर विश्वास। एक आदमी शरीर से दुर्वल है इस का कारण हम क्यो ढूँढें ? क्या हम नही जानते कि पूर्वजन्म में इस ने कुछ पाप किया था। इस लिए इस जन्म में इस के शरीर का मांस नहीं वढेगा।

दैव, आनुवंशिक सस्कार और पुनर्जन्म का असर कुछ-न-कुछ होगा तो जरूर। लेकिन हर चीज़ में उसी का सहारा ले कर वैठ जाना, सोचने की तकलीफ़ न उठाना, पुरुपार्थ न करना यह हो गयी है हमारी आदत। उसी को मैं वौद्धिक आलस्य कहता हूँ। यह रोग और किसी भी रोग से ज्यादा भयानक है।

और जव लोग दैव, आनुवंशिक संस्कार और जन्मान्तर के परिणाम को

आगे कर के सामाजिक अन्याय का समर्थन करने बैठते हैं तब तो बौद्धिक आलस्य के साथ नैतिक आलस्य भी काम करने लगता है। अन्याय और अत्याचार को देख कर हमारा पुण्य प्रकोप जागृत होना चाहिए। लेकिन हम तो आराम से कहने लगते हैं, 'पूर्व जन्म में कुछ बुरा काम किया होगा इस लिए इस जन्म में ऐसा नसीब ले कर आदमी आया है। इस का इलाज हम क्या करें ? अपना-अपना भुगतने के लिए ही तो मनुष्य को जन्म मिलता है।'

जहाँ-जहाँ जनता को उपदेश दिया जाता है, धर्मप्रवचन किये जाते है, शिक्षा का प्रबन्ध है या राष्ट्रीय दुर्दैव की मीमासा होती है वहाँ-वहाँ हमारे बौद्धिक आलस्य के बारे में लोगो का ध्यान खीचना ही चाहिए।

(१ फरवरी १९७०)

भावनात्मक एकता की बुनियाद

विविधता में एकता यही है कुदरत का नियम। विविधता में एकता की स्थापना करना यही है सब संस्कृतियो की प्रेरणा। विविधता के बिना सन्तोष नही। विविधता बिना समृद्धि नही। और एकता के बिना न सिद्ध होता है प्राण, न बढ़ता है सामर्थ्य। विविधता को नष्ट कर के एकता की स्थापना करना बडा आसान है, सस्ता है। लेकिन उस में जीवन की सार्थकता नही है।

हम अनाज पीस कर आटा बनाते हैं। आटे के कणो में एक-दूसरे को पकड रखने की शक्ति नही है। आटे में पानी डालने से हम उसे बाँध सकते है। उसी आटे को सेंक कर जब उस में घी और चीनी का पाक डालते हैं तब उस का लड्डू बनता है। शीतकाल के दिनो मे वह लड्डू और भी सख्त और मजबूत बनता है। इस तरह एकता लाने के प्रधान तत्त्व चार हुए—पानी, जिसे हम जीवन भी कहते हैं, घी जिसे हम स्नेह कहते हैं और चीनी जिसे हम माधुर्य कहते हैं। और शीतलकाल की सर्दी से परेशान होने वाले हम लोग ठंडक को सकट कह सकते हैं। भावनात्मक एकता अगर सिद्ध करनी है तो उस के लिए चाहिए स्नेह, माधुर्य, समान सकट और सहजीवन का अनुभव।

हमारे पुरखो ने जब भावनात्मक एकता को आवश्यकता महसूस की तब उन्होने उस के लिए शीतकाल का एक त्योहार मुकर्रर किया और तय किया कि उस दिन छोटे-बडे सब लोग मतभेद, मनमुटाव, अपमान, वैमनस्य आदि सब

भूल कर एक दूसरे से मिलें और तिल और गुड़ के लड्डू प्रेम से एक-दूसरे को दे दें। तिल और गुड का आहार शीतकाल में पौष्टिक होता ही है। भावनात्मक एकता के इस त्योहार को संक्रान्ति का त्योहार कहते हैं। इस दिन शीतकाल का जोर कम होता है और वसन्तकाल के यौवन की आशा पैदा होती है। संक्रान्ति के त्यौहार का कहना है कि आपस में स्नेह वढाओ, माधुर्य वढ़ाओ। जीवन के सहयोग के द्वारा परस्पर ओतप्रोत हो कर हार्दिक सगठन मज़वूत करो और संकटो पर विजय प्राप्त करो।

जिन लोगो में आत्मीयता है उन में ईर्ष्या, असूया, मत्सर, एकागिता, संकुचितता, लोभ और अमर्प नही आ सकते। मेरे हित सम्बन्ध जिन के हाथो में मैं सुरक्षित मानता हूँ वे सव मेरे आत्मीय हैं। जव हम सोते हैं तव वाहर से आ कर हमें कोई मार न डाले इसलिए हम दरवाज़ा वन्द कर के सोते हैं। घर के लोग एक-दूसरे से डरते नही। घर में जितने स्वजन अधिक हो उतने हम सुरक्षित हैं। वच्चे अपनी प्यारी चीज़े, अपने खिलौने, खुशी से माँ के हाथ में सौंप देते हैं। और किसी को छूने तक नही देते। उन को विश्वास है कि माँ के मन में वच्चे का हित ही प्रधान है। स्वार्थत्याग कर के भी माँ अपने बच्चे को प्रसन्न रखती है। यह प्रेम, यह विश्वास और स्वार्थत्याग ही भावनात्मक एकता की वुनियाद है।

स्त्री और पुरुप के वीच शरीर-रचना और मनोरचना का विलक्षण भेद होता है। लेकिन ऐसे भेद के कारण वे एक-दूसरे के दुश्मन नही वनते। एक-दूसरे से भागते भी नही। दोनो के वीच जो भेद होता है वही उन का एक-दूसरे के प्रति आकर्षण होता है। प्यारी चीज़ एक-दूसरे को देने में, एक-दूसरे की सेवा करते थक जाने में उन्हें विशेप आनन्द मिलता है। यह भी अकसर पाया गया है कि भेद के तत्त्व उत्तान और छिछले होते हैं। और वे स्थायी भी नही होते। इस से विपरीत एकता के तत्त्व गहरे, परस्पर पोपक और स्थायी होते हैं। इसीलिए तो यह दुनिया टिकी है और सामाजिक जीवन सव तरह के प्रत्यवाय होते हुए भी अवाधित चलता आया है।

विज्ञान कहता है इस विश्व में परस्पर विरोधी दो वल काम करते हैं। एक वल होता है हर चीज़ को केन्द्र की ओर खीचने का और दूसरा वल होता है उसी चीज़ को केन्द्र से हटाने का, दूर हटाने का। इन दो परस्पर विरोधी शक्तियो के सहयोग से चीज़ें गोल-माल घूमती हैं। जव गोफन में कंकड रख कर हम जोर से घुमाते हैं, तव ककड हमारे हाथ से दूर भागना चाहता है और गोफन की रस्सी उसे हमारे हाथ की ओर खीचना चाहती है। इसीलिए गोफन

गोल-गोल घूमती है और उस की रस्सियाँ कसी हुई तंग रहती हैं। आकाश में चन्द्र पृथ्वी के इर्द-गिर्द घूमता है, पृथ्वी आदि ग्रह सूर्य के इर्द-गिर्द घूमते है इस में यह दो बल काम करते हैं। चन्द्र अपनी जडगति के कारण पृथ्वी से दूर भागता है और पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण उसे अपनी ओर खीचता है। खीचने की शक्ति को अभिकेन्द्रीय शक्ति कहते हैं। केन्द्र से दूर भागने की शक्ति को अपकेन्द्रीय शक्ति कहते हैं। दोनो के सहयोग से चक्राकार गति सतत चलती रहती है।

बहुत कम लोग जानते हैं कि भावनात्मक एकता बनाये रखने के लिए ऐसे दोनो बलो के सहयोग की आवश्यकता होती है। विविधता भी एक बल है, एकता दूसरा बल है। इन दोनो के सहयोग से ही समाज का स्वास्थ्य कायम रहता है और प्रगति भी सिद्ध होती है।

आजकल हमारे राज्यकर्ता और विद्यागुरु दोनो मानने लगे हैं कि देश में अनेक भाषाएँ होने के कारण देश की एकता खतरे में आयी है और अँगरेजी के द्वारा ही देश की भावनात्मक एकता टिक सकती है। हम इस चीज को नही मानते। आज के राज्यकर्ता को अँगरेजी में राज्य चलाने की आदत पड गयी है। यह इनकी जडता है। राष्ट्रीय भावनात्मक एकता अँगरेजी पर निर्भर नही है, इतना ही नही अँगरेजी ने ही हमारी भावनात्मक एकता शिथिल कर डाली है। अँगरेजी जानने वाले लोग एक अपनी जातीय जमात बना बैठे हैं। सामाजिक, औद्योगिक और राजनीतिक नेतृत्व इन्ही का है। फौज में दाखिल हो कर देश की रक्षा के लिए अपना खून कोई देना चाहे तो उसे भी कहा जाता है—अँगरेजी सीखे बिना तुम्हें यह अधिकार भी नही मिल सकता। अँगरेज कहते थे अँगरेजो के राज की बदौलत ही देश की एकता टिकी हुई है। अँगरेज तो चले गये। अब उन के शिष्य कहते हैं कि अँगरेजी के कारण ही देश की एकता टिकी हुई है। एकता मजबूत करनी हो तो अँगरेजी का राज मजबूत करो। वे कोई नयी बात लाना नही चाहते। वे कहते हैं राज अँगरेजी में चल ही रहा है। उसी को क़ायम करो। उन की बातें सुन कर प्रजा ने, जनता ने अपना हर प्रकार का सामाजिक और सार्वजनिक काम भी अँगरेजी में चलाया है और यह रिवाज बढता चला जा रहा है। यहाँ तक कि अँगरेजी को हटाने का आन्दोलन भी सफलतापूर्वक चलाना है तो उसे भी अँगरेजी के द्वारा ही चलाना होगा। काँटे को निकालने के लिए काँटा ही चाहिए।

हमारा स्पष्ट अभिप्राय है कि जहाँ तक भाषा का ताल्लुक है, भावनात्मक एकता भारतीय भाषाओं के द्वारा ही सिद्ध हो सकती है।

भावनात्मक एकता लाने के लिए जरूरी है सर्वधर्म-समभाव, जरूरी है

भारत की सब भाषाओ के प्रति प्रेम और भाषाओं की पारिवारिक भावना। जरूरी है उच्चनीच भाव का उच्चाटन।

हमारे पुरखो ने देखा कि एक ही खानदान का एक समाज न बने, एक ही कुनवे का एक राष्ट्र न बने। इसलिए उन्होने नियम बनाया कि एक ही खानदान के अन्दर स्त्री-पुरुष के विवाह नही हो सकते। जिसे अँगरेजी में Prohibited degree of relationship कहते हैं और जिसे हम सगोत्र और सपिण्ड विवाह का निषेध कहते हैं उस का उद्देश्य है हमारी भावनात्मक एकता बिलकुल सकुचित न हो। इसी इलाज को व्यापक बना कर हम कह सकते हैं कि विवाह तो अपनी जाति के बाहर ही होने चाहिए। जिस तरह आज एक खानदान के अन्दर विवाह हो नही सकते, उसी तरह एक जाति के स्त्री-पुरुषो का विवाह अन्दर-अन्दर नही होना चाहिए।

राज्य का अधिकार चलाने वाले प्रधान, मन्त्री आदि जब अपने सेक्रेटरी नियुक्त करते हैं तब भी यही नियम होना चाहिए कि कायस्थ का सेक्रेटरी कायस्थ न हो। केन्द्रीय सरकार में बगाली अफसर का सेक्रेटरी बगाली न हो। सामाजिक सम्बन्धो में जो जितना नजदीक है उस का सहयोग कम लिया जाये। जो लोग दूर-दूर के हैं उन्ही को अपनाया जाये। वसीयतनामा कर के जब हम अपनी जायदाद दूसरे को देते हैं तब भी यही दृष्टि रखनी चाहिए।

श्री विनोबा का भूदान ग्रामदान का आन्दोलन भी भावनात्मक ऐक्य के लिए हर तरह से पोषक है। नि.स्वार्थ सेवा का कोई भी कार्यक्रम भावनात्मक एकता को बढावा देता है।

असली बात तो भावना की ही है। जब हम अपने सब के सब देशवासियो को स्वकीय आत्मीय मानने लगते हैं, तब हम व्यक्तिश. राष्ट्रीय एकता ही मजबूत करते हैं।

(१ अक्तूबर १९६८)

भावनात्मक एकता, जीवनात्मक एकता

हाथ, पाँव, नाक और आँखें आदि अवयव मिल कर शरीर बनता है। ये अवयव अलग-अलग जी नही सकते। एक दूसरे के सहयोग के बिना अपना काम भी नहीं कर सकते। जीने के लिए, जीवन सफल बनाने के लिए, जीवन का उद्देश्य

चरितार्थ करने के लिए सब अवयवो की आवश्यकता है और इन सब अवयवों का सहयोग स्वाभाविक भी है। इसी लिए हम शरीर को जीवन का एक अविभाज्य एकम कहते हैं। और अवयव-समुदाय को एक व्यक्ति कहते हैं। क्योकि इन की एकता स्पष्ट है, अपरिहार्य हैं।

माता-पिता, पुत्र-कन्या, भाई-बहन, पुत्र-पौत्र आदि अनेक व्यक्ति मिल कर कुटुम्ब बनता है। कुटुम्ब भी एक व्यक्ति है। माता-पिता, पुत्र-पुत्री आदि सब इस के अवयव हैं। लेकिन ये अवयव स्वतन्त्र जी सकते हैं। हर एक में अपना-अपना अलग कुटुम्ब बनाने की क्षमता है। लेकिन परस्पर सहयोग के बिना, एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सहयोग किये बिना कुटुम्ब नही बन सकता। जब दो मिल कर के एकचित्त होते हैं, एकहृदय होते हैं, पूर्ण सहयोग के द्वारा दोनो का जीवन ओतप्रोत हो कर एक नया, समर्थ जीवन पैदा होता है तब उसे कुटुम्ब कहते हैं। कुटुम्ब में सब व्यक्तियो का जीवन ऐसा ओतप्रोत रहता है कि उन में विशाल और सफल जीवन की एकता आप ही आप सिद्ध होती है और वह भावनात्मक एकता द्वारा प्रकट होती है। जीवनात्मक एकता जितनी अधिक उतनी ही भावनातीत एकता स्थायी और बुलन्द होती है।

कुटुम्ब एक सस्था है। शरीर भी सब अवयवो की एक समन्वित सस्था है। इसी तरह एक गाँव, एक शहर, एक पाठशाला, एक दूकान, एक कारखाना, एक नगरपालिका आदि सब सस्थाएँ ही है। इन सस्थाओ मे परस्पर सहयोग करने वाले व्यक्ति मानो उस सस्था के अवयव हैं, सब मिल कर संस्था का कलेवर बनता है। उन सब की साभिप्राय सहप्रवृत्ति ही सस्था का प्राण है। यह प्रवृत्ति या प्रवृत्तियां जितनी जीवन-व्यापी हो उतनी ही उस संस्था की स्थिरता, दृढता और निरोगिता सिद्ध होती है। कही-कही सहयोग कुछ मतलब तक ही सीमित होता है। कोई नाटक मण्डली भी एक सस्था है। नाटक देखने वाले प्रेक्षको के बिना नाटक कम्पनी का अस्तित्व व्यर्थ होगा। लेकिन नाटक करने वाले नट और देखने वाले प्रेक्षक इन का सहवास या सहयोग केवल नाटक देखने तक ही सीमित होता है। इन के जीवन नाट्यशाला में ही ओतप्रोत होते है, अन्यथा वे बिलकुल अलग हैं, स्वतन्त्र है, असम्बद्ध हैं।

हमारे जमाने में सहयोगी सस्थाएँ चलती हैं। हर एक की थोडी-थोडी पूँजी एकत्रित कर के एक सहकारी मण्डली स्थापित करते है। वह एक अच्छी सुव्यवस्थित संस्था होती है। किन्तु ऐसी सहकारी सस्थाओ में सहयोग परिमित अल्पमात्र ही होता है। जिस कार्य के लिए अथवा जिस हेतु से प्रेरित हो कर इन में सहयोग चलता है, उस बन्धन-तत्त्व को अँगरेजी में nexus कहते है।

दूकानदार और ग्राहक के बीच पैसे और चीज़ का लेनदेन ही nexus होता है। यह नेक्सस या बन्धनतत्त्व जितना गहरा और व्यापक होगा उतनी उस सम्बन्ध की, उस संस्था की भावनात्मक एकता अधिक होगी। कुटुम्ब में पति-पत्नी और उन के बाल-बच्चे मिल कर जो संस्था बनती है उस में नेक्सस होता है गाढ और स्थायी प्रेम का। रक्त से पैदा हुआ यह स्नेह इतना उत्कट और स्थायी होता है कि हम उसे आध्यात्मिक सम्बन्ध कहते हैं। उसी परिवार में जब घर का काम करने के लिए नौकर रखे जाते हैं, तब वे नौकर भी घर का सब काम करते हैं। सब के लिए एक साथ रसोई बनती है। सब मिल कर के पारिवारिक जीवन सम्पन्न करते हैं। तो भी नौकरों का जीवन कुटुम्ब-परिवार में इतना घनिष्ठ व इतना स्थायी नही होता। नौकर और मालिक के बीच स्नेह-सम्बन्ध पैदा हो सकता है। किन्तु वह इतना घनिष्ठ व स्थायी नहीं होता। उन के बीच नेक्सस अलग होता है। तनख्वाह या मज़दूरी ही स्वामी-सेवक को बांधती है। यह बन्धन आसानी से टूट सकता है। लेकिन हमारे देश में ही नही, दुनिया के सब देशो में कभी-कभी स्वामी-सेवक का सम्बन्ध पुश्त-दर-पुश्त चलता है। फिर वहाँ सेवा और मज़दूरी का नेक्सस गौण होता है। परस्पर स्नेह और उस में से पैदा होने वाली परस्पर निष्ठा ही मुख्य नेक्सस बनता है। यही है अनन्त फलदायी भावनात्मक एकता। इस में व्यक्ति अपने स्वार्थ को भूल जाता है। दूसरे के हित को, दूसरे के सुख को और दूसरे की प्रसन्नता को ही प्रधानता दी जाती है। नौकर के बीमार पडने पर जब मालिक अपने लड़के के समान ही उस की सेवा करता है तब दोनो के बीच प्रगाढ स्नेह-सम्बन्ध बँध जाता है। इसी को सन्त तुकाराम ने कहा है—'दया करणें जें पुत्रासी, तेचि दासा आणि दासी।' भावनात्मक स्नेह, सहयोग और अन्तिम एकता ही सम्बन्ध को पवित्र बनाती है और उसी में जीवन का चरम साफल्य है। ऐसे दृढ स्नेह के द्वारा ही शरीर, कुटुम्ब, संस्था, जाति, देश, राष्ट्र, धर्म आदि संस्थाएँ टिकी हुई हैं और जीवन-साफल्य प्राप्त कर सकी हैं।

भिन्न-भिन्न संस्थाओं के अवयवो को या व्यक्तियों को बांधने वाले तत्त्व अथवा नेक्सस अलग-अलग होते हैं। ऐसे तत्त्वो को ही हमारी संस्कृति ने सामान्य नाम दिया है धर्म। धर्म सँभालने से व्यक्ति और समाज, अवयव और शरीर एकत्र रह सकते हैं—धर्मो रक्षति रक्षित.। अगर धर्म का हम ने पालन किया तो धर्म हमारा पालन अवश्य करेगा। इसी को कहते हैं Element of Cohesion अथवा धृति। धर्म में यह धृति कहाँ से आती है? हीरे, माणिक आदि रत्नों के अन्दर सूक्ष्म परमाणु जिस आकर्षण से एक दूसरे को पकड़े रहते हैं उस तत्त्व

को कहते हैं Water of Crystallization हम उसे धर्मतत्त्व कह सकते हैं। पदार्थ के गुणधर्म इसी में से पैदा होते हैं। परमाणुओ को एकत्र रखने वाला यह जो तत्त्व है उसी को हमारे शास्त्रो ने धृति कहा है। ऐसी धृति जब नष्ट होती है, तब सेना के सैनिक तितर-बितर होते हैं और सेना का नाश होता है।

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि धर्मों में जो धृति है वह अच्छी है, लेकिन पर्याप्त नही हैं। सारे राष्ट्र को एकत्र रखने की शक्ति उस मे नही है। इस्लाम और ईसाई धर्मतत्त्व हमारी एक राष्ट्रीयता को मजबूत नही करते। उन का अपना स्नेहतत्त्व दुनिया के अनेक ईसाइयो से और मुसलमानो से एकता स्थापित करता है। किन्तु एक राष्ट्र के अन्दर की राष्ट्रीय एकता को शिथिल करता है। इस खतरे को देख कर ही आज के जमाने की कोशिश है कि धर्मों की साम्प्रदायिकता पहचान कर उसे गौण बनाया जाये और इस युग का तकाजा पहचान कर राष्ट्र धर्म को, राष्ट्रीय एकता को प्रधानता दी जाये।

और राष्ट्रधर्म भी जब संकुचित-सा मालूम होने लगा तब हम मानवता को प्रधानता देने की कोशिश में हैं।

कुल, परिवार, जाति, वर्ण, वंश, वर्ग, राष्ट्र सम्प्रदाय आदि भावनात्मक एकता के सब तत्त्वो को पहचान कर, उन की योग्य कदर कर, हम सब को मानवता की छत्रछाया के नीचे लाना चाहते हैं। मानवता ही सार्वभौम धर्म है। 'सर्वेऽत्र सुखिन सन्तु, सर्वे सन्तु निरामया' यह है मानवता का भावनात्मक मन्त्र। 'जय हिंद' के साथ 'जय जगत्' है हमारा उद्घोष। हम अनुभव करने लगेंगे कि मानवता को उत्तमोत्तम आदर्शों से अनुप्राणित करने वाले नारायण को जब हम साथ लेते हैं तभी मानवता में आर्यता और सर्वकल्याणकारिता आ सकती है।

मानवता का आदर्श है श्रेष्ठ और निकटवर्ती भविष्य के लिए सब तरह से अनुकूल। लेकिन वह आदर्श भी चरम कोटि का नहीं है। हमें तो अन्त में मानव जाति के द्वारा समस्त जीवकोटि की सेवा करनी है और इस तरह विश्वात्मैक्य का अनुभव करना कराना है। चंद व्यक्ति आज भी विश्वात्मैक्य तक पहुँच सकते हैं और व्यक्तिगत मोक्ष पा सकते हैं। लेकिन पूर्ण आदर्श तो सर्वमुक्ति का है और इसी लिए मानवता की उपासना में मानवों के हृदय में विराजमान नारायण को भी लेना चाहिए। आज नारायण का यह स्मरण केवल संकल्पमात्र ही क्यो न हो, उसे हम छोड़ नही सकते। नारायण की स्मृति से हम असख्य आपत्तियो से बच जाते हैं।

"विपद् विस्मरणं विष्णो. सम्पन्नारायणस्मृति.।"

सर्व विश्व में वसने वाले विष्णु को भूल जाना यही एक बड़ी विपत्ति है और मानव समुदाय के हृदय में रहने वाले नारायण की स्मृति क़ायम रखना सब से बड़ी नियामत है।

(१५ फ़रवरी १९६३)

धार्मिक-सांस्कृतिक क्रान्ति

जब गान्धीजी ने आदिम जाति सेवक संघ की स्थापना की, तब उन्होंने मुझ से कहा था कि "मेरे पास रचनात्मक काम की सैकड़ो योजनाएँ हैं जिन का मैं ज़िक्र भी नही करता। आदिम जाति की सेवा के लिए ठक्कर बापा मिले, तब मैं ने एक संघ खड़ा किया। जब तक सेवा के काम के लिए आदमी मिलते नहीं, तब तक उस की चर्चा करने से क्या लाभ ?"

धर्म-सुधार, सामाजिक सुधार, देश की शिक्षण विषयक और औद्योगिक हालत में सुधार—ऐसे अनेक कार्यक्रम उन के पास थे। लेकिन अनुभव से वे इस नतीजे पर आये थे कि देश की आज़ादी के बिना समाज में चारित्र्य-तेज प्रगट नहीं हो सकेगा। इसी लिए राष्ट्रीय एकता और अन्याय-निर्मूलन के ऊपर ही उन्होंने अपनी सारी शक्ति केन्द्रित की। और इसी लिए उन्होंने समाजसुधार के सब से बड़े दो कार्यक्रम ही राजनीतिक क्षेत्र में दाखिल किये। (१) हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, यहूदी, पारसी आदि धर्मसमाजो में सामंजस्य स्थापन किये बिना भेद-नीति-पटु अँगरेज़ों को हम यहाँ से हटा नहीं सकते, और (२) अस्पृश्यता जैसे घोर अन्याय को दूर करने के लिए धर्म-सुधार किये बिना चारा नहीं। इन दो बातों पर उन्होंने अधिक ज़ोर दिया। हमारी राजनैतिक और राष्ट्रीय कमज़ोरियां हैं उन्हें पहचान कर उन से लाभ उठाने वाले विदेशी राज्यकर्ता और धर्मप्रचारक क्या कहते हैं उस पर ध्यान देना ज़रूरी था।

हम लोग अपने को सुधारे बिना केवल दोष बताने वालो पर चिढ जाते थे और मिशनरियो का और गोरो का द्वेष करने लगे थे। गान्धीजी ने बताया कि द्वेष से हमारी शक्ति नहीं बढेगी। निष्प्राण और निर्वीर्य लोग जब और कुछ नहीं कर सकते हैं, तब विरोधियो का द्वेष करते है, निन्दा करते हैं और अन्धा विरोध करते हैं।

हिन्दू समाज असंख्य जातियों में विभक्त होने से कमज़ोर है। इन जातियो

में कुल मिला कर जैसी आत्मीयता चाहिए वैसी नही है। 'आत्मीयता तो परस्पर आदर और सेवा के द्वारा ही बढ सकती है,' इतनी सीधी वात लोग नही समझते थे। (और दु:ख के साथ कहना पडता है कि आज भी समझ नही रहे हैं।) केवल अभिमान के वल पर सगठन करने गये तो नाम का सगठन हो सकेगा, लेकिन शक्ति का सगठन नही होगा। बिना चर्चा किये गान्धीजी ने राष्ट्र के सामने यह वात रखी।

जिस किस्म की समाज-रचना और राष्ट्रीय एकता देश के लिए ज़रूरी थी, उसे प्रत्यक्ष जीवन में लाने के लिए और आदर्श नमूना पेश करने के लिए गान्धीजी ने अपने आश्रम की स्थापना की। जहाँ पर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सब धर्मों के लोग, और ब्राह्मण से ले कर हरिजन तक सब हिन्दू एकत्र रहें और जीवनव्यापी सहयोग करें ऐसा आदर्श वायुमण्डल था। तनिक भी भेद के विना सब लोग टट्टियाँ साफ करें, सव साथ मिल कर रसोई वनावें, एक साथ मिल कर खायें और प्रार्थना भी एक साथ करे ऐसा वायुमण्डल उन्होने देश के सामने रखा।

स्त्री जाति की समानता और स्वतन्त्रता पर भार दे कर आश्रम में स्त्रियो से सव तरह के काम लेना उन्होने शुरू किया और स्त्रियो में काम सँभालने का कौशल और आत्मविश्वास बढाया। सब प्रान्तो और सव भाषाओ के लोग आश्रम में एकत्र रहते थे। सव प्रादेशिक भाषाओ की वहाँ पूरी प्रतिष्ठा थी। और साथ-साथ सभी की सम्मति से राष्ट्रभाषा हिन्दी का भी वहाँ विकास होता था।

ऐसी पूर्व तैयारी कर के गान्धीजी ने स्वराज के आन्दोलन के लिए कॉंग्रेस जैसी सस्था को पसन्द किया। कॉंग्रेस ने स्वराज का आन्दोलन जोरो से चलाया सही और गान्धीजी का नेतृत्व पाने के हेतु गान्धीजी की शर्तें भी मजूर की। लेकिन आज का अनुभव वताता है कि अधिकाश कॉंग्रेसी लोगो ने गान्धीजी की जीवन-दृष्टि हृदय से अपनायी नही थी। अगर सारे राष्ट्र ने सर्व-धर्म-स्वभाव को मजूर किया होता तो देश का वँटवारा नही होता।

प्रान्तीय भाषाओ का ईश्वर-निर्मित अथवा इतिहास-सिद्ध महत्त्व क़बूल किया होता तो भाषा के झगडे आज खडे नही होते। जवाहरलालजी जैसे कॉंग्रेसी नेताओ को विश्वास था कि देश की एकता अँगरेज़ी के द्वारा ही आज सँभाल सकते हैं। उन को प्रान्तीय भाषाओ की राष्ट्रीय शक्ति पर विश्वास नही था। इस लिए उन्होने भाषावार प्रान्तरचना का (राज्य रचना का) हृदय से विरोध किया और अन्त में लाचारी से स्वीकार किया। नतीजा यह हुआ कि प्रान्तीय

भाषाओं का नेतृत्व जो राष्ट्रीय वृत्ति के लोगों के हाथ में था वह वहाँ से फिसल गया और संकुचित वृत्ति के लोगो के हाथ में पहुँच गया।

इस सच्ची बात को न समझने वाले लोग मानने लगे हैं कि प्रान्तीय भाषाओं के कारण ही प्रान्तीयता बढती है और राष्ट्रीय एकता खतरे में आती है।

पिछले बीस वरस की ग़लत नीति के कारण अँगरेज़ी का पक्ष मज़बूत हो रहा है। और हिन्दी वाले अब अपने अन्धे विरोध से उसी अँगरेज़ी पक्ष को मज़-बूत कर रहे हैं।

लोग प्राणपन से चाहते हैं भारत की एकता लेकिन प्रत्यक्ष कार्य से (पर-स्पर द्वेष और कटुता से) देश के टुकडे करने की ही मानो पूर्व तैयारी कर रहे हैं। केवल बहुमत से एक पक्ष अपना आग्रह दूसरे पक्ष पर लादने की कोशिश करेगा तो दूसरा पक्ष एकता को तोड कर अलग होने की कोशिश करेगा ही।

किसी समय अमरीका के युनाइटेड स्टेट्स ने राष्ट्र का बँटवारा टालने के लिए सशस्त्र गृहयुद्ध किया। उत्तरी राज्यों ने दक्षिणी राज्यों का सशस्त्र विरोध किया और उन्हें हरा कर राष्ट्र की एकता क़ायम की। उस ज़माने में वह हो सका। आज के युग में भारत के लिए, यह बिलकुल शक्य नहीं है। केवल समझौते से ही काम कर सकते हैं। देश में काफ़ी अहिन्दी लोग हिन्दी के पक्ष में हैं। वे सब मिल कर अगर दक्षिण का अनुनय करें, सेवा और त्याग के द्वारा उन्हें जीत लें, तो हम हिन्दी के लिए फिर से अनुकूल वायुमण्डल बना सकेंगे, जो गान्धीजी के दिनों में था।

गान्धीजी ने केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता, अस्पृश्यता निवारण और आदिम जाति की सेवा पर ही ज़ोर दे कर प्रारम्भ किया, लेकिन वहीं पर हमें ठहर नहीं जाना है। जहाँ-जहाँ सामाजिक छोटे-बड़े का भाव है और पिछड़ापन है, वहाँ-वहाँ दृढ़-संकल्प से न्याय और समानता की स्थापना करनी चाहिए। 'सब वर्गों को शिक्षा मिले, और सब की आर्थिक उन्नति हो, यह ज़रूरी है। किन्तु केवल आर्थिक उन्नति से हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक दोष दूर नहीं हो सकते। हमारी छिन्नभिन्नता भावनात्मक भी है और सांस्कृतिक दोषों के कारण भी है। समाजवादकी दुहाई दे कर, और आर्थिक उन्नति का नारा लगा कर यदि देश की हालत सुधर जाती तो इन बीस वरसों में राष्ट्र ने सन्तोषकारक प्रगति कर ली होती। 'सामाजिक समानता' स्थापन करने के लिए समाज में मज़बूत 'सामा-जिकता' का होना ज़रूरी है। कांग्रेस ने माना था कि धर्मभेद होते हुए भी भारत के हिन्दू-मुसलमानों में एकराष्ट्रीयता है। अनुभव ने बताया कि जहाँ

सामाजिक भेद के कारण अलगाव है, वहाँ राष्ट्रीय एकता टिक नही सकती। देश का बँटवारा कबूल करना पडा यह इस बात का इतिहास-सिद्ध प्रमाण है।

इस अनुभव से अगर हम सयाने न हुए तो बँटवारे की बात फिर से सामने खडी हो जायेगी। आज कोई बँटवारे की बात मुँह से नही करता लेकिन प्रत्यक्ष आचरण में हम उसी को अपरिहार्य बना रहे हैं।

'सामाजिक समानता और साथ-साथ हृदय की आत्मीयता स्थापित करने के लिए प्राणपण से चेष्टा करना', यही मुख्य काम है। बाह्य उपायो से यह अपने आप नही होगा। इस के लिए सामाजिक, धार्मिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक कार्यक्रम बना कर, उसी में सारी राष्ट्र-शक्ति लगानी चाहिए। सास्कृतिक क्रान्ति का ही यह काम है।

(१ फरवरी १९६८)

क्रान्ति का रास्ता खुला कर दें

घर बनाते समय उस की रचना हम उस प्रकार की करते हैं, जिस प्रकार का जीवन हम उस में जीना चाहते हो। कौटुम्बिक जीवन और गृह-रचना के बीच प्रारम्भ में अच्छा मेल होता है। जीवन का ढग जैसा का तैसा रहा और केवल कुटुम्ब का विस्तार बढा तो अमुक समय तक घर में कुछ सुधार कर के काम चलाया जा सकता है। जैसी जीवन-पद्धति वैसी गृह-रचना—इस नियम का सर्वत्र पालन होता है।

लेकिन कालान्तर से जीवन का ढग बदलता है। बदल के कारण अनेक हो सकते हैं। कुछ कारण हमें अनुकूल लगेंगे, कुछ प्रतिकूल, लेकिन जब तक ये मौजूद है तब तक हमें अपना जीवनक्रम बदलना ही पडेगा और यह बदला हुआ जीवनक्रम एक बार अनुकूल सिद्ध हुआ तो उस के अनुसार सारी गृह-रचना बदले बिना चारा ही नही।

लेकिन मनुष्य जिस प्रकार अपनी आदते झटपट छोड नही सकता उसी प्रकार जीवन-क्रम बदल जाने पर भी गृह-रचना छोडने को वह तैयार नही हो जाता। असुविधा सहेगा, लेकिन पुराने ढग को आग्रह के साथ पकड रखेगा। अमुक हद तक यह यथास्थितिकर वृत्ति इष्ट भी होती है। लेकिन वह अनन्तकाल तक नही चल सकती। उसे पुराना मकान तोड कर उस के स्थान पर नये ढग

का, नये आदर्शों वाला, नयी सुविधाएँ वाला मकान बनाना ही पडता है।

ऐसे नये घर में जिन की उपयोगिता सिद्ध हो चुकी है, ऐसी सुविधाएँ क़ायम रखने को किस ने मना किया है? लेकिन उन को केवल इसलिए नही चलायेंगे कि वे आज तक चली आ रही हैं। नये जीवन में भी उन की अनुकूलता सिद्ध हुई है इसलिए इतना पुराना सँभालने को हम तैयार हो जाते हैं। उस में भी नये जीवन के साथ अनुकूल होने के लिए अमुक परिवर्तन तो करने ही पडते हैं।

यह सिद्धान्त जितना जीवन-क्रम पर और गृह-रचना पर लागू होता है उतना ही या उस से भी अधिक ग्राम-रचना और नगर-रचना पर। लेकिन बहुसख्यक लोगो की सम्मति के बिना तो ऐसे परिवर्तन नही हो सकते। यह बडी भारी कठिनाई है और इसीलिए समाज छोटी-बडी असख्य असुविधाएँ सहन करता है और निभा लेता है। यह अनुभव लगभग सार्वभौम है। कोई भी देश, समाज या ज़माना इस अनुभव से मुक्त नही है।

जो बात नगर-रचना की वही समाज-रचना की भी समझनी चाहिए।

स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के बारे में अब हमारे यहाँ भी आदर्श में बडी भारी क्रान्ति हो रही है। अब उस में पुराने आदर्श टिकाये नही जा सकते। पुराना कौटुम्बिक जीवन सुखी था, समृद्ध था, सुवासिक था, उस का काव्य अद्‌भुत था—ये सब बातें ठीक हैं, लेकिन व्यवहार बदल गया है, आदर्श बदल गया है। अब नया ढंग पसन्द हो या न हो, दाखिल करना ही पडेगा। जीवन-क्रम में अथवा कौटुम्बिक जीवन में स्त्री-जाति का हिस्सा तेजी से बढने लगा है। अधिकार की बात नही, हिस्से की बात है। जीवन-पद्धति ही इतनी बदल गयी है कि अब स्त्री का हिस्सा और उस के साथ के नये अधिकार मान्य किये बिना कोई चारा ही नही। मान्य करना, खुशी से या नाखुशी से, यह हर एक की अपनी मरज़ी की बात है। उस में कोई आडे नही आयेगा।

जीवन-व्यवस्था का अत्यन्त महत्त्व का अग है जाति-व्यवस्था। जीवन के अनुसार, धन्धे के अनुसार और परस्पर सहयोग के अनुसार जातियो के जो पुराने आदर्श बने थे वे कब के टूट गये। आजीविका के साधन और रहन-सहन के आदर्श—दोनो में अब अराजकता फैल गयी है। उसे बदलना किसी के बस की बात नहीं। परिणामत. जाति-व्यवस्था बनाये रखने का कोई कारण नही रहा, फिर भी हम लोगों ने 'रोटी-बेटी व्यवहार' के नाम से यह जाति-भेद क़ायम रखा है। उस में से रोटी-व्यवहार तो मासाहार करने या न करने तक ही सीमित रहा है। बाक़ी जहाँ देखें वहाँ अराजकता की समानता ही पूरी-पूरी फैली हुई है।

अब जहाँ जीवन के सम्बन्ध मे विशेषता जैसा कुछ नही रहा और सार्वत्रिक शिक्षा के कारण योग्यता और होशियारी में विशेष भेद नही रहा और स्थानान्तर की आवश्यकता पहले की अपेक्षा बढ गयी है वहाँ प्रत्यक्ष जीवन में कोई ऐसी भिन्नता नही रही कि जिस के कारण जातिभेद को बनाये रखा जाये।

फिर भी जातिभेद बना रहा है इतना ही नही बल्कि पहले की अपेक्षा अधिक अन्ध और कडा बनता जा रहा है। आदर्श के कारण नही, किन्तु नौकरी और चुनाव के, वसीले और पक्षपात के, सकुचित और मलिन हित-सम्बन्धो के कारण जातिभेद बना रहना चाहता है। लेकिन बेटी-व्यवहार की भी पुरानी प्रथा अब टूटने लगी है। गान्धीजी के शब्दो में कहें तो अन्तर्जातीय विवाह आज कम हैं, लेकिन थोड़े दिनो में उन का विस्तार शुरू हो जायगा। किसी के रोके वह रुकेगा नही। बेटी-व्यवहार के बन्धन एक बार टूट गये और बाद में वह दशा कायम न रही तो भी बन्धन की संकुचितता और उस के गैरफायदे टिकेंगे नही। आज गोत्र जैसे अर्थहीन हो गये हैं वैसी ही जातिभेद की हालत होने वाली है।

हम अपने-अपने धर्म के तत्त्वो, आदर्शों और रहस्यो की चाहे जितनी स्तुति करते रहे, किन्तु प्रत्यक्ष जीवन में इन तत्त्वो की पकड (काबू) कब की ढीली हो गयी है। और आज तो जाति जितनी अखरती है उस से भी अधिक धर्मभेद अखरता है। एक तरह से देखे तो जात-पाँत रोजमर्रा की जिन्दगी में अधिक अखरती है। भिन्न धर्म वाले लोगो का जीवन पर्याप्त मात्रा में ओत-प्रोत नही है, इसलिए धर्मभेद उतने नही अखरते जितने कि जातिभेद। लेकिन दूसरी तरह से देखे तो सब जातियों में एक सामान्य सामाजिक आदर्श स्वीकृत होने के कारण और अधिकाश परस्पर ओत-प्रोत होने की वजह से ही जाति-व्यवस्था समाज विघातक नही बनती। जबकि धर्मभेद के कारण ये अलग-अलग समाज हो, अलग राष्ट्र हो ऐसी स्थिति कभी भी पैदा हो सकती है।

आज हम जातिभेद मिटाने की कोशिश करते है और धर्मभेद को बरदाश्त करके—उसे अधिकाधिक मजबूत बनाते जा रहे है। यह खतरा साफ नज़र आते हुए भी उस के इलाज करने की बात अबतक नही सूझी है।

धर्म के मूल तत्त्व सुन्दर हैं, उदात्त हैं, रिवाज के भेद सकारण हैं, लेकिन वे बाधक नही होने चाहिए; इस प्रकार की चर्चा और प्रचार चाहे जितना करे, धर्मभेद का ज़ोर कम नही होता। आज आदर्शभेद बाधक नही हैं। परस्पर अविश्वास और आत्मीयता का अभाव ही बाधक होते है। और यह दोष राष्ट्रीय एकता की दृष्टिसे घातक बनता जा रहा है। क्योंकि धर्मभेद का विरोध करने से द्वेषभाव बढता है, अन्ध अभिमान प्रबल होते हैं। देश के नेता लाचार बन

कर इस भेद की उपेक्षा कर के सन्तोष मानते हैं। लेकिन यह कमजोरी अब आयन्दा बरदाश्त नहीं हो सकेगी। हर एक धर्म-समाज के अगुआ शान्त-सयाना भाव धारण कर के आज भी अधिक नौकरियां, अधिक अधिकार और विधानमान्य पक्षपात मांगते ही जाते हैं।

स्त्री-पुरुषो के अधिकार, जातपांत और धर्मभेद इन तीन सामाजिक भेदो का अब तक उल्लेख किया। उस के साथ आर्थिक परिस्थिति को ले कर जो अन्याय चलता है, शोषण बढता है और अन्ततोगत्वा वर्ग-विग्रह खडा होता है उसे भी ध्यान में रखना चाहिए। राष्ट्रीय समस्या के इन सवालो को हम ने अपनी परिस्थिति का अध्ययन कर के अपने ढग से शीघ्रता से हल किया होता तो बात अलग थी। लेकिन हम यह अध्ययन-परिश्रम करना नही चाहते।

आर्थिक व्यवस्था के इस रोग की ओर पहले ध्यान आकर्षित किया पश्चिम के लोगों ने। चुनांचे इस रोग का इलाज भी हम पश्चिम से प्राप्त करने लगे हैं।

और शिक्षा के सम्बन्ध में तो जैसे-जैसे चर्चा बढती है वैसे-वैसे अविचार और तन्त्र की तानाशाही बढती ही जाती है।

और 'अभिरुचि की अराजकता' तो पश्चिम की अपेक्षा हमारे यहां अधिक है। उसे अराजकता कहें या अभाव कहें यही समझ में नही आता। उस की चर्चा भी तो शान्ति से नही होती।

इन सब क्षेत्रो में पुरानी व्यवस्था कब की सड गयी है, टूट गयी है और फिर भी उस की चर्चा करने को भी कोई तैयार नही है।

छोटे-बड़े कल-कारखानो में अर्थतन्त्र न्याय का या सर्वोदय का विचार किये बिना सब के पास से तन्त्रनिष्ठा की अपेक्षा रखता है। शिक्षा का तन्त्र एक साथ जीवन-व्यापी भी बन रहा है और तानाशाह भी बनता जाता है। नौकरी के कारण और ग्राट आदि आर्थिक सहायता के कारण यह आर्थिक तन्त्र तग बनता जा रहा है, पाठ्य पुस्तके, अभ्यासक्रम, फ़ी का बोझ, परीक्षाओं का ढांचा और नौकरी में प्रवेश पाने की शर्ते—इन सब के कारण उदीयमान पीढी का जीवन बचपन से ही शिकजे में लेने की कोशिशे करता है और अब तो शिक्षा के तन्त्र का उपयोग कही-कहीं राजनीतिक पक्षों के हित में भी होने लगा है।

राजनीतिक सिद्धान्तों की तात्त्विक चर्चा के पीछे देश में पार्टीबाजी इस हद तक बढ गयी है कि चुनाव के दिन आते ही सट्टा और शेयर बाजार का सा वायु-मण्डल सारे देश में फैल जाता है। जुआ, षडयन्त्र और शीतयुद्ध को मिला कर बनाये गये रसायन का नाम है चुनाव। ऐसी हालत आज देश में चौतरफ़ा दिखाई देती है।

ऐसी हालत मे समाजतन्त्र, राज्यतन्त्र, अर्थतन्त्र, शिक्षातन्त्र, कल-कारखाना का तन्त्र और भगवान् जाने दूसरे कौन-कौन से तन्त्र और गिनने पडेंगे, कोई भी तन्त्र अपनी नैतिक भ्रष्टता के कारण हमारे मन में आदर पैदा नही कर सकता। तन्त्रनिष्ठा का आग्रह Departmental Enquiry का रूप पकडता जा रहा है। ईश्वर-निष्ठा, मानव-निष्ठा, धर्म-निष्ठा, नीति-निष्ठा, समाज कल्याण की निष्ठा और ज्ञाननिष्ठा को ऐसी सब पवित्र निष्ठाओ को बिलकुल गौण बनाकर सर्वत्र तन्त्रनिष्ठा को सार्वभौम महत्त्व दिया जा रहा है। और लोकसत्ता का नाम आगे कर के सत्ता वाले सत्याग्रह जैसे पवित्र तत्त्व को भी तत्त्वत. दबाना चाहते है। विदेशी सत्ता के खिलाफ हम जरूर हो सकते हैं, राजसत्ता के खिलाफ़ लड़ सकते है, लेकिन बहुमत की सत्ता के खिलाफ सत्याग्रह नही कर सकते इस तरह की हवा चलने लगी है। सत्याग्रह के नाम से अन्धे और स्वार्थी लोग जहाँ-तहाँ सत्याग्रह का दुरुपयोग करते हैं। इस का लाभ उठा कर लोकनेता कहने लगे हैं कि लोकसत्ता के खिलाफ सत्याग्रह करना ही नही चाहिए।। चाहे जितनी बदहजमी हुई हो तो भी उपवास नहीं रखना चाहिए ऐसी ही कुछ यह दलील हुई। लेकिन सच्चा सत्याग्रह नेताओ की सम्मति की राह देखता ही नही।

खैर! इन सब वस्तुओ का एक साथ विचार करने के बाद लगता है कि अब भारतीय सस्कृति का आमूलाग्र नवसस्करण का समय आया है। ऐसे समय उदीयमान पीढ़ी के नवजवानो को तन्त्रनिष्ठा के स्तोत्रपाठ हम कब तक पढाते रहेंगे? तन्त्रनिष्ठाओं की सख्या इतनी अधिक बढ गयी है कि एक तन्त्र के प्रति निष्ठा धारण करते हुए दूसरी तन्त्रनिष्ठा का द्रोह होता है।

इस लिए अब हमें समझ लेना चाहिए कि आमूलाग्र सार्वभौम क्रान्ति की वेला आ पहुँची है। जो तन्त्र इस क्रान्ति के आडे आयेंगे वे अब टिकने के नही। अब तन्त्र नही किन्तु लोक-कल्याण का तत्त्व ही सर्वोपरि होना चाहिए और क्रान्ति का मार्ग खुला कर देना चाहिए।

यह कोई नियम नही है कि क्रान्ति अन्धी ही होनी चाहिए। सयाने लोग जब अन्धे बन जाते हैं तभी क्रान्ति अन्धी होती है और महँगी सिद्ध होती है।

(१ फरवरी १९६२)